महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[प्रथमो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

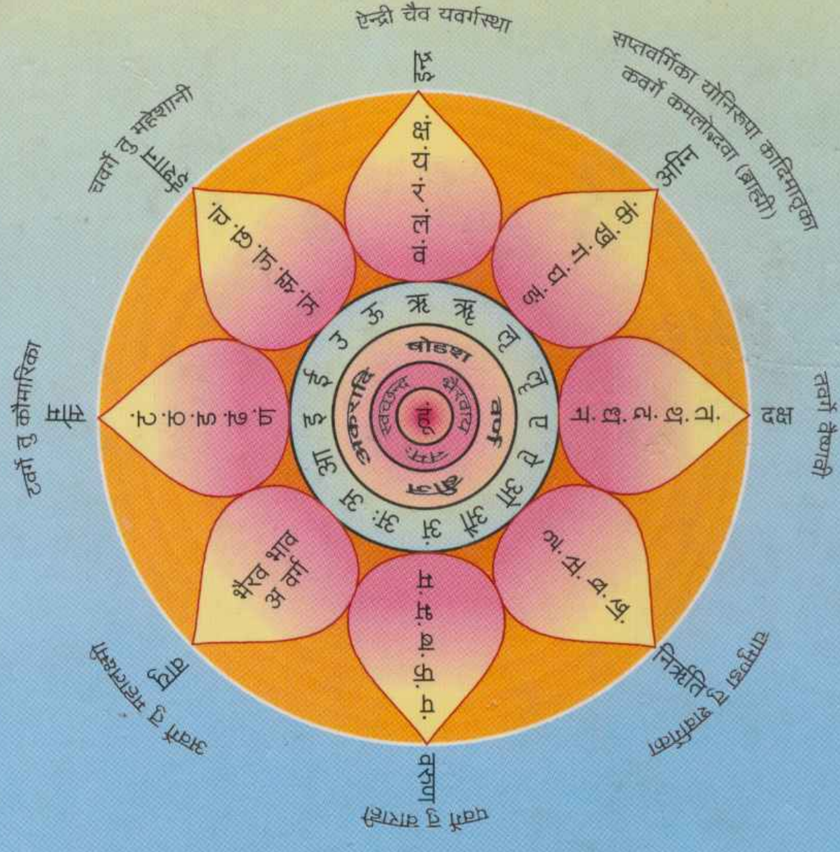

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

स्वच्छन्दशब्दो भैरवरूपस्य परमशिवस्य विशेषणरूपः। अनुग्राह्याननुग्रहाय चिन्मूर्त्तिभित्तिं भित्त्वैव विश्वं बिभर्तुं पोषयितुं च परमशिव एव स्वच्छन्दभैरवदेवरूपेण स्वात्मानं सुप्रकाशितवान्। निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यद् भैरवरूपेणैव स्वच्छन्दभैरवो बिभर्त्ति। भृञ्-धातुः भरणे पोषणे च प्रयुज्यते। पूरणधारणयोगेनैव भृञ्-धातौ भरणपोषणव्यापारयोश्चारितार्थ्यं सम्पद्यते। यो बिभर्त्ति स एव पोषयति च। तादृशो भरणकर्त्ता भैरवो जगदाराध्यो भवति। जगद्भयाद् भीरूणां भरणात् स जगतां हितकृच्च कथ्यते।

यथाऽयं भरणाद्भैरवस्तथैव रवणाच्च भैरव इत्युच्यते। रवणं च विमर्शात्मकं भवति। विश्वविमर्शको भैरवदेवः शब्दराशिसमुत्थापकतया, करणदेवीनां करणव्यापारात् खेचर्यादीनां चरणप्रक्रियाऽऽचरणात् सर्वनियन्त्रकत्वेन च भैरवः समुदीर्यते। सर्वोत्कर्षेण वर्त्तनेच्छैव तस्य स्वतन्त्रता स्वाच्छन्द्यमिति। स्वाच्छन्द्येन समन्वितो भैरवदेव एव स्वच्छन्दभैरवः। एतत्सम्बन्धि यत्तन्त्रम्, तत्स्वच्छन्दतन्त्रमिति तात्पर्यार्थप्रकाशकं तन्त्रं स्वच्छन्दतन्त्रम्।

शब्दराशिविमर्शकोऽयं देवो बीजरूपेण अकारादि-स्वरान् विमृशन् षोडशभेदेन व्यक्तीभवति। भैरवदेवस्याद्या शक्तिः भैरवीदेवी च योनिवर्णात्मिका कु-चु-टु-तु-पु-यवर्ग-शवर्ग-क्षकारेण च सहिता चतुस्त्रिंशद्वर्णेषु व्यक्ता भवति।

ह् र् क्ष् म् ल् व् य् ऊ बिन्दु-मिलिते बीजमन्त्रे क्रमशः कपालेश-शिखिवाहन-क्रोधराज-विकराल-मन्मथ-मेघनादेश्वर-सोमराज-विद्याराजरूपभैरवाष्टकेन सह बिन्दुरूपः सर्वं वेत्तीति विग्रहार्थात् सर्वज्ञः स्वच्छन्दभैरवो नवात्मतया समुल्लसति। अघोरमन्त्रमाध्यमेन सकलरूपेण, हंस-मन्त्र-माध्यमेन निष्कलरूपेण च समुपास्यते स्वच्छन्दः समुपासकैः। उपासनासन्दर्भेषु च विविधैर्विधिविधानैरिज्यतेऽयं देवः। सर्वान् साधनोपासनाक्रमान् संक्रमते स्वच्छन्दतन्त्रम्। तन्त्रेऽस्मिन् प्रतिपादितं वर्त्तते यत् स्वच्छन्दभैरवमाहात्म्यश्रवणेन, अध्ययनेन, होमेन, पूजनेन, चर्यया, ध्यानेन च विशुद्धात्मा लभते पदमैश्वरमिति। आमूलाधाराद् उन्मनापर्यन्तचक्रवेधसाधनया साक्षाद्भैरव एव भवति। ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-सदाशिवानां शक्तिव्याप्तिं प्रदर्श्य समुद्घोषितं वर्त्तते अस्मिन् तन्त्रे यत्—

लौकिकं विज्ञानं **सद्योजातात्**, वैदिकं **वामदेवात्**,
आध्यात्मिकम् **अघोरतः**, **तत्पुरुषाच्चा**तिमतवादाः,
एवम् **ईशानाद्** मन्त्राख्यं विज्ञानं समुत्पन्नमिति शम्॥

•

ISBN : 81-7270-097-0 (Part I)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 32]

ŚRĪ SVACCHANDATANTRA

[PART ONE]

With Two Commentaries

'UDDYOTA'

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ KṢEMARĀJA

&

'NĪRAKṢĪRAVIVEKA'

By

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY
PROF. RAJENDRA MISHRA
VICE-CHANCELLOR

EDITED BY
DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

VARANASI
2002

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-097-0 (Part I)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)

❒

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 400.00

❒

Printed by—
VIJAY PRESS
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[३२]

महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[प्रथमो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'

वाराणस्याम्

२०५९ तमे वैक्रमाब्दे   १९२४ तमे शकाब्दे   २००२ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

ISBN : 81-7270-097-0 (Part I)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)

❐

प्रकाशकः—
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथमं संस्करणम् – ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् – ४००.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रकः—
विजय प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी।

स्वस्तिवाचिक

त्रिकदर्शन, क्रमदर्शन, कौलमत अथवा कौलतन्त्र तथा स्वच्छन्दतन्त्र आदि विविध अभिधानों से लोक में प्रसिद्धि के शिखर पर आरूढ एक अद्भुत दार्शनिक चिन्तन-प्रक्रिया पूर्व-मध्यकाल में काश्मीर में प्रतिष्ठित हुई, जिसने मात्र तीन शताब्दियों में अपने सिद्धान्त एवं साधना—दोनों ही पक्षों को अनभिभव योग्य बना दिया। मुक्ति को, जीव के **स्व-रूप** की **पहचान** सिद्ध कर इस दर्शन ने अतिशय लोकप्रियता प्राप्त की तथा विद्वानों एवं साधकों के बीच 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के रूप में सुप्रतिष्ठित हो गया।

परन्तु शैवतन्त्र से जुड़ा यह दर्शन जिस विद्युद्वेग से पूर्णता एवं लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचा था, उसी वेग के साथ अप्रचलित एवं अज्ञातप्राय भी बन गया। इसका कारण था इस्लाम-धर्म की विभीषिका से आक्रान्त काश्मीर के सारस्वत वातावरण का उच्छिन्न हो उठना। मनस्वी चिन्तकों, साधकों, भाष्यकारों के पलायन तथा सामाजिक योग-क्षेम के विनाशवश यह महान् दार्शनिक चिन्तन, बस कुछेक ग्रन्थों में ही सीमित रह गया। उसका साधनापक्ष तो समाप्त-सा ही हो गया।

काश्मीर का प्रत्यभिज्ञादर्शन यद्यपि आचार्य उत्पलदेव द्वारा प्रतिष्ठापित माना जाता है, तथापि उसकी परम्परा उत्पल से भी पूर्ववर्तिनी सिद्ध होती है। त्र्यम्बक-सम्प्रदायोत्पन्न आचार्य सोमानन्द को स्वयं उत्पलदेव शिवदृष्टिवृत्ति के मङ्गलाचरण में अपना गुरु बताते हैं—

श्रीत्र्यम्बकसद्वंशमध्यमुक्तामयस्थितेः।
श्रीसोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम् ।।

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञावि.वि., मङ्गल.२)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते।
शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसङ्गतिम् ।।

(शिवदृष्टिविवृति, मङ्गलश्लोक ३)

इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवः।
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।।

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ४.१६)

यद्यपि उत्पलदेव ने अपने पिता का नाम उदयाकर बताया है[१]; परन्तु अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में उन्हें सोमानन्द का ही पुत्र एवं शिष्य बताया है[२]। इससे स्पष्ट है कि सोमानन्द का ही नामान्तर उदयाकर भी रहा होगा। आचार्य उत्पल के पुत्र एवं शिष्य लक्ष्मणगुप्त, जो भट्टेन्दुराज के समसामयिक थे, महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञा-गुरु थे। भट्टेन्दुराज से भी अभिनव ने अलङ्कारशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी[३]।

काश्मीरक शैव-परम्परा में यह मान्य है कि 'सिद्ध वसुगुप्त को साक्षात् श्रीकण्ठ अर्थात् भगवान् शिव से ही प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान प्राप्त हुआ था। वसुगुप्त से ही यह ज्ञान भट्टकल्लट को प्राप्त हुआ। शिवसूत्रविमर्शिनी में आचार्य क्षेमराज स्वयं यह तथ्य प्रकाशित करते हैं—

वसुगुप्तनामा गुरुः एतानि (शिवसूत्राणि) च सम्यगधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान्।

इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञादर्शन की परम्परा स्वयं भूतभावन शिव (श्रीकण्ठ) से प्रारम्भ होकर भट्टकल्लट एवं सोमानन्द के माध्यम से विकसित हुई। इस परम्परा के विकास में उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त (पुत्र), राजानक रामकण्ठ (उत्पल-शिष्य), अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज का विलक्षण योगदान है। विभ्रमाकर (उत्पल के दूसरे पुत्र), पद्मानन्द (सहाध्यायी), मनोरथगुप्त आदि भी उसी परम्परा की अग्रिम कड़ी हैं। चूँकि भट्टकल्लट एवं अभिनव का समय राजतरङ्गिणी एवं क्षेमेन्द्र के प्रामाण्य से सुनिश्चित है, अतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा-शैवदर्शन की प्रभविष्णुता की अवधि ई. सन् ८२५ से १०२५ के बीच रही होगी[४]।

वल्लभ-वेदान्त में कृष्णभक्ति की प्रतिष्ठा 'पुष्टितत्त्व' के रूप में हुई है। इस दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा-शैवदर्शन शुद्धाद्वैत का सहोदर प्रतीत होता है; क्योंकि इस दर्शन में भी परमसत्ता अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए 'भक्तिलक्ष्मी' की ही सर्वोपरि प्रतिष्ठा की गई है। भक्तिश्री से सम्पन्न व्यक्ति के समान न कोई ऐश्वर्यवान् है और न भक्तिरहित जैसा निपट दरिद्र। यद्यपि मोक्षप्राप्ति के लिए

१. जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना। ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।। (ई.प्र.का.४.१८)

२. त्रैयम्बकप्रसरसागरशायिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः। (तन्त्रा. ३७.६१)

३. भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।। (ध्वन्यालोकलोचन)
तद्दृष्टिसंसृतिच्छेदि प्रत्यभिज्ञोपदेशिनः।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः।। (मालिनीविजयवार्तिक, मङ्गल. २)

४. अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्।। (राज. ५.६६)
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः। (क्षेमेन्द्रः)

इस दर्शन में भी आगमसम्मत अनुपाय, शाम्भव उपाय, शाक्त उपाय तथा आणव उपाय को पूर्ण मान्यता दी गई है, तथापि आचार्य उत्पल 'अनुपाय' पर ही आश्रित दीखते हैं, जिसमें महेश्वर के साक्षात् शक्तिपातवश सद्यः महेश्वरतावाप्ति की सम्भावना बनी रहती है। महेश्वर की यही अहैतुकी कृपा (शक्तिपात) वल्लभ-वेदान्त की पुष्टि के समकक्ष प्रतीत होती है। आचार्य उत्पल कहते हैं—

न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।२.१।

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्।।२०.११। (शिवस्तोत्रावली)

यदि आचार्य उत्पल का प्रामाण्य स्वीकार करें, तो भक्तिभाव-संवलित शिवाद्वैत ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का एकमात्र लक्ष्य सिद्ध होता है। भक्ति-समन्वित शुद्धाद्वैत ही वल्लभ-वेदान्त का भी एकमात्र लक्ष्य है। इस प्रकार, पुष्टि-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित शिव-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति और उन्हीं दोनों से संवलित कृष्णाद्वैत तथा शिवाद्वैत क्रमशः दोनों सम्प्रदायों में तुल्यप्रतिष्ठ दीखता है[१]।

आचार्य उत्पल भक्तिसमन्वित अद्वैत के ही पक्षधर हैं, शुष्क ज्ञानमात्र के नहीं[१]। वह परमेश्वर से भी बढ़कर, उसकी भक्ति को श्रेय देते हैं[२]। आत्मा एवं परमात्मा (शिव) की प्रत्यभिज्ञा एवं उसकी परिपूर्ण अहन्ता का सतत विमर्श, शैवदर्शनाभिमत छत्तीस तत्त्वों के क्रियाकलापों के माध्यम से, परमेश्वर शिव का ही लीलोल्लास मानते हुए आचार्य उत्पल शिवाद्वैत का अनुभव करते हैं। उल्बण शिव-भक्ति-संवलित अद्वैतसिद्धि ही भोग एवं मोक्ष—दोनों का स्रोत है। इस शिवाद्वैत के सिद्ध होते ही दुःख भी सुखरूपता को प्राप्त हो जाता है, विष भी अमृत बन जाता है और संसार-बन्धन भी मोक्षरूप हो जाता है। ऐसे सिद्ध भक्त परमहंस-स्थिति में अनिर्वचनीय अद्वैतानन्द का अनुभव करते हैं।

---

१. शुष्ककं मैव सिद्धेय मैव मुच्येय वापि तु।
स्वादिष्ठपरकाष्ठाप्तत्वद्भक्तिरसनिर्भरः।।

२. न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकाङ्क्षी त्वदर्चकः।
भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः।।
मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो।
तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः।। (शिवस्तोत्रावली)

आचार्य उत्पल ने अपनी लम्बी आयु में[१] सम्भवतः स्वयं इस शिवाद्वैत-सुख का अनुभव किया था--

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः।।२०.१२।

साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृतामृततर्पिताः।
उन्मूलिततृषो मत्ता विचरन्ति यथारुचि।।१२.४। (शिवस्तोत्रावली)

उपर्युक्त समस्त विवरण काश्मीर प्रत्यभिज्ञा-शैवदर्शन की परिचयात्मक प्ररोचनामात्र माने जा सकते हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन का सैद्धान्तिक विशदीकरण उत्पल की कालजयी कृतियों—शिवस्तोत्रावली, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति (टीका), सिद्धित्रयी (अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, सम्बन्धसिद्धि) तथा शिवदृष्टिवृत्ति में साङ्गोपाङ्गतया उपलब्ध होता है। आचार्य उत्पल के प्रथम तीन ग्रन्थों तथा उन पर लिखी गयी आचार्य अभिनव की विमर्शिनी एवं विवृतिविमर्शिनी को मिला कर ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का 'शास्त्रपञ्चक' बनता है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में परमेश्वर को चित् आनन्द इच्छा ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों से सम्पन्न तथा सदैव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूप पञ्च कृत्यों का कर्ता माना गया है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।। (शिवदृष्टिः, १.२)

इस दर्शन में शिव से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त ३६ तत्त्वों, ११८ भुवनों, समस्त स्थूल-सूक्ष्म भावों तथा शिव से लेकर सकल-पर्यन्त सात प्रमाताओं का विकास एक ही परमसत्ता से निरूपित किया गया है। बन्धन-मोक्ष, जीव-मुक्त, शिव-शक्ति—सबको एक ही परमेश्वर का लीलाविलास बताया गया है। फलतः शाङ्कर-वेदान्त के 'ब्रह्म सत्यम्' अथवा ब्रह्माद्वैततत्त्व की ही भाँति यह दर्शन भी 'शिवाद्वैत' की प्रतिष्ठा करता है। उत्पलदेव स्वयं इस दर्शन को अद्वयवाद,

---

१. मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि जरादिदोष-
भीतोऽस्मि शक्तिरहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि।
शम्भो तथा कलय शीघ्रमुपैमि येन
सर्वोत्तमां धुरमपोज्झितदुःखमार्गः।। (शिवस्तोत्रावली, ११.८)

ईश्वराद्वयवाद, शिवाद्वैत, शिवाद्वय, शक्तिमद्वाद अथवा शैवदर्शन कहते हैं। पति (पशुपति) पाश एवं पशु के सङ्घटकत्रय की प्रधानतावश इसे त्रिकदर्शन भी कहा जाता है; परन्तु आचार्य उत्पल की ही कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की प्रसिद्धिवश यह दर्शन कालान्तर में प्रत्यभिज्ञादर्शन के नाम से प्रख्यात हो गया।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव (पशु) वस्तुतः शिव ही होता है; परन्तु संसार में आकर अपने मूलस्वरूप अर्थात् शिवत्व को भूल जाता है तथा अपने स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर को ही अपना स्वरूप समझने लगता है। ऐसे बद्ध जीव को अपने मूलस्वरूप शिवत्व की पहचान कराने के कारण ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा'दर्शन कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा (प्रति + अभि + ज्ञा) का अर्थ है पहचान, जिसमें तत्ता एवं इदन्ता की युगपत्प्रतीति होती है (तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा)। प्रति का अर्थ है प्रतीप अथवा विपरीत। अभि का अर्थ है—अभिमुख, आमने-सामने। ज्ञा का अर्थ है ज्ञान अथवा प्रकाश। अत एव विस्मृततत्त्व का अभिमुख रूप से ज्ञान होना ही प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। प्रतीपम् का तात्पर्य इतना ही है कि अपनी आत्मा का पूर्व में भी अवभास होता है। ऐसा नहीं है कि पहले उसका अस्तित्व विद्यमान न रहा हो; क्योंकि वह अनवच्छिन्न रूप से प्रकाशित रहने वाला तत्त्व है। अपनी ही स्वातन्त्र्य शक्ति के विलास से असीमित (अबाधित, अविभक्त) होते हुए भी वह सीमित (बाधित, विभक्त) सा प्रतीत होता है। अत एव प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—पूर्व में भात (ज्ञात) वस्तु का सम्प्रति भासमान के साथ एकीकरण। आचार्य अभिनव कहते हैं—

प्रतीपम् आत्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति स्वात्माभासो हि नाननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य। स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यत इति वक्ष्यते। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञावि.

यद्यपि आचार्य सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञा की व्याख्यायें भिन्न रीति से की हैं, तथापि उन सब का निर्गलितार्थ एक ही प्रतीत होता है। वह यह कि आत्मा में माहेश्वर्य की अनुभूति ही प्रत्यभिज्ञा है। महेश्वर ही समस्त प्राणियों की आत्मा है; क्योंकि उन (प्राणियों) की समस्त क्रियायें उसकी इच्छा, ज्ञान एवं क्रियादि शक्तियों से सञ्चालित होती हैं। यह आत्मा स्वप्रकाश, पूर्वसिद्ध, पुराण तथा समस्त कार्यों की सिद्धि का समाश्रयभूत है; परन्तु ऐसा स्वसंवेदनसिद्ध आत्मा शिवरूप होते हुए भी मोह (मायाशक्ति अथवा मल) वश अपने ऐसे असीमित ऐश्वर्य को सर्वथा विस्मृत कर देता है और जब इसका वही असाधारण प्रभाव या सामर्थ्य अभिज्ञापित होता है, अर्थात् जब उस आत्मा की अबाधित ज्ञान एवं क्रिया

शक्तियों का अनुसन्धान होता है, तो निश्चय ही उसकी प्रत्यभिज्ञा निरूपित होती है—

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।। (ई.प्र.का. १.३)

आचार्य क्षेमराज स्व-स्वरूप से अनभिज्ञ को ही संसारी जीव (पशु अथवा बद्ध) तथा अपनी वास्तविक शक्तियों से प्रत्यभिज्ञात को शिव मानते हैं—

· **तथा शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते। स्वशक्तिविकासे तु शिव एव।**
(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ. ४९)

इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का लक्ष्य है जीव को उसके वास्तविक शिवस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराना, ताकि वह सीमितता के निकृष्ट क्षेत्र से ऊपर उठकर असीमित ऐश्वर्य के उत्कृष्ट क्षेत्र का आनन्दानुभव कर सके।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की ज्ञानमीमांसा सर्वथा स्पष्ट है। शङ्कर के ब्रह्माद्वैत की तरह यहाँ भी शिवाद्वैत की प्रतिष्ठा है; परन्तु शाङ्कर-वेदान्त जैसा विवर्तवाद का उलझाव यहाँ नहीं है। इस दर्शन की मान्यता है कि समस्त जगत्प्रपञ्च का मूल है एक परमसत्ता (परमशिव), जो प्रकाशविमर्शरूप है। अवभासित अथवा अभिव्यक्त होना (Manifestation) उसका निसर्ग है। कर्तृत्व (Creativity) उसका ऐश्वर्य है। यदि वह परमसत्ता अवभासित होने में असमर्थ होती, तो वह चैतन्याधिष्ठान आत्मा न होकर, घटादि की भाँति जड़वस्तु होती, जैसा कि तन्त्रालोक में आचार्य अभिनव कहते हैं—

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ।। (३.१००)

वस्तुतः वह महेश्वर (परमशिव) असीमित रूपों में अवभासित होने की सामर्थ्य से युक्त संवित्स्वरूप है। इसके विश्वोत्तीर्ण रूप में अहम् तथा इदम् (विश्व) अभेदरूप में अवस्थित हैं, अर्थात् परमशिव के चिन्मय रूप के साथ, पदार्थों का तादात्म्य होने के कारण, उनका भी चिन्मय ही रूप होता है[१]। अहम् उस महेश्वर का **प्रकाशरूप** है तथा उस अहन्ता की अनुभूति (awareness) उसका विमर्शरूप है। वही विमर्श उस परमशिव की स्वातन्त्र्यशक्ति भी कहा जाता

---

१. तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः। (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ. ५०)

है। इसी में चराचर जगत् सूक्ष्मरूप में अवस्थित रहता है, नन्हें बीज में वटवृक्ष की तरह। परमशिव की शक्ति ही चिति, पराशक्ति अथवा परावाक् कही जाती है। वही शक्ति विश्व के रूप में विकसित होती है। यह जगद्विकास ही परमशिव का विश्वमयरूप कहा जाता है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्।। (परात्रि. ३४)

वस्तुतः विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय—दोनों ही स्थितियों में परमार्थता एक ही मूलसत्ता की होती है। विश्वोत्तीर्ण रूप में जो परमशिव है, महेश्वर अथवा शिव भट्टारक है, विश्वमय रूप में भी वस्तुतः वही है। जब वह परमशिव जगत् रूप में अपना विकास करना चाहता है, तो स्वयं से अभेदात्मना अवस्थित प्रमाता एवं प्रमेयों (तत्त्वों) को अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति (विमर्श) की महिमा से, स्वयं को ही आधार बनाकर पृथक् उन्मीलित कर देता है। कैसे? नगर-दर्पणवत्। उन्मीलन का तात्पर्य है पूर्वावस्थित का ही प्रकटीकरण, जो सृष्टि से पूर्व प्रकाशैकात्म्यरूप में अवस्थित है। जगद्विकास छत्तीस तत्त्वों में विभक्त है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में सृष्टि, शाङ्कर-वेदान्त के ब्रह्मविवर्त जैसी नहीं है, प्रत्युत वह परमशिव की आनन्दशक्ति का स्फारमात्र है, परमशिव की स्वातन्त्र्यशक्ति का विलास है, स्व का ही उन्मीलन है, जो अभिन्न होते हुए भी भिन्न दीखता है, दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान।

अभिनव तथा क्षेमराज दोनों ही विश्वप्रपञ्च को महेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति (विमर्श) का हेतु मानते हैं[१]।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में परमसत्ता (परमशिव, महेश्वर) का अर्थ है शिव एवं शक्ति (अथवा प्रकाश एवं विमर्श) का सामरस्य; परन्तु यह सामरस्य दो पृथक् तत्त्वों का नहीं, प्रत्युत एक ही वस्तु के दों पक्षों (aspects) का है। मूल तत्त्व तो शिवाद्वैत ही है। विश्वोत्तीर्ण दशा का ही नाम है शिव तथा विश्वमय दशा का नाम है शक्ति। शिव प्रकाशरूप है तथा शक्ति विमर्शरूप। प्रकाशरूप शिव नित्यसत्तारूप अहन्ता का परिचायक है, जिसके अभाव में किसी भी वस्तु का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होता। विमर्शरूप शक्ति का तात्पर्य है अकृत्रिम अथवा स्वाभाविक रूप से अहम् का विस्फुरण या प्रतीति।

---

१. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (प्रत्य. सू. १)
सर्व एवायं विश्वप्रपञ्च आनन्दशक्तिस्फारः। (तन्त्रालोकः, पृ. २०१)
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। (प्रत्य. सू.-२)

परन्तु परमसत्ता के ये दोनों पक्ष—शिव तथा शक्ति (अथवा प्रकाश एवं विमर्श, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय) पूर्णत: अद्वैत हैं, कथमपि भिन्न नहीं। जैसे अग्नि से उष्णता, जल से शीतलता, पुष्प से सौरभ सर्वथा अभिन्न अथवा समरस होते हैं, ठीक उसी प्रकार शिव तथा शक्ति तत्त्व भी पूर्णत: अभिन्न हैं—

न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्।।

(शिवदृष्टि:, ३.२.७)

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का परमशिव विषयविषयीभाव से परे है। फिर भी वह विषय एवं विषयी—दोनों का अधिष्ठान है। फलत: इस दर्शन में शिवतत्त्व से भिन्न जगत् की व्याख्या ही सम्भव नहीं, जब कि अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म (परमार्थ) से भिन्न जगत् (व्यवहार) की व्याख्या सम्भव है—विवर्तवाद के माध्यम से। अद्वैत-वेदान्त में परमार्थ (ब्रह्म) तो अन्तिम सत्य (ultimate reality) है ही, व्यवहार (जगत्) भी निर्बाध अवधि में (for the time being) सत्य है, विवर्तरूप में ही सही। रज्जु अथवा शुक्ति तो सत्य है ही, जब तक सर्पत्व अथवा रजतत्व सरीखे भ्रान्त ज्ञान का अपलाप न हो जाय, रज्जु तथा शुक्ति में सर्प तथा रजत का ज्ञान भी सत्य है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में ऐसा नहीं है। शिव का स्पन्दमात्र होने के कारण जगत् शिवभिन्न है ही नहीं। वह उसका विमर्श मात्र है। सम्पूर्ण जगत् शिव में यूँ अवस्थित है, जैसे समुद्र में उसकी तरङ्गें। वेदान्त तरङ्गों को सागरजल का विवर्त मानता है, अत: उसकी सत्ता के ज्ञान का प्रश्न उठाता है; परन्तु प्रत्यभिज्ञा-दर्शन तरङ्गयुक्त सागर को भी 'सागर' ही मानता है।

वेदान्त में माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है, जो सदसद्विलक्षण अतश्च अनिर्वचनीय है; परन्तु प्रत्यभिज्ञा में शिव की शक्ति, शिव से अभिन्न होते हुए भी, अनिर्वचनीय नहीं है। वेदान्त का ब्रह्म जगत् का कारण नहीं; परन्तु प्रत्यभिज्ञा का शिव विशुद्ध चेतन, कूटस्थ, नित्य तथा अपरिणामी होते हुए भी—जगत् का भी कारण है, सर्वथा शुद्धाद्वैत के कृष्णतत्त्व की तरह।

यहाँ दोनों तथ्य परस्पर विरोधी प्रतीत हो सकते हैं कि यदि शिव कूटस्थ, नित्य तथा अपरिणामी है, तो परिणामी जगत् का कारण कैसे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य अभिनव कहते हैं कि परिणामी जगत् शिव की स्पन्दशक्ति मात्र का परिणाम है। स्पन्दशक्ति ही वस्तुत: परिवर्तन (world creation) का कारण है; परन्तु इस स्पन्दजन्य परिवर्तन (सृष्टि) के बावजूद परमशिव की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। वह एकरूप तथा विश्वातीत ही रहता है।

उस स्थिति में तो द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही नहीं रहते—**'न द्वैतं नापि चाऽद्वैतम्'** (तन्त्रालोक)।

अद्वैत-वेदान्त के परब्रह्म में न तो परमशिव जैसी स्पन्दशक्ति है और न ही ब्रह्म की मायाशक्ति का शिवाभिन्न शक्ति के साथ कोई साम्य, अत: प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में परमशिव की प्रतिष्ठा अद्वैत ब्रह्म से भी 'परतर' सिद्ध होती है तथा शुद्धाद्वैत के कृष्णतत्त्व के समकक्ष।

विवर्तवाद में **परमार्थत:** कारण से कार्य को अभिन्न माना गया है; परन्तु **व्यवहारत:** कारण से कार्य भिन्न प्रतीत होता है। यही उसका मिथ्यात्व है; परन्तु प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में इस कारण-कार्य-सम्बन्ध की प्रभूत व्याख्या नहीं की गई है, बस अपनी मान्यताओं को स्पष्ट शब्दों में उपन्यस्त कर दिया गया है।

यद्यपि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की जगद्विषयक सोच, अद्वैत-वेदान्त जैसी ही है, तथापि वह उसकी व्याख्या 'विवर्तवाद' के माध्यम से नहीं करता। आखिर क्यों? यह प्रश्न अनुत्तरित है। या तो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन जगत् को परमशिव का विवर्त मानता ही नहीं; क्योंकि उसकी दृष्टि में तो जगत् 'दर्पणनगरवत्' शिव में प्रतिबिम्बित है। यह एक विलक्षण दृष्टान्त है। रज्जु में सर्प का अथवा शुक्ति में रजत का भ्रमात्मक ज्ञान तो सम्भव है; परन्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के ज्ञान में भ्रम कैसा? दर्पण (परमशिव) भी सत्य है, नगर (जगत्) भी सत्य है और दोनों सत्य एकाकार हैं—विषय एवं विषयी के अधिष्ठान की एकता के कारण।

वेदान्त के भ्रमज्ञान में सर्प एवं रज्जु अथवा शुक्ति एवं रजत के अधिष्ठान परमार्थत: भिन्न होते हैं, व्यवहार मात्र में अभिन्न प्रतीत होकर मिथ्याध्यास की सृष्टि करते हैं।

परन्तु प्रत्यभिज्ञा में यह मिथ्याध्यास है ही नहीं, इसीलिए वहाँ 'भ्रमात्मक ज्ञान' की भी कोई सत्ता नहीं, कोई विवाद नहीं—कम से कम जगत् की सत्ता के सन्दर्भ में; परन्तु इसका यह अर्थ कत्तई नहीं कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में **मिथ्याध्यास** की अवधारणा है ही नहीं।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में परमशिव को स्वतन्त्र एवं स्वप्रकाश (प्रकाशात्मा) कहा गया है। जो स्वतन्त्र है, वह जड नहीं होगा। आचार्य अभिनव स्पष्टत: कहते हैं कि—**'स्वतन्त्रं हि स्वप्रकाशत्वमुच्यते। जाड्यं परप्रकाश्यत्वमुच्यते'** (तन्त्रालोक)।

अर्थात् मात्र स्वतन्त्र वस्तु ही प्रकाशात्मा होती है, जब कि जड वस्तु प्रकाशार्थ पराधीन होती है। पराधीन वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता होती ही नहीं। जिसमें चैतन्य नहीं वह 'अवस्तु' है, वेदान्त के इस मत को क्षेमराज भी स्वीकार करते हैं—शिवसूत्रविमर्शिनी में।

विश्व की समस्त वस्तुएँ परिज्ञानार्थ (चेतन) आत्मा में अध्यस्त हैं और आत्मा का भी अभिमान (अयमहम्) अनात्मा अर्थात् अचेतन (जड) शरीर में होता है। अद्वैत-वेदान्त इसी को मिथ्याध्यास मानता है। आचार्य क्षेमराज भी इस प्रकार के अभिमान को अज्ञानमूलक ही मानते हैं। इस प्रकार, सिद्धान्त में तो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन भी मिथ्याध्यास अथवा अज्ञान को मान्यता प्रदान करता है; परन्तु जगत् की सत्ता के सन्दर्भ में वह वेदान्त के विवर्त को नहीं मानता है। जगद्विषयक उसकी अवधारणा सर्वथा शुद्धाद्वैत के ही समान है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की यह परिचयात्मक सामग्री मैंने मात्र इस उद्देश्य से लिखी, ताकि पाठक उस **स्वच्छन्दतन्त्र** के गूढ गह्वर में प्रविष्ट हो सकें, जिसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा किया जा रहा है।

स्वच्छन्द का अर्थ है स्वाधीन अथवा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र। देवाधिदेव परात्पर भगवान् भूतभावन शिव ही 'भैरव' के रूप में स्वच्छन्द हैं। विश्वभरणकर्त्ता परमशिव ही **भैरव** हैं अथवा जगद्भय से सन्त्रस्त भक्तों का भरण (रक्षण) करने के कारण भी वे **भैरव** हैं। स्वच्छन्दतन्त्र नामक विलक्षण गूढ साधनाग्रन्थ में उन्हीं स्वच्छन्द परमशिव की महिमा-गरिमा का प्रतनन किया गया है।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन-ग्रन्थागार में सौभाग्यवशादुपलब्ध उसी प्रास्थानिक सिद्धान्तग्रन्थ की हिन्दी-व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं काश्मीर शैवागम के अधिकारी विद्वान् आचार्य एवं नैष्ठिक साधक **डॉ. परमहंस मिश्र जी।** इस महनीय ग्रन्थ पर महामाहेश्वराचार्य **श्री क्षेमराज** ने **उद्द्योत** नामक मर्मप्रकाशिनी टीका लिखी है। इतना होने के बावजूद, यह ग्रन्थ पुरश्चरणात्मक संविधानक एवं सैद्धान्तिक जटिलताओं के कारण बोधगम्य नहीं था। उससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अच्छे से अच्छा विद्वान् भी (यदि वह शैवतन्त्रागम में दीक्षित नहीं, किसी सम्प्रदायरक्षी देशिक द्वारा शक्तिपातदीक्षित नहीं), मूल कारिकाओं तथा क्षेमराजप्रणीत उद्द्योत-टीका का हिन्दी-रूपान्तर तक कर पाने में समर्थ नहीं था, व्याख्या का तो प्रश्न ही नहीं।

परन्तु त्रिपुरहरनगरी काशी आज भी ऐसे तपस्वी साधकों से रिक्त नहीं। **आचार्य परमहंस-मिश्र** के रूप में उसे एक ऐसा ही मनस्वी विद्वत्तल्लज प्राप्त है, जो काश्मीर शैवागम के समस्त भेदोपभेदों का तलस्पर्शी व्याख्याता है। डॉ. मिश्र ने पहले भी अनेक चूडान्त प्रत्यभिज्ञा-ग्रन्थों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में साधिकार व्याख्या की है। इनमें प्रमुख हैं— **तन्त्रालोक** (आठ भाग), **तन्त्रसार** (दो भाग), **श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र**, **श्रीकुलार्णवतन्त्र** तथा **मन्त्रयोगसंहिता।**

आचार्य परमहंस मिश्र जी एक श्रेष्ठ साधक गुरु की शक्तिपात-दीक्षा से अनुगृहीत विद्वान् हैं। शैवतन्त्रागम की गूढ़ साधना से उद्भासित उनका दर्पणोपम अन्तःकरण प्रतिबिम्बित करता है समूचे प्रस्थान को। फलतः उस प्रतिबिम्बित प्रस्थान को भाषा के माध्यम से सर्वजनसंवेद्य बनाना, बोधगम्य बनाना उनके लिए सरल कार्य है। यह तथ्य कौन नहीं जानता कि बिना स्वयं समझे किसी को कोई सिद्धान्त, रहस्य अथवा प्रमेय समझाया नहीं जा सकता। समझाने की यह क्षमता भी देवकृपा से ही प्राप्त हो पाती है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है—

सोइ जानइ जेहिं देहु जनाई।
जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।।

आचार्य मिश्र उसी **'शिवोऽहम्'** स्थिति में पहुँचे हुए साधक हैं। मैं उनके सारस्वतोपायन का हार्दिक स्वागत करता हूँ। उनकी शतायुष्य-कामना के साथ **'श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्'** का यह प्रथम भाग शैवागमरसिकों के करकमलों में अर्पित करते हुए मैं स्वयं भी अपनी सुभगम्मन्यता का अनुभव कर रहा हूँ। यथाशीघ्र इसके अन्य भागों का भी प्रकाशन होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि शैवागम-ग्रन्थों के प्रकाशनों की यह भूयसी संख्या सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी को प्रत्यभिज्ञा-प्रसवभूमि काश्मीर जैसी ही ख्याति प्रदान करेगी।

इस महनीय प्रकाशन के सन्दर्भ में यदि प्रकाशन-निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** जी का उल्लेख न हो, तो मेरा **'स्वस्तिवाचिक'** अपूर्ण रह जायेगा। डॉ. त्रिपाठी वह सारस्वत मणि हैं, जिसकी ज्योति से इस विश्वविद्यालय का परिवेश नित्यविशद बना रहता है। विश्वविद्यालय का यशोवर्धक प्रकाशन-संस्थान मणि जी के श्रम, अध्यवसाय, निष्ठा एवं अनाहत पौरुष का परिणाम है; क्योंकि संस्थान के लिए कई लाख का अनुदान डॉ. त्रिपाठी ने शासन से स्वयं प्राप्त किया है। इस दृष्टि से विश्वविद्यालय उनका अधमर्ण है तथा उन पर अभिमान भी करता है। इन्हीं शब्दों के साथ, ग्रन्थाधिदेवता के श्रीचरणों में प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ—

स्वप्रकशविमर्शाभ्यां जगतीरङ्गमण्डपे।
क्रीडन्तं विविधं वन्दे शिवं स्वच्छन्दभैरवम्।।

वाराणसी
अनन्त-चतुर्दशी,
वि.सं. २०५९

विद्वद्वशंवद
अभिराजराजेन्द्र मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

स्वात्म-विमर्श

स्वच्छन्दतन्त्र के भाष्य का यह प्रयास स्वात्ममहेश्वर देशिक के आदेश की ही अभिव्यक्ति है । वस्तुतः स्वातन्त्र्य से समन्वित विश्वात्मा का यह उल्लास है । विश्वमयता के रूप में यह सुव्यक्त है । स्वतन्त्र भट्टारक भैरव की आराधना का अर्घ्य है । भगवती भारती ने मुझे इसमें समायोजित किया है । उस असीम अनुकम्पा के अमृत से अभिषिक्त होने का यह सौभाग्य मुझे मिला है । इसका मुझे हर्ष है । सर्व-प्रथम उस विश्वरूप विश्वात्मा की अभिमर्शमयी शक्ति-सुधा से मैं इस विश्व को अभिषिक्त करना चाहता हूँ, जिसमें रहकर मैं सार्वात्म्य का साक्षात्कार कर रहा हूँ । मैं चाहता हूँ–वैषम्य से विषाक्त जीवन की घुटन में पड़ा, पारस्परिक विद्वेष और घृणा से घिरा यह वर्तमान मानव, अभेद अद्वय भैरवभाव की अमृत माधुरी को पिये और विजयिनी मानवता की मनोज्ञता में रम कर जागरूकता का जीवन जिये । पर-प्रकाशवपुष् परमेश्वर का वरदान प्राप्त कर उदात्त वैचारिक विज्ञान के दिये जलाये ।

यह भैरवभाव वह समुद्र है, जो अतलान्तक महासागर की तरह शश्वत् समुच्छलित है । यह संसार उसी महासमुद्र की सृष्टि-संहारमयी लहरिकाओं की लीला का लास है । इसकी पूर्ण अनुभूति के लिये स्वच्छन्दतन्त्र का स्वाध्याय अनिवार्यतः आवश्यक है । इसके स्वाध्याय से समस्त अज्ञानजन्य अन्धकार का विनाश हो जाता है, यह अनुभूत सत्य है । मैंने इसका मनोयोगपूर्वक परिशीलन किया है और अपने साधना-निकष पर निकषायित भी किया है । मेरे हर्ष का उस समय आर-पार नहीं होता था, जब मेरी चेतना का चामीकर इस तन्त्र की कसौटी पर खरा प्रमाणित होता था ।

इस सन्दर्भ में यह कहना भी आवश्यक है कि, साधना के ये सन्दर्भ पूरी कर्मकाण्ड की पुनरुक्तिमयी प्रक्रिया में मणि-काञ्चन माला की मणियों की तरह पिरोये गये हैं । सारा ग्रन्थ प्रक्रियामय है । फिर भी अनुभूतियों के स्वर्ण को तप्तदिव्यकाञ्चन बनाने के लिये इस प्रकाशराशि का निरन्तर प्रयोग आवश्यक है । कर्मकाण्डी के लिये इसमें कर्मकाण्ड के सविधि प्रयोग हैं और साधक के लिये बीच-बीच में साधना का स्वारस्य भी निहित है ।

कैलास के शिखर पर आसीन भैरव भट्टारक की भक्तिपूर्वक वन्दना कर देव-वर्ग बैठ चुका था । इस देवसभा में चण्ड, नन्दि, महाकाल गणेश, वृष, भृङ्गी, स्वयं कुमार षडानन, इन्द्र, यम, आदित्य, ब्रह्मा, विष्णु सभी उपस्थित थे । वार्तालाप और सामान्य समुदाचार के बाद स्वयं सर्वेश्वरी शक्ति की प्रतीक देवी भैरवी ने भगवान् भैरव भट्टारक के समक्ष अपनी जिज्ञासा को प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया है ।

यह कथा स्वयं कुमार ने ऋषियो को सुनायी थी । परम्परा से प्रसृत कैलास-शिखर से प्रवहमान इस आगमिक विज्ञान की जानकारी विश्व को प्राप्त हुई । हिन्दी मातृका के माध्यम से उसे मैं आज की सामाजिकता को अर्पित कर रहा हूँ ।

पार्वती के प्रश्नों के अन्तर्गत इन विषयों से सम्बन्धित जिज्ञासाएँ थीं-गुरु, शिष्य, साधक, मण्डप भूमि, मन्त्र, काल, यजन, हवन, अधिवास, रजस, पञ्चगव्य चरु, दन्तकाष्ठ, मण्डल, दीक्षा, अभिषेक, समय और समाचार सम्पालन के विशिष्ट साधन आदि । इस प्रकार इस ग्रन्थ के इस प्रथम भाग में उस युग में प्रचलित सभी सामाजिक अनुष्ठानों, यज्ञीय परम्पराओं और तत्कालीन वैचारिक-व्यावहारिक जीवन शैली से समन्वित समुदाचारों से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का सम्यक् समाधान भैरव भट्टारक ने किया है । आज के युग के लिये भी ये सभी समाधान प्रासंगिक हैं । इस तरह इस तन्त्र-ग्रन्थ का महत्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है ।

स्वात्म में प्रतिष्ठित शिव का प्रत्यभिज्ञान इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है । जगत् को भैरव के प्रत्यक्ष रूप में देखना इसका प्रयोजन है । स्वच्छन्दभैरव के भैरवाष्टक भाव की अनुभूति में विभोर साधक भैरवोत्सङ्गवासिनी भैरवी की मनोरम मरीचियों के रूप में उल्लसित ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि शक्तियों के शाक्त उल्लास का यहाँ निगमन करता है । यज्ञ के प्रारम्भ में मातृका प्रस्तार की प्रक्रिया के साथ शाक्त उल्लास में भैरवत्व की सम्भावना का सन्देश देकर यह प्रथम खण्ड पूरा होता है ।

इस ग्रन्थ के महान् प्रकाशन का यह सौभाग्य है कि, प्राच्यविद्या विभा से विद्योतमान्, संस्कृत गगन में दिवाकर की तरह देदीप्यमान् **प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र,** कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की सारस्वत सौषम्य समन्वित प्ररोचना से यह समन्वित है ।

त्रिपाठी डॉ० हरिश्चन्द्र मणि, प्रकाशन-निदेशक, सं० सं० वि० वि० सदृश प्रकाशन निकष के शलाका पुरुष के निदेशकत्व में यह विभूषित है । मेरे सारस्वत स्पन्द के ये दोनों साक्षी और प्रकाशक हैं । इनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष के लिये मेरे आशीर्वाद । मुद्रणकला-विशेषज्ञ विजय-प्रेस के संचालक हेतु शुभकामनाओं के साथ-

परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

सार-निष्कर्ष

प्रथम पटल

ग्रन्थ के इस प्रथम भाग में मात्र तीन पटल प्रथम, द्वितीय और तृतीय ही गृहीत किये गये हैं । प्रथम पटल का नाम 'मन्त्रोद्धार-प्रकाशन' है । इस महातन्त्र को चतुष्पीठ महातन्त्र माना गया है । चार पीठों के अन्तर्गत मुद्रा, मण्डल, मन्त्र और विद्या नामक पीठ आते हैं । इन पीठों के नियम गुरु, शिष्य, साधक, समयाचारनिष्ठ समयी और पुत्रक के बीच आचरित होने चाहिए । इन चारों को समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी मानते हुए इसे चतुष्टय फलोदय शास्त्र कहा गया है । इस दृष्टि से भैरवरूपी साध्य की सिद्धि के लिये और तदनुकूल मन्त्रादि की साधना करने वालों के लिये यह तन्त्र अत्यन्त उपयोगी माना जाता है । देवी ने अपने प्रश्नों के अन्त में यह कहा था कि, भगवन् ! भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्रदान करने वाले शास्त्र का कथन आप करें । भगवान् भैरव ने भी इसके उत्तर में यह कहा था कि, देवि, ये तुम्हारे प्रश्न मर्त्य प्राणियों के ऊपर अनुग्रह की प्रेरणा से ही प्रस्तुत हैं । इस दृष्टि से भी यह सिद्ध हो जाता है कि, यह शास्त्र 'भुक्ति' रूपी भौतिक समृद्धि-सिद्धि भी प्रदान करता है और साथ ही अलौकिक अव्यक्त मुक्ति का साक्षात्कार करा देने में भी समर्थ है । प्राणियों के परम कल्याण का यह प्रवर्त्तक है ।

सर्वप्रथम भगवान् ने गुरु-शिष्य की परीक्षा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि, गुरु के उत्कृष्ट होने से ही जीवन में जागरूकता आ सकती है । शिष्य भी ऐसा होना चाहिए, जो गुरु के वचनों का आदर करते हुए जीवन पथ पर प्रकाश की रश्मियों की वर्षा करते हुए अज्ञान अन्धकार से बच जाये । यज्ञ को वेदों में प्रशस्त अनुष्ठेय धर्म माना गया है । यज्ञ-भूमि की सर्वाङ्गशुद्धि अत्यन्त अनिवार्य है । इसीलिये भूमि को विशल्य अर्थात् हड्डी आदि अशुद्ध पदार्थों से रहित होना चाहिए । हमारा जीवन भी एक यज्ञ है । अत: अपने घर की भूमि अवश्य ही विशल्य होनी चाहिए । इस विषय में गृहस्वामी को सावधान रहना चाहिए ।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात, जो इस शास्त्र में व्यक्त की गयी है, वह है, भूमि पर 'मातृका शक्ति का प्रस्तार' । यह तथ्य कर्मकाण्ड का मूल है, फिर भी इसे एकदम भुला दिया गया है । आज के जितने प्रचलित याग के कार्य सम्पन्न हो रहे हैं, कहीं भी मातृका-प्रस्तार की पद्धति मैंने नहीं देखी है ।

समस्त मन्त्रों और तन्त्रों या यन्त्रों की जननीरूपा 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त व्याप्ता ५० वर्णों में उल्लसिता मातृका शक्ति की गोद में अज्ञ प्राणियों की क्रिया का प्रवर्त्तन होना चाहिए। मातृकातत्त्व में सारा पिण्ड-ब्रह्माण्ड और विज्ञान का सारतत्त्व पूरी तरह निहित है। इस मातृका शक्ति के पचास वर्णों में ५० रुद्र शक्ति, ५० बिन्दु और ५० उनके भर्ग व्याप्त हैं। यह भारतवर्ष की मूल विद्या है और 'भर्गशिखा' शास्त्र में इसका पूरी तरह उल्लेख है।

मातृका के पचास वर्णों में १६ स्वर और ३४ व्यञ्जन हैं। स्वर बीज भैरव वर्ण और व्यञ्जन योनिवर्ण हैं। वीर्य और योनि के मेलापक रूप ही सभी शास्त्र हैं। इन्हीं पर आधारित यज्ञ-यागादि और तन्त्र-मन्त्र भी हैं। अत: याग के प्रारम्भ में इस प्रस्तार का सविधि प्रयोग करने से अभिनव भैरवीय भाव की संभूति हो जाती है।

याग में इन वर्णों के स्वर प्रस्तार तथा व्यञ्जन प्रस्तार में इन वर्णों के देवों और देवी शक्तियों की पूजा प्राथमिक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकृत की गयी है।

पूजा की यह विधि सभी शरीरस्थ चक्रों की साधना के समान है। इसे आचार्य क्षेमराज ने अपनी व्याख्या में पूरी तरह से स्पष्ट किया है। मैंने भी अपनी नित्य की साधना विधि के सन्दर्भ के साथ इस पर पूरा प्रकाश डाला है।

इसके बाद जिस अघोर मन्त्र की साधना के सन्दर्भ में भैरवभाव की तथा भैरवोत्सङ्गगामिनी भैरवी की पूजा का निर्देश है, वह पूरी तरह वर्ण-विज्ञान पर आश्रित और आधृत वैज्ञानिक प्रक्रिया की तरह प्रतिपादित है। इसी सन्दर्भ में सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान के भैरव मुखों, उनकी शक्तियों और उनके न्यासादि प्रयोग की विशद चर्चा की गयी है। विद्यांगों के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

इसके बाद भैरवराज, अघोरेश्वरी, कपालेश शिखिवाहन, विकराल, मन्मथ, मेघनादेश्वर और विद्याराज मन्त्रों की विशद व्याख्या की गयी है। उनके प्रयोग एवं फल की चर्चा भी उसी प्रसङ्ग में की गयी है। भैरवाष्टक मन्त्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भैरव विद्याराज मन्त्र ही है। इसके साथ लोकपालाष्टक मन्त्र भी प्रतिपादित हैं।

इन उपर्युक्त दृष्टियों से इस पटल की मन्त्रोद्धार संज्ञा पूरी तरह चरितार्थ है। इन मन्त्रराजों का साधक के जीवन में महत्तम महत्त्व है। यागरूपी जीवन की भूमिका में इनका आयोजन पूर्णतया सार्थक और आवश्यक है।

द्वितीय पटल

इस पटल का नाम अर्चाधिकार पटल है । नाम के अनुसार ही इसमें अर्चा के विभिन्न रूपों का प्रतिपादन है । साथ में सारी विधियों का भी समायोजन है । अर्चा के अंगों का रहस्य भी प्रासङ्गिक रूप से प्रतिपादित है । यह सभी जानते हैं कि, जप और होम आदि अर्चन प्रक्रिया के अङ्ग हैं । इसलिये अर्चन को अङ्गी माना जाता है । यह अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध यहाँ पूरी तरह निभाया गया है ।

अकृत शुद्धि पुरुष को अर्चन का अधिकार नहीं होता । अत: शुद्धि और शुद्धि के उपकरण रूप शौच-स्नानादि साधनों का वर्णन पहले ही किया गया है । शुद्ध होकर ही यागगृह में प्रवेश करते हैं । उस समय गुरु का यह कर्त्तव्य होता है कि, वह सकलीकृत देह की अवस्था में ही शिष्य को और यागगृह को तैयार करे । यागगृह की पूजा में गणेश, लक्ष्मी, नन्दी, गङ्गा, कालिन्दी और महाकाल की पूजा का स्पष्ट निर्देश दिया गया है । इसके लिये भैरवास्त्र और नाराचास्त्र के प्रयोग की विधि भी प्रदर्शित है ।

यागगृह में स्वच्छन्द भैरव की प्रतिष्ठा का सन्दर्भ बड़ा महत्त्वपूर्ण है । इस प्रसङ्ग में स्वाङ्गों और अन्यान्य अर्चनाङ्गों के प्रयोग का विधान किया गया है । श्रीतन्त्रालोक में प्राणायाम का निषेध किया गया है; किन्तु इस पूजा के सन्दर्भ में प्राणायाम को महत्त्वपूर्ण माना गया है । इसी प्रसङ्ग में इस बात पर बराबर बल दिया गया है कि, शिव होकर ही शिव की पूजा की जा सकती है—

'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' !

साधना में साधक को अपने शरीर भाव का ही शोषण करना पड़ता है । इस विधि में रुद्रबीज, अग्निबीज, वायुबीज, वरुणबीज का प्रयोग होता है । तत्पश्चात् शक्ति न्यास कर भौतिक शरीर को शाक्त शरीर का रूप साधक प्रदान करता है । उसी अवस्था में अमृत भाव से उसका आप्लावन करते हैं ।

वस्तुत: यह शरीर कला, विद्या, राग, काल और नियति से प्रभावित, मन, बुद्धि, अहङ्कार से कीलित एवं प्रधान प्रकृति से अवनिपर्यन्त तत्त्वों से निर्मित है । पुरुषाधिष्ठित होने पर भी तुषतण्डुल की तरह यह माया से आच्छादित है ।

इसमें अवस्थित समस्त अध्वावर्ग का शोधन परमावश्यक माना जाता है । आत्मभाव को भैरवभाव से ओत-प्रोत करने की साधना में जरूरत पड़ती है । नाभि, कन्द, नाल, हृदय (अनाहत) माया ग्रन्थि और उसमें आपतित विद्यापद्म की स्थापना आदि में संलग्न साधक को उक्त विधियों की उपयोगिता पर ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है ।

इसी क्रम में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के न्यास के साथ ही अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के न्यास किये जाते हैं। फिर इनकी प्रतिष्ठा की जाती है। साधक को इस सम्बन्ध में सदा सावधानी बरतनी आवश्यक है।

वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरणी, बलविकरणी, बलप्रमथनी देवियों की स्थापना भी साधक अपने शरीर में कर लेता है। इस प्रकार उस याग-भूमि से और शिष्य के शरीर से एक अलौकिक आभा उल्लसित होने लगती है। भुवनाध्वा की उक्त शक्तियाँ इस समय शक्तितत्त्व में ही अवस्थित होती हैं। यही सर्वोत्तम समय होता है, जब मनोन्मनी का चिन्तन होना चाहिए।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इस याग-मण्डल के अधिपति माने जाते हैं। उनकी स्थापना भी महत्त्वपूर्ण है। इनके माध्यम से त्रैलोक्य की ललामता वहाँ व्याप्त हो जाती है। स्वच्छन्द भैरव की मूर्ति के प्रकल्पन का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है।

उस मूर्ति में ईशान, सद्योजात, अघोर, वामदेव और तत्पुरुष रूप मुखों की कल्पना कर उस पर निर्देशानुसार न्यास और ध्यान आदि करना भी अपेक्षित है। इस प्रकार युक्तात्मा साधक के आराध्य स्वच्छन्द भैरवरूप परमेश्वर शीघ्र ही कृपा की वर्षा करते हैं। साधक इस कृत्य के द्वारा विशिष्ट सिद्धि प्राप्त करता है।

पञ्चवक्त्रों की पूजा के बाद द्वितीयावरण की पूजा में भैरवाष्टक का विन्यास किया जाता है। कपालीश पूर्व दिशा में, शिखिवाहन अग्निकोण में, क्रोधराज दक्षिण में, विकराल निर्ऋतिकोण में, मन्मथ पश्चिम में, मेघनादेश्वर वायव्य में, सोमराज उत्तर में तथा विद्याराज भैरव को ईशानकोण में न्यस्त करते हैं। वहीं इनकी पूजा करनी चाहिए। वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वज, गदा और शूल नामक इनके अस्त्रों के साथ इनका ध्यान और पूजन होना चाहिए।

इसी तरह अन्य आवरणों की पूजा का भी आयोजन होना चाहिए। मूलमन्त्र से नाडीसन्धान का कार्य पूरा करना चाहिए। इसी सन्दर्भ में जप की सुन्दर परिभाषा दी गयी है। जप हमेशा प्राणसम ही होना चाहिए। एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि, मन्त्र का नियोजन न तो पुरुष अर्थात् शिव में करना चाहिए, न ही परतत्त्व में वरन् शक्ति के वामहस्त में नियोजित करना उचित है। हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त प्राणवाह को आगमों में दिन कहते हैं। दिन ही वास्तविक जप का समय माना जाता है। इसी सन्दर्भ में मानस, उपांशु और सशब्द जप-विधि की भी विशद चर्चा की गयी है।

दश प्रकार की अक्षमाला के वर्णन के बाद याग-विधि का विस्तारपूर्वक सविधि वर्णन इस पटल के मुख्य विषय के रूप में किया गया है। इस सन्दर्भ में कुण्ड, कुण्ड के संस्कार, मुद्रा-प्रदर्शन, कुण्ड के साथ योनि और वीर्यरूप अग्नि के चर्यारूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी क्रम में गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, निष्क्रमण आदि आग्नेय संस्कार भी यहाँ वर्णित हैं। यज्ञ द्रव्य, उनकी शुद्धि, आज्य संस्कार होम, होम कर्म से षट्कर्म की स्थिति और उनकी सिद्धि पर भी प्रकाश डाला गया है।

भैरव-न्यास के सन्दर्भ में भैरवीय स्वात्म साधना पर भी विशिष्ट चर्चा यहाँ की गयी है। सारी चक्रसाधना में नाभि-केन्द्र से द्वादशान्त पर्यन्त ऊर्ध्व गतिशील होने की तान्त्रिक आगमिक प्रक्रिया को घटित किया गया है। स्वच्छन्द भैरव की पूजा के अनन्तर अघोरी भैरवोत्सङ्गगामिनी अघोरेश्वरी की स्थापना, प्रतिष्ठा अघोरेश्वर के उत्सङ्ग में ही की जानी चाहिए, इसका स्पष्ट आदेश है। पूजा के बाद नैवेद्य की कई विधियों और कई द्रव्यों का नाम-ग्रहणपूर्वक उल्लेख है।

भैरव की अन्तर्यागरूपिणी उपासना के अनन्तर आवश्यक बाह्य-याग पर भी बल प्रदान किया गया है। बाह्ययाग का विधान नये सिरे से प्रस्तुत किया गया है। अन्त में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि न्यासों पर प्रकाश डालते हुए सारी पूर्व विधियों के अपनाने पर बल प्रदान किया गया है। यहाँ तदर्थ श्मशानेश देवों की पूजा का क्रम भी इसमें स्वीकृत है। इसका निर्देश यहाँ है।

पुनः कुण्ड की सारी क्रियाओं का पूर्ववत् उल्लेख कर इसे करने का निर्देश दिया गया है। विशद रूप से स्रुक् स्रुवा आदि यज्ञीय उपकरणों के साथ पूरा यज्ञ-विधान यहाँ वर्णित है। किसको कितनी आहुतियाँ देनी चाहिए, इस पर पूरा बल प्रदान किया गया है। इसी सन्दर्भ में वक्त्रसन्धि और नाडी-सन्धि पर भी प्रकाश प्रक्षिप्त किया गया है। किस पदार्थ के हवन से कौन-कौन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसका विशेष उल्लेख है।

तृतीय पटल

इस पटल का नाम अधिवास पटल है। यह अन्वर्थक शब्द है। यागगृह में प्रवेश कर यज्ञान्तपर्यन्त शिष्य किन समुदाचारों को पूरा करता हुआ वहाँ अपनी दीक्षागत उपासना के उत्तरदायित्व को निभाता है, पूरे पटल में इसी मुख्य विषय पर विचार किया गया है। यागगृह में प्रवेश की तैयारी की भूमिका, द्वारपूजा के प्रसङ्ग,

मुद्रा, मन्त्र, संकल्प, परमीकरण की प्रक्रिया, शिष्य की साधना का स्वरूप, सभी आवरणों की पूजा शिष्य कर सके, यह इस पटल में पहले ही दे दिया गया है ।

इसके बाद यह निर्देश है कि, पहले मानस-पूजा तत्पश्चात् बाह्यपूजा होनी चाहिए । बिना मानस-याग किये बाह्ययाग करने का अधिकार शास्त्र में नहीं दिया है । आचार्य और शिव का अभेद सम्बन्ध है । योगसिद्धि और मुक्ति के आचार्य ही अधिकारण हैं; क्योंकि वही साधना के मूल में हैं । अधिवास में परावृत्ति का आश्रय करते हुए ही सारा कार्य पूरा करना चाहिए । एक ही प्रकार से पूजा का विधान करना चाहिए । यज्ञ का सारा विधान अधिवास में ही पूरा करना आवश्यक है ।

शिवहस्त विधि और नाडी-सन्धान का कार्य गुरुदेव के साथ शिष्य भी सम्पन्न करता है । इस कार्य में गुरु शिष्य के हृदय में कैसे प्रवेश करता है और उसके दोषों का कैसे निवारण करता है, इसका विशद उल्लेख इसमें है । मन्त्र-सन्धान अमृतीकरण, शल्योद्धार, शिवकुम्भ का प्रकल्पन, कलश-स्थापन, मण्डल-प्रणिपात, जप आदि पूर्ववत् सम्पन्न करने का इसमें स्पष्ट निर्देश है ।

इसके बाद होम-विधि पर पूरा प्रकाश डाला गया है ।

अन्त में बलि और विनायक होम की चर्चा और अधिवास का हवन भी आवश्यक माना गया है । इन सिद्धियों के वर्णन के सन्दर्भ में अधिवास सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के समान होमों की भी मणिमाला के मनकों के समान पुनरावृत्ति कर प्रतिदिन सम्पन्न करने पर बल प्रदान किया गया है । विविध कार्यों को सम्पन्न करने के लिये अभेद विधियों की बार-बार चर्चा है ।

पूरी इतिकर्त्तव्यता का लक्ष्य है कि, पशुरूप शिष्य अज्ञानान्धकार के आवरण से निर्मुक्त हो जाय । आचार्य प्रसन्न होता है, अपनी सफलता पर और दक्षिणामूर्ति भगवान् के समान उस योग्य शिष्य को निर्मित करता है । वहाँ पर भी वही पूजा-विधि, सकलीकरण का प्रयोग, आग्नेयी धारणा से शिशु शिष्य के दोषों को दग्ध करते हुए गुरुदेव शिष्य को भी भैरवीय पवित्रता से भावित कर देते हैं ।

विविध सन्धान कर बाह्याभ्यन्तर शुचिता से शिष्य को सम्पन्न कर देते हैं । इसी सन्दर्भ में भैरवमन्त्र से शिष्य को अभिमन्त्रित कर ध्रुवमन्त्र से पुनः आज्याहुति करने के बाद मन्त्रों से, जो करणभूत माने जाते हैं, शिष्य का गुरुदेव उद्धार करते हैं ।

मन्त्रोद्दीपन और पाशकार्य विधि की अन्त में चर्चा की गयी है । यह निश्चय है कि, इस विधि को अपनाने के बाद शिष्य तप्तदिव्य काञ्चन प्रज्ञा-पुरुष बनकर निकलता है । इन विधियों की पूर्त्ति की सम्भावना इस युग में नहीं की जा सकती । देवभाव को जागृत करने के लिये इस देश के पूर्वपुरुष कितनी तपस्या करते थे, कितना कर्मकाण्ड सम्पन्न करते थे, यह पटल उसी का निदर्शन है ।

परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

विषयानुक्रम

क्रमाङ्क	विषयवस्तु	पृष्ठ-संख्या
प्रथम पटल [मन्त्रोद्धार-प्रकाशन]		**१–१०७**
१.	स्वात्म-विमर्श एवं सार-निष्कर्ष	i - ix
२.	मङ्गलाचरण–ग्रन्थकार	१ - ४
३.	कथासूत्र का प्रवर्त्तन, कैलाशशिखरासीन भैरव से देवी के प्रश्न	५-२५
४.	भगवान् भैरव भट्टारक द्वारा देवी की जिज्ञासाओं के समाधान का आश्वासन	२६-२८
५.	सर्वप्रथम अभयप्रद गुरु की परीक्षा, गुरु के लक्षण	२९-३३
६.	गुरु के विपरीत स्वभाव का शब्द-चित्र	३४-३७
७.	शिष्य के उत्तम और अधम स्वभावों का वर्णन	३८-३९
८.	भयप्रद गुरु के विपरीत परिणाम	४०-४२
९.	यागोचित उत्तम और विशल्य भूमि	४२-४३
१०.	आचार्य का स्वरूप और याग-भूमि में मातृका-प्रस्तार की योजना	४४-४६
११.	मातृका-प्रस्तार की विधि (अवर्ग से शवर्ग तक) मातृका-भैरव की अवर्ग से पूजा, भैरवी की कादि से पूजा	४७-५२
१२.	मन्त्रोद्धार का निर्देश और विधि	५२-५६
१३.	मन्त्रन्यास से अणुत्व का विलापन, हंसाक्षर से मूर्त्ति का प्रकल्पन, अनन्तासन पर प्रतिष्ठा, बिन्दु और अर्धचन्द्रों के प्रयोग से मातृका-मूर्त्ति के साथ हंसमूर्त्ति के प्रकल्पन का विश्लेषण	५७-५८
१४.	मन्त्रराज मूर्त्ति, अघोर भैरव का स्वरूप समन्वय	५८-६४
१५.	महामन्त्र का माहात्म्य	६५-६६
१६.	भैरव के मुख (वक्त्रमन्त्र) और उनका भैरव भट्टारक की मूर्त्ति में मूर्धादिचरणावधि नियोजन	६७-६९
१७.	पञ्चब्रह्म की कलाओं के विन्यास का विशद वर्णन	७०-८०
१८.	छत्तीस तत्त्वों से युक्त इस शरीर में सूक्ष्मव्याप्ति और परव्याप्ति के अनुसार मूर्त्तिन्यास का वर्णन	८०

१९.	नवतत्त्व और त्रितत्त्व	८०-८१
२०.	विद्याङ्गन्यास और मन्त्रों के नाम, सर्वात्मा, ब्रह्मशिरस्, ज्वालिनी, पिङ्गल, दुर्भेद्य, पाशुपत्य और ज्योतिरूप इन छः नामों के साथ न्यास	८१-८४
२१.	क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्ति के मन्त्रों का उद्धार	८५-८६
२२.	निष्कल स्वच्छन्दमन्त्र, सकल मन्त्र	८६-९२
२३.	हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र के साथ लगने वाले 'ह' अक्षर से निर्मित मन्त्रों के प्रयोग का स्वरूप और भैरवराज मन्त्र	९२-९४
२४.	भगवती मन्त्र (अघोरेश्वरी मन्त्र)	९५-९८
२५.	भैरवाष्टक मन्त्र–कपालेश, शिखिवाहन, क्रोधराज, विकरालमन्त्र, मन्मथ, मेघनादेश्वर, सोमेश्वर और विद्याराज मन्त्रों का उद्धार	९८-१०४
२६.	लोकपालाष्टक मन्त्र	१०४-१०५
२७.	क्षेमराजकृत नमस्कृति का पद्य, भाष्यकार का निवेदन	१०५-१०७

द्वितीय पटल [अर्चाधिकार] **१०८–२७३**

१.	क्षेमराजकृत मङ्गल श्लोक	१०८-१०९
२.	शौचादि प्रक्रिया में हस्तप्रक्षालन आदि का वर्णन	१०९-११३
३.	नदीस्नान आदि के कर्त्तव्य, सन्ध्या पूजन आदि, मलस्नान, विधिस्नान, भस्मलेपन आदि	११३-१२१
४.	स्नानोपरान्त अर्चाविधि का उपक्रम	१२१-१२२
५.	विघ्न प्रोच्चाटन प्रक्रिया, यागगृह में प्रवेश, प्रवेश के समय द्वारदेवों के पूजन का वर्णन, नाराचास्त्र प्रयोग से प्रवेश	१२२-१२५
६.	यागगृह के मध्य में ब्रह्मा की पूजा, प्रणवासन अनुवक्त्र स्वच्छन्द मूर्त्ति का प्रकल्पन, अङ्ग-पञ्चक-विन्यास	१२६-१३१

७.	देहन्यास की इतिकर्त्तव्यता के क्रम में प्राणायाम, देहशोषण, दहन, उत्पूयन प्लावन, शक्तिन्यास और अमृत से स्वात्म का आप्लावन	१३२-१४०
८.	मल से प्रध्वस्त–चैतन्य पुरुष पर माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति का प्रभाव, अशुद्ध बुद्धि और अहङ्कार से उसके समावरण का चित्रण और शुद्ध देहोत्पत्ति के उपाय, षट्तत्त्वों के प्रयोग और न्यास	१४०-१४५
९.	मूल मन्त्र से सुलक्षित शरीर पर मूर्त्तिन्यास से अणुत्व का प्रविलापन, विभिन्न सकलादि-न्यास से लेकर अपने अङ्गों पर निष्कल न्यास पर्यन्त की विधि	१४५-१५०
१०.	स्वात्म में भैरव का ध्यान, और सर्वदेवमय विद्यापद्म के न्यास व प्रयोग	१५०-१५३
११.	स्वात्म में शक्तिन्यास, धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य रूप पादकों के न्यास, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य रूप गात्रकों के न्यास, सन्धानकीलक न्यास, गुण व्यवस्थापन का वर्णन	१५४-१५८
१२.	सिंहासनमसूरिका पर विद्यापद्म का न्यास, विद्या-पद्म के दलों पर शाक्त न्यास, शक्ति मण्डल का ध्यान, कर्णिका पर वह्निमण्डल का न्यास	१५८-१६१
१३.	सूर्य, सोम और वह्निमण्डलों के न्यास के साथ इनके मण्डलाधीश्वरों का भी न्यास	१६१-१६३
१४.	कर्णिका में ही महाप्रेत सदाशिव का न्यास, प्रणवासन न्यास	१६४-१६७
१५.	मूर्त्ति-प्रकल्पन, मूर्त्ति के ऊर्ध्व में सकल भैरव का न्यास, मूर्त्ति के वक्त्रों का प्रकल्पन और ध्यान	१६७-१७४
१६.	वक्त्रध्यान, ऊर्ध्व, पूर्व, दक्ष, वाम (उत्तर) पश्चिम वक्त्रों का निर्देश	१७४-१७६

१७.	स्वच्छन्द-भैरव का उक्त परिकल्पन और ध्यान, निष्कल न्यास, परमेश्वर का आवाहन, परन्यास, आवाहनी मुद्रा का प्रयोग, निष्ठुरा, सन्निधापनी मुद्राओं के प्रदर्शन और भगवदर्चन, तीन प्रकार की मुद्रायें	१७६-१८०
१८.	अन्तर्याग के लिये शिष्य की इतिकर्त्तव्यता, इसी क्रम में पुन: भगवदर्चन	१८१-१८२
१९.	वक्त्रावरण न्यास के विभाग, ईशानकोण, पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम में क्रमश: ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात के न्यास, उनके ध्यान, वक्त्रावरणाङ्ग, इनके रूप, पञ्चवक्त्रों के स्वरूप	१८२-१८६
२०.	अघोरेश्वरी शक्ति की भैरव उत्सङ्ग में प्रतिष्ठा, भैरव-भैरवी की एकरूपता	१८६-१८७
२१.	द्वितीयावरण में भैरवाष्टक-विन्यास, उसका क्रम, अष्टकों के स्वरूप	१८७-१८९
२२.	तृतीयावरण सास्त्रलोकेश विन्यास, ध्यान, आवरण-क्रम, अस्त्र, लोकपाल, भैरवाष्टक, पञ्चब्रह्म और उनके अङ्ग, विश्वार्पण	१८९-१९१
२३.	नाडीसन्धान, नैवेद्य निवेदन, नैवेद्यों के प्राचीन नाम, अर्घ का अर्पण, मुद्रा प्रदर्शन, प्रणिपात, जप, अक्षमाला एवं जप के समय के कर्त्तव्य	१९१-२०२
२४.	जप के समय में दिन रात का निरूपण, स्वात्म की भैरवरूपता का सातत्यभाव, जप का निवेदन, जप का त्रिसिद्धिसिद्ध स्वरूप	२०२-२०६
२५.	शान्तिक, पौष्टिक और अभिचार में जप के स्वरूप और परिभाषा, अक्षमाला निरूपण, जप संख्या, जप के बाद यजन, मानस होम	२०६-२१२
२६.	अर्घपात्र विधि, यजन, द्रव्य संघात प्रोक्षण	२१२-२१४

२७. यजन की भूमिका, शक्ति, अनन्त, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के विन्यास, सन्धानकीलकादिन्यास और भावन २१४-२१७

२८. यजन की भूमिका के सन्दर्भ में ही शक्तित्रय आदि के न्यास, इनके पूजन, शिष्य को एतत्सम्बन्धी निर्देश, सर्व मन्त्रविधि, श्मशानेश आदि के क्रम, प्रणिपातपूर्वक कुण्ड के पास गमन २१७-२२४

२९. कुण्ड के संस्कार, कुण्ड के दक्षभाग में ब्रह्मासन, पूजन, कुण्ड का चतुष्पथ, वागीशी प्रतिष्ठा, मुद्राप्रदर्शन २२५-२२९

३०. अग्निस्थापन, योनिप्रच्छादन, अग्निसंस्कार, अक्षवाट न्यास, अग्निगर्भ रक्षण, वागीशी गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन आदि कर्मकाण्ड २३०-२४०

३१. जातकर्म, सूतक शुद्धि के लिये तीन आहुतियाँ, वह्नि की रक्षा के लिये पुनः देवतान्यास, मेखला के ऊपर लोकेश स्थापन, पूजन, उत्पन्न बालक की रक्षा का उद्देश्य, नामकरण संस्कार, तीन आहुतियाँ, शिवाग्नि-तर्पण २४०-२४४

३२. आज्य, स्रुक्-स्रुवादि के संस्कार, अग्नि के अन्य संस्कार, उत्प्लव, संप्लव, अवद्योत, नीराजन, पर्यग्निकरण, उल्मुक प्रक्षेप, वक्त्रसंधान, वक्त्र-सन्धि, यज्ञ के विविध कार्य और उनके फल, समस्त वक्त्रों के लिये आज्याहुति, भैरवमन्त्र से वर्त्म प्रकल्पन, स्रुक्-स्रुवा और सुषुम्नादि तीन आहुतियों के विशिष्ट कार्य २४५-२५७

३३. आज्याहुति प्रक्षेप की विशिष्ट प्रक्रिया, सोमसूर्य विभाग और उनकी आहुतियाँ, भैरवमन्त्र

से वक्त्राहुतियाँ, चूडाकरण आदि विवाह-पर्यन्त संस्कारों की अग्नि, शैवमहाभाव सिद्धि की आहुतियाँ, अग्निसंस्कार के पश्चात् प्रणीता चमस की व्यवस्था, यज्ञविघ्ननाशक विष्णु की स्थापना, भैरव पूजन, कुण्डाग्नि की नव जिह्वाओं का प्रकल्पन २५७-२६१

३४. जिह्वाओं की दिशायें और नाम तथा फल, मध्य में होम का कारण, यज्ञ और पूर्णाहुति, ज्वालाग्र का वह्निचैतन्य के रूप में भावन, अपने हृद्गत चैतन्य का ऐकात्म्य भावन, भैरवैक्य भावन, अग्नि-मूर्त्ति का प्रकल्पन, भैरवात्मिका मूर्त्ति का भावन, ३८ कलाओं का भावन, भैरव-पूजा के बाद कुछ अग्नि सम्बन्धी विशिष्ट प्रयोग, नाडीसन्धि, विशिष्ट होम, भैरव के आप्यायन के लिये पूर्णाहुति २६२-२६७

३५. होम द्रव्य और उनके हवन के फल २६८-२७१

३६. होमार्थ मृगीमुद्रा, पूर्ण होम के फल, उपसंहार, मङ्गलश्लोक, भाष्यकार के संस्कृत पद्य २७१-२७३

तृतीय पटल [अधिवास] २७४–३७६

१. मङ्गलाचरण, अधिवास कथन, संस्कारोपक्रम के सन्दर्भ में शिष्य की तत्परता और याग-गृह में प्रवेश २७४-२७९

२. अन्तर्देह में सर्वप्रथम मानस याग का प्रकलन, विधि २७९-२८१

३. आवरणन्यास, मन्त्रसन्धान, परमीकरण, साधनात्मक अन्तर्देह सम्बन्धी आध्यात्मिक विधियाँ, अनुलोम-विलोम प्रक्रिया में मूलाधार से उन्मना और उन्मना से मूलाधार की यात्रा,

चक्रों में वर्णों का प्रकल्पन, विमुक्तिधाम का स्मरण, पहले मानसयाग, पश्चात् द्रव्यसमन्वित याग, दीक्षाफल २८१-२९१

४. मानस याग के विना बाह्ययाग करना दोषपूर्ण, आत्मयाग से देहशुद्धि, आचार्य की परिभाषा, पाशहा शिव २९१-२९६

५. परावृत्ति का ध्यान करते हुए यागद्रव्य का अवलोकन, द्रव्यसंघात, समिधायें, अर्घपात्र, कवच से अवगुण्ठन, कलश, प्रणवासन, भैरवावरण, पूजन २९६-२९९

६. अर्घ, शिवहस्त-प्रकल्पन, मन्त्र-सन्धान, नाडी-सन्धान, मन्त्रसन्धान के विशेष कार्य, नाडी-सन्धान का वर्णन २९९-३०४

७. स्वात्म में प्रतिष्ठित शिव का ध्यान ३०४-३०५

८. पञ्चगव्य-संस्कार, अस्त्रक्षालन, कवच से अव-गुण्ठन, दर्भासन, मण्डल-प्रकल्पन और पञ्चगव्य प्रयोग, प्रणव संकल्प, मूर्त्ति विग्रह भैरव की सावरण पूजा, मन्त्रसन्धान, विकिरों का अभिमन्त्रण, ध्रुवमन्त्र से मोक्षश्री का आवाहन-पूजन ३०५-३११

९. शिव कुम्भविधि, मोक्षलक्ष्मी का कुम्भ के आसनपर प्रतिष्ठापन, कलाओं, भैरवों का न्यास कर अर्घ आदि की व्यवस्था, मुद्रा प्रदर्शन, कुम्भपूजनविधि, भैरव मन्त्र से उस कलश का उद्धार,वार्धानीमार्ग से लाकर पुनः स्थापन, मन्त्रसन्धान, नाडीसन्धान, वार्धानी, अस्त्र के रश्मिभूत द्रव्यों की व्यवस्थिति, कलश-स्थापन ३११-३१६

१०. नैवेद्य निवेदन, लोकपालादि की पूजा, मण्डल-प्रकल्पन, पञ्चगव्य, गन्ध-तोय से पूजा, गण-पति आदि की पूजा कर इस यज्ञ-प्रक्रिया की आज्ञा प्राप्ति का भावन ३१७-३१९

११.	भैरवेश्वर पूजा, मन्त्र-सन्धान, नाडीसन्धान, परमीकरण, नैवेद्य, विकिर प्रयोग, प्रणिपात, बलि, क्षेत्रपाल पूजन, तर्पण	३१९-३२१
१२.	पुनः स्नान, आचमन, अग्निकुण्ड के. कार्य, अग्निसन्तर्पण, शिवाम्भस प्रयोग, कवच, अवगुण्ठन, पुनः पूजामण्डल-प्रकल्पन, अनन्तादि देव और शिवासन का प्रकल्पन, आवरण पूजन, चरुपाक, तप्ताभिघार विधान, प्रासङ्गिक अभिघार होम, दर्भासन, कर्त्तरी, करणी, खटिका, तिल–आज्य–प्रयोग, चरुप्रयोग, चरु के त्रैभागिक प्रयोग	३२१-३२८
१३.	अवशिष्ट चरु प्रयोग, विनायक होम, १०८ आहुतियाँ, प्रायश्चित्त के लिये प्राण की अनुलोम विधि, भैरव की पूजा, आचार्य द्वारा शिष्य कर्म की भैरव से आज्ञा	३२८-३३१
१४.	शिष्य कर्म के लिये अलग मण्डल विधान, और उसकी विधि, पूर्व मुख्य गुरु, पूजा की पूर्ववत् सारी विधियाँ, शिष्य के मुख को ढक कर जवनिका में ले जाना, मुख से पर्दा हटाकर सारा पूजन कर्म व देववर्ग-दर्शन कराना, अज्ञान के पट का निराकरण, शिष्य द्वारा प्रणिपात, दक्षिणामूर्त्ति दर्शन, अंघोर भट्टारक दर्शन, सकलीकरण, मुमुक्षु साधक की फल-सिद्धि का उपक्रम	३३१-३३६
१५.	शिष्य शरीर का पुनः आध्यात्मिकीकरण, आग्नेयी धारणा के साथ ही चक्र-साधना के माध्यम से शिष्य शरीर को तप्तदिव्य काञ्चन बनाना, शक्तिन्यास, भैरवात्ममूर्त्ति-प्रकल्पन, पूर्ववत् शरीरशुद्धि की पुनरुक्तिपूर्वक वही-वही कथन, जिससे शिष्य शरीर पूरी तरह शुद्ध हो जाय, शिवहस्त, विभुध्यान, शिष्य के शिर पर कर रक्षण, शिष्य द्वारा सबको प्रणाम	३३६-३४१

१६.	शिष्य को कुण्ड के समीप ले जाकर पुनः उसका गुरुशिष्यैकीकरण प्रयोग, शिष्य के शरीरस्थ देवताओं का पूजन-तर्पण, आहुति प्रयोग की प्रक्रियायें	३४१-३४७
१७.	क्रूरकार्य–सौम्यकार्य के प्रसङ्ग, पाशकर्म, पाशसूत्र से शिष्य का नाडीबन्ध, आचार्य द्वारा शिष्य हृदय-प्रवेश, द्वादशान्त प्रवेश, संहार मुद्रा, पाशसूत्र प्रक्रिया, पाशों का विनाशन	३४७-३५८
१८.	शिष्य के शरीर में अवस्थित पाशों के उन्मूलन के ताडन आदि प्रयोग	३५८
१९.	शिष्य पाशों का पाशसूत्र में योजन, तीनों पाशों को पाशसूत्र में अवस्थित कर शिष्य द्वारा क्रियाख्या पारमेश्वरी शक्ति का भावन	३५९-३६३
२०.	पाशों का दीपन, तर्पण, आहुतियाँ, पाश-संपातार्थक हवन, आचार्य द्वारा पाशों को स्थण्डिल पर रखकर भगवान् भैरव से निवेदन	३६३-३६५
२१.	पाशों का कुम्भ में रक्षण, शिष्य द्वारा कलश, पाश, भगवान् का पूजन, शिवाग्नि में समर्पण, प्रदक्षिणा, पञ्चगव्य सेवन। पाशरहित शिशु द्वारा अलग पूजा के मण्डल के लिये शुचि प्रदेश का प्रयोग	३६५-३६७
२२.	शिष्य द्वारा और आचार्य द्वारा विभिन्न प्रयोग, चरु भक्षण, आचार्य द्वारा बहु-उद्देश्यक होम	३६८-३६९
२३.	प्रायश्चित्त होम, वह्नि में नैवेद्य दापन, विशेष पूजन, भैरवस्मरण, गुरु द्वारा प्राणायाम के विशिष्ट प्रयोग	३७०
२४.	कुम्भ रूप भैरव पूजन, निर्माल्य-प्रक्षेप, शिष्य का पूर्व शिर शयन, दक्षिण शिर शयन, अन्तिम प्रयोग, शिखाबन्ध, बलि, विभिन्न प्रयोग, सकलीकरण, चरुप्राशन, यागभूमि में शिष्य के साथ गुरु का अधिवास, अन्तिम मङ्गल, भाष्यकार का मङ्गल-श्लोक	३७०-३७६

ओं नमः स्वातन्त्र्योद्भासितविश्वमूर्तये स्वतन्त्रभट्टारकाय

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

अथ प्रथमः पटलः

विश्वैकरूपविश्वात्मविश्वसर्गादिकारणम् ।
परप्रकाशवपुषं स्तुमः स्वच्छन्दभैरवम् ।।१।।

सौः

अथ श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेकभाषाभाष्यसंवलितम्

प्रथमः पटलः

[१]

विश्वरूप जय जय विश्वात्मन् ! विश्वसर्ग के आदिम हेतु !
चिन्मय ! परम-प्रकाशवपुष् हे ! स्थूल सूक्ष्म-संयोजक सेतु !
जय कपालभृत् ललित लिख रहा 'हंस' भाष्य यह शावक-राव
सुनो सदय ! कर परम अनुग्रह, मिले इसे भैरव-सद्भाव !

मैं स्वच्छन्द अर्थात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भगवान् 'स्वच्छन्द' संज्ञा से विभूषित भट्टारक भैरव देव को स्तुतिपूर्वक नमस्कार कर रहा हूँ। यहाँ स्तुमः शब्द 'स्वात्म को सर्वेश्वर के ऐक्य रूप से भावन कर रहा हूँ' इस अर्थ में प्रयुक्त है। स्वच्छन्द भैरव के वैशिष्ट्य का प्रकाशन करने के लिये विशेषण पदों का प्रयोग किया गया है। उनकी सर्वातिशायिनी विशेषता है कि, वे परप्रकाश-वपुष् हैं। पर-प्रकाश इस प्रकाश से परिभाषित नहीं होता। यह अनुभूतिमात्र का विषय है। अर्थात् उनका शरीर पर-प्रकाशमय है। वे विश्वैकरूपता, विश्वात्मभाव और विश्वसर्ग के आदि कारण हैं। मैं उनका स्तवन कर रहा हूँ ॥१॥

प्रसरच्छक्तिकल्लोल-जगल्लहरिकेलये ।
सर्वसम्पन्निधानाय भैरवाम्भोधये नमः ।।२।।
एकैव बोधजलधेः शक्तिशुक्तिर्जयत्यसौ ।
यदन्तर्निखिलं भाति मुक्तामयमिदं जगत् ।।३।।

भगवान् भैरव की उपमा अम्भोधि से करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि, मैं भैरवरूपी महासागर में नमस्काररूपी स्वात्मतादात्म्य स्थापित कर रहा हूँ। दोनों की सर्वोत्तम विशेषता में भी सादृश्यमूलक ऐक्य है। दोनों सभी प्रकार की सम्पत्तियों के निधान हैं। भगवान् के अनुग्रह से सब कुछ सम्भव है। अम्भोधि समस्त खजानों का आगार है। इसलिये दोनों की समान रूप से समस्त सम्पत्ति की उपलब्धि के उद्देश्य से भक्त द्वारा की गयी उपासना परम उपयोगी होती है। यह नित्य करणीय है। अम्भोधि को रत्नाकर भी कहते हैं। भगवान् भैरव का अनुग्रह चिन्तामणि रत्न है। अतः दोनों अम्भोधियों के अनुग्रह का तादात्म्य मुझ को उपलब्ध हो और मेरी साधना धन्य हो जाय, यही मेरी आकांक्षा है। विश्व में सर्वत्र प्रसरन्ती भैरव की शक्ति के कल्लोल से संसार की लहरें समस्त शिवाण्ड में लहरा रही हैं।

ये लहरें ही शक्त्यण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड और पृथ्व्यण्ड के अस्तित्व की आधार हैं। यह भैरवभावकलाप केलि रूप है। ऐसी केलि में शाश्वत लिप्त भैरव समस्त अद्वैत उपासकों के उपास्य हैं। अम्भोधि का महासागरीय अमर लहराव शक्ति के तात्त्विक प्रसर रूप कल्लोल का प्रतीक है। सृष्टि, स्थिति, संहार की केलिकलना का प्रकल्पन पयोधि की प्रियता का प्रतीक है। इन्हीं प्रतीकों में मेरे शरीर के पिण्ड में शैवाण्ड की शक्ति का कल्लोल कल्पित हो और मेरी साधना धन्य हो जाय ॥२॥

यह शक्तिरूपिणी मुक्ति एक विलक्षण चामत्कारिकता से परिपूर्ण है। यह अनन्विता शक्ति शुक्ति है। इसके समान वैलक्षण्यविभूषित कोई दूसरी वस्तु इस अस्तित्व में ही नहीं है। अतएव यह 'एका' ही है। यह सामान्य समुद्र में निवास नहीं करती। बोधरूपी प्रकाश के अपरंपार पारावार महित महासमुद्र में यह शाश्वत उल्लसित रहती है। इसकी जय हो। सामान्य शुक्तियों में स्वातीबिन्दु से निष्पन्न सामान्य एक मोती पलता और निष्पन्न होता है।

स्मृतिमात्रविनिर्धूत निःशेषाज्ञानकिल्बिषाः ।
गुरुसूक्तवरस्फारा विजयन्ते जगत्त्रये ।।४।।
तत्सेवाविमलव्यक्तमहामाहेशदर्शनः ।
क्षेमराजो विवृणुते श्रीस्वच्छन्दनयं मनाक् ।।५।।

इस बोधजलधि में व्याप्त शुक्ति के अन्तर अन्तराल में यह अखिल सचराचर मुक्तामय विश्व ही विभासित हो रहा है । अन्तराल में रहते हुए भी विभा के समान होने का वैलक्षण्य इस विश्व में व्याप्त है । ऐसी मुक्तामयता से मनोज्ञ शक्ति-शुक्ति शाश्वत जयनशील है ॥३॥

सद्गुरुदेव के वचन वैदिक सूक्तों के समान ब्रह्मवर्चस्व से विभूषित हैं । उनसे निष्पन्न भैरवपूर्ण प्रतिबोध के वरदान नित्य स्फुरित हैं । उनमें प्रकाश राशि का विस्फार हो रहा है । यह विस्फार त्रैलोक्य में विजयशील है । इसकी स्मृतिमात्र से अशेष अज्ञान के किल्बिष विनिर्धूत अर्थात् विध्वस्त हो जाते हैं । ये किल्बिष ही पाश बनकर शिव को पाशबद्ध कर लेते हैं । इनके ध्वस्त होते ही मोक्षलक्ष्मी का साक्षात्कार हो जाता है ॥४॥

ऐसे सद्गुरुदेव की सेवा में निरन्तर निरत रहने के कारण इसके समस्त अज्ञानरूपी मलों का विगलन हो गया है । परिणामस्वरूप ज्ञान के प्रकाश में महामाहेश्वर-दर्शन इसके लिये व्यक्त हो गया है । यह इस व्यज्यमान भैरवभाव का साक्षात्कार कर रहा है । शिष्य के इस दैहिक-जैविक अस्तित्व को लोक 'क्षेमराज' के रूप में जानता और पहचानता है । इसी नाम से इसकी प्रसिद्धि है । इस लोकविश्रुत रूप में यह गुरुदेव के गौरवपूर्ण अनुग्रह से श्री स्वच्छन्द भैरव के नय अर्थात् आगमिक दार्शनिक सिद्धान्त का 'कुछ' अर्थात् अपने संज्ञान के अनुसार व्याख्या प्रस्तुत कर रहा है । मनाक् अव्यय पूर्ण की आंशिकता का ही आख्यान करता है । पूर्ण को पूर्ण रूप में कहा भी नहीं जा सकता । अंश का साक्षात्कार ही पूर्ण बन जाता है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, यह मनाक् व्याख्या पूर्णता की ही परिचायिका है ॥५॥

अभिनवबोधादित्यद्युतिविकसितहृत्सरोजान्मे ।

रसयत सरसाः परिमलमसारसंसारवासनाशान्त्यै ।।६।।

इहानुजिघृक्षारससरसहृदयपरसंवित्सम्मुखीकृतो ग्रन्थमवतारयितुं कश्चिद्देवीशिष्य आह–

इस श्लोक में प्रथम पुरुष ने उत्तम पुरुष का रूप ग्रहण कर लिया है। 'व्यक्त-महामाहेशदर्शनः' अन्य पुरुष नहीं रह जाता। वह उत्तम से अनुत्तम और अनुत्तम से अनुत्तर का प्रतीक बन जाता है। क्षेमराज की भी यही दशा है।

द्युमणि की अरुणिम किरणों से अरविन्द का विकास स्वाभाविक है। यहाँ भी कुछ ऐसी ही दशा है। महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य सदृश सद्गुरुदेव से ही इन्हें ज्ञान का प्रकाश प्राप्त था। प्रकाश बोध का ही पर्याय है। बोध स्वयं में भासमान भास्कर है। प्रकाश का प्रवर्त्तक है ! आदित्य।

बोधात्मक आदित्य का उदय और शिष्य के हृदयसरोज का विकास दोनों का एक साथ उन्मेष अनुभूति का विषय है। क्षेमराज के हृदयकमल का विकास गुरु द्वारा प्राप्त बोध के आदित्य की द्युतिमती रश्मियों से हो चुका है। उससे परिमल का प्रसार भी स्वाभाविक है।

क्षेमराज कहते हैं कि, सहृदय-हृदय सरस रसिक-वर्ग असार संसार की वासना की शान्ति के लिये मेरे हृदयकमल से निष्पन्न सर्वदिक्प्रसरित सुगन्ध का सेवन करे । ऐसे दिव्य परिमल से ही वासना की दुर्गन्ध मिट सकती है। 'रसयत' क्रिया अनुभूति की गहराइयों की ओर संकेत कर रही है ॥६॥

अनुग्रह के कर्त्ता एकमात्र परमोपास्य भैरवदेव ही हैं। साधक अनवरत अनुग्रह की समीहा में समावेश-सिद्ध रहता है। इस समावेश का एक अपना वशिष्ट आनन्द है। साधक ही आनन्दानुभूति के रस का आस्वाद कर सकता है। इस रसास्वाद से उसका हृदय शाश्वत रसान्वित अर्थात् सरस रहता है। परिणामस्वरूप पर-संवित् का साम्मुख्य उसे प्राप्त हो जाता है। अब वह परसंवित्सम्मुखीकृत हो गया है। उसका परिचय यहाँ न देकर 'कश्चित्' शब्द के ही माध्यम से उसके महत्तम स्वरूप के वैचित्र्य को व्यक्त कर रहे हैं। ऐसा सरस हृदय साधक, जो परसंवित् का साक्षात्कार कर

कैलासशिखरासीनं भैरवं विगतामयम् ।
चण्डनन्दिमहाकालगणेशवृषभृङ्गिभिः ।।१।।
कुमारेन्द्रयमादित्यब्रह्मविष्णुपुरःसरैः ।
स्तूयमानं महेशानं गणमातृनिषेवितम् ।।२।।
सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ।।३।।
मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत् ।

अपने में नहीं समा रहा है, रसातिरेक से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ की रसमयी अवतारणा में प्रवृत्त हो रहा है । संविद्भट्टारिका ही वह शिष्य है । यह ग्रन्थ भी देवी के अनुशासन का प्रतीक है । 'अथ शब्दानुशासनम्', 'अथ धर्मानुशासनम्' की तरह यह शास्त्र भी 'अथ देव्यनुशासनम्' के प्रतीक के रूप में प्रवर्त्तित है । यह दिव्य देवी-शिष्य शंसन कर रहा है और आपको कैलाश-शिखर पर ले जाकर एक दृश्य की ओर संकेत कर रहा है । कितना महान् साधक है वह । ग्रन्थ की अवतारणा के पहले ही वह भैरव भट्टारक का आपको साक्षात्कार करा रहा है–

कैलाश के शिखर पर भगवान् भैरव आसीन हैं । किसी प्रकार का आमय वहाँ नहीं है । परम उल्लास का वातावरण है । चण्ड, नन्दी, महाकाल, गणेश, वृष और शिव के विशिष्ट गण भृङ्गी द्वारा आस्थापूर्वक वे स्तूयमान हैं ॥१॥

साथ ही षडानन कार्त्तिकेय कुमार भी हैं । इन्द्र, यम, आदित्य, ब्रह्मा, विष्णु भी स्तुति में पुरःसर भाव से आगे बढ़कर भाग ले रहे हैं । इन उक्त देवों द्वारा वन्द्यमान देवाधिदेव की गणमातृकायें भी सेवा में निरत हैं ॥२॥

भगवान् भैरव की विशेषताओं की ओर साधक का ध्यान चला जाता है । वह सोचता है–

यही भगवान् भैरव सृष्टि, स्थिति और संहार के कर्त्ता हैं । विलय की दशा में भी स्थिति के आधार हैं । इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य अनुग्रह है । ये पाँच कृत्य करते हैं । सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह इन पाँचों में अनुग्रह का ही सर्वातिशायी महत्त्व है । प्रणत की पीडा का त्वरित विनाश करने की ये कृपा करते हैं ॥३॥

इह परमेश्वरस्य चिदानन्दघनस्य ब्रह्मदर्शनोक्ततत्त्वातिशायिनः स्वच्छन्दभैरवस्फुरत्तात्मा परमार्थः, इति भगवतः शास्त्रस्य चास्य तदेवाभिधानम् । तस्य स्वात्मैकरूपपञ्चकृत्यकारित्वमित्याशयेन 'सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकरं देवं मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत्' इत्युक्तम्, तत्र देवः शिवादिक्षित्यन्ताशेषसृष्ट्यादिक्रीडापरः,

---

देवी का शिष्य देख रहा है । वहाँ देवी भैरवी भी विद्यमान थीं । उन्हें परम प्रसन्न मोदमहनीय रूप में देखकर उन्होनें सोचा–इस हर्ष का कुछ रस स्वयं भी लिया जाय । तुरत उन्होंने भगवान् के समक्ष अपनी बात प्रस्तुत करते हुए कहा–

इस सन्दर्भ के शास्त्रीय रहस्यरूप परमार्थ पर भी विचार करना उचित है । ब्रह्मदर्शन अर्थात् वेदान्त सिद्धान्त की मान्यताओं को भी अतिक्रान्त करने वाली सर्वातिशायिनी मान्यता इस शास्त्र की है । ब्रह्मदर्शन ब्रह्म को निष्क्रिय मानता है । जबकि, स्वच्छन्द भैरव दृष्टि के अनुसार चिदानन्दघन परमेश्वर स्वच्छन्दभैरव-भावभावित स्फुरत्ता के रूप में शाश्वत सक्रिय हैं । यह स्फुरत्ता सामान्य स्फुरण नहीं अपितु महासत्ता के रूप में सर्वव्याप्त हो रही है ।

'सा स्फुरत्ता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिनः'।

अर्थात् 'यह स्वच्छन्द भैरवरूप स्फुरत्ता के रूप में सर्वत्र व्याप्त है और वह परमेष्ठी का हृदय है ।'

इसी दृष्टि से इस दर्शन में भगवान् और इससे सम्बद्ध मूल सिद्धान्त प्रतिपादक शास्त्र को भी स्वच्छन्द भैरव तन्त्र और परमेश्वर को स्वच्छन्द भैरव रूप में भैरव ही कहते हैं । ऐसे स्वच्छन्द भैरव भगवान् स्वात्मैक्य रूप से सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह ये पाँचों कृत्य करते हैं । स्वच्छन्द भैरव और इनके कृत्यों में कोई अन्तर नहीं । स्वात्मैक्य का इससे बढ़कर कोई उदाहरण नहीं । इसी आशय से स्वच्छन्द भैरव को मुदित देखकर देवी ने उस समय अपनी बात कही, यह श्लोक में व्यक्त है ।

उक्त श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों की विशिष्ट नैरुक्तिक-व्याख्यापूर्वक उनके वैशिष्ट्य को विद्योतित कर रहे हैं–

तावदशेषोत्कर्षतया विजिगीषुः, तदभिन्नत्वाद् विश्वस्य जगद्व्यवहाररूपतयापि द्योतमानः, शिवमन्त्रमहेश्वरादिभिः स्तूयमानः सर्वेषामगतीनां गतिः प्राप्योऽभिन्न-बोधसारश्च, यथोक्तं 'दिवु क्रीडादौ' इति। भैरवो विश्वभरणरवणवमनरूपः

१.देवम्–

'दिवु' दिवादि धातुगण का यह प्रथम धातु है। इसके १.क्रीडा, २.विजिगीषा, ३.व्यवहार, ४.द्युति, ५.स्तुति, ६.मोद, ७.मद, ८.स्वप्न, ९.कान्ति, १०.गति, दश अर्थ होते हैं। गति के भी १.गमन, २.प्राप्ति, ३.ज्ञान, और ४.मोक्ष ये चार पृथक् पृथक् अर्थ होते हैं। इस तरह विशिष्टार्थद्योतक दिव् धातु से अच् प्रत्यय के योग से देव शब्द निष्पन्न होता है।

इसके मुख्य अर्थों का सन्दर्भ इस प्रकार लिया जा सकता है–

अ.क्रीडा सन्दर्भ–शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त इन तत्त्वों पर यह भैरव दर्शन विचार करता है। इस बाह्य उल्लास में सृष्टि का यह स्वरूप भगवान् भैरव की क्रीडा ही है। यह शाश्वत खेल भैरव खेल रहा है। अतएव वह क्रीडाकर्त्ता देव है।

आ.वह विजिगीषु है। अन्तर के बाह्य उल्लास के प्रतीक इस विश्व में सबसे अधिक उत्कृष्ट होने के कारण उसकी सर्वातिशायिनी इच्छा विजयेच्छा ही माना जाती है। अतः विजयेच्छा के कारण वह विजिगीषु (वि+जि+सन्+उ) है।

इ.व्यवहार– सारा विश्व उससे अभिन्न है। इसलिये सारे विश्व व्यवहार में वही रूपायित है। वही व्यवहारकर्त्ता के रूप में ई-द्युति के कारण द्योतमान है।

उ.स्तुति सन्दर्भ–वह चण्ड आदि समस्त देवताओं से स्तूयमान है। देव स्वयं स्तुति में भक्तिपूर्वक संलग्न हैं।

ऊ.गति सन्दर्भ– सभी गतिहीनों की वही गति है। ऋ-वही प्राप्य है, ऋ-वही बोद्धव्य है अथवा बोध के सारे रहस्य रूप से वही उल्लसित है। ऐसे दिव्य देव को देखकर देवी ने कहा।

भीरूणामभयमिति व्युत्पत्त्या संसारिणामभयदः, भयं भीः संसारत्रासः, तया जनितो रव आक्रन्दः भीरवः, ततो जातः तदाक्रन्दवतां स्फुरितः, अस्यैव भीरवस्य संसारभयविमर्शनस्यायं शक्तिपातवशेनोत्थापकः, भानि नक्षत्राणि ईरयति इति भेरः कालः, तं वायन्तीति भैरवाः-कालग्राससमाधिरसिका योगिनस्तेषामयमिति आन्तरः स्वभावः, भिये पशुजनत्रासाय रवः-शब्दराशिसमुत्थाकारादि-कलाविमर्शो यासां खेचरी-गोचरी-दिक्चरीभूचरीचक्ररूपाणां संविद्देवीनां ता भीरवास्तासामयं स्वामी भैरवः, तथा भैरवो भीषणःसंसारविघटनपरः, एवमागमेषु निरुक्तत्वात्, श्रीवृहस्पतिपादैः शिवतनावन्वर्थ-व्याख्यातस्वरूपत्वाच्च ।

---

२. भैरवम् –

अ–विश्व का भरण, रवण और वमन करने में समर्थ देव ही भैरव देव हैं ।

आ–भीरु (संसार की दारुणता से भीत) व्यक्तियों को अभयदान देने वाले वह भैरव हैं ।

इ–भय को भीः कहते हैं । संसार से त्रास ही भय है । इससे उत्पन्न जो हाहाकार के रव हैं, वे भेरव हैं । भेरव से उत्पन्न अर्थात् उनके हाहाकारमय आक्रन्दन को सुनकर वे परम दयालु परमेश्वर तुरत व्यक्त हो जाते हैं ।

ई–अथवा इसी भेरव अर्थात् संसार के त्रास के कारण उत्पन्न भय का विमर्श साधकों में होता है । फलस्वरूप उन पर भैरव का शक्तिपात हो जाता है । इस शक्तिपात के सामर्थ्य से वे साधकों के उत्थापक भैरव हैं ।

उ–'भ' नक्षत्र को कहते हैं । नक्षत्रों की गतिशीलता के प्रेरक को भी भ+ईर=भेर कहते हैं । भेर काल को कहते हैं । काल के ग्रास और जन्म का उपक्रम करने वाले योगी होते हैं । उन्हें काल-ग्रास से विशिष्ट समाधि-योग का रसिक मानते हैं । भैरवों के स्वात्म रूप ही भैरव देव हैं ।

ऊ–'भी' भय के लिये अर्थात् संसार ग्रास से बचने के लिये 'रव' अर्थात् शब्दराशिरूपी मालिनी और वर्णराशिरूपिणी मातृका आदि के माध्यम से स्वर और व्यंजनों का विमर्श स्वाभाविक है । इसमें १.खेचरी, २.गोचरी, ३.दिक्चरी और ४.भूचरी शक्तियों का समवाय है । ये सभी संविद्देवियाँ मानी जाती हैं । ये देवियाँ ही भैरव भी कही जाती हैं । इन शक्तिचक्रों के रव भी भैरव देव ही हैं ।

अत एवायं मुदितो नित्यानन्दघनस्वातन्त्र्यशक्तियुक्तो यः, तं भैरवाभिधानमेव न तु ब्रह्मविष्णवीशसदाशिवशिवरूपं तेषामेकादश-पटल-निरूपितनीत्या एतत्स्वभावाभावादेतदुल्लास्यविलाप्यत्वाद्वा । अत एव महान्तमीशानं सर्वेषामेषां स्वामिनम् । अत एव के मूर्धन्ये ब्रह्मबिले एला स्फुरन्ती शक्तिस्तस्यामासः आसनमुपरिस्थितिर्यस्य, व्यापिनीसमनात्मनः शिखरस्य

ऋ– भैरव का पर्यायवाची शब्द 'भीषण' भी है । भीषण शक्तिमान् संसार का विघटन ही करता है । यह आगमोक्त तथ्य प्रसिद्ध है । श्रीमान् आचार्य वृहस्पतिपाद ने अपने 'शिवतनु' ग्रन्थ में अन्वर्थ रूप से यह व्याख्या प्रस्तुत की है । ऐसे भैरव देव को देखकर देवी ने कहना आरम्भ किया ।

३.मुदितम् –

देवताओं से स्तूयमान भैरवभट्टारक अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे । मुदित अवस्था मोद से मुग्ध व्यक्ति के लिये प्रयुक्त विशेष अवस्था है ।

भगवान् के लिये प्रयुक्त यह शब्द उनके नित्यानन्दघन स्वरूप का साक्षात्कार करा रहा है । आनन्दशक्ति को ही स्वातन्त्र्य शक्ति भी कहते हैं । स्वातन्त्र्य शक्ति से समुल्लसित शिव विश्व में मोद का प्रसार करते हैं । दिव् धातु के अर्थों में मोद और मद दोनों परिगणित हैं । मोद, मद से मनोज्ञ केवल शिव ही शास्त्रों में समुद्दिष्ट हैं । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सदाशिव और शिव भाव में चक्राधिष्ठान अधिष्ठित देवों में मुदित का अभाव स्वच्छन्द तन्त्र के एकादश पटल में प्रतिपादित है । इसलिये भैरव भट्टारक को इसी मुदिता से ओतप्रोत महान् देव यहाँ स्वीकार किया गया है । देवी ने उनसे ही बात की ।

४.महेशानम् –

महत्तम ईशान भैरव भट्टारक की ही संज्ञा है । यह शब्द उनके सर्वेश्वरत्व का परिचायक है ।

सर्वाध्वोपरिवर्तिनः पदस्य, तत् कैलासशिखरं तत्रासीनं तदुत्तीर्णं प्रकाशैकघनं तदशेषव्याप्त्या च विश्वरूपम्। ततो विगतामयम्-आ समन्तात् मिमीते इत्याशयः।

'शक्तिरूपा स्मृता माया यदधः शक्तिकुण्डली ।'

इति वक्ष्यमाणाख्यातिरूपा महामायातद्विरहितम्, विगतश्चामयो यतो भजमानानाम् । भगवतः शक्तिप्रपञ्चव्याप्तिरूपैस्तदनुगृहीतैरेव चण्डादिभिः कुमारान्तौ, तत्रपञ्चसारव्याप्तिरूपस्य भगवत उमापतेर्व्याख्यातभैरवस्फारसमावेशाद्

५.कैलाशशिखरासीनम् –

'क' मूर्धा में शश्वत् समुल्लसित ब्रह्मबिल में उदान प्राण का चमत्कार योगियों के साक्षात्कार कां विषय है । उसमें एलायित शक्तिमत्ता में आस अर्थात् आसनपूर्वक शिखर अर्थात् सर्वाध्वोपरि स्थान पर निवास करने वाले साक्षात् देवाधिदेव ही हो सकते हैं । इस तरह पूरा अर्थ होता है कि, ब्रह्मबिल के ऊपर शक्ति, व्यापिनी, समना के ऊपर उन्मना के शिखर पर विद्यमान भगवान् भैरव परमोपास्य देवाधिदेव हैं । उनसे पार्वती ने उक्त बातें कीं । वे उस परमोच्च स्थान पर विराजमान प्रकाशैकघन सर्वव्यापक विश्वरूप भैरव देव ही हैं ।

६.विगतामयम् –

इस शब्द के विगत और आमय दो खण्ड हैं । इसका विग्रह वाक्य है–'विगत आमय होता है जिससे' । जिसके अनुग्रह से भक्तों के आमय नष्ट हो जाते हैं, वह उपास्य परमेश्वर भैरव देव ही विगतामय कहलाते हैं । आमय की निरुक्ति करते हुए महामाहेश्वर क्षेमराज ने जो विग्रह दिया है,उसके अनुसार 'आ' अर्थात् समन्तात् (चारों ओर से पूर्णरूप से) 'मिमीते' अर्थात् स्वात्म भाव को जो 'स्व' से प्रक्षिप्त कर पशुभाव की अख्यातिरूपी अज्ञान से बाँध लेती है । यह माया ही विश्व के लिये माया है ।

'माया भी शक्तिरूपा ही मानी जाती है । उसके नीचे ही शक्ति कुण्डली की सीमा आती है ।' इस नियम के अनुसार अख्यातिरूपिणी महामाया से रहित भैरव देव ही अनामय भाव में वहाँ शोभायमान थे ।

७.चण्डनन्दिमहाकालादिभिः स्तूयमानम् –

आदिशब्द से गणेश, वृष, भृङ्गी, कुमार, इन्द्र, यम, आदित्य, ब्रह्मा, विष्णु-पुरःसर सभी गृहीत होते हैं । इन देवों में छः वर्ग ही सम्मिलित हैं ।

भैरवरूपस्य तन्नाम्नश्च भुवनाध्ववक्ष्यमाणकैलासाख्यहिमवच्छृङ्गासीनस्य अन्तरङ्ग-परिवाररूपैरिन्द्रादिभिर्लोकपालैर्यमोपलक्षितैः सर्वैः संहर्तृभी रुद्रादिभिः, आदित्यो-पलक्षितैः सर्वैस्तेजोमयैः ब्रह्मविष्णूपलक्षितैः सृष्टिसंहारस्थितिकारिभिः सर्वैरनन्त-भट्टारकादिभिः, तत्पुरःसरैरन्यैरपि च निरपेक्षशक्तिपातपात्रीकृतैः स्तूयमानं कल्पितप्रमातृतानिमज्जनात् सर्वोत्कृष्टत्वेन परामृश्यमानम्, गणेन कपालीशादि-

---

प्रथम वर्ग–के देव भगवान् की शक्ति से निष्पन्न हैं। वे इस विश्व प्रपञ्च की व्याप्ति के प्रतीक और शक्ति से सर्वदा सर्वथा अनुगृहीत हैं।

द्वितीय वर्ग–शाक्त प्रपञ्चसार की व्याप्ति में प्रतिष्ठित भगवान् उमापति के प्रतीक भैरवस्फार के समावेश में समाविष्ट रहता है। यह भैरव भाव और भैरव नाम से विख्यान कैलाशशिखर के हिमाच्छादित शृङ्गभाग में आसीन अन्तरङ्ग परिवार रूप है। इसी में इन्द्र का नाम सर्वप्राथम्येन परिगृहीत है। ये लोकपाल वर्ग में भी आते हैं। लोकपाल भी एक तरह की अन्तरङ्गता के ही अन्तर्गत आते हैं।

तृतीय वर्ग–यम संहार के व्यवस्थापक देव हैं। इनके साथ इन्हीं के प्रतिनिधियों का रहना स्वाभाविक है। इसलिये 'यम' शब्द उपलक्षित संहारकारी रूप आदि देवों से कैलाशशिखरासीन परमेश्वर स्तूयमान हो रहे थे।

चतुर्थ वर्ग–आदित्य तेजस्विता के प्रतीक देव हैं। उनसे उपलक्षित सभी तेजोमय देवों से वे स्तूयमान थे।

पञ्चम वर्ग–ब्रह्मा और विष्णु के वर्ग के देव, जिनके उत्तरदायित्व में सृष्टि और स्थिति की पालकता आती है, वे भी ब्रह्मा और विष्णु नामों से उपलक्षित हो रहे हैं, जिनमें अनन्त भट्टारक[१] का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण यहाँ किया गया है।

षष्ठ वर्ग–ब्रह्मा और विष्णु के साथ एक शब्द 'पुरःसर' भी जुटा हुआ है। इन दोनों को अग्रसर कर कुछ अन्य देव भी स्तुति में सम्मिलित थे। वे देव निरपेक्ष शक्तिपात[२] से पवित्रित थे और देव वर्ग मे सम्मिलित होने की पात्रता उनमें आ गयी थी। वे भी विद्यमान थे।

---

१. श्रीतन्त्रालोक (भाग४) १३/२७५
२. स्वच्छन्दतन्त्र (भाग १) २/११७-१२५

भैरवाष्टकेन वक्ष्यमाणपरिवाररूपेण, मातृभिः-ब्राह्म्यादिदेवीभिः, गणानां मात्रा-प्रपञ्चव्याप्त्या उमादेव्या उक्तान्तरङ्गपरिवारमध्यप्रधानभूतया निषेव्यमानं-तच्छक्ति-पातादेव अख्यातिप्रशमनतया समाविश्यमानम्, सृष्टिसंहारौ ताच्छील्येन कुर्वाणम्, सृष्टिसंहारप्रपञ्चात्मानं च विशिष्टप्रत्यवायफलं विलयं स्थितिं च विदधतम्, अनुग्रहं च ताच्छील्यताच्छब्द्यादिस्वभावतया कुर्वन्तं, सदा पञ्चकृत्यकारिणम्,

---

वे भी स्तुति कर रहे थे। यहाँ प्रत्यक्ष साक्षात्कारपूर्वक स्तुति से एक विशिष्ट अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है। वस्तुतः प्रमाता ही सर्वतोभावेन स्तुत्य होता है। वहाँ कल्पित प्रमातृता का निमज्जन और प्रत्यक्ष प्रमाता में सर्वोत्कृष्ट भाव के प्रत्यक्षीकार से एक विचित्र चिदैक्य का परामर्श होने लगा था। इस रूप में परामृश्यमान परमेश्वर ही स्तूयमान थे।

८. गणमातृनिषेवितम्–

सातवाँ वर्ग भी वहाँ था। यह वर्ग मातृवर्ग था। गणों के मातृवर्ग से वे निषेव्यमान थे। गण के रूप में भैरव गण कपालीश से लेकर ८ हैं। इन्हें भैरवाष्टक कहते हैं। इनका समन्त्रक वर्णन स्व० तन्त्र १/७७-८ में है। ये[1] आठ भैरव हैं। यह भैरवों का गण है। यह इनका परिवार[2] है। गणों की मातृकायें भी आठ हैं। ये ब्राह्मी आदि हैं। इस परिवाराष्टक में प्रधान उमा देवी हैं। यह अन्तरङ्ग परिवार है।

अन्तरङ्ग परिवार के रूप में भैरवाष्टक के आठ भैरव तथा ब्राह्मी आदि आठ देवियों का गण शास्त्र में प्रसिद्ध है। यह गणमातृका का क्रम है। भगवान् महेश्वर प्रधान देवी 'उमा' द्वारा निषेव्यमान थे। इस परिवार की प्रधान 'उमा' देवी हैं। इन्हीं के तत्त्वावधान में यह सारा विश्व प्रपञ्च रूपायित होता है और इसी में उमा देवी की व्याप्ति भी शास्त्र स्वीकार करते हैं। ऐसी उपास्य उमा से ही निषेव्यमान परमेश्वर कैलाशशिखर पर आसीन थे।

९. निषेवितम्–

महेश्वर के विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त है। इसी का अर्थ निषेव्यमान है। इन्हीं भगवान् भैरव के अनुग्रह से शक्तिपात होता है।

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र १/७७-८६
२. तदेव–१/८६

प्रणतानां-साधकादीनां यथाभिलषितसंपादनेन आर्तिविनाशनम् । एवंभूतं देवं भैरवं मुदितं यथोक्तदेवरूपैव 'देवी'-स्वातन्त्र्यशक्तिः, दृष्ट्वासाक्षात्कृत्य, 'वचनमब्रवीत्'-पूर्णहन्तात्मना परामृशत्, तत्परामर्श एव हि अकारहकारप्रत्याहारात्मा

शक्तिपात के फलस्वरूप अख्यातिरूप अज्ञान का प्रशमन होता है। ज्ञान के उदय से तादात्म्य-समावेश होता है। इस प्रकार के समावेश में सिद्ध साधक वर्ग द्वारा ही भगवान् निषेव्यमान होते हैं। इस समावेश दशा की सर्वातिशायिनी प्रतीक माँ 'उमा' हैं। उन्हीं के द्वारा गणमातृकाओं के साथ भगवान् भैरव निषेव्यमान थे।

१०.सृष्टिसंहारकर्त्तारं विलयस्थितिकारकम्–

विश्व का प्रपञ्च सृष्टि और संहार के मध्य का ही विस्तार माना जाता है। यहाँ ताच्छील्य शब्द का प्रयोग किया गया है। तत्+शील का भाव ही ताच्छील्य शब्द का मूल है। वस्तुतः सृष्टि और संहार की शीलता अर्थात् विशेष रुचि या प्रवृत्तिपूर्वक उसे करने अर्थ में ताच्छील्य शब्द प्रयुक्त होता है। भगवान् की इच्छाशक्ति से विशेषतः सृष्टि और संहार की क्रिया अनवरत चलती रहती है।

सृष्टि-संहार रूप इस प्रपञ्च रूप में तो ये कर्त्ता हैं, करते ही रहते हैं, इसमें अर्थात् इस प्रपञ्च में प्रत्यवाय भी टपक पड़ते हैं। उसी समय विलय और विलापन रहने पर स्थिति का विधान भी उसी के अधिकार में है। वही इस विश्व का करने वाला महान् कर्त्ता है। ऐसे परमेश्वर को देखकर देवी ने कहा।

११.अनुग्रहकरम्–

यहाँ ताच्छील्य और ताच्छब्द्य दो प्रकार के स्वभाव की बात आचार्य क्षेमराज कर रहे हैं। भगवान् भैरव पंचकृत्यकारी हैं। अनुग्रह उनका अपना विशिष्ट स्वभाव है तथा अनुग्रहकर्त्ता के रूप में शास्त्रों द्वारा व्याख्यात होते हैं। यह विश्वास वहाँ सबके मन में उल्लसित था कि, भगवान् अवश्य अनुग्रह करेंगे।

१२. प्रणतार्त्तिविनाशनम्–

प्रणत वही लोग होना चाहते हैं, जो सर्वात्मना चिदैक्य दार्ढ्य की कामना करते हैं। वह भाग्यशाली साधक होता है, जो अपनी विनम्रता का अर्पण करता है और भगवान् की कृपा का पात्र बन जाता है। वह भगवान् के सम्मुख होता है। उसकी आर्त्ति का विनाश साम्मुख्य के द्वारा ही हो जाता है।

गर्भीकृताशेष-विश्वसमग्रशास्त्र-प्रसरप्रथमाङ्कुररूपो भगवान् शब्दराशिः यद्वक्ष्यति–

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम् ।।'

इत्यादि । चिदात्मैव च भगवान् भैरवः सदा शिवादिमूर्तिग्रहणपूर्वं स्वाधारप्रपञ्च-व्याप्तिप्रधानभूतमुमापतिरूपं स्वसत्तानुप्रवेशाद् भैरवात्मकमेव मुदितामास्थाय

उसके समस्त चाहे हुए भाव तुरत पूर्ण होते हैं । इसलिये भगवान् प्रणत साधक भक्तों की समस्त प्रतिकूलताओं के विनाशक माने जाते हैं । इसी प्रकार मुदित आदि विशेषता से विशिष्ट परमेश्वर देवाधिदेव भैरव वहाँ विद्यमान थे ।

१३.देवी वचनमब्रवीत्–

देव शब्द के अनुसार ही देवी शब्द में भी वे सारी विशेषतायें निहित हैं । भगवान् की आनन्द शक्ति ही देवी के रूप में विख्यात है । इसीलिये आचार्य क्षेमराज ने देवी के लिये स्वातन्त्र्यशक्ति पर्याय का प्रयोग किया है ।

ऐसी सर्वशक्तिमयी भगवती आद्याशक्ति शिवा ने भगवान् को उक्त १२ विशेषणों से समन्वित (दृष्ट्वा) देखकर अर्थात् साक्षात्कार करती हुई उक्त वचन कहे । यहाँ वचन शब्द का निहितार्थ पूर्णाहन्तापरामर्श ही है । यह परामर्श ही वचन रूप से व्यक्त होता है । यह परामर्श ही अकार से लेकर हकार तक के प्रत्याहार रूप वर्णमाला के माध्यम से विश्व व्यवहार का माध्यम बन रहा है । इसी प्रत्याहार में समस्त विश्व में प्रसरित प्रवाह रूप वेद, शास्त्र, आगम, पुराणेतिहास, काव्य आदि इस विश्व की सभी भाषामय वाग्धारा का प्रवाह बह रहा है । इसी आधार पर वर्णमाला को मातृका एवं शब्दराशि को मालिनी कहते हैं । इन दोनों के प्रतीक शब्दब्रह्म भगवान् भैरव ही हैं । कहा गया है–

'परम कारण परमेश्वर अदृष्टविग्रह, परमशान्त भगवान् शिव से ही ध्वनिरूप परमदुर्लभ शास्त्र निष्पन्न हुए ।' इस श्लोक द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि, ध्वनिरूप शास्त्र शिव की स्फुरत्ता के ही स्फुरण हैं ।

चिदात्मा भगवान् भैरव सदाशिव आदि विग्रहों में व्यक्त होने के पहले ही शास्त्रों का प्रथन करते हैं । उसका स्वरूप इस प्रकार है–

तथाभूतामेव च उमाभट्टारिकामूर्तिं गुरुशिष्यभूमिकाग्रहणेन, शास्त्रं वचनप्रतिवचनरूपं लोकानुग्रहार्थं प्रथयति, यद्वक्ष्यति–

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः ।।' इति ।

भगवान् भैरव का आधार उनकी शक्ति मात्र है । शक्ति के माध्यम से ही यह सारा प्रपञ्च रूपायित होता है । इस प्रपञ्च में परमेश्वर की व्याप्ति का रहस्य भी यही है ।

इस व्याप्ति के प्रधान रूप को ही 'उमापति' संज्ञा से विभूषित करते हैं । इस 'उमापति' रूप से स्वात्म सत्ता में अनुप्रवेश अनुभूति का विषय है । स्वात्मसत्ता में अनुप्रवेश के समय के आनन्द से मोद-मुदित होना स्वाभाविक है और वही मुदित रूप भैरवात्मक माना जाता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि, जिस सत्ता में उमापति प्रवेश करता है, वह सत्ता ही उमा है । वहाँ दो मूर्त्तियों का प्रकल्पन स्वभावतः सम्भाव्य है । भगवान् उमापति भैरव भाव में ध्वनिविस्तारक गुरुरूप में अधिष्ठित होते हैं और सत्तारूप भगवती उमा, जिसमें ध्वनि का प्रसार व्याप्त होता है, वह ग्राहिका बनकर श्रोता शिष्य बन जाती है । यहाँ वचन और प्रतिवचन रूप प्रश्नोत्तर विधान स्वतः विहित हो जाता है । इसी अवस्था को गुरु शिष्य की भूमिका का ग्रहण मानते हैं । उसी गुरुवचन और शिष्य प्रतिवचन रूप परम्परा प्रवाह को शास्त्र रूप में तादात्म्य सिद्ध साधकों ने सन्दृब्ध किया । गुरु वचन को यथावत् ग्रहण करने की ग्राहिका शक्ति शिष्य का प्रधान गुण है । ग्रहण के परामर्शोपरान्त ही प्रतिवचन सम्भव है । इसी से शास्त्र सम्भूत होते हैं । यह भगवान् का लोकानुग्रह व्यापार है, जिसे वे स्वयं प्रथित करते हैं । आगे चलकर यह सन्दर्भ आता है कि,

'स्वयं सदाशिव देव ही गुरु और शिष्य के पद पर अवस्थित रहकर पूर्व अर्थात् प्रश्न और उत्तर अर्थात् जिज्ञासा के समाधानकारक वाक्य रूप पदों के माध्यम से आधार भेद का आश्रय लेते हुए इसी शैली में तन्त्र को अवतरित करते हैं ।'

एवमान्तरबाह्यक्रमाभ्यां शास्त्रार्थसूत्रणात् सूत्रभूतं सार्धश्लोकत्रयात्मकं तन्त्रावतारकवाक्यमेतद्बोद्धव्यम्, अत्र च एकवाक्यमेतद् बोद्धव्यम्, देवभैरव-पदाभ्यां यथाव्याख्यातं गर्भीकृतमर्थं स्फुटीकर्तुं कैलासेत्यादिविशेषणान्तराण्युपात्तानि, तथा हि–देवः क्रीडाव्यवहारलक्षणार्थौ 'सृष्टीत्यादिना–अनुग्रहकरम्' इत्यन्तेन प्रकटीकृतौ । तत्राद्यैः पञ्चभिः पटलैः मुद्रापटलेन च एतदङ्गभूतेन चतुर्दशेनानुग्रहः प्रतिपादितः, एकादशेन सृष्ट्यादिस्वरूपमुक्तम्, विजिगीषात्मार्थः कैलासेति पदेनान्तरार्थपरेण महेशानपदेन चाभिव्यक्तो दशमपटलेन निर्णीतः, द्योतनार्थोऽनामय-

---

यहाँ एकचवनविरोध विचारणीय है । आचार्य क्षेमराज ने स्वयं तुरत पहले यह कहा है कि, 'सदा शिवादिमूर्तिग्रहणपूर्वम्'.....प्रथयति ।' किन्तु इस श्लोक के अनुसार सदाशिव देव ने ही तन्त्र को अवतरित किया । इस पर विचार करना चाहिये । इसका समाधान मेरी दृष्टि में यह है कि, परमकारण से निष्पन्न शास्त्र ध्वनिरूप में थे और भगवान् सदाशिव द्वारा निष्पन्न शास्त्र पूर्वोत्तर पदों से समन्वित थे । यहाँ गुरु और शिष्य का स्वरूप स्पष्ट था ।

इस प्रकार अन्तर और बाह्यक्रम के रूप में ही शास्त्रार्थ का आसूत्रण सम्पन्न हुआ । यही कारण है कि, कुण्डली शक्ति की तरह (३) श्लोक रूप सूत्रों में गुरु शिष्य के स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव हुआ । ये ३॥ वाक्य तन्त्रावतारक वाक्य हैं । इन श्लोकों का महत्त्व आचार्य क्षेमराज की दृष्टि से बहुत बढ़ जाता है । इन श्लोकों में प्रयुक्त देव और भैरव इन दोनों पदों की जो व्याख्या आचार्यश्री ने की है और उसमें जो वर्गीकृत अर्थात् निहित अर्थ हैं, उनको और भी स्पष्ट करने के लिये कैलाश इत्यादि जितने विशेषण इन श्लोकों में प्रयुक्त हैं, उनसे ज्ञायमान विस्तार का वर्गीकरण कर रहे हैं । जैसे–

१.दिव् धातु के क्रीडा और व्यवहार इन शब्दों पर आधृत-'सृष्टिसंहारकर्त्तारं' से 'अनुग्रहपरं' विशेषणों से अर्थतः निष्पन्न पाँच पट्ल हैं । ये पाँचों प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम पटल हैं । क्रीडा और व्यवहार अर्थों में अनुग्रह की झलक मिलने के कारण अनुग्रह को व्यक्त करने के उद्देश्य से चौदहवाँ मुद्रा पटल वर्णित किया गया है । इस तरह छः पटलों का यह एक वर्ग है ।

मुदितपदाभ्यां प्रकाशितः, स मध्ये मध्ये–

'तत्रस्थं व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम् ।'

इत्यादौ ग्रन्थे प्रथितः, स्तुत्यर्थः 'चण्डेत्यादिना, निषेवितम्' इत्यन्तेन स्फुटीकृतः ।

'सुरासुराणां सिद्ध्यर्थं यजनोपायहेतुना ।

देवदेवेन निर्दिष्टः................... ।।'

इत्याद्युद्देशेषु निर्वाहितः, अगतीनां गतिरित्येवंरूपो योऽर्थः सोऽपि 'प्रणतार्तिविनाशनम्' इत्यन्तेन व्यक्तः षष्ठसप्तमाष्टमनवमद्वादशत्रयोदशपञ्चदशपटलैर्निर्णीतः, एवं भैरवपदार्थोऽपि योजितव्यः । तत्र हि यथा रवणार्थः 'अब्रवीत्' इत्यन्तेन व्यञ्जितस्तन्त्रावतारपटलेन प्रदर्शितः, तथान्येऽपि अर्था यथायोगं देवपदतुल्यार्थतया योज्याः । अपि च कैलासेति पदेन द्वितीयार्थेन स्थानपूर्वकं देवभैरवादिपदैः सृष्टिरित्यादिना च अवस्थापूर्वकं

---

२. ग्यारहवें पटल में सृष्टि का स्वरूप वर्णित है ।

३. विजिगीषात्मक अर्थ कैलाशशिखरासीन पद और महेशान पद से अभिव्यक्त है । इसको दसवें पटल में निर्णीत किया गया है ।

४. द्योतन अर्थ, अनामय और मुदित दो पदों से प्रकाशित किया गया है । बीच-बीच में भी द्युति अर्थ का प्रकाशन किया गया है । जैसे–

"वहाँ स्थित तेज को परमकारण तेज के रूप में अभिव्यक्त करना चाहिये ।" इस श्लोक में भी 'द्युति' अभिव्यञ्जित है ।

५. स्तुति अर्थ 'चण्ड' से लेकर 'निषेवितं' तक के विशेषणों में व्यक्त है । तथा "देवों और दानवों की सिद्धि के लिये यजन ही एक उपाय है तथा यजन ही सिद्धि के हेतुभूत देवाधिदेव द्वारा निर्दिष्ट है" इन कथनों में भी इनका निर्वाह किया गया है ।

स्तूयमानम् इत्यन्तेन च स्तुतिपूर्वकमस्य शास्त्रस्यावतरणम्-इत्यनेनैव अवतारकवाक्येन प्रकाशितम्, मुदितमित्यनेन प्रश्नयोग्यावसरज्ञत्वं शिष्यस्य प्रकाशितम्, भैरवपदेन च दक्षिणस्रोतः समुद्भूतत्वम् अस्य शास्त्रस्य सूचितम्, स्रोतोभेदं च नवमपटले दर्शयिष्यामः ॥३॥

---

६. दिव् धातु का एक अर्थ 'गति' भी है। भगवान् भैरव के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि, वे 'अगतिवालों के गति हैं।' यह अर्थ 'प्रणतार्त्तिविनाशनम्' इस विशेषण में अन्तर्भूत है। यह सारे अर्थ छठें, सातवें, आठवें, नवें, बारहवें, तेरहवें और पन्द्रहवें पटलों में निर्णीत हैं।

७. भैरव पदार्थ में 'रवण' अर्थ अब्रवीत् प्रयोग पर्यन्त व्यञ्जित हो जाता है तथा तन्त्रावतार पटल में पूरी तरह प्रदर्शित है। इसी तरह दिव् धातु के अन्य सारे अर्थ यथायोग यथावसर यथासन्दर्भ इस महाग्रन्थ में प्रदर्शित हैं। 'देव' पदार्थ के साथ तुल्यार्थ की दृष्टि से अन्य अर्थ भी प्रसङ्गतः योजनीय हैं।

कैलाश इस पद से द्वितीय अर्थ उन्मना के शिखर वाले अर्थ के रूप में स्पष्ट किया गया है। इसी सन्दर्भ में देव, भैरव, सृष्टि और कर्त्ता आदि अर्थों का भी समन्वय हो जाता है। इसलिये वे सब के द्वारा स्तुत्य हैं, इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

एक बात और भी महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि, इस शास्त्र का अवतरण स्तुतिपूर्वक स्तुतिकर्त्ताओं की प्रधान उमा देवी द्वारा किया गया है। यह सब शास्त्रावतारक सन्दर्भ ही है। मुदित शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट झलक रहा है कि, शिष्य को अवसरज्ञ होना चाहिये। अवसर पर किये गये प्रश्नों का मुदित गुरु उचित उत्तर देता है और रहस्यार्थ का उद्घाटन भी करता है।

भैरव शब्द का यहाँ प्राधान्य है। इससे यह स्पष्ट ध्वनित है कि, यह शास्त्र दक्ष स्रोत से ही समुद्भूत है। यह स्रोतोभेद नवम पटल में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है ॥३॥

किमब्रवीत्? इत्याकाङ्क्षायामाह–

श्रीदेव्युवाच–

यत्त्वया कथितं मह्यं स्वच्छन्दं परमेश्वर ।।४।।
शतकोटिप्रविस्तीर्णं भेदानन्त्यविसर्पितम् ।
चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुष्टयफलोदयम् ।।५।।

हे शंकर ! अनुग्रहैकपरतया श्रेयस्कर, स्व-आत्मरूप परमेश्वर, यत् त्वया मह्यं स्व एव च्छन्द इच्छा यस्य तादृगनर्गलभैरवरूपाभिधायित्वात् स्वच्छन्दम्, तन्त्रावतारपटलनिरूपयिष्यमाणदृशा कोटिशतादिविस्तीर्ण-कोटराक्षव्याधिभक्षाघोरेश्वरस्वच्छन्दादिना भेदानन्त्येन प्रसारितम्, चतुर्णां-विद्यामन्त्रमण्डलमुद्राणां पीठम्-आश्रयं संभवमात्रेण

'मुद्रामण्डलपीठं तु मन्त्रपीठं तथैव च ।
विद्यापीठं तथैवेह चतुष्पीठा तु संहिता ।।'

न शक्नुवन्ति मनुजा अल्पवीर्यपराक्रमाः ।
अल्पायुषोऽल्पवित्ताश्च अल्पसत्त्वाश्च शंकर ।।६।।

इति,

यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है कि, देवी ने क्या कहा-या क्या प्रश्न किया ? इसी को ध्यान में रखकर शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

परमोपास्या देवी ने कहा-परमोपास्य परमेश्वर ! आपने मुझे बताया है कि, स्वच्छन्द परम रहस्य शास्त्र है। शतकोटि सुविस्तीर्ण और अनन्त भेद भिन्न यह शास्त्र नामानुरूप भैरव आगम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह चतुष्पीठ महातन्त्र चतुष्टय (१. गुरु, २. साधक, ३. पुत्र और समयी) शिष्यों के लिये महाश्रेयः रूप फलप्रद रहस्य शास्त्र है। इसके स्वाध्याय और आचार चर्या में आचरण करने से इन फलों का अनवरत उदय होता रहता है ॥४-५॥

इतना यह महान् शास्त्र एक तरफ, दूसरी ओर अल्पवीर्य अणुपुरुष ! अल्प पराक्रम शील मनुष्य समुदाय ! सर्वगुण सम्पन्न परमेश्वर, इन मानवों के साथ अल्पता, अणुत्व और किंञ्चित्व का अभिशाप लगा हुआ है। ये काल कवलित होने के कारण अल्प आयुष्य वाले हैं। इनके पास वित्त की भी पर्याप्त व्यवस्था नहीं होती। ये धन व्यय कर ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। साथ ही इनमें सत्त्व (अस्तित्व, स्वाभाविक चरित्र, जीवन, प्राण, चेतना, ज्ञान, सद्गुण, ऊर्जा, साहस, शक्ति, शुचिता आदि) की भी अल्पता ही उल्लसित है ॥६॥

तथा–

'स्वच्छन्दभैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः ।
ग्रन्थान्तराणि चत्वारि मन्त्रपीठं वरानने ।।'

इति श्रीसर्ववीरेऽभिहितत्वात् । तत्र विद्या-स्वच्छन्दशिवरूपा स्फुरत्ता परमार्थमातृका, मन्त्राः–चतुष्कलाद्याः, मण्डलं-नवनाभादि, मुद्राः–कपालाद्यनुकाराः । समयि-पुत्रकसाधकाचार्यरूपस्य चतुष्टयस्य वक्ष्यमाणभेदभिन्नस्य यत्फलं भोगमोक्ष-वितरणादिरूपं तस्योदयो यस्मात् तादृशं कथितं तत् । मरणजन्मधर्मका मनुष्याः, अल्पेन वीर्येणोत्साहेन पराक्रमेण सामर्थ्येन य युक्ताः, अत एव च वीरसिद्धिषु अशक्ताः, अल्पजीवितत्वेन अल्पवित्तत्वेन च महानुष्ठानेषु चासमर्थाः, अल्पसत्त्वतया च महार्थज्ञानोपदेशाश्वासरहिताः, न शक्नुवन्ति श्रोतुमध्येतुं किं

तदर्थं संग्रहं तस्य स्वल्पशास्त्रार्थविस्तरम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं कथयस्व प्रसादतः ।।७।।

इसलिये इनके कल्याण के लिये परमेश्वर ! चूँकि ये अल्प गुण सम्पन्न हैं । अतः स्वल्प विस्तार वाले शास्त्रार्थ समन्वित एक संग्रह रूप लघुकाय शास्त्र का कथन करें भगवन् ! ताकि, इनको भोग और मोक्ष दोनों का लाभ मिल सके । भोगेच्छु जहाँ भुक्ति से तृप्त हों, वहीं मुमुक्षु को मुक्ति देकर उनके जीवन को धन्य बना कर अनुगृहीत करें । इसमें आपका स्व-प्रसाद नितान्त आवश्यक है । प्रसादस्तु प्रसन्नता की उक्ति के अनुसार भगवन् ! प्रसन्न होकर मानव जाति के कल्याण के लिये नये शास्त्र का कथन कर अनुगृहीत करें ॥७॥

आप शङ्कर हैं । शं का अर्थ कल्याण होता है । इस दृष्टि से आप अनुग्रह करने में अनवत रत रहने के कारण शाश्वत श्रेयस्कर हैं ।'स्व' शब्द बिन्दु, विसर्ग, सकार उन्मेष बीज उकार और अनुत्तर बीज अकार से निर्मित होता है । इस अर्थ के अनुसार सर्वं वेत्ति इति बिन्दुः ब्रह्म रूप स्वात्मविसर्ग से सृष्टि के सीत्कार को जन्म देने वाले अमृत बीज 'व' रूप स्वात्म में रमे हे सर्वेश्वर ! आपने स्वयं मेरे लिये स्व अर्थात् स्वात्म के छन्द अर्थात् इच्छा के अनुरूप, भैरव परमेश्वर द्वारा कथित यह शतकोटि विस्तीर्ण अनुत्तर शास्त्र मुझे सुनाया है ।

यह कोटराक्ष, व्याधिभक्ष, अघोरेश्वर और स्वच्छन्द आदि अनन्त भेदों से भिन्न है । यह चतुष्पीठ शास्त्र है । १- विद्यापीठ, २-मन्त्रपीठ, ३-मण्डलपीठ और ४- मुद्रापीठ ये चार नाम हैं । पीठ का अर्थ आश्रय होता है । इस दृष्टि से विद्या, मन्त्र मण्डल और मुद्रा इन चारों की आश्रय संहिता ही मानी जाती है । इसीलिये संहिता को 'चतुष्पीठा' कहते हैं । यह भी कहा गया है कि,

"१. स्वच्छन्द भैरव, २. चण्ड, ३.क्रोध और ४.उन्मत्त भैरव के नाम से अन्यान्य चार ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। सुमुखि पार्वति ! ये चारों मन्त्रपीठ में परिगणित हैं।" यह उक्ति सर्ववीर शास्त्र की है।

१. विद्यापीठ– स्व अर्थात् स्वात्म के छन्द अर्थात् इच्छा के अनुसार विश्व में अनुग्रह करने की कल्याण कारिणी स्फुरत्ता अर्थात् विमर्शरूपिणी परमार्थमातृका ही विद्यापीठ मानी जाती है। इसका आश्रय स्थान ही विद्यापीठ है।

२. मन्त्रपीठ– चतुष्कल[1] आदि 'मन्त्र' कहलाते हैं। चतुष्कल प्रणव को भी कहते हैं। देव्यायामल मतानुयायी 'हूं' को चतुष्कल मन्त्र मानते हैं। इन मन्त्रों के आश्रय को मन्त्रपीठ कहते हैं। अ उ म भी ब्रह्मा विष्णु रुद्र रूप होने के कारण मन्त्र माने जाते हैं[2]।

३. मण्डलपीठ– नवनाभ मण्डल आदि इसी क्रम में आते हैं। दशम पटल में विभिन्न मण्डलों का विस्तार पूर्वक वर्णन उपलब्ध है।

४. मुद्रापीठ– मुद्राओं का वर्णन चौदहवें पटल में विस्तार पूर्वक किया गया है। इनके आश्रय को मुद्रापीठ कहते हैं। इन्हीं चार पीठों के वर्णन के कारण यह तन्त्र चतुष्पीठ तन्त्र कहलाता है।

चतुष्टय फलोदयम्–

चतुष्टय के अन्तर्गत आचार्य, साधक शिष्य, पुत्रक और समयी ये चार अन्तर्गृहीत हैं। यह शास्त्र इनको किस प्रकार फल सम्पन्न करता है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन आगे किया गया है। यह ध्यान देने की बात है कि, भोग और मोक्ष यही दो फल हैं। यह शिवानुग्रह द्वारा प्राप्त होते हैं। यह शास्त्र इन्हीं फलों का शाश्वत उदय करने वाला है।

जहाँ तक 'मनुज' योनिका प्रश्न है, श्लोक छ: में इनकी असमर्थता का सविशेष वर्णन किया गया है। ये मर्त्य, पुनर्जन्म धारण करने वाले अल्पवीर्य (उत्साह) और अल्प सामर्थ्य से समन्वित लोग वीर सिद्धि सदृश महत्फल प्राप्त करने में भी असमर्थ होते हैं। अल्पवित्त के कारण महानुष्ठान भी नहीं कर सकते। अल्पसत्त्व के कारण महार्थ रहस्य ज्ञान और उपदेश के आश्वास से रहित हो जाते हैं। न तो ये श्रोतव्य को ध्यान पूर्वक सुन पाते हैं, न तो स्वाध्यातव्य का स्वाध्याय ही कर पाते हैं और न ही अनुष्ठातव्य का अनुष्ठान ही कर पाते है।

---

१. श्रीतन्त्रालोक भाग आठ आ० ३० पृ० ४३
२. स्व०त० ७/२३२ स्वच्छन्द तन्त्र- १/६९

पुनरनुष्ठातुम्, तदर्थं तस्य शास्त्रस्य संग्रहं-संक्षेपम्, अल्पः शास्त्रार्थविस्तरो यस्य तादृशम्, भुक्तिं मुक्तिं च ताच्छील्येन ददतम्, प्रसादेन-अन्तर्नैर्मल्य-प्रथनात्मना अनुग्रहेण, कथय ॥७॥

अथ प्रश्ननिर्णेयानि वस्तूनि उद्दिशति–

कीदृशं वै गुरुं विद्यात्साधकं च महेश्वर ।
भयाभयप्रदातारं शिष्यं भूमिं च कीदृशीम् ॥८॥
मन्त्रांश्चैव समासेन कालं चैव समासतः ।
यजनं हवनं चैव अधिवासं रजांसि च ॥९॥
पञ्चगव्यं चरुं चैव दन्तकाष्ठं च मण्डलम् ।
दीक्षा चाध्वाभिषेकौ च समयान्साधनानि च ॥१०॥
कलिमासाद्य सिद्ध्यन्ति तथा ब्रूहि महेश्वर ।

इसलिये सर्वशक्ति सम्पन्न प्रभो ! उक्त शतकोटि विस्तीर्ण शास्त्र का संक्षिप्त रूप ही मेरे द्वारा सुनने के लिये समीहित है । इसमें शास्त्र का अति स्वल्प स्वरूप ही अपेक्षित है । आप भुक्ति और मुक्ति का अनवरत अनुग्रह करने में निरत हैं । यही आप का शील है । भगवान् ! अतः प्रसन्न हो कर और मनुष्यों के अन्तर में नैर्मल्य की ज्योति जगाते हुए भगवान् ! कृपा कर वही कहें । यही मेरी प्रार्थना है ॥४-७॥

यहाँ तक शास्त्र की प्रस्तावना और तन्त्रावतार की भूमिका वर्णन के अनन्तर अब प्रश्न के माध्यम से भगवान् द्वारा पारिभाषित करने योग्य वस्तु तथ्यों का प्रस्तुतीकरण कर रहे हैं–

१. भगवन् ! गुरु कैसा होना चाहिये? २. साधक का स्वरूप कैसा हो? ये दोनों परस्पर भयप्रद और अभयप्रद होते हैं, इसे कैसे समझा जाय? शिष्य को कैसे परिभाषित किया जाय? गुरुशिष्यों के स्वरूप की जानकारी के उपरान्त ३. भूमि अर्थात् दीक्षास्थान कैसा हो? इन तीन विषयों पर मुख्यतः प्रकाश डालने की कृपा करें ।

उक्त विषयों के बाद उमादेवी मन्त्र से लेकर साधन पर्यन्त पन्द्रह विषयों को प्रस्तुत कर रहीं हैं । १.समास शैली में मन्त्र, २.उसी तरह काल, ३.यजन, ४.हवन, ५.अधिवास, ६.मण्डप में प्रयोजनीय रङ्ग, ७.पञ्चगव्य, ८. चरु, ९.दन्त काष्ठ, १०.मण्डल, ११.दीक्षा, १२.अध्वावर्ग, १३.अभिषेक, १४.समयाचार, और १५.साधन ।

गुर्वादि भूम्यन्तं कीदृशं विद्यात्-उपादातुं हातुं च जानीयात् । मन्त्रादि-साधनान्तानि पञ्चदश वस्तूनि च यथा कलौ सिद्ध्यन्ति तथा ब्रूहि । तत्र समयिना श्रुतशास्त्रेण पुत्रकादिजिघृक्षया गुरुः परीक्ष्यो गुरुणैव वा परीक्ष्यः, गुर्वादयः कार्याः, गुर्वादयोऽत्र यथाप्राधान्यं क्रमेण निर्दिष्टाः, शिष्यः–पुत्रकः समयी च वक्ष्यमाणस्वरूपः, सद्गुरुः गुर्वादिचतुष्टयरूपस्य शिष्यवर्गस्या-भयप्रदः, असद्गुरुस्तु भयप्रदः, सच्छिष्यवर्गः असच्छिष्यवर्गश्च स्वात्मन एव अभयं भयं च प्रददाति, भयं सिद्धिमुक्तिप्रत्यूहात्, तदभावादभयम्, भयाभयप्रदातार-

---

भगवन् ! अन्य युगों में समय प्रवाह की अनुकूलता के कारण इन उक्त विषयों की जानकारी लोगों को स्वभावतः हो जाती थी किन्तु कलियुग के प्राप्त हो जाने पर लोगों के सामने कठिनाई आ जाती है । ऐसी दशा में कलि में जैसे इनके ज्ञान का सौविध्य हो, हे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ! उसीरूप में आप समझाने की कृपा करें ॥९-१०$^{१/२}$॥

गुरुदेव से प्रारम्भ कर भूमिपर्यन्त तीन विषय ऊपर पहले ही कहे गये हैं । उनके विषय में हेयोपादेय पद्धति अपनानी पड़ती है । शास्त्र के श्रवण के द्वारा श्रोतव्य विषयों को आत्मसात् कर समयाचार परिनिष्ठ समयी शिष्य को 'पुत्रक' पद ग्रहण करने की प्रबल आकांक्षा रहती है । वह उत्तम गुरुदेव की स्वयम् अपने स्तर से परीक्षा करता है । गुरु अपने स्तर से शिष्य की परीक्षा लेते हैं । हेय और उपादेय का यह ज्ञान आवश्यक होता है । शिष्य को यह निश्चय करना पड़ता है कि, किससे पुत्रक दीक्षा ली जाय और किसे छोड़ा जाय । इसी तरह गुरु भी अपने स्तर से यह निश्चय करता है कि, किसे दीक्षा दी जाय? और किसे नहीं? इसी तरह सजग भाव से और योग्यता की दृष्टि से गुरुशिष्य परम्परा चलती है । गुरु की सर्वप्रथम योग्यता यह है कि, वह साधक भी हो । साधना के माध्यम से वह मन्त्र आदि पर विजय प्राप्त कर सिद्ध सद्गुरु हो जाता है ।

सद्गुरु ही गुरु, शिष्य, समयी और पुत्रक को अभय प्रदान करने में समर्थ होता है । सिद्ध सद्गुरु न होने पर सामान्य गुरु से बड़ा भय भी रहता है । गुरु रूप में विडम्बक भी मिल जाते हैं । यही भयाभय का स्वरूप है । दुष्ट शिष्यों से गुरुजनों को भी भय बना रहता है । सुशिष्य से गुरुजन निश्चिन्त और निर्भय रहते हैं ।

शिष्य के दो भेद यहाँ स्पष्ट हैं । १. सच्छिष्यवर्ग और २. असच्छिष्य वर्ग । अभय और भय के ये दोनों क्रमिक कारण हैं । सिद्धि, भोग और मुक्तिमार्ग में आने

मित्येतल्लिङ्गादिपरिणामेन, भूमिमन्त्रदन्तकाष्ठादीनामपि वक्ष्यमाणनीत्या यथायोगं योज्यम्, भूमिः–मन्त्रयागप्रस्तारस्थानम्, मन्त्राः–आसन्नमूर्तिसकलनिष्कलाद्याः, कालः–सौरः, आभ्यन्तरश्च विचित्रः, समासतो यजनहवने सर्वदीक्षितसाधारणे, दीक्षोपयोगिसर्ववस्तूनां योग्यतापादनात्मा संस्कारः–अधिवासः, रजांसि-शालि-चूर्णादीनि वक्ष्यमाणानि नवनाभादिमण्डलोपयोगीनि, पाशक्षपणशिवपददानरूपादीक्षा,

---

वाले विघ्न बड़े दारुण विघ्न माने जाते हैं। यह साधन मार्ग के भय हैं । प्रत्यूहों के अभाव में निर्भयता और निश्चिन्तता रहती है । इन सब बातों के प्रति सावधान रहना चाहिये ।

जहाँ तक भूमिका प्रश्न है, इसमें भी हेयोपादेय विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है । भूमि का शोधन कर उसमें विभिन्न प्रकार के शल्य, राख और लौह आदि कुद्रव्य का निष्कासन करने के बाद ही उस भूमि पर मनुष्य, अधिवास और दीक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये । उसी समय वह भूमि उपादेय होती है अन्यथा वह हेय हो जाती है और उसे छोड़ देना चाहिये । दोनों हेयोपादेय विज्ञान जीवन के हर एक पक्ष में अनिवार्य हैं किन्तु इन तीनों (गुरु-शिष्य और भूमि के विषय) में इसकी महती उपयोगिता है ॥८॥

इन तीनों के बाद पन्द्रह बिन्दुओं पर विचार कर रहे हैं–

१. मन्त्र–

मन्त्र मातृका शक्ति के महत्वपूर्ण विग्रह माने जाते हैं । ये मातृकाशक्ति के मूर्तिरूप होते हैं । ये सकल और निष्कल दो भेद युक्त होते है । दोनों भोग और मोक्ष के कारण माने जाते हैं । मन्त्रयाग का प्रस्तार उसी भूमि पर होता है, जहाँ गुरुदेव अधिवास की व्यवस्था करते हैं ।

२. काल–

मुख्यतः सूर्य और ग्रहों की गति आदि पर आधारित है । यह बाह्य काल है । जन्म,वृद्धि स्थिति,ह्रास उत्थान जरा मृत्यु इसी के माप के आधार पर चलते हैं । दूसरा मुख्य काल आन्तर काल होता है । यह उच्चार साधन और श्वास की गति और स्थिरता पर निर्भर है । यह योगियों द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है ।

३. यजन, ४. हवन और ५. अधिवास–

दीक्षा के यजन और हवन आवश्यक अंग हैं । दीक्षा के उपयोग में आने वाली जितनी भी वस्तुयें हैं, वे एकत्र सुरक्षित रूप में रखी जाती हैं । उनका संस्कार करना पड़ता है, जिससे उनकी शुद्धि हो और पूजा में उनका उपयोग हो । वही मुख्य याजक दीक्षा प्राप्त करता है । यही अधिवास है ।

बहुभेदोऽध्वा-वर्णमन्त्रपद-कलातत्त्व-भुवनरूपः षड्विधः, अभिषेकः–आचार्यादीनां यागान्ते मन्त्रकलशाम्भसा सेचनम्, दीक्षितानां शेषवत्त्वेन नियतविधिनिषेधाः समयाः, साधनानि-साधकानां सिद्ध्युपायाः, न्यासजपाज्य-संस्कारादि अन्यत् सर्वमत्रैव अन्तर्भूतत्वात् पृथक् नोद्दिष्टम् ॥१०॥

---

६. रज (रंग आदि)–

मण्डल और पूजा में उपयोगी। जैसे शालिचूर्ण श्वेतरंग के लिये। लाल के लिये लाल मिट्टी या मसूर द्विदल आदि ॥९॥

७. पञ्च गव्य, ८. चरु, ९. दन्तकाष्ठ, १०. मण्डल–

ये सभी यजन, अधिवासन, हवन, चर्या और दीक्षोपयोगी स्थान पर निर्भर हैं।

११. दीक्षा–

इस शब्द में 'दी' से ज्ञान सद्भाव देने का अर्थ और 'क्षा' से पाश के क्षय के अनन्तर शिवपद की प्राप्ति का उपाय अर्थ लगाया जाता है। दीक्षा विद्या का एक मन्त्र भी बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है[1]।

१२. अध्वा–

मुख्यतः वर्ण, मन्त्र और पद तथा कला, तत्व और भुवन भेद से यह छः प्रकार का होते हुए भी अनेक प्रकार का होता है। यों शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो भेद और भी साधारणतया होते हैं।

१३. अभिषेक–

अभिषेक एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें याग के अन्त में दीक्षित शिष्य को मन्त्रकलश के पवित्र जल से स्नान कराया जाता है। आचार्य इसके प्रमुख घटक होते हैं।

१४. समय–

दीक्षित शिष्यों की चर्या में जितने शेष कार्य हैं, उन्हें पूरा करते हुए विधि निषेधात्मक आचरण के नियम ही समय कहलाते हैं। समय का अर्थ शर्त्त होता है। उसी चर्यात्मक शर्त्तों को पूरा करना समय है।

१५. साधन–

साधन का सामान्य अर्थ 'उपाय' होता है। अमुक कार्य की सिद्धि के लिये अमुक अमुक पदार्थों की आवश्यकता होती है। ये सभी साधन होते हैं। इसके अतिरिक्त भी न्यास, जप, आज्य संस्कार आदि भी आवश्यक साधना के अंग हैं किन्तु इनका अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। अतः उन्हें पृथक् नहीं कहा गया है ॥१०॥

---

१. श्रीतन्त्रालोक, भाग८, आ० ३०/११०–११५

अथ प्रश्ननिर्णयमुपक्रममाणः प्रोत्साहनाप्रमुखं शिष्यप्रवर्तनाय प्रयोजनाभिधायि आदिवाक्यम्–

श्रीभैरव उवाच–

साधु साधु महाभागे यत्त्वया परिचोदितम् ।।११।।
अनुग्रहाय मर्त्यानां साम्प्रतं कथयामि ते ।

साधु साधु इति वीप्सया अवसरप्रष्टृतां जनानुकम्पां च श्लाघमान उपदेशग्रहणयोग्यतापादनाय शिष्यधियमुत्तेजयति देवः, महाभागे इत्येन अनुग्रहोन्मुखत्वं श्लाघितम्, त्वया मर्त्यानां-मृतिधर्माणां सामान्येन सर्वेषां न तु नियतानां केषांचिदधिकारिणाम् अनुग्रहाय भोगमोक्षसम्पत्तये, यत्प्रमेयजातं परिपाट्या चोदितं पृष्टं तत्तेषामनुग्रहायैव, अहं साम्प्रतं परभैरवसत्तानुप्रवेशोन्मिषितमहा-विकासावसरे, बालबालिशविद्वज्जनाद्युचितदीक्षाप्रदर्शनादिक्रमेण उपपन्नं च

अन्त में इनकी सिद्धि के सम्बन्ध में अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए देवी पार्वती कह रही हैं कि, भगवन् ! कलियुग में साधकों को सरलतया सिद्धि हो जाय, आप वही कह कर मेरी इच्छा पूरी कर मुझे अनुगृहीत करें ॥१०१/२॥

प्रश्न क्या हो, इस प्रकार का विमर्श पूर्वक यथावत् निर्णय और उसका उपक्रम यह एक मनोवैज्ञानिक अनुभूत व्यावहारिक तथ्य है । पार्वती को जिज्ञासायें थीं । प्रश्नरूप में उन्होंने प्रस्तुत किया । उन प्रश्नों के समाधान का निर्णय भगवान् भैरव ने अविलम्ब कर लिया और उसका उपक्रम भी उन्हीं को करना पड़ा ।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि, समाधान ऐसा होना ही चाहिये, जिसमें जिज्ञासु को प्रोत्साहन प्राप्त हो । उसी का प्रामुख्य होना चाहिये । तदुनकूल प्रोत्साहन प्रधान समाधान भगवान् भैरव द्वारा प्रस्तुत हुआ ।

इसी सन्दर्भ में शास्त्र के प्रयोजन का अधिधान भी आवश्यक होता है । प्रयोजन का ज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है । शिष्य के लिये एतद्विषयक प्रवर्त्तन ही उद्देश्य होना चाहिये । इस तरह सभी समस्याओं की पूर्त्ति करते हुए भगवान् के मुखारविन्द से यह 'आदिवाक्य' सुप्रसन्न भाव से निष्पन्न हुआ । भगवान् भैरव ने कहा–

ग्रन्थ के इस अवतरण की कल्पना भी यहाँ ध्यातव्य है । आचार्य क्षेमराज की प्रतिभा इस कलाशिल्प को पहचानती है । उन्होंने सर्वप्रथम लिखा–

कृत्वा, ते कथयामि । अत्र च यच्छब्दपरामृष्टपूर्वोद्दिष्टप्रमेयपरिपाटीज्ञानमभिधेयम्, तत्प्रयोजनं भोगमेक्षात्मा अनुग्रहः, तत्र चोपायोपेयभावात्मा सम्बन्धः, मर्त्यानामधिकारित्वम्, परानुजिघृक्षोन्मुखतया निवृत्तभोगाभिलाषस्य शिष्यस्य योग्यत्वोत्तेजनम्, परभैरवस्फारावमर्शोन्मिषत्प्रतिभागावसरत्वेन[१] आत्मन आप्तताम्, परसम्बन्धसारता

'ग्रन्थमवतारयितुं कश्चिद्देवीशिष्य आह[२]' अर्थात् सर्वप्रथम किसी साधक शिष्य को यह अन्तर्दर्शन हुआ और उसने कहा । इसके बाद श्री देवी उमा ने कहा और यहाँ भगवान् भैरव स्वयं निर्णय का निर्णय करने के उपरान्त कहना प्रारम्भ किये । इस तरह प्रथम दृष्टि से यह महाग्रन्थ किसी साधक शिष्य का आस्था-समन्वित अन्तर्दर्शन है, जो माँ 'उमा' और भगवान् भैरव के संवाद रूप में स्फुरित है । भगवान् कह रहे हैं–

महा भाग्यशालिनि देवि पार्वति ! तुम्हें वारम्वार साधुवाद ! बहुत बहुत धन्यवाद । तुमने बड़ी विनम्रता और बुद्धिमानी पूर्वक मर्त्य प्राणियों के ऊपर अनुग्रह के लिये मुझे प्रेरित किया है । मैं विश्वास दिला रहा हूँ कि, मैं तुम्हारे प्रश्नों का समाधान तुरत करने जा रहा हूँ ॥११॥

साधु साधु का वीप्सापूर्ण प्रयोग भगवान् भैरव की प्रसन्नता का द्योतक है । इस प्रसन्नता के दो कारण हो सकते हैं । १. भगवती उमा ने प्रश्न पूछने का यह सुन्दर अवसर निकाला, और २. ये सारे प्रश्न स्वयं देवी के लिये ही हितकर नहीं थे अपितु इसमें लोककल्याण की भावना ही मुख्य थी । मर्त्य प्राणियों पर भगवान् के वागात्मक अमृत की वर्षा हो, यही कामना थी । यह बहुत बड़ी बात थी । इसलिये दो बार साधुवाद का उच्चारण स्वाभाविक ही था । इसमें श्लाघा की व्यञ्जना स्पष्ट झलक रही है ।

इसमें एक और तथ्य स्पष्ट हो रहा है कि, जो भी उपदेश भगवान् करते हैं, सबका समुचित ग्रहण माँ भगवती कर लेती है । यह एक योग्यता ही मानी जाती हैं । इसे ग्राहिका शक्ति कहते हैं, जिससे जगदम्बा परिपूर्ण हैं । उस ग्राहिका शक्ति की ग्रहण धर्मिता को इस साधु साधु के वीप्सापूर्ण प्रयोग से बल और प्रोत्साहन ही प्राप्त हुआ है । गुरु इसी प्रकार शिष्य को बढ़ावा दिया करते हैं ।

'महाभागे' का सम्बोधन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । इसमें यह सिद्ध हो जाता है कि, भगवान् प्रसन्नतापूर्ण समादर प्रदान करने के साथ ही अनुग्रह के लिये उन्मुख हैं । शिष्य और प्रिय आत्मीय को बड़े लोग और गुरु जब आदर देते हैं, तो शिष्य की योग्यता और बड़ों का बड़प्पन वहाँ स्पष्ट प्रतीत हो जाता है ।

---

१. ख. पु. प्रतिभागतप्रसरत्वेनेति पाठः।

२. श्री स्व० तन्त्रम् १/६ पृ० ४

च नवमपटले निर्णेष्यमाणां संम्बन्धषट्कस्य निरूपितवान् परमेश्वरो मुख्यभूतप्रयोजन-प्रतिपादनपरोऽपि आदिवाक्ये ॥११॥

'मर्त्यानां'–

एक ऐसा प्रयोग है जिसमें किसी के पक्षपात की झलक नहीं है । मर्त्य सामान्य और विशेष दोनों वर्गों के लोग होते हैं । इसके अन्तर्गत कोई विशेष अधिकृत वर्ग नहीं, अपितु सभी लोग आते हैं, जिन पर अनुग्रह करना है ।

'अनुग्रहाय्'–

अनुग्रह भोगेच्छुओं और मुमुक्षुओं दोनों पर समान रूप से भगवान् करते है । भोगवादी को भोग और मोक्ष की इच्छा रखने वालों को मोक्ष अनुग्रह से ही प्राप्त होते हैं । इसी लिये इसमें सम्प्रदान का एक प्रयोग किया गया है । अत: पार्वती ने जो प्रश्न किये हैं,उनमें क्रमश: सारे विषय अनुग्रह के उद्देश्य से ही प्रस्तुत हैं, भगवान् उनकी घोषणा भी यहाँ कर रहे हैं ।

साम्प्रतम्–

वह समय इतना महत्वपूर्ण था कि, भगवती भैरवी परभैरव की सत्ता में अनुप्रवेश के आनन्द रस में रमी हुई थीं । वहाँ एक प्रकार का आनन्दोन्मेष हुआ । उसी उन्मेष में महाविकास की सम्भावनायें अनुग्रह रूप में तुरत प्रतिफलित होने लगी थीं । उसी अवसर पर भगवान् भैरव ने यह घोषणा कर दी कि,

कथयामि ते–

अर्थात् तुझसे मैं कह रहा हूँ । उस समय विलम्ब का कोई कारण नहीं था । अनुग्रह कर्त्ता प्रसन्नता के उद्वलन में अनुग्रह में विलम्ब नहीं करता । वहाँ बालक मूर्ख, विद्वान् सभी के कल्याण का वरुणालय लहरा रहा था । गुरुक्रम से दीक्षा पर्यन्त का वह लहराव तरङ्गित होने लगा था । उस चित्र को माहेश्वर आचार्य क्षेमराज ने स्पष्ट भी कर दिया है–

श्लोक ग्यारह में 'यत्त्वया' शब्द में यत् सर्वनाम का प्रयोग किया गया है । यत् सर्वनाम पूर्वपरामर्शक होता है । यहाँ यत् से सारे प्रमेयों का पूर्वावमर्श हो रहा है ।उनका क्रमिक ज्ञान ही छ: सम्बन्धों (१. अभिधेय, २. प्रयोजन, ३. उपायोपेय भाव सम्बन्ध, ४. अधिकार, ५. योग्यता और ६. आप्तभाव से परसम्बन्ध सारत्व) में अभिधेय सम्बन्ध है । भोगमोक्ष प्राप्ति ही प्रयोजन है । इसमें उपायोपेय भाव सम्बन्ध है । मर्त्यप्राणियों का इस ज्ञान में अधिकार है । परानुग्रह प्राप्ति की आकांक्षा के प्रति औन्मुख्य के कारण जब शिष्य में भोगाभिलाष की निवृत्ति होने लगती है,

अथ यथाद्देशं निर्णेतुमाह–

आदौ तावत्परीक्षेत आचार्यं शुभलक्षणम् ।।१२।।

शुभम्

'शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन कीर्तितः ।'

इति इहैव वक्ष्यमाणं शिवाभिन्नस्वरूपप्रतीतिरूपं लक्षणं यस्य तमाचार्यं साधकदिभिश्च आभिमुख्येन चरणीयं सेव्यम्, आदाविति-शक्तिपातवशसम्प्राप्तप्रबुद्ध-सुहृद्वाक्यावेदितसत्त्वः शिष्यः पुत्रकादिदीक्षां जिघृक्षुः श्रुतसंहिताशास्त्रः समयी, यद्वा गुरुरेव शिष्यमाचार्यीकर्तुं पूर्वं परीक्षेत, यद्भविष्यति–

तो यह ज्ञात होता है कि, इसमें 'योग्यता' का विकास हो गया है । परभैरव के परस्फार का विमर्श साधक में होता है । इससे उसकी प्रतिभा का केवल उन्मेष ही नहीं होता वरन् आप्तता का विकास और परभैरव-सम्बन्धसार-रहस्य-रसज्ञत्व भी उपलब्ध हो जाता है ।

इन सभी तथ्यों का निर्णय इस महातन्त्र ग्रन्थ के नवम पटल में किया गया है । यहाँ इस आदिवाक्य में भी उसका आसूत्रण किया गया है ॥११॥

अब यहाँ से जैसे और जिस क्रम से भगवती परमाम्बा द्वारा प्रश्न किये गये थे, उन्हीं विषयों पर क्रमिक चर्चा करेंगे । यही यथोद्देश निर्णय की परम्परा इस तन्त्र में अपना कर सम्पूर्ण शास्त्र का उपबृंहण किया गया है । शास्त्र की इसी प्रारम्भिकता के कारण यहाँ भी 'अथ' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

अथ और ॐकार सृष्टि के सर्जन के मूलसत्व हैं । सृष्टि का उन्मेष 'अ' से होता है और 'थ' में उन्मेष का सातत्य स्थिर रहता है । यह इति में समाहित होता है । सृष्टि का यही अनुलोम क्रम है । इन्हीं के मध्य में सारा विश्व प्रपञ्च रूपायित होता है । इसी तरह शास्त्र विस्तार भी यहाँ से उन्मिषित कर दिया गया है । अथ से प्रारम्भ कर पन्द्रहवें पटल के 'ततः सिद्ध्यन्ति मन्त्रिणः' की उक्तिरूपी इति में समाहित हो गया है ।

अथ का आदि गुरुतत्त्व माना जाता है । 'गुरुः साक्षात् परब्रह्म' की उक्ति परमात्मत्व के गुरुत्व का साक्षात्कार करने के लिये प्रेरित करती है । इस लिये भगवान् भैरव शुभलक्षण आचार्य की परीक्षा का उपदेश कर रहे हैं । इसीलिये भगवान् आदेश दे रहे हैं कि,

'श्रुतशीलसमाचारान्दैशिकत्वे नियोजयेत् ।।'

इति । तावच्छब्देनेदं ध्वनति–

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'

इति नीत्या उक्तप्रतीतिरूपतैव अस्य शुभलक्षणम् ।

'अहमेव परो हंसः शिवः.........।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या तस्या एव मोचकत्वाद् दीक्षाक्रियाया अपि शिवाभेदव्याप्ति-सारत्वस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् ।।१२।।

आदि में अर्थात् शिष्य के हृदय में भगवान् के अनुग्रह या गुरु की कृपा से शक्तिपात के अनन्तर यह भावना उत्पन्न हो कि, अब अवश्य ही हमें पुत्रक आदि की दीक्षा लेनी चाहिये । उसी समय यह आवश्यक होता है कि, दीक्षा किससे ली जाय? यही आदि वेला है । जिस समय पहले परीक्षा ली जानी चाहिये ।

आचार्य शुभलक्षण हो, यही परीक्ष्य है । शुभ के सम्बन्ध में आगमिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित उक्ति है कि,

'शिव के सहचारित्व के कारण आचार्य आचार्य कहा जाता है' ।

शिव का सहचारित्व सौभाग्य का विषय है । यह साधना उपासना और शास्त्र स्वाध्याय के माध्यम से प्राप्त होता है । आचार्य को ऐसा अवसर सदा प्राप्त रहता है । इसी शैव सद्भाव की भव्यता में शैवत्तादात्म्य दार्ढ्य की प्रतीति उपासक आचार्य में होती है । उसी आचार्य की सेवा में साधक को उपस्थित होना चाहिये । पुत्रक आदि दीक्षा चाहने वाला शिष्य, संहिताशास्त्र का श्रवण कर समयी शिष्य, ये सभी आचार्य की परीक्षा करने के उपरान्त ही अपने लक्ष्य की पूर्त्ति कर सकते हैं । गुरु भी शिष्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से परीक्षा ले सकता है या लेता भी है । यह उक्ति यहाँ सार्थक हो रही है कि,

'श्रुत अर्थात् श्रोतव्य का श्रवण कर प्राप्त ज्ञान, शील और समयाचार पालन इन गुणों से युक्त शिष्यों को 'दैशिकत्व में नियोजित करना चाहिये । अर्थात् देशिक होने के लिये उक्त योग्यता नितान्त अपेक्षित है ।'

श्लोक में 'तावत्' शब्द का प्रयोग किया गया है । इस शब्द से यह ध्वनित हो रहा है कि,

'सभी लक्षणों हीन होने पर भी ज्ञानवान् गुरु ही उत्तम माना जाता है ।'

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, आचार्य में शैवसाहचर्य के फल स्वरूप तादात्म्य की प्रतीति होती है । वह शिव सद्भाव भव्यता का ही परिचायक

आर्यदेशजत्वादि उपचयहेतुः शिष्याणां सिद्ध्यङ्गम्, अत एवैतत् पश्चान्निर्दिशति–

आर्यदेशसमुत्पन्नं सर्वावयवभूषितम् ।
शिवशास्त्रविधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारदम् ।।१३।।
देवकर्मरतं शान्तं सत्यवादिदृढव्रतम् ।
सत्त्ववद्वीर्यसम्पन्नं दयादाक्षिण्यसंयुतम् ।।१४।।

है । ऐसा ज्ञानवान् गुरु ही दैशिक शिरोमणि होता है । उक्त लक्षणों से समन्वित ज्ञान महत्वपूर्ण माना जाता है ।

उक्त प्रतीति सबसे उत्तम लक्षण है । उसे यह सर्वदा अनुभव होता रहता है कि,

'मैं ही परमहंस शिव हूँ । शिवोऽहम् के महाभाव से वह निरन्तर भावित रहता है ।' इससे बढ़कर और कोई शुभलक्षण हो भी क्या सकता है?

भावना की यह दृढता ही उसे संसार के बन्धन से मुक्तकर देती है, मोचक बन जाती है । और सबसे बड़ी विचारणीय बात यह है कि, दीक्षा क्रिया भी क्या है? इससे भी शिवाभेदव्याप्ति के रहस्यान्तराल में प्रवेश ही तो होता है । परमात्मतत्त्व के आन्तर दर्शन की लालसा का भविष्यत् साक्षात्कार ही दीक्षा का भी लक्ष्य है । अतः सभी तथ्यों का विचार कर गुरु और आचार्य की परीक्षा की बात शास्त्र में की गयी है ।।१२।।

उन शुभलक्षणों का निर्देश कर रहे हैं । यह स्पष्ट है कि, गुरु का आर्यदेश में उत्पन्न होने का ज्ञान शिष्यों की सिद्धि के अङ्ग होते हैं । ऐसे गुरु का आर्य देश में उत्पन्न होना आवश्यक माना जाता है । इससे शिष्य में एक आन्तरिक आत्मीयता, एक सद्भाव और विश्वास होता है । शिष्य के हृदय में श्रद्धा का उपचय होता है । अतःसभी लक्षणों के साथ पहले इसी लक्षण का निर्देश यहाँ किया गया है और अन्त में यह कहा गया है कि, ऐसा गुरु पाकर शिष्य धन्य हो जाता है । उसकी सिद्धि और मुक्ति अब दूर की बात नहीं अपितु हस्तामलकवत् अनायास सिद्ध हो जाती हैं ।

१. सभी लक्षणों में पहले 'आर्य देश समुत्पन्न' यही लक्षण मुख्यतः परिगणित है ।

२. आचार्य का दूसरा शुभलक्षण है कि, वह सभी शारीरिक अवयवों से परिपूर्ण है । कोई अङ्ग खण्डित न हो । सर्वाङ्ग सम्पूर्ण शरीर पुरुष और ज्ञानवान् व्यक्ति ही गुरु होने के योग्य है ।

त्यागिनं दम्भनिर्मुक्तं शिवशास्त्रेषु भावितम् ।
ईदृशं तु गुरुं प्राप्य सिद्धिमुक्ती न दूरतः ।।१५।।

प्रविभक्तचातुर्वर्ण्यः आर्यदेशः, यदाह विष्णुः-

'चातुर्वण्यव्यवस्थानं यस्मिन्देशे न विद्यते ।
स म्लेच्छदेशो विज्ञेय आर्यावर्तस्त्वतः परः ॥'

इति, विधानं-दीक्षादि, ज्ञाने-शिवशास्त्रे, ज्ञेये च-परमशिवतत्त्वे, तत्तदध्वव्याप्त्यादौ विशारदं निर्मलम्, शान्तं-जितेन्द्रियम्, सत्यवादी चासौ दृढव्रतः अभ्युपगतनिर्वाहकः, सत्त्ववान्-निष्कम्पश्च असौ वीर्येण परमुद्रापरमार्थेन सम्पन्नः पूर्णः, दया संसारिणः

---

३. शिवशासन से सम्बन्धित समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिये ।

४. वह ज्ञानवान् हो 'ज्ञेय परम तत्त्व की जानकारी के साथ ही साथ समस्त ज्ञेय पदार्थों की भी जानकारी ही नहीं अपितु जानकारी की इस प्रक्रिया का उसे विशारद होना चाहिये । अर्थात् परम शिवतत्त्व षडध्व में कैसे व्याप्त है, इसका ज्ञान और विषय नैर्मल्य भी उसमें होना चाहिये ॥१३॥

सदा देवकर्म में संलग्न, शान्त कला का अभिज्ञ, सत्यवादी होने की दृढ़ता का व्रत, सत्त्व और पराक्रम से सम्पन्न, दया तथा दाक्षिण्य से समायुक्त पुरुष ही गुरुपद पर प्रतिष्ठित रहने का अधिकारी है ॥१४॥

त्यागी, दम्भ से रहित, शिवशासन से सम्बन्धित समस्त शास्त्रों की भावसत्ता के रहस्यार्थ का तत्त्वज्ञ हो । ऐसे गुरुदेव को पाकर शिष्य समस्त सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है ॥१५॥

शान्त-

शान्त वही व्यक्ति हो सकता है, जो जितेन्द्रिय हो । सत्यवादी के साथ-साथ दृढव्रती यह गुरु के गुण हैं । दृढव्रती वही व्यक्ति हो सकता है, जो अभ्युपगत अर्थात् स्वीकृत बात का अन्त तक निर्वाह करने की इच्छा शक्ति रखता हो ।

सत्त्व-

अपने अस्तित्व के बोध का बल ही सत्त्व कहलाता है । इससे समन्वित शक्ति सत्त्ववान् कहलाता है । इस शक्ति के कारण वह निर्भय और निष्कम्प होता है । सत्त्व गुण और वीर्यातिशय दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

वीर्यसम्पन्न गुण भी सत्त्ववान् पुरुष में ही होता है । यों वीर्य शब्द पर मुद्रा और परमार्थ भाव से पूर्ण पुरुष के गुण अर्थ में भी व्यवहृत होता है । गुरु इन गुणों से सम्पन्न होना चाहिये ।

प्रति अनुजिघृक्षा, दाक्षिण्यम्-अमात्सर्यमानुकूल्यम्, त्यागिनं- तृणवद्वित्तं मन्यमानम्, दम्भनिर्मुक्तम्- अवक्रव्यवहारम्,शिवशास्त्रेषु भावितम्-अशेषविद्याभिज्ञत्वेऽपि शिवशास्त्रेष्वेव विश्रान्ताश्वासम्, ईदृशमिति-समनन्तरोक्तशिवाभिन्नस्वप्रतीतिसारम्, गुरुम्,-उपदेष्टारम्, प्राप्यकारणभूतमासाद्य, सिद्धिमुक्ती कर्त्र्यौ न दूरतः–झटित्येव भवत इत्यर्थः । व्याख्यातरूपं शुभलक्षणत्वं मुक्तेरार्यदेशोद्भूतत्वादि च सिद्धिहेतुः शिष्यस्य, इत्युक्तप्रायम् ॥१५॥

दया-

दया एक भाव है । संसार में रहने वाले मलों से आवृत कंचुकांचित अणु पुरुषों पर अनुग्रह की भावना ही वास्तविक दया कहलाती है । गुरु का यह प्रधान गुण माना जाता है ।

दाक्षिण्य-

दक्षिण शब्द साहित्य में नायक और तंत्र में वह व्यक्ति जो वामाचार रहित, कौटिल्य और मात्सर्य रहित कुशल पुरुष होता है, उसके विशेषण अर्थ में प्रयुक्त होता है । दक्षिण के गुण को दाक्षिण्य कहते हैं । दक्षिण शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न दाक्षिण्य से समन्वित गुरु होना चाहिये ।

त्यागी–

हेय का त्याग साधकका प्रधान गुण गुण है । गुरु हेयोपादेय विज्ञान का पूर्ण पारखी होता है । वह विश्व, वित्त और वस्तु को तृणवत् मानकर पूर्ण परित्यागी होता है ।

दम्भनिर्मुक्त–

धार्मिक पाखण्ड, दुष्टतामय दाँवपेच ही दम्भ कहलाता है । गुरु का व्यक्तित्व महान् होता है । वह इस दुर्गुण से सर्वथा निर्मुक्त होता है । इस लिये उसका व्यवहार सरल और वक्रता से रहित होता है ।

शिवशास्त्रों में भावित–

यद्यपि गुरु सर्वशास्त्रज्ञ होता है किन्तु शास्त्रों में उसकी विशिष्ट प्रवृत्ति होती है अर्थात् उसका हार्दिक आश्वास शिवशास्त्रों में ही रहता है । इनके सिद्धान्तों और आचार्य चर्या से वह भावित रहता है ।

ईदृश–

ऐसा जैसा कि, ऊपर के विशेषणों में व्यक्त है, गुणों से समन्वित शैवतादात्म्य निष्ठ शांभव समावेश सम्पन्न होना चाहिये ।

एवमभयप्रदं गुरुसतत्त्वमुक्त्वा विपर्ययमाह–

क्रोधनश्चपलः क्षुद्रो दयादाक्षिण्यवर्जितः ।
केकरो दन्तुरः काणः खल्वाटः शास्त्रवर्जितः ।।१६।।
अतिदीर्घस्तथा ह्रस्वःकृशः स्थूलः क्षयान्वितः ।
तार्किको दम्भसंयुक्त सत्यशौचविवर्जितः ।।१७।।
अन्यशास्त्ररतो यस्तु नासौ मुक्तिफलप्रदः ।

क्रोधनः–क्रोधमयः, चपलो-दुःशीलः कार्येष्वरूढश्च, क्षुद्रःक्षुद्रसिद्धिसाधनपरः, केकरो-लोलतारकदृष्टिः, क्षयान्वितो- यक्ष्माक्रान्तः, तार्किकः–कुतर्कशास्त्रैकनिष्ठः, ऊहात्मकस्तु तर्कः श्रीपूर्वशास्त्रे शस्त एव, यथोक्तम्–

गुरु–

शिष्य को प्रकाश के पथ पर अग्रसर करने वाला मार्गदर्शक शिवस्वरूप अनुग्रह करने वाला सत्पुरुष को पाकर ही अर्थात् उपाय रूप गुरु को पाकर सिद्धि और मुक्ति शक्तियाँ दूर नहीं रह जातीं । अर्थात् ये दोनों तत्काल उपलब्ध हो जाती हैं । इस तरह आर्यदेशादि शब्दों के गुण यदि गुरुदेव में हों,तो सिद्धि और मुक्ति शिष्य के लिये सरल हो जाती हैं ॥१३-१५॥

इस प्रकार अभयप्रदान करने वाले और सिद्धिमुक्ति प्रद उत्तम गुरु के लक्षणों का कथन करने के बाद अब यहाँ इसके विपरीत गुणों से युक्त अर्थात् दुर्गुणयुक्त त्याज्य गुरु के सम्बन्ध में यहाँ बता रहे हैं–

क्रोधन, चपल, क्षुद्र, दया दाक्षिण्य से रहित, केकर, दन्तुर, काण, खल्वाट और शास्त्रज्ञान रहित गुरु त्याज्य होता है । ये नव दुर्गुण हैं, जो गुरु में नहीं रहने चाहिये ॥१६॥

शरीर से बहुत लम्बे, छोटे अर्थात् न बौने न बड़े पर देखने में अति छोटे, अत्यन्त दुबले पतले, पतली लकड़ी की तरह, बलगमी मोटे, राजयक्ष्मायुक्त क्षययुक्त, बेमतलब तर्क करने वाले दम्भी, सत्य और शुचिता से दूर रहने वाले, गुरु के द्वारा भुक्ति मुक्ति कभी नहीं मिलतीं ॥१७॥

इसके अतिरिक्त वह गुरु भी हेय है, जो शैवशास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के स्वाध्याय में रुचि लेता है, इनसे भुक्ति मुक्ति किसी प्रकार के सुफल की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥१७$^{१/२}$॥

इन श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों पर विशेष विचार अपेक्षित हैं । इनके पृथक् उल्लेख किये जा रहे हैं–

............तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।'

इति, शौचवर्जितः–अर्थशुद्ध्यादिशून्यः, स्पष्टमन्यत् । एवमीदृशो गुरुः साधकाय फलं सिद्धिलक्षणं न ददाति, प्रत्युत वक्ष्यमाणदिशा भयमेव वितरति । यस्तु अन्यत्र वैष्णवादौ शास्त्रे रतः, अथ च चुम्बकादिवृत्त्या शिक्षितपरमेश्वरशास्त्रः,

---

१. क्रोधनः–

क्रोधमय या क्रोधी । क्रोध एक दुगुर्ण माना जाता है । इसकी गणना रजोगुण में की जाती है । यह महापापी आग की तरह जलाने वाला होता है । गुरु को क्रोधी नहीं होना चाहिये ।

२.चपलः–

चञ्चलमन, दुःशील, करणीय कार्य में रूढ रहने वाला चपल 'वेपेंदी का लोटा' होता है ।

३. क्षुद्र–

महत्वहीन कामों में छोटे कामों में लगना दुर्गुण है । यह महत्वाकांक्षा के विपरीत है । अतः ठीक नहीं होता ।

४. दया दाक्षिण्यवर्जित–

दया दाक्षिण्य का उल्लेख किया जा चुका है । इससे रहित गुरु हेय होता है ।

५.केकर–

सामने देखने पर जिसकी दृष्टि टेढ़ी हो जाती है । आँख के गोलक लोल होकर सम नहीं रहते ।

६. दन्तुर–

जिसके दाँत आगे को निकले हों, दन्तुर होता है । देखने में बड़ा भद्दा लगता है ।

७. काण, खल्वाट, शास्त्रवर्जितः–

काना व्यक्ति हंसी का पात्र होता है । जिसके शिर के आगे के बाल झड़ जाँय ऐसा चाँद वाला व्यक्ति भी गुरु योग्य नहीं होता । शैवशास्त्र स्वाध्याय हीन व्यक्ति गुरुयोग्य नहीं होता ।

८.क्षयान्वितः–

इसके बीच में आने वाले शब्द सरल स्पष्ट और बहुप्रचलित हैं । क्षय यक्ष्मारोग को कहते हैं । यह कष्टसाध्य राजरोग की श्रेणी में आता है । भाग्य से ही समाप्त होता है । ऐसा व्यक्ति गुरु नहीं होना चाहिये ।

९. तार्किकः–

कुतर्की व्यक्ति व्यर्थ के विवादों को जन्म देता है । शास्त्र की शब्दावलियों पर भी अंगुलि प्रक्षेप करता है । यह श्रद्धास्पद नहीं हो सकता । इसी दोषपूर्ण अर्थ का उद्भावन यहाँ हो रहा है ।

तत्र असमाश्वस्तः, तदुक्तं 'दीक्षादि कुर्वन्नपि पापिष्ठो न मुक्तिप्रदः, शिवशास्त्ररतस्तु तत्तदंशकनिष्ठेभ्यः सर्वेभ्यो मुक्तिफलप्रद एव तस्य सर्वोर्ध्ववर्तित्वात्' यद्वक्ष्यति–

'सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां परमं पदम् ।'

इति, मुक्तिं फलं च सिद्धिरूपं प्रददाति, इत्येवं योजयित्वा यथोक्तं व्याकर्तव्यम्, एवं हि–

'सन्तापं क्रोधने विन्द्यात्......................।' इत्यादि

'मन्त्रास्तस्य न सिद्ध्यन्ति यः सत्यादिविवर्जितः ।'

इत्यन्तं वक्ष्यमाणविरुद्धफलप्रदत्वं क्रोधनादेः संगच्छते, अत एव अन्यशास्त्ररतस्यय-द्विपरीतफलप्रदत्वम् उत्तरत्र नोक्तम्, तदपि युक्तमेव

यद्यपि तन्त्रशास्त्र 'तर्क' को उत्तम योगाङ्ग मानता है । यह तर्क ऊहात्मक होता है । मालिनी विजयोत्तरतन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है– 'तर्कः योगाङ्गमुत्तमम्' । ऐसा ऊहक तार्किक अच्छा होता है ।

१०. सत्य शौचविवर्जितः–

सत्य सबसे बड़ा गुण है । शौच अर्थात् शुचिता युक्त पुरुष पैसे के मामले में ईमानदार होता है पर इससे रहित रुपये पैसे की दृष्टि से पवित्रमन नहीं रहता । गुरु शुचि हो, शौचवर्जित नहीं ।

अन्य प्रयुक्त शब्द स्पष्ट एवं सरल हैं । उक्त दश दुर्गुणों से युक्त भले ही विद्वान् हो पर गुरु बनाने योग्य नहीं होता । सिद्धिमुक्ति की बात को तो छोडिये । वह उल्टे भयप्रद होता है और अभिशाप बन जाता है ।

एक और महत्वपूर्ण प्रयोग **अन्यशास्त्ररतः** शब्द है । यह दुर्गुण है । शिवशास्त्र के सन्दर्भ में शिष्य को शैवशिक्षा-दीक्षा सम्पन्न करने के स्थान पर वह वैष्णवादि शास्त्रों के स्वाध्याय में ही रमा रहेगा तो, शिवशिष्य का कैसे कल्याण हो सकता है ? उसने परमेश्वर शास्त्र का स्वाध्याय चुम्बक वृत्ति से किया है, उसमें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ।

इसी आधार पर कहा गया है कि, "दीक्षा आदि देने का काम करता हुआ भी वह पापिष्ठ ही है । अतः ज्ञान देकर मुक्ति का वरदान वह नहीं दे सकता ।" "वही शिवशास्त्र में रत रहने वाला गुरु उन उन शास्त्रों के पृथक् अंशों की उपासना में निरत अन्य वैष्णवादिकों से ऊपर रहकर मुमुक्षुओं को मुक्ति का मीठा फल प्रदान करता है । क्योंकि वह सर्वोर्ध्ववर्त्ती ज्ञानवान् होता है ।"

'सन्तापं क्रोधने विन्द्यात्...........।'

इत्यादि इह क्रमप्राप्तमपि अपठित्वा शिष्यनिर्णयादनन्तरं पठन् शिष्यस्यैव भूयसा ईदृशो गुरुर्भयदः–इति ध्वनयति ॥१७॥

इसी शास्त्र का वचन है–

"शैवों का सभी अध्वाओं को अतिक्रान्त कर सुशोभमान परम पद होता है।" अर्थात् शैव साधक षडध्वविज्ञान को अतिक्रान्त कर परमपद का भागी होता है।

इस तरह शैवशास्त्र उपासक मुक्ति प्रदान करता ही है, सिद्धिरूप अन्य भोगात्मक फल प्रदान करने में भी समर्थ होता है किन्तु अन्य शास्त्ररत अंश की उपासना के कारण इसमें अर्थात् सिद्धि एवं मुक्ति देने में समर्थ नहीं होते। इसी सन्दर्भ को यह उक्ति व्यक्त कर रही है –

'क्रोधन गुरु से दीक्षा लेने पर संताप मिलता है।' इसी तरह की अन्य बहुत सारी उक्तियाँ शास्त्रों में मिलती हैं। यहाँ से अर्थात् इस पंक्ति से प्रारम्भ कर

'जो गुरु पद पर रहते हुए भी सत्य शौच आदि गुणों से रहित होता है, उससे प्राप्त होने वाले मन्त्र कभी सिद्ध नहीं होते।'

यहाँ तक का सन्दर्भ आगे वर्ण्य विषय के रूप में उल्लिखित है। यहाँ भी विरुद्ध फलप्रदता ही निष्कर्षतः प्राप्त होती है। क्रोधनादि जितने विशेषण ऊपर प्रयुक्त हैं, वे सभी ऐसे गुरु के ही हैं, जिनसे अनुकूल फल नही मिल सकते।

इस लिये अन्य शास्त्र जो अंशांश उपासना के प्रतिपादक होते हैं, इनमें रत रहने वाले गुरुजनों से प्राप्त मन्त्र फलवान् नहीं होते। इतना ही उल्लेख है। यहाँ एक तथ्य की ओर आचार्य क्षेमराज अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं–

जैसे गुरु के विपर्यययुक्त लक्षण बताते समय केवल लक्षण का निर्देश किया गया है और शिष्य के लक्षणोपरान्त क्रोधन आदि गुरुओं के सन्ताप प्राप्ति आदि फलों का निर्देश किया गया है, वहाँ भी अन्य शास्त्ररत गुरु से संम्बन्धित विरुद्ध फलप्रदता नहीं कही गयी है। केवल सत्रहवें श्लोक के अन्तिम विशेषण 'सत्यशौचविवर्जित' तक ही विरुद्ध फलप्रदता (श्लो० २६-२७) उल्लेख है। इससे यह ध्वनित होता है कि, अन्य शास्त्ररत गुरु के अतिरिक्त अन्यदुर्लक्षण सम्पन्न गुरुजनों से भी शिष्यों को विशेष कष्ट होता है। इनसे कभी मन्त्र सिद्धि नहीं होती। कई अन्य भय भी होते हैं, जैसे क्रोधन से संताप का भय बना रहता है ॥१६-१७$^{१/२}$॥

अथात्मनि अभयप्रदस्य शिष्यस्य स्वरूपं निर्दिशति–

शिष्यो दयान्वितो धीरो दम्भमायाविवर्जितः ।।१८।।
देवाग्निगुरुभक्तश्च शास्त्रभक्तो दृढव्रतः ।
गुरुशुश्रूषणपरः सुशान्तेन्द्रियसंयुतः ।।१९।।
ईदृशो वै भवेच्छिष्यः सोऽत्रानुग्रहभाजनम् ।

दया-दीनादिविषयानुकम्पा, धैर्यं-सर्वत्रोत्साहः, दम्भः-अस्पष्टहृदयता, माया-वञ्चकत्वम्, दृढव्रतो-निश्चितमतिः, एतत्साधकविषयं तस्यैव क्रोधनादिवर्जिताचार्यशिष्यस्य निश्चितधीत्वेनैव साधनाधिकारिणः

गुरु के स्वात्म में अभय का विश्वास देने वाला शिष्य या गुरु का अभय प्रद शिष्य इन विग्रहों के साथ षष्ठी अर्थ में ही सप्तमी का व्यवहार किया गया है । गुरु जिसको निर्भय भाव से प्यार दे, ऐसे शिष्य के लक्षण यहाँ दिये जा रहे हैं –

शिष्य १. दयान्वित, २. धीर, ३. दम्भ और माया से रहित, ४. देव, अग्नि और गुरु में भक्तिमान् हो, ५. शास्त्रभक्ति समन्वित, ६.दृढव्रत, ७. गुरुशुश्रूषा परायण और ८. सुशान्तेन्द्रिय संयुक्त, होना चाहिये । इन गुणों से समन्वित शिष्य गुरु के अनुग्रह का पात्र होता है ॥१८-१९॥

इसे विस्तार पूर्वक इस तरह समझ सकते हैं–

१. दयान्वितः–

किसी अभावग्रस्त व्यक्ति को देखकर जिसका हृदय द्रवित हो उठे, उसे दयान्वित कहते हैं ।

२. धीरः–

धृति गुण सम्पन्न धीरज रखने वाला और सर्वत्र सभी स्थितियों में उत्साह सम्पन्न रहता है ।

३. दम्भमायाविवर्जितः–

दूसरे के प्रति डाह रखने वाले का हृदय साफ और स्पष्ट नहीं रहता । इसी तरह जो दूसरों की वञ्चना करता है, वह मायावी होता है । इन दोनों दुर्गुणों से रहित शिष्य ही दम्भमाया से रहित होता है ।

४. देव, गुरु, अग्नि का भक्त और शास्त्र भक्त शब्दों के अर्थ स्पष्ट हैं ।

५.दृढव्रतः–

जिस व्यक्ति के मन में व्रताचार की दृढ़ता होती है, वही निश्चयशील सफलता प्राप्त करता है ।

शिवधर्मिलोकधर्मिभिदा स्वावसरे निर्णेष्यमाणत्वाद् देवादिचतुष्टयभक्तिः शिष्यस्य मुख्यं रूपम्, भक्तिः दूरस्थे गुरौ भवति शुश्रूषा तु सततं तदनुचरत्वम्, 'सोऽत्रानुग्रहभाजनम्' इत्यनेन अस्य स्वात्मन्येव अभयप्रदत्वमुक्तम्, द्वितीयः शिष्यशब्दोऽर्हप्रत्ययान्तः । स्पष्टमन्यत् ॥१९॥

एतद्विपरीतमाह–

मायान्वितः शठः क्रूरो निःसत्यः कलहप्रियः ॥२०॥
कामी च लोभसम्पन्नः शिवभक्तिविवर्जितः ।
दूषको गुरुशास्त्राणां दीक्षितोऽपि न मुक्तिभाक् ॥२१॥

---

६. गुरुशुश्रूषणपरः–

दृढव्रती होना और गुरु सेवारत रहना एक दूसरे पर प्रायः निर्भर है । साधक निश्चयशील होता है । साधना में अधिकार और दृढ़ता पूर्वक शास्त्राभ्यास और क्रोध आदि से रहित गुरु के प्रति आस्था से गुरु शिष्य पर प्रसन्न होता है । वह यह निश्चय करता है कि, यह शिष्य शिवधर्मी है या लोक धर्मी और तदनुकूल मन्त्र देकर अनुगृहीत करता है । उसी समय से शिष्य में भी गुरु के प्रति विशेष श्रद्धा का उदय होता है । अतः वह गुरु की सेवा शुश्रूषा में रत हो जाता है ।

भक्ति दूरस्थ गुरु में होती है और शुश्रूषा निरन्तर गुरु के पास रहकर अनुचर की तरह सेवा को कहते हैं । बीसवें श्लोक में 'वही यहाँ अनुग्रह का पात्र होता है, यह प्रयोग यह ध्वनित करता है कि, शुश्रूषा परायण अपने मन में भी अभयभाव का अनुभव करता है और सोचता है कि, गुरु तो प्रसन्न हैं ही, अतः गुरु के मन में और शिष्य दोनों के स्वात्म में अभयत्व का उल्लास रहता ही है । बीसवें श्लोक में प्रयुक्त दूसरा शिष्य शब्द अनुशासन योग्य (अर्ह) अर्थ स्पष्ट करता है । उक्त गुणों से सम्पन्न सुशिष्य ही गुरु के अनुग्रह का पात्र होता है ॥१८-१९$^{१/२}$॥

उक्त गुणों के विपरीत दुर्गुणों से युक्त शिष्यों के लक्षणों का निर्देश कर रहे हैं–

१. मायान्वित, २. शठ, ३. क्रूर, ४. निःसत्य, ५. कलह प्रिय, ६. कामी, ७. लोभसम्पन्न, ८. शिवभक्ति से रहित, ९. गुरु शास्त्रों का छिद्रन्वेषी और १०. दीक्षा लेने पर भी भक्ति से रहित ये दश प्रकार के शिष्य माने जाते हैं । इसे और भी स्पष्ट कर रहे हैं–

१. मायान्वित अर्थात् वञ्चक स्वभाव वाला, २. शठ अर्थात् जिसका हृदय निर्मल न हो अर्थात् दुष्ट हो । वित्त शाठ्य भी इसी के अन्तर्गत आता है ।

शठ:-अस्वच्छहृदय:, क्रूरो-रौद्रप्रकृति:, कलहप्रियो वितण्डावान्, लोभसम्पन्न:-सम्भवसत्तायामपि पूजादिषु वित्तशाठ्यवान्, शिवभक्तीत्यादिना विलयशक्त्या घ्रातत्वमस्योक्तम्, न मुक्तिभागित्यनेन स्वात्मन्येव अस्य भयप्रदत्वमुक्तम् । एतच्च साधकपुत्रसमयिविषयत्वमुक्तम्, सर्वेषां शिष्यत्वात् ॥२१॥

अथ शिष्याणां यथा भयप्रदो गुरुस्तथा निरूपयति-

संतापं क्रोधने विन्द्याच्चपले चपला: श्रिय: ।
मन्त्रसिद्धिं हरेत्क्षुद्र आचार्यस्तु वरानने ॥२२॥

---

३. क्रूर अर्थात् रौद्र स्वभाव वाला क्रूरता पूर्ण व्यवहार करने वाला, ४. नि:सत्य- वह शिष्य होता है, जो हमेशा झूठ ही बोलता है । झूठे लोग स्वात्म को ही भयप्रद होते हैं । ५. कलह प्रिय झगड़ालू शिष्य होता है । हर बात पर झगड़ा खड़ा कर लेता है । ६. कामी की कहीं प्रतिष्ठा नहीं होती । ७. लोभ सम्पन्न शिष्य लालची होता है । गुरु के द्रव्य पर भी उसकी आँख लगी रहती है । ८. शिव भक्ति सबसे बड़ा गुण है । जब इसी से रहित होगा, तो वह शिष्य कहलाने का ही अधिकारी नहीं हो सकता, वह विलय शक्ति से आघ्रात होता है । अतएव सर्वथा हेय होता है । ९. दूषक- सबमें दोष का ही दर्शन करता है । गुरु और शास्त्रों में भी दूषण निकालता है । ऐसा शिष्य नित्य नितान्त वर्जित है । १०- वह शिष्य जो दीक्षित होने पर भी भक्ति भाव से रहित हो । भक्ति के स्थान पर मुक्ति पाठ भी है । इसके अनुसार ऐसे दुष्ट शिष्य दीक्षित होने पर भी मुक्ति नहीं पाते, यह अर्थ होता है । वह स्वात्म में ही भय प्रद होता है । स्वात्मन्येव भयप्रदत्वम् यह प्राचीन प्रयोग है । अपने लिये ही भय का कारण बनता है- यह प्रयोग करते हैं । अच्छे कामों से अभय और बुरे कामों से भय होता ही है । शिष्य साधक, पुत्रक और समयी तीनों प्रकार के होते हैं । इन सभी को उक्त गुणों और दुर्गुणों के तोल पर अपने को भी तोलना चाहिये ॥२०-२१॥

शिष्यों को उक्त विपरीत प्रकार के गुरुजनों से किस प्रकार के भय होते हैं । इसकी जानकारी दे रहे हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि पार्वति !

१. क्रोधन गुरु से शिष्य को सन्ताप की प्राप्ति होती है । बार बार के क्रोध की आग से तपते रहने के कारण वह सन्तप्त हो जाता है ।

२. यदि गुरु चपल प्रकृति का हुआ, तो शिष्य की 'श्री' भी चपल हो जाती है । गुरु की चपलता शिष्य की श्री सम्बन्धिनी चपलता का कारण है ।

३. क्षुद्र स्वभाव के गुरु की क्षुद्रता शिष्य की मन्त्रशक्ति का हरण कर लेती है ॥२२॥

दयाहीनेन दौर्भाग्यमदक्षे दस्युपीडनम् ।
केकरेण भवेद्व्याधिर्दन्तुरः कलिकारकः ।।२३।।
काणो विद्वेषजननः खल्वाटश्चार्थनाशनः ।
शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद्दीक्षादौ वीरवन्दिते ।।२४।।
दीर्घे राजभयं ज्ञेयं ह्रस्वः पुत्रविनाशनः ।
कृशः क्षयकरो ज्ञेयः स्थूल उत्पातकारकः ।।२५।।
क्षयान्वितेन मृत्युः स्यात् तार्किके वधबन्धनम् ।
दाम्भिकः पापजनको वेदितव्यो वरानने ।।२६।।
मन्त्रास्तस्य न सिद्ध्यन्ति यः सत्यादिविवर्जितः ।
सर्वे ते न शुभा देवि इह लोके परत्र च ।।२७।।

---

४. इसी प्रकार दयाहीन गुरु शिष्य के दुर्भाग्य का हेतु है ।

५. गुरु के दक्ष न रहने पर अज्ञान का दस्यु शिष्य को लूट लेता है ।

६.केकर गुरु से शिष्य को व्याधि मिलती है ।

७. दन्तुर गुरु कलह का कारण होता है ॥२३॥

८. काण गुरु विद्वेष का जनक है ।

९. खल्वाट गुरु अर्थ की हानि करता है ।

१०. शास्त्रहीन गुरु से शिष्य को विद्या की सिद्धि नहीं मिल सकती । न तो हे वीरवन्दनीये ! दीक्षा ही सफल होती है ॥२४॥

११. बहुत लम्बे गुरु से राजभय होता है ।

१२. बहुत छोटे बौना सदृश गुरु से शिष्य के पुत्र नाश की सम्भावना रहती है ।

१३. अत्यन्त दुबला पतला गुरु क्षय उत्पत्ति का कारण है ।

१४. स्थूल गुरु उत्पातकारी होता है ॥२५॥

१५. क्षय (राजयक्ष्मा) युक्त शिष्य को मृत्यु प्रदान करता है ।

१६. तार्किक गुरु से वध और बन्धन दोनों की सम्भावना होती है ।

१७.दाम्भिक पाप को उत्पन्न करता है । भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, सुमुखि पार्वति ! यह सब जानने योग्य बातें हैं ॥२६॥

१८. उस गुरु से प्राप्त होने वाले मन्त्र कभी सिद्ध नहीं हो सकते, जो सत्य आदि सद्गुणों से ही रहित है । भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि पार्वति !

विन्द्यात्-लभते, न सिद्ध्यन्ति-नानुग्रहादिकार्यं कुर्वन्ति, एतच्च कर्मप्रधानाचार्याशयेन उच्यते, ज्ञानयोगनिष्ठस्तु आचार्यः काणत्वादियोगेऽपि न दोषकृत्, यथोक्तम्–

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान्गुरुरुत्तमः ।'

इति, स्पष्टमन्यत् । अत्र च ईश्वरोक्त्येकप्रमाणके उपपत्तयः आलजालप्राया लिखिताः, ता उपहास्या एव ॥२७॥

अथ सम्प्रति मातृकाप्रस्तारे उत्तरत्र च यागादावुचितां भूमिं निर्दिशति–

सितरक्तपीतकृष्णां भूमिं प्लवविशोधिताम् ।
विशल्यां लक्षणैर्युक्तां सर्वकामार्थसाधिकाम् ॥२८॥

ये उक्त प्रकार के गुरु शुभ नहीं माने जाते । न तो इनसे इस लोक की लौकिक उन्नति होती है और नहीं परलोक सुख ही मिल सकता है । यह निश्चित है ।

इन श्लोकों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ पर भी प्रकाश डाल रहे हैं –

१. विन्द्यात्–पाता है । २. न सिद्ध्यन्ति-सिद्धि अनुग्रहरूप होती है । जहाँ सिद्धि नहीं होती समझना चाहिये कि, वहाँ अनुग्रह नहीं है । ये सारी बातें कर्म प्रधान आचार्य की दृष्टि से कही गयी हैं । ज्ञानयोगनिष्ठ आचार्य काण इत्यादि होने पर भी दोषकारक नहीं होते । कहा भी गया है–

"सर्वलक्षणहीन किन्तु ज्ञानवान् गुरु उत्तम होता है ।" यहाँ यह ध्यातव्य है कि, यह ईश्वरोक्ति ही एक मात्र प्रमाण है । अन्य सारी उक्तियाँ आलजालप्राय अर्थात् उपहास्य ही है ॥२७॥

इतना ग्रन्थ शास्त्र की भूमिका के रूप में लिखा या कहा गया । अब यहाँ से शिष्य के जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाली यागदि प्रक्रिया का प्रारम्भ हो रहा है । यही कर्म के प्राधान्य का पथ है । कर्म करणीय होते हैं । इसे कहाँ किया जाय, इसके लिये भूमि की आवश्यकता होती है । उत्तम भूमि पर आचार्य उत्तम शिष्य को उत्तम मन्त्र देता है । यही प्रथम पटल का उद्देश्य है । इन्हीं बातों का निर्देश कर रहे हैं । मुख्य रूप से सर्व प्रथम आधार भूमि के सम्बन्ध में बतला रहे हैं । भगवान् भैरव के अनुसार कैसी भूमि हो, इसके लिये पाँच प्रकार के विशेषण शब्दों का प्रयोग किया गया है । वे ये हैं–

१.सित-रक्त-पीत-कृष्णाम्–

सर्वोत्तम भूमि सित अथवा श्वेतवर्ण की मानी जाती है । इसके अतिरिक्त लाल, पीली और काली भूमियाँ ग्राह्य हैं किन्तु मिली जुली भूमि भी अस्वीकरणीय मानी जाती है । एक आगमिक उक्ति है–

श्रित्वेति शेष:, दीक्षायां जात्युद्धारस्य भैरवीयजात्यापादनस्य च वक्ष्यमाणत्वात् ।

'वर्णानां ब्राह्मणादीनां श्वेता मृत्काञ्चना सिता ।'

इति भेददर्शनवन्नात्र विभाग उक्त:, संकीर्णवर्णा तु भूर्व्यवच्छिन्ना, प्लवेन-उपरिजलप्रक्षेपेण शोधितां परीक्षितेशानपूर्वोत्तरदिङ्नतिं समनिम्नां वा, यथोक्तम्–

'उदगादिप्लवा श्रेष्ठा.................।'

इति, विशल्याम्-अस्थ्यङ्गारादिशून्यां, लक्षणै:–स्निग्धत्वमनोहरत्वादिभिर्युक्ताम्, अनुवादपरमपि एतदेव वाक्यं विधायकम्, विधिवाक्यान्तरस्याभावात् ॥२८॥

एवंविधां भूमिं श्रित्वा–

सुगन्धिगन्धसंयुक्तां पुष्पप्रकरलालिताम् ।
सुधूपामोदबहुलां वितानोपरिशोभिताम् ।।२९।।

कृत्वेति शेष:, भुवं परमेश्वरीं धर्तृशक्तिमादौ पूजयेदित्यर्थ: ॥२९॥

"ब्राह्मण आदि वर्णों के लिये श्वेतवर्ण वाली स्वर्णवर्णी भूमि भी जिससे सफेदी (सिता) भी झलकती हो, वह ग्राह्य है ।"

प्रस्तुत श्लोक में एक साथ ही चारों वर्ण गृहीत किये गये हैं । यहाँ उक्त उक्ति की तरह ब्राह्मण आदि वर्णों का भेद नहीं प्रदर्शित है । प्रश्न उदित होता है कि, एक साथ चार रङ्गों का नाम लेने से क्या संकीर्ण अर्थात् जिस भूमि में चारों रङ्ग हों, वही प्रशस्य मानी जाय ? इसका उत्तर दे रहे हैं कि, संकीर्णवर्ण भूमि व्यवच्छिन्न है । अर्थात् बाधित है अर्थात् ग्राह्य नहीं है ।

२. प्लव विशोधिताम्–

ईशान, पूर्व और उत्तर ओर की ढलान वाली जल प्रक्षेपरूप प्लव (पानी गिरने से) विशोधित भूमि की नति (ढलान) का पता पानी के बहाव से ज्ञात होता है । अत: याग के लिये स्वीकृत भूमि ऐसी हो, जिससे वर्षा हो जाने पर वहाँ पानी न लग जाय । यह प्रयोग करके जान लेना चाहिये । वही भूमि विशोधित कहलाती है और वही याग के लिये स्वीकार्य है । उदक जल को ही कहते हैं । उदगादि प्लवयुक्त भूमि ही श्रेष्ठ होती है ।

३. विशल्याम्–

शल्य मुख्यत: हड्डी को कहते हैं । पर यह उपलाक्षणिक प्रयोग है । शल्य कथन से हड्डी के साथ राख, बधिक का लोहा और कोई हेय पदार्थ भी लेते हैं ।

अथ समुचिताचार्यप्रदर्शनपूर्वं मन्त्रोद्धारे इतिकर्तव्यतामाह–

आचार्यस्तु शुचिर्भूत्वा चन्दनागुरुचर्चितः ।
सुधूपितः प्रसन्नात्मा खटिकाकरसंयुतः ।।३०।।

ज्योतिष शास्त्र में इसका पता अ,क,च,ट,त,प,य,श, वर्णों के प्रश्नाद्यक्षर से चल जाता है कि, कितनी गहरायी में कैसी किस योनि के जीव की हड्डी है । इसी आधार पर राख या अन्य दोष भी बताये जाते हैं ।

४. सर्वकामार्थसाधिकाम्–

भूमि वही सर्वोत्तम मानी जाती है, जहाँ कोई कार्य पूरी तरह सफल हो जाय । वहाँ कार्यारम्भ करने वाले के सारे मनोरथ पूरे हो जाँय और साथ ही धन सम्पत्ति ऐश्वर्य श्री की वृद्धि हो जाय । ऐसी साधिका भूमि का चयन होना चाहिये ।

५. लक्षणैर्युक्ताम्–

उक्त चारों प्रकार के लक्षण ही शुभ लक्षण हैं । इन्हीं लक्षणों से युक्त भूमि पर योग आदि का विधान उत्तम होता है । भूमि में स्निग्धता और आकर्षण दोनों गुण भी अपेक्षित हैं । लक्षणों में इनकी गिनती भी की जाती है । यह विधिवाक्य है क्योंकि इसके बाद किसी दूसरे विधिवाक्य का अभाव है । अतः ऐसी सुलक्षण भूमि ही आश्रयणीय है, यह स्पष्ट निर्देश है ॥२८॥

उक्त प्रकार की भूमि का आश्रय लेकर उसे सुन्दर आमोद मय गन्ध से सुगन्धित करना चाहिये । यह कार्य भूमि की पूरी सफाई के उपरान्त किया जाता है । इसके बाद चारों ओर लगने लायक हो तो, लगाकर,अन्यथा गमलों में सजाकर कुसुमावली का सौन्दर्य वहाँ खिल उठे, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये । सुन्दर सुगन्धित धूप की महक से महमहाती धरा पर वितान का संतनन और भी शोभा का आधायक होता है । यह एक शब्द चित्र है, उस भूमि का जिसे इस प्रकार वितानित कर आकर्षण का केन्द्र बना दिया गया है । इतनी प्रक्रिया अपनाकर, 'जहाँ जहाँ पृथिवीत्व है, वहाँ वहाँ धृतित्व है ।' इस विग्रह से विज्ञात 'धृति' शक्ति जिसमें धर्तृत्व का गुण है, जो सारे विश्व को धारण करती है । उस शक्ति की पूजा करे ॥२९॥

पूजा के प्रकरण में आचार्य प्रथम घटक होता है । आचार्य का एक शब्द चित्र यहाँ प्रदर्शितकर रहे हैं–

आचार्य शुचिता पूर्ण होते ही हैं । यहाँ पूजा का नया उपक्रम हो रहा है । अतः सारी शुचिता की विधि पूरा करने के उपरान्त चन्दन और अगुरु सदृश सुगन्धित पदार्थों से आमोदमय होकर, धूप से स्वयं को और वस्त्रों को भी सुधूपित कर वे प्रसन्न मन से वहाँ आकर पधार गये हैं । उनके हाथ में खटिका (खडिया) है । उससे श्यामपट्ट पर मातृका के अक्षरों का उन्हें निर्देश जो करना है ॥३०॥

प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि एकचित्तः समाहितः ।
मातृकां प्रस्तरेत्तत्र आदिक्षान्तामनुक्रमात् ।।३१।।

शुचिः–कृतयथेष्टस्नानः, चन्दनेत्यादिना विहितनित्यानुष्ठानः, अत एव प्रसन्नः-देहादिनिमज्जनादुन्मग्नशिवभाव आत्मा यस्य, तत्पुरुषसद्योजातवक्त्रयोः सिद्धिमुक्तिहेतुत्वाद् आचार्यो यथाभिप्रायं 'प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा' इत्युक्तम्, एकचित्तो-मन्त्रोदयनिभालनप्रवणः, अत एव समाहितो लब्धमन्त्रवीर्यः, मातृकां-पशूनामज्ञानां विश्वमातरं सर्वमन्त्रतन्त्रजननीम्, आदिक्षान्तामितिअनुत्तरा-कुलव्याप्तिसारकला-प्रमुखानन्देच्छादिशक्तिक्रमेण प्रसृत्य कादिसान्त-प्रत्याहारस्वीकृताशेष-विश्वक्षकारात्मकपिण्डमन्त्रप्रदर्शितपर्यन्तव्याप्तिसाराम्,

---

आचार्य के बैठने का भी विधान है । वे चाहे पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख बैठ सकते हैं । इसमें वे स्वतन्त्र हैं । वहाँ बैठते ही अपनी गरिमा के अनुकूल वे एकाग्रचित्त हो कर विराजमान हो गये हैं । समाहितमना होना आचार्य का धर्म है । भगवान् कह रहे हैं कि, आचार्य उस खटिका द्वारा अकार से क्षकार पर्यन्त पञ्चाशत् वर्णात्मिका मातृका का प्रस्तार लिखने का कार्य सर्वप्रथम निर्देश होने के कारण कर रहे हैं। इसमें क्रम का भी निर्देश है। वे अकारादिक्षान्त की क्रमवत्ता अपना रहे हैं ॥३१॥

इन उक्त दोनों श्लोकों के कुछ मुख्य शब्दों के कुछ व्याख्यात्मक विवरण इस प्रकार है–

१. शुचिः–

यथेष्ट स्नान करने से शारीरिक शुचि ।

२. चन्दनागुरुचर्चितः–

अनुष्ठान के क्रम में चन्दन इत्यादि से आचार्य को चर्चित करते हैं ।

३. प्रसन्नात्मा–

पुरुष अपने देह को ही आत्मा मान बैठा है । जब देह भाव डूब जाय और आत्मा में शिव भाव का उन्मज्जन या उद्वलन होने पर आत्मा में 'शिवोहं' भाव जागृत हो जाता है । तभी कोई भी प्रसन्नात्मा होता है । आचार्य इसी स्तर का पुरुष होता है ।

४.प्राङ्मुखोदङ्मुखः–

भगवान् शिव पञ्चवक्त्र कहलाते हैं । इन मुखों में तत्पुरुष नामक वक्त्र पूर्वमुख माना जाता है । सद्योजात उत्तर का होता है । तत्पुरुष सिद्धि प्रद और सद्योजात मुक्ति प्रद माना जाता है । यही कारण है कि, याग में पूर्व और उत्तर मुख बैठने का विधान यहाँ किया गया है ।

प्रस्तरेदिति स्वप्रमाणशक्त्यवस्थितस्वाभाविकपञ्चाशद्रुद्रतच्छक्त्यामर्शप्रसरसंचेतनानुस्वारश्रीसर्ववीरभर्गशिखोक्तशक्तिचतुष्टयात्मकलिपिव्याप्त्यनुसंधिपूर्वं च प्रस्तृणीयात् 'प्रस्तरेदिति' आर्षः पाठः । एवमन्यदपि परमेश्वरवचः साध्वेव भगवदुक्तीनां मितदृष्टिभिरविकल्प्यत्वात् ॥३१॥

---

५. एकचित्तो–

मन्त्रोदय के अवलोकन के समय चित्त एक मात्र मन्त्र में एकाग्र हो जाता है । एकचित्त होते ही व्यक्ति समाहित हो जाता है । समाहित होते ही मन्त्रशक्ति का प्रभाव उस पर हो जाता है । लब्धमन्त्रवीर्य पुरुष ही एकचित्त कहलाता है ।

६. मातृकाम्–

यों तो मातृका का मुख्य अर्थ वर्णमाला होता है किन्तु सामान्य अज्ञ और पशु लोगों के लिये विश्वमाता ही मातृका है । मुख्य रहस्य यह है कि, मातृका ही समस्त मन्त्रों और तन्त्रों की जनयित्री शक्ति है ।

७. आदिक्षान्ताम्–

अकार अनुत्तर परम शिव है । यह अकुल शिव है । अकार की व्याप्ति में अनुत्तर और अकुल तत्त्व भी व्याप्त हैं । अकार का कलात्मक आश्यान और आनन्द का सारतत्त्व ही आ है, इच्छा ही इकार है । इसी प्रकार क्षपर्यन्त सृष्टि का क्रम चलता है । यह क्षकार भी आदि सान्त प्रत्याहार रूप सृष्टि का प्रतीक चक्रेश्वर वर्ण है । इस तरह मातृका तत्त्व में सारा पिण्ड-ब्रह्माण्ड,मन्त्र-तन्त्र सारतत्त्व निहित माना जाता है ।

८. प्रस्तरेत्

आचार्य मातृका का प्रस्तार करता है । मातृका प्रस्तार रहस्यगर्भ शब्द है । वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण का अपना-अपना वर्णमान है । इसे ही स्वप्रमाण कहते हैं । यह मान वर्ण शक्ति से अवच्छिन्न है । उस अवच्छिन्नता में प्रत्येक वर्ण उल्लसित है । इस स्वाभाविक पञ्चाशत् वर्णोल्लास में रुद्रों का अवस्थान शास्त्रों में प्रतिपादित है । रुद्र शक्तियों का आमर्श अर्थात् स्फुरणमय स्फुरत्ता का प्रसर भी वर्ण-वर्ण में अनवरत होता रहता है । उस प्रसार के साथ चैतन्य भी अनुस्वार रूप बिन्दु में उल्लसित रहता है ।

ये सारी बातें सर्ववीर शास्त्र और भर्गशिखा शास्त्र में प्रतिपादित हैं । इसमें ५० रुद्र ५० रुद्र शक्ति, ५० चैतन्यात्मक बिन्दु और ५० इनके भर्ग मिलकर शक्ति चतुष्टय के रूप में व्याप्त हैं । यह वर्ण माला की शक्ति का एक सामान्य रूप है । इन सबकी अनुसन्धि पूरी वर्णमाला में प्रदर्शित है ।

एवमस्य शास्त्रस्योद्दिष्टविद्यापीठत्वचिकीर्षया पूर्वभित्तिभूतां मातृकां प्रदर्श्य, अस्याः शिवशक्तिरूपतां निरूपयति–

आदिः षोडशभेदेन साक्षाद्वै भैरवः स्मृतः ।
कवर्गश्चटवर्गौ च तपयाः शस्तथैव च ।।३२।।
संहारेण समोपेतौ योनिर्वै भैरवी स्मृता ।

आदिः प्रथमो वर्गः–अनुत्तरादेर्विसर्गान्तस्य विश्वाप्यायिनः षोडशकस्य स्वयं राजमानतया शब्दनस्वाभाव्येन भेदोपतापकारितया विश्वाक्षेपेण च स्वरशब्दवाच्यस्य गर्भीकृताशेषवाच्यवाचकादियोनिवर्णतत्त्वप्रसरसमाश्रयत्वात्

आचार्य इनका प्रस्तार करता है । इसी प्रस्तार के लिये वह हाथ में खटिका लेकर यागस्थल पर आता है । प्रस्तार की यह प्रथा आजकल नहीं है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि, प्रस्तरेत् शब्द व्याकरण सिद्ध नहीं है । धातु प्रत्यय संयोग से निष्पन्न शब्द 'प्रस्तृणीयात्' होता है । आर्ष प्रयोग पूर्व काल में होने वाले वैकल्पिक प्रयोग की याद दिलाते हैं । आर्ष तो आर्ष ही होते हैं । उनको सर्वदा सत्य ही माना जाता है ॥३०-३१॥

चतुष्पीठ संहिता की बात पहले कही गयी है । इसमें एकपीठ विद्यापीठ भी है । स्वच्छन्द शिवरूपा स्फुरत्ता को ही विद्या कहते हैं । यह परमार्थ मातृका और चतुष्क मन्त्ररूपा होती है, यह पहले ही कहा गया है । इसमें भित्तिभूता तो मातृका होती है । मातृका प्रस्तार की चर्चा भी पहले की जा चुकी है । इस समय मातृका की शिवरूपप्रता का निरूपण करने जा रहे हैं–

'आदि' अर्थात् अकार से लेकर विसर्ग पर्यन्त सोलह वर्ण होते हैं । ये जो सोलह वर्ण हैं, ये साक्षात् भैरव रूप होते हैं । इनके अतिरिक्त कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग प्रत्येक पाँच वर्ण वाले स्पर्श अक्षर हैं । इनकी संख्या पचीस है । दो और वर्ग यवर्ग और शवर्ग होते हैं । इनमें चार चार अक्षर होते हैं । एक चक्रेश्वर अक्षर और होता है । इसे संहार वर्ण भी कहते हैं । इस प्रकार २५+८+१=३४ व्यञ्जन वर्ण 'योनि' रूप हैं । कुल मिलाकर इन्हें भैरवी रूपा मानते हैं । इस प्रकार सोलह स्वर भैरव और चौतिस व्यंजन भैरवी दोनों को मिलाकर पञ्चाशत्वर्णा मातृका[१] मानी जाती हैं ।

---

१. अखिलमनाहतमूर्त्तिर्मात्युत्तीर्णस्वरूपिणी तरति । कायति नाना नामरूपप्रपञ्चरूपेण मातृका देवी'' (अखिलं माति, तरति कायति इति मातृका) सौ० सुधोदयः १/६,२८-४५ अमृतानन्द योगी ।

तदुल्लासकत्वाच्च बीजव्यपदेशस्य परसंवित्स्फारसतत्त्वस्य भेदेन वैचित्र्येण साक्षाद्भैरवः अशेषविश्वमयत्वाद् वाच्यवाचकयोरभेदाच्च, कादीनां तु बीजश्यानीभावरूपत्वेन घनत्वाद् बीजव्यङ्ग्यत्वेन व्यञ्जनशब्दव्यपदेश्यानामुक्तबीजसंसर्गेण जगत्कारणत्वात् योनिता, तथैव चेति वर्गरूपतया संहारेण क्षकारेण, भैरवी ॥३२॥

आदि-प्रथम अवर्ग को कहते हैं। अकार अनुत्तरतत्त्व है। नास्ति उत्तरं यस्मात् एतादृशः अनुत्तरः परमशिवोऽकार रूपः। इस दृष्टि से अनुत्तर अकार शिव है। शिव से लेकर सृष्टि के मूलतत्त्व विसर्ग पर्यन्त वर्ण विश्व को आप्यायित करते हैं। ये किसी पर निर्भर नहीं हैं। स्वतन्त्र हैं। स्वयं राजमान हैं। 'शब्दन' अर्थात् नाद ध्वनन इनका स्वभाव है। अभेद भाव से ये भावित हैं। भेद के उपतापक हैं। स्वात्म में विश्व का आक्षेप करने में समर्थ हैं। अतः इन्हें स्वर कहते हैं।

इनके स्वात्म गर्भ में अर्थात् स्वात्म के अन्तर अन्तराल हृदय में अशेष वाच्यवाचक सामर्थ्य वाले योनि के वर्णों का उल्लास शाश्वतरूप होता रहता है। उनके तात्त्विक प्रसार के ये मूल कारण हैं। आश्रय हैं। उनके उल्लासक हैं। अतएव इन्हें 'बीज' व्यपदेश अर्थात् संज्ञा से विभूषित करते हैं। इनके सोलह भेद परसंवित्-स्फार के प्रतीक हैं। ये भेद भैरवभाव की भव्यता अर्थात् वैचित्र्य रूप ही हैं।

इन रूपों में साक्षात् भैरव देव भासमान हैं। उक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि, देवाधिदेव भैरव समस्त विश्वमय हैं। यहाँ वाच्यवाचक भेद भी अभेद में ही स्फुरित है।

जहाँ तक क वर्गादि चौंतिस वर्णों का प्रश्न है, ये सभी बीज के आश्यान से उन्मिषत्, ईषत् उन्मिषत्, उन्मिषितव्य, उन्मिषित और उन्मिष्ट क्रम से रूपायित हैं। एक प्रकार से ये बीज के ही व्यज्यमान और अभिव्यक्त रूप हैं। इसीलिये इन्हें व्यञ्जन कहते हैं। बीज के संसर्ग से विश्व रूप प्रजनन की हेतु होने की हेतभूता कादिवर्ण राशि 'योनि' संज्ञा से विभूषित की जाती है। प्रजनन हेतुता ही इसकी योनिता होती है।

श्लोक में 'तथैव च' शब्द का प्रयोग वर्ग की क्रमवत्ता का प्रतिपादक है। जैसे कुचुटुतुपु यश वर्ग हैं, उसी तरह 'क्ष' कार भी एक वर्ग है। यह क्+स् तक के वर्णों का प्रत्याहार है। सबका संहार कर स्वात्म में ही आत्मसात् कर स्फुरित है। मेरी दृष्टि में इसमें सृष्टि, स्थिति और तीनों का संगम है। इस तरह क से क्ष तक पर्यन्त भैरवी देवी का उल्लास है। मातृका प्रस्तार का यही रहस्य है ॥३२॥

प्रोक्तभैरवशक्तिरूपमातृकायाः प्रस्तारं प्रदर्श्य, सर्वमन्त्रदेवतास्फारसाराया अस्या मन्त्रोद्धाराङ्गत्वेन पूजां दर्शयन् अनुष्ठानविशेषतामपि सूचयति–

मातृकाभैरवं　देवमवर्गेण　प्रपूजयेत् ।।३३।।
भैरवी कादिना पूज्या मातृवर्गैः प्रपूजयेत् ।

मातृकाधिष्ठातारं भैरवं-तत्स्फाररूपतयैव भरणरवणवमनपरमार्थं निष्कल-भट्टारक-स्वरूपम्, अवर्गेण-व्यावर्णितस्वरूपेण षोडशकेन प्रपूजयेत्, भैरव्यपिनिष्कलभट्टारका भिन्नस्वरूपैव कादिना क्षान्तेन योनिवर्गग्रामेणाविभक्तेन तदधिष्ठात्री उमा योगीश्वरीरूपा पूज्या ।।३३।।

ऊपर कही गयी भैरव की शक्तिरूपा मातृका के प्रस्तार को प्रदर्शित कर, सभी मन्त्र और सभी देववर्ग के स्फार की मूल कारण रूपा मातृका की मन्त्रोद्धारिका शक्ति की अङ्गभूता पूजा के स्वरूप का प्रदर्शन करते हुए विशिष्ट अनुष्ठान को भी सूचित कर रहे हैं–

शक्ति और शक्तिमान् में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं होता । इसलिये भैरव की शक्ति मातृका और मातृकाशक्ति समन्वित भैरव भी मातृका भैरव ! प्रश्न है कि, मातृका भैरव की पूजा कैसे की जाय ! शास्त्र का निर्देश है कि, मातृका भैरव की पूजा अवर्ग से करनी चाहिये । इसी क्रम में भैरवी की पूजा कादिवर्गों के द्वारा की जाती है । जितने वर्ग हैं, उनमें विशिष्ट मातृशक्ति की प्रतिमा होती है । उनके द्वारा भी पूजा होती है ।।३३।।

मातृका भैरव–

मातृका तत्त्व के अधिष्ठाता होने के कारण भैरव देव को 'मातृका भैरव' के रूप में अभिहित किया गया है । भैरव देव के स्फार अर्थात् पूर्ण विकसद्भाव के विस्तारमय उल्लास में मुख्य रूप से तीन वर्णों 'भ' से भरण, 'र' से रवण और 'व' से वमन रूप परमार्थ का बोध स्पष्ट रूप से आभासित है । देवाधिदेव भैरव को निष्कल भट्टारक भी कहते हैं । इनकी पूजा अलग से 'अ' वर्ग से ही की जानी चाहिये । यह स्पष्ट है कि, अवर्ग में सोलह अक्षर होते हैं ।

जहाँ तक भैरवी का प्रश्न है, जिसे साधक निष्कलभट्टारिका के रूप में जानता है और यह मानता है कि, यह निष्कलभट्टारक देवाधिदेव भैरव से नित्य अभिन्न है तथा 'अवियुक्तो यया प्रभुः' की उक्ति के अनुसार नित्य अवियुक्त है, इसकी पूजा कादिक्षान्त योनिवर्ग समूह से की जानी चाहिये । 'क' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त चौंतिस वर्णों से यह नित्य अवियुक्त है । उनकी अधिष्ठात्री देवी है । यही उमा है और यही सिद्ध योगीश्वरी महादेवी है । अतः उन्हीं मातृकाक्षररूपिणी अक्षमाला से इसकी पूजा श्रेयस्कर होती है ।।३३।।

अवर्गे तु महालक्ष्मीः कवर्गे कमलोद्भवा ।।३४।।
चवर्गे तु महेशानी टवर्गे तु कुमारिका ।
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका ।।३५।।
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका ।
एताः सप्त महामातृः सप्त लोकव्यवस्थिताः ।।३६।।

मातृः—ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराही ऐन्द्री चामुण्डा इति सप्त भैरव्या मरीचिरूपाः अग्नीशानसोमयमवरुणेन्द्रनिर्ऋतिदिक्षु

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा मातृका तु वै ।'

इति वक्ष्यमाणत्वादवर्गस्य चोपयुक्तत्वात् सप्तभिरेव कादिवर्गैः प्रविभज्य पूजयेत्, एवं चेदमनुष्ठानानन्तरमपि युक्तमेव, तथा च भुवनाध्वनि बुद्धिभुवनेषु मध्ये योगाष्टकादनन्तरम् औमं भुवनं प्रतिपाद्य, स्वचारुनामनि भुवने परभैरव-प्रपञ्चव्याप्तिरूपस्य उमापतेः मातृसप्तक-परिवारस्य ध्यानादिस्वरूपमस्त्येव, तद्यथा–

मातृका भैरवी की अवर्ग से पूजा की जानी चाहिये, इस तथ्य का उल्लेख श्लोक बत्तीस में है । भैरव मातृका शक्ति के आधिष्ठाता हैं, यह आचार्य क्षेमराज भी स्वीकार करते हैं । इसलिये महालक्ष्मी के आन्तरिक उल्लास से उल्लसित अवर्ग से ही की जाने की आज्ञा भगवान् भैरव ने स्वयं दी है । वही कह रहे हैं । उनका कहना है कि, अवर्ग में महालक्ष्मी का अधिष्ठान है । यद्यपि ये सोलह वर्णबीजाक्षर हैं, फिर भी अवियुक्त रूप से अवर्ग में विद्यमान महालक्ष्मी द्वारा ही वह पूजा मान ली जानी चाहिये ।

इसी क्रम में सभी वर्गों में किन देवियों का अधिष्ठान है, इसका कथन कर रहे हैं । उसका क्रम इस प्रकार है–

१. कवर्ग [क ख ग घ ङ] में कमलोद्भवा (ब्राह्मी)
२. चवर्ग [च छ ज झ ञ] में महेशानी (माहेश्वरी)
३. टवर्ग [ट ठ ड ढ ण] में कुमारिका (कौमारी)
४. तवर्ग [त थ द ध न] में नारायणी (वैष्णवी)
५. पवर्ग [प फ ब भ म] में वाराही (कोलमुखी)
६. यवर्ग [य र ल व] में ऐन्द्री
७. शवर्ग [श ष स ह] में चामुण्डा

ये सात देवियाँ भैरवी भट्टारिका की रश्मियाँ हैं । मरीचिमयी मातृका शक्तियाँ हैं । क्रमशः अग्नि, ईशान, सोम(उदीची), यम (दक्षिण), वरुण (पश्चिम), इन्द्र (पूर्वा), और निऋति इन दिशाओं में दिगधिपतियों सहित उल्लसित हैं ।।३४-३६।।

'उमापतिर्जगन्नाथः सर्वानुग्रहकृत्परः ।'

इत्युपक्रम्य तद्ध्यानमुक्त्वा

'मातरः सप्त रूपिण्य.....................।'

इत्यादिना ब्राह्म्यादिमातॄणां ध्यानसंनिवेशादि प्रतिपाद्य–

'स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागशः ।'

इत्युक्त्वा–

'उमा वै सप्तधा भूत्वा नानारूपविपर्ययैः ।'

इत्यादिना अनुष्ठानभेदतैव निर्वाहिता, तत्र तु भगवतोऽपरं रूपमुक्तम्, इह तु परं रूपमिति विशेषः, यद्वक्ष्यति–

ये सात मातृका शक्तियाँ अवर्ग की अधिष्ठात्री देवी माहेशी को मिला कर अष्ट मातृकायें मानी जाती हैं । आगम कहता है कि, 'आठ वर्गों में विभिन्न भैरवी की मरीचि मनोज्ञा विद्यारूपा ये शक्तियाँ 'मातृका' कहलाती हैं ।'

इस प्रकार आठ वर्गों के होते हुए भी अवर्ग के बीज रूप होने के कारण अवशिष्ट कवर्ग आदि सातवर्गों में विभाजित कर सप्तमातृकाओं की पूजा का शाक्त विधान है । शास्त्र से इसकी उपयुक्तता भी समर्थित है । अनुष्ठान भेद से भी इस विषय पर विचार किया गया है । जैसे भुवनाध्वा के सन्दर्भ में 'बुद्धि' भुवन के अन्तर्गत योगाष्टक के अनन्तर 'औम' भुवन का प्रतिपादन है । इसके बाद भगवान् भैरव के नाम पर 'भैरव' भुवन का अभिधान है । उसमें 'परभैरव प्रपञ्च' की व्याप्ति ही दिग्दर्शित है । वहाँ अवर्ग की अधिष्ठात्री उमा के अधीश्वर उमापति के सात मातृ परिवार के ध्यान आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है ।

वहाँ पर 'सर्वानुग्रहकर्त्ता' अनुग्रह परायण उमापति जगन्नाथ के ध्यान के साथ ही शुरू कर ''सात मातृशक्तियाँ वहाँ स्वरूप में हैं, इस रूप में इनके ध्यान और संन्निवेश आदि का वर्णन भी किया गया है । इसके साथ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, 'ये सात शक्तियाँ स्वच्छन्द भैरव की उपासना में संलग्न रहती हैं । ये परापर और अपर विभाग मयी हैं ।''

इतने कथन के बाद यह भी स्पष्ट ही उल्लेख है कि,

'भगवती उमा ही सात रूपों में अभिव्यक्त और विभक्त होकर नाना रूपों के विपर्यय भाव से क्रियारत हैं ।' इत्यादि क्रम में आठ और सात भेदों के कथन का निर्वाह किया गया है ।

वहीं भगवान् स्वच्छन्द के अपर रूप का भी उल्लेख है । यहाँ भगवान् स्वच्छन्द के पर रूप का वर्णन है, यह एक विशेष अन्तर है । कहा गया है कि,

'स्वच्छन्दास्तु पराश्चान्या:परे व्योम्नि व्यवस्थिता: ।

स्वच्छन्दं पर्युपासीना: परापरविभागश: ।।' इति ।

तस्माद् मन्त्रोद्धारादङ्गभूतमातृकाभैरवपूजनस्यानुष्ठानान्तररूपत्वेऽपि न काचिदनुपपत्ति: ।।३६।।

युक्तं चैतत्, यदाह–

सर्वान्कामानवाप्नोति देव्येवं भैरवोऽब्रवीत् ।

मन्त्रोद्धाराङ्गत्वे तु 'फलवत्संनिधावफलमङ्गम्' इति नीत्या मातृका-भैरवपूजनस्येयमुक्तिरतथ्या स्यात्, कर्मणोऽपरिसमाप्तस्य फलनिर्देशायोगात् ।

एवं च कृत्वा–

अन्तेऽस्या उद्धरेन्मन्त्रान्यथाक्रमनियोगत: ।।३७।।

"स्वच्छन्द पर भगवान् परमव्योम में व्यवस्थित होकर परात्पर स्वच्छन्द भैरव की उपासना में तल्लीन हैं । वे भगवन्त परापर और अपर रूपों में हैं ।"

उक्त आधार पर यह निर्धारित किया जा सकता है कि, मन्त्रोद्धार आदि प्रक्रियाओं में अङ्गभूत मातृका भैरव पूजन के अनुष्ठानों के अवान्तर रूपों के सम्बन्ध में कोई अनुपपत्ति नहीं प्रदर्शित की जा सकती ।।३४-३६।।

देवी कुलेश्वरी से भगवान् भैरव ने इस प्रकार सारी रश्मिमूलक देवियों के विषय में बताया और कहा कि, जो साधक इस प्रकार की वर्गमयी पूजा करता है, वह समस्त कामों का सुफल प्राप्त करता है । इस प्रकार के अन्त में मन्त्रोद्धार यथाक्रम नियोग पूर्वक करना चाहिये ।।३७।।

मन्त्रोद्धार के सन्दर्भ में एक न्याय का स्मरण भाष्यकार आचार्य क्षेमराज कर रहे हैं । वह यों है–

'फलवान् की सन्निधि में अफलवान् भी अङ्गवत् बन जाता है ।' इस न्याय के अनुसार मातृका पूजन का फल है, सभी मनोकामनाओं की पूर्ति । श्लोक सैंतिस की ऊपर की अर्धाली फलवती उक्ति है । नीचे की अर्धाली अफलवती है । यहाँ केवल इतना ही निर्देश है कि, यथाक्रम नियोगपूर्वक मन्त्रोद्धार करे । मन्त्रोद्धार भी पूजा का अङ्ग है । अङ्ग होते हुए भी अफल है । फिर भी पूजाङ्गरूप ही है । जब तक कर्म की समाप्ति न हो जाय, तब तक फल निर्देश नहीं किया जा सकता है । केवल 'उद्धरेन्मन्त्रान्' यही उक्ति मात्र वहाँ दी गयी है ।

अस्या-मातृकापूजायाः, यथाक्रमम्-आसनमन्त्रमूर्तिमन्त्रादिक्रमेण यो नियोगः-तत्तन्मन्त्रवाच्यदेवतानुसन्धानपरत्वं तेन, स च क्रमयोगो द्वितीयादिपटलभाविन्यासावसरोपयोगि, इति ॥३७॥

इह मन्त्रोद्धारोऽपि भाविन्यासक्रमानुसारमुच्यते, तत्र

त्रयोदशं बिन्दुयुतमनन्तासनमुत्तमम् ।
अनेन योजयेत्सर्वं सोमसूर्याग्निमध्यगम् ॥३८॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानं शवान्तं परिकल्पयेत् ।

अस्तु,मातृका पूजा का यथाक्रम निर्देश आचार्य क्षेमराज कर रहे हैं। इस क्रम के अनुसार पहले आसनमन्त्र, फिर मूर्तिमन्त्र के प्रयोग आदि आते हैं । इन मन्त्रों के साथ उन देवताओं का नियोग होता है, जिनका उनके अर्थ के साथ अनुसन्धान किया जा सकता है । इसे मन्त्रवाच्य देवतानुसन्धान कहते हैं । यह क्रम योग आगे के द्वितीयादि पटलों में कथयिष्यमाण न्यासादि के अवसरों में देखे जा सकते हैं ॥३७॥

अवर्ग भैरव भाव का बीजात्मक मान्त्रिक स्वरूप माना जाता है । इसके प्रत्येक वर्ण एक एक धाम हैं तथा विशिष्ट स्पन्दों के प्रतीक हैं । इस वर्ग का तेरहवाँ अक्षर 'ओ' कार है । यह बिन्दुयुक्त होने पर त्रयोदश धाम कहलाता है । यह अनन्त भट्टारक का आसन माना जाता है । अनन्त भट्टारक तीन स्थानों पर तीन रूपों में शरीर के स्वर्लोक भाग में विद्यमान हैं । इसका अनुभव साधक को साधना के उच्चस्तर पर होता है ।

गायत्री का ध्यान करने वाले साधक जानते हैं कि, शरीर का कटिप्रदेश से पादाधस्तल पर्यन्त 'भूः' भाग है । इसमें मूलाधार और स्वाधिष्ठान दो पद्म वैष्णव और ब्राह्मबीजों के साथ तथा ब भ म य र ल+व श ष स दश वर्णों के साथ उल्लसित हैं ।

इसी तरह कटिप्रदेश से भद्रकाली क्षेत्र पर्यन्त 'भुवः' भाग है । इसमें मणिपुर, अनाहत और विशुद्ध चक्र विद्यमान हैं । साधक इन पद्मों के सारे स्पन्दनों से परिचित होता है । इसमें रुद्र, ईश और सदाशिव बीजों के साथ 'अ' से 'फ' तक के वर्ण अपनी आभा विकीर्ण कर रहे हैं । प्राण सूर्य और अपान सोम तत्त्वों का प्राणापानवाह भुवर्लोक में ही स्पन्दित होता है ।

तालुरन्ध्र से ब्रह्मरन्ध्र का पूरा क्षेत्र स्वर्लोक है । इसमें आज्ञा पद्म और सहस्रदल पद्म ये दो चक्र हैं । आज्ञा बीज 'ओं'कार है । ओं के पाँच उत्कर्ष क्रम अ,उ,म,विन्दु और अर्धचन्द्र हैं । ठीक अर्धचन्द्र के ऊपर शिरोभाग में 'निरोधिका' वृत्त है ।

त्रयोदशम्-ओकारं, बिन्दुना युतं-प्रणवाकारम्, अनन्तासनमितिपरतत्त्ववाचकमपि एतत् सम्प्रतीश्वरेणासनवाचित्वेन नियुक्तत्वात् अधःस्थानन्तमूलविद्येशान्तमध्यव्यापिनीपदस्थानन्तपर्यन्तासनरूपमित्यर्थः, सर्वाध्वोर्ध्ववर्तिनोऽनन्तभट्टार-कस्यैव धराधरानन्तरूपा प्रपञ्चव्याप्तिः, इति भविष्यति, तद् व्यापिनीपदस्थानन्तपर्यन्ता इहैवासनव्याप्तिः, अत आह 'उत्तममिति'–अतिशयेनोद्गतं सर्वाध्वमूर्धस्थमित्यर्थः,

---

निरोधिका के ऊपर शुद्ध अध्वा और नीचे अशुद्ध अध्वा है। अशुद्ध अध्वा को सितेतर सृष्टि कहते हैं। माया शक्ति यहीं निरोधिका के केन्द्र में 'अनन्तेश्वर[1]' के सहारे असित सृष्टि का सञ्चालन करती है। आज्ञा पद्म सितासित सृष्टि का प्रतीक है और 'ओं' बीज से समन्वित है।

यही केन्द्र अनन्त भट्टारक का अधः धाम है। इसी का पहला आसन 'ओं'कार (त्रयोदशं बिन्दुयुतं) अनन्तासन माना जाता है। इसके तीन रूप है। अधःधाम मध्य (अक्षर) धाम और उत्तम (ऊर्ध्व) धाम। ये तीन तो शुद्ध अध्वा क्षेत्र के हैं। अशुद्ध अध्वा के लिये नया आदेश दे रहे हैं। भुवः और भूः क्षेत्र के सोम सूर्य और अग्नि के आसनों को भी योजित करना चाहिये। यह परिकल्पन शवान्त किया जाना चाहिये ॥३८॥

इसी रहस्य प्रक्रिया की व्याख्या आचार्य क्षेमराज ने साधना के आन्तरिक स्वरूप के उद्घाटन के रूप में की है। यह अन्यन्त महत्व पूर्ण व्याख्या है। ऊपर मैंने त्रयोदश धाम की स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। उस तेरहवें स्वर में बिन्दु लगाने से यह अनन्तेश्वर का अधः आसन बन जाता है। यह बिन्दु का महत्व है।

प्रणवाकार ही अनन्तासन माना जाता है। 'ओं'कार परतत्त्व का भी वाचक है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है- 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म।'[2] किन्तु इस सन्दर्भ में ईश्वर द्वारा ही यह आसन रूप में [आसनवाची पर्यायरूप में] नियुक्त है अर्थात् प्रयुक्त है। इस प्रकार इसके तीन स्थानों की आसनता का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

१. अधःस्थ अनन्त [मूलतः विद्येश्वर क्षेत्र पर्यन्त अर्थात् निरोधिका से आज्ञा चक्रबीज क्षेत्र पर्यन्त] का आसन।

२. निरोधिका को तोड़कर सिद्ध साधक नाद, नादान्त, शक्ति चक्रों को अतिक्रान्त करते हुए व्यापिनी धाम में पहुँचता है। यह व्यापिनीपद्मस्थ स्वयम् मध्य अनन्तासन के रूप में उल्लसित होता है।

---

१. श्रीतन्त्रालोक १३/२७५ भाग ४
२. श्रीमद्भगवद्गीता-अ० ८/१३

एतदेव व्यनक्ति 'अनेन' आसनमन्त्रेण, सर्वमधरवर्ति योजयेत्, एकाधारशक्तितया अनुसंदध्यात्, एवं सोमसूर्याग्निमध्यगं ब्रह्मविष्णुमहेशानं कृत्वा ।

अयमर्थ:–शाक्तपद्मव्याप्तिसतत्त्वे विद्यापद्मे दलकेसरकर्णिकाभागेषु सोम-सूर्यवह्निमण्डलानां सर्वप्रमेयप्रमाणप्रमातृव्याप्तिसाराणां मध्यगतमन्तर्गतं ब्रह्मादिसमग्र-

---

३. अनन्त के इस क्षेत्र को भी साधक अतिक्रान्त करता है । वह सहस्रदल पद्म को अतिक्रान्त कर उन्मना के त्रिशूल के मध्य शूल में विराजमान पराशक्ति के कृपास्पद अनन्त भट्टारक से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । इस प्रकार 'ओं'कार ऊर्ध्व अनन्तासन सिद्ध हो जाता है । यह ध्यान देने की बात है कि, इसी ऊर्ध्व अर्थात् सभी अध्वाओं के ऊर्ध्व में अवस्थित अनन्त भट्टारक की प्रपञ्च व्याप्ति है । इसे ही तीन भागों में पहले भी व्यक्त किया गया है और यहाँ भी धरा, अधरा और अनन्त व्याप्ति की संज्ञा भी दी गयी है । इसी दृष्टि को 'अनन्तासन' शब्द के विशेषण रूप में 'उत्तम' शब्द के प्रयोग द्वारा भी व्यक्त किया गया है । एक वाक्य में यह समझा जा सकता है कि, सर्वाध्वोर्ध्ववर्त्ती, व्यापिनी पदस्थ और विद्येश रूप अनन्त के आसन के रूप मे यह 'ओं' आसन का काम करता है । इसीलिये इसे अनन्तासन कहते हैं ।

एक दूसरी विधि की ओर 'योजयेत्' क्रिया द्वारा संकेत कर रहे हैं । 'अनेन' शब्द से इसका सूत्रपात कर रहे हैं । इस 'आसन' मन्त्र [ओं] से सारी अधरवर्त्ती शारीरिक संरचना को योजित करे, यह शास्त्र का आदेश है । इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, एकाधार शक्ति प्रतीक मानकर यह अनुसन्धान करे कि, सभी केन्द्र उसी से समायोजित करने चाहिये ।

इस योजनिका प्रक्रिया में सूर्य (प्रमाण) सोम (प्रमेय) और अग्नि (प्रमाता) के प्रतीक रूप में विद्यमान केन्द्रों के मध्य में अधिष्ठाता रूप में विद्यमान ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र देवताओं से भी सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ।

इसको और भी गहरायी से समझने की आवश्यकता है । इस आसन मन्त्र से सारा अधरवर्त्ती चक्र समुदाय एकाधार में योजित करना चाहिये । इसके लिये नाभिपद्म अर्थात् मणिपूर चक्र में विद्यापद्म जिसे 'शाक्त पद्म' भी कहते हैं, उसका अनुसन्धान करना चाहिये । इस शाक्तपद्म के पत्रों, केसर और कर्णिका में सोम मण्डल, सूर्य मण्डल और अग्निमण्डल का आकलन साधक करता है । इसी के 'मध्यग' अर्थात् इनके अन्तर्गत अधिष्ठाता देवरूप में ब्रह्मा,

कारणग्रामं कृत्वा भेदव्याप्त्यानुसंधाय, तदुपरिवर्त्यनाश्रितभट्टारको द्वितीयपटल-प्रदर्शयिष्यमाणशवव्याप्तिकोऽन्ते यस्य तत् तादृगासनम्, प्रणवेन गुरुमुखप्रसिद्ध-विशेषणानुसंधानव्याप्त्या व्याप्यमानं परामृशेत् ॥३८॥

एवमनेन न्यासेनैव भेदो विलायते, अणुत्वलयायाह–

मूर्तिं हंसाक्षरेणैव बिन्दुभिन्नेन कल्पयेत् ।।३९।।
अर्धचन्द्रकृताटोपां स्वस्वनां तुहिनप्रभाम् ।

विष्णु और महेशान का न्यासानुसन्धान करना चाहिये । वस्तुतः ब्रह्मा मूलाधार, विष्णु स्वाधिष्ठान और रुद्र मणिपूर पद्म के देवता हैं किन्तु यहाँ शरीर को एकाधार में ही उल्लसित मानने के लिये और भैरवी भाव से व्याप्त करने के लिये साधक इस विधि को अपनाता है । यद्यपि यह अनुसन्धान भेदव्याप्ति परक है, फिर भी ऐसी ऐक्य परिकल्पना करनी पड़ती है ।

इस तरह अनन्तासन की इस बीज साधना में ऊर्ध्व से अर्थात् अनाश्रित भट्टारक रूप 'शव' से लेकर मूलाधार पर्यन्त शरीर एकाधार में अवस्थित है, यह अनुभूति हो जाती है । यही 'त्रयोदशं बिन्दुयुतं' की व्याप्ति है । प्रणव की व्याप्ति है । अर्थात् एकासन व्याप्ति है । इससे शरीर-पुर्यष्टक सभी भैरव रूप में ही उल्लसित लगते हैं । इसी की व्याप्ति का द्वितीय पटल में प्रदर्शित महाप्रेतासन व्याप्तिपरक परामर्श साधक को करना चाहिये ॥३८॥

इस प्रकार के परामर्श से शरीर में भेदात्मकता की सारी चक्रात्मक प्रक्रिया एकात्मता में समाहित लगती है । भेद विलीन ही हो जाते हैं । अणुत्व[1] भैरवी भाव में ही विलीन हो जाये, इसके लिये साधक को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये । उसी का स्पष्टीकरण यहाँ कर रहे हैं –

श्लोक सैंतिस से यथाक्रम के प्रसङ्ग में आसनमन्त्र और मूर्तिमन्त्रों की चर्चा की गयी है । द्वितीय पटल के ४६-४८ श्लोकों में मूर्ति प्रकल्पन का एक चित्र है । यहाँ मूर्ति प्रकल्पन मन्त्र के माध्यम से करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, यह 'हंस' अक्षर 'ह'अक्षर संज्ञा से विभूषित होता है । 'ह' कार जिसके अन्त में है, ऐसी योनिमातृका के अक्षरों पर बिन्दु के प्रयोग से [कं खं गं रूप] मन्त्र बनते हैं ।[2] 'अर्धचन्द्र कृताटोपा' शब्द बिन्दुमूर्त्ति के साथ चद्राकृति रूप लगने पर ही सम्भव है ।

---

१. त्रिक हृदय-अनन्ते भैरवोच्छ्राये मूर्त्तिरेषा परापरा ।
यस्यास्तु न्यासमात्रेण अणुत्वं प्रविलीयते ॥

२. प्राणतोषिणी-अकारादि क्षकारान्तवर्णा हंस इत् पृ० /९८

'आत्मा वै हंस..................।'

इति वक्ष्यमाणात्मपरामर्शिना हंसपथसततसंचारिणा, अक्षरेण विचलद्रूपेण हकारेण, अशेषमन्त्रारणिरूपेणापि समस्तविद्याविभागवेदनात्मकबिन्दुयुक्तेन भेदितबिन्दुना अतश्च पञ्चप्रणवाधिकारनिरूपयिष्यमाणदिशा लब्धमन्त्रत्वाद् उच्चार्येण, मूर्तमिति-मुण्डान्तभेदव्याप्तिमोहात् शुद्धात्मदशासमुच्छ्रयाच्च मूर्तिव्यपदेश्याम् आत्मस्थितिं कल्पयेत् विमृशेत्, कीदृशीम्? अर्धचन्द्रे-बिन्दुमूर्तिवर्तिनि कृत आटोपो यया-ललाटग्रन्थिभेदाय आस्थितोत्साहामित्यर्थः, तद्भेदादेव ध्वनिमातृरूपतया स्वस्वनाम्-अहंविमर्शरूपाम्, तथा तुहिनप्रभां-कदम्बगोलकाकारचैतन्यप्रकाशरूपाम्, तदुक्तं श्रीत्रिकहृदये–

यह ओंकार की पंचम उन्मिषत् अवस्था होती है। यह अनुनासिक रूपा होती है। यह 'स्वस्वना' अर्थात् विमर्शमयी अन्तर्नादगर्भरूपा होती है। इसे अहं भी कहते हैं। अहं में पूरी मातृका मूर्त्ति आ जाती है

मूर्त्ति का तीसरा विशेषण 'तुहिन प्रभाम्' है। यह सारस्वत स्वरूप मातृका का ही होता है। इस प्रकार निष्कर्षत: भैरवीयोनि मूर्त्तिप्रकल्पन हंस अक्षर 'ह' कार से भी होता है क्योंकि हकार सभी मन्त्रों का अरणि रूप होता है। 'इसे सर्वमन्त्रारणि' कहते हैं।

यहाँ 'आत्मा वै हंस:' इस उदाहरण से यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है कि, यह आत्मपरामर्शक वर्ण हंस पथ में ही सतत संचार करता है। यहाँ हंसपथ भी अत्यन्त रहस्यमय पथ है, जिसके द्वारा स्वात्म केन्द्र में सतत प्रवेश होता है। 'हं' बीज से उसी केन्द्र में प्राणापानवाह के माध्यम से प्रवेश होता है। यही इसका विचलद्रूप है। यह सतत केन्द्र की ओर गतिशील है। अजपाजाप का यह माध्यम है।

इस सर्वमन्त्रारणि रूप वर्ण से सारी विद्याओं का संवेदन होता है क्योंकि यह बिन्दु के सहयोग से (सर्ववेत्तीति ब्रह्मरूपं बिन्दु:) सर्वसंवेत्ता भी माना जाता है। प्रणव पाँच प्रकार के होते हैं। इस तरह इस पंच प्रणवाधिकार परिवेश में इसे भी मन्त्रत्व अधिकार प्राप्त है। अत: सोहं मन्त्र रूप से उच्चरित होता है। यह ध्यातव्य है कि, कोई भी मूर्त्ति आपादमस्तक रूपायित होती है। इस मन्त्रमूर्त्ति में शुद्ध स्वात्म का समुल्लास अनुभूत होता है। इसलिये पूरी मातृकामूर्त्ति के साथ इसमें भी हंसमूर्त्ति की प्रकल्पना स्वयं होने लगती है।

'अनन्ते भैरवोच्छ्राये मूर्तिरेषा परापरा ।
यस्यास्तु न्यासमात्रेण अणुत्वं प्रविलीयते ।।' इति ।।३९।।

ततोऽपि–

तदूर्ध्वे सकलं देवं स्वच्छन्दं परिकल्पयेत् ।।४०।।

तदिति-चिन्मूर्तेरूर्ध्वे तत्संकोचं निमज्ज्य, अशेषवाच्यवाचकशरीरं सकलं प्राग्व्याख्याततत्त्वं, देवं स्वच्छन्दमिति- अनुग्राह्यानुग्रहाय चिन्मूर्तिभित्तिं भित्त्वेव निर्यातम्, परिकल्पयेत्-भावयेत् ।।४०।।

परिकल्पनामात्रकृत एव मूर्तिभैरवनिष्कलानां भेदः, तमाह–

ओंकारमुच्चरेत्पूर्वमघोरेभ्यो अनन्तरम् ।
अथ घोरेभ्यो समालिख्य ततोऽन्यत्तु समालिखेत् ।।४१।।

ॐकी पाँच श्रेणियों में अर्धचन्द्र सबसे ऊपर है । बिन्दु युक्त 'हकार' अर्धचन्द्र के आटोप या केवल टोप ही सही को धारण करने की प्रक्रिया में तत्पर है । आटोप उत्साह को भी कहते हैं । यह उत्साह ललाटग्रन्थि को भेदन करने में ही प्रयुक्त होता है । इसके भेदन के बाद ही अनाहत नाद क्षेत्र में प्रवेश सम्भव है । नाद क्षेत्र स्वस्वनेन ध्वन्यमान क्षेत्र है । यह ध्वनि शाश्वत अस्तित्व की स्फुरत्ता की ध्वनि मानी जाती है । वहीं से अहं विमर्श की अनुभूति का उल्लास होता है ।

तुहिन श्वेत हिम को कहते है । श्वेत स्फटिक से श्वेत रश्मियों के 'अर' उसी प्रकार विनिःसृत होते रहते हैं, जैसे कदम्बगोलक में मुलायम ऊर्ध्वमुख लघ्वङ्कुर पूरे वृत्त से निकलते हुए प्रतीत होते हैं । ये सारे लक्षण हकारात्मक मूर्त्ति में प्राप्त होते हैं । इसीलिये त्रिक हृदय में इसे परापरामूर्त्ति के रूप में स्वीकार किया गया है ।

"अन्तन्त भैरवात्मक उल्लास में इसे परापरा मूर्त्ति कहते हैं । इसके न्यासमात्र से यह कञ्चुकाञ्चित अणुत्व विलीन हो जाते है" ।।३९।।

इसी के ऊर्ध्व भाग में सकल स्वच्छन्द का परिकल्पन करना चाहिये ।।४०।।

श्लोक में तदूर्ध्व शब्द उस चिन्मूर्त्ति के ऊर्ध्व भाग का द्योतक है । उसके संकोच का निमज्जन कर समस्त वाच्य वाचकात्म विग्रहवान् सकल रूप परम तत्त्वमय देवाधिदेव भैरवाभिधान स्वच्छन्द परमेश्वर का वहीं भावन करना चाहिये । वस्तुतः यह जगत् सतत अनुग्राह्य है अर्थात् अनुग्रह करने योग्य है । भगवान् का स्वभाव ही अनुग्रह करने का है । अपने स्वभाव के कारण अपने चतुर्दिक् प्रसरित चिन्मूर्त्ति के प्रसार की भित्ति का भेदन कर अनुग्रह के उद्देश्य से ही स्वयं वे स्वच्छन्द रूप में उल्लसित हैं । उनका ही प्रकल्पन वहाँ किया जाना चाहिये ।।४०।।

घोरघोरतरेभ्यश्च सर्वतः शर्व उच्चरेत् ।
सर्वेभ्यः पदमन्यच्च नमस्ते रुद्र एव च ।।४२।।
रूपेभ्यश्च समालिख्य नमस्कारावसानकम् ।
मन्त्रराजः समाख्यातः अघोरः सुरपूजितः ।।४३।।

अत्र मन्त्रपदानां स्वरूपरक्षार्थं संहिताकार्यं न दर्शितम्, आद्यन्तस्थितप्रणव-नमस्कारवर्जं द्वात्रिंशदक्षरोऽयं श्लोकनिर्दिष्टो महामन्त्रः । अस्यायं रहस्योऽर्थः- हे परमेश्वर रुद्र-परचैतन्यस्फारानुप्रवेशान्मनो रोधनस्य अशेषपाशद्रावणस्य च हेतो । घोर-भेदाभेदात्मकसदाशिवेशादिपदोल्लासक ! शर्व-भेदमयमायीय-स्वरूपप्रकटनात् सृष्टिस्थिति-प्रलयसंहारमात्रतापादने शरणवरणरूप !

यह स्वाभाविक है कि, परिकल्पना मात्र भेदोत्पत्तिरूप या भेदोत्पत्ति का एक प्रकल्पित कारण माना जाता है । मूर्त्ति का परिकल्पन, भैरव भाव का परिकल्पन और उनके निष्कल रूप का परिकल्पन यह भेदमयता ही है । इसे अघोर मन्त्रराज के माध्यम से स्पष्ट कर रहे हैं ।

अघोर मन्त्रराज का उद्धार कर रहे हैं-

१. सर्वप्रथम 'ओंकार' का उच्चारण करना चाहिये=ओम्

२. इसके बाद अघोरेभ्यः कहना चाहिये=अघोरेभ्यो

३. पुनः अथ घोरेभ्यः लिखना चाहिये=ऽथ घोरेभ्यः

४. पुनः घोर घोरतरेभ्यः सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः

५. पुनः नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः

६. नमस्कारावसानकम् । मन्त्र में नमः रहना चाहिये । वरन् पाँचवें बिन्दु के नमस्कार को ही नमस्कारावसानक प्रतीक मानना चाहिये । इस प्रकार पूरा मन्त्र इस प्रकार बनता है-"ओम् अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोर घोरतरेभ्यः सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः नमः," उद्धृत होता है ।।४१-४३।।

यह मन्त्र प्रथम 'ओंकार' और अन्तिम 'नमः' को छोड़कर बत्तीस अक्षरों में पूरा होता है । यद्यपि यह संहिता मन्त्र है । फिर भी मन्त्र पदों का अलग प्रदर्शन करने के उद्देश्य से पृथक् -पृथक् उल्लेख किया गया है । यहाँ रहस्यात्मक मन्त्रार्थ को व्याख्यायित कर रहे हैं ।

परमशक्तिमन्त परमेश्वर हे रुद्र ! आप को नमस्कार । यहाँ आचार्य क्षेमराज ने शब्दानुसारी व्याख्या की है । उसी के अनुसार यहाँ भी वही शैली स्वीकार करना उचित है-

इत्यामन्त्रणत्रयेण व्याख्यास्यमानरूपत्रयौचित्यप्रयुक्तेन, सर्वदशाप्रदर्शनपरम् अशेषविग्रहं भगवन्तं परभैरवं सम्मुखीकृत्याह 'ते'-तव, सम्बन्धिभ्य:–रौद्रीज्येष्ठा-वामाख्यशक्तित्रयविभवरूपनानारुद्रतच्छक्तिचक्रात्मकेभ्य: संहितान्तरेऽपरापरापरापरा-नामनिरुक्तेभ्यो यथाक्रममविद्यमानं भेदमयं भेदाभेदमयं च पाशात्मकं घोरस्वरूपं

---

१. रुद्र– रुद्र की नैरुक्तिक शैली के आधार पर 'रु' का अर्थ होता है, परचैतन्य के स्फार में अनुप्रवेश से मन का रोधन करने वाला । इसी प्रकार 'द्र' का अर्थ सभी मलों के आवरण रूप पाश को विगलित करने वाला । दोनों अक्षर पदार्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, परमेश्वर रुद्र परम चैतन्य मय हैं । उनके विश्वात्म स्फार में अपने मन को समाहित करने से मनोरोध हो जाता है । साथ ही साथ उनके चिन्तन की अर्चियों से सारे पाश (जागतिक बन्धन के कारण) भस्मसात् हो जाते हैं और उनकी राख कृपा के प्रवाह में बह जाती हैं । ऐसे सर्वशक्तिमन्त परमेश्वर रुद्र को साधक सम्बोधित करता है ।

२.घोर– एक अन्य सम्बोधन में साधक की आन्तरिक पीड़ा उभर कर सामने आ गयी है । वह कहता है–हे घोर ! मेरी पीड़ा भी घोर है । आप सर्वसमर्थ हैं । घोर के प्रतीक और प्रतिरोद्धा भी हैं । आपही भेद और अभेद रूप क्रमश: ईश और सदाशिवादि पदों के उल्लासक हैं । आप ही हमारी वृत्तियों में अभेदभाव का उल्लास कर सकते है[१]।

३. शर्व– तीसरा सम्बोधन है शर्व ! यह मायीय विश्वविस्तार भेद-प्रधान है । इसके इस प्रकटन में यह प्रत्यक्षत: अनुभूत होता है कि, सृष्टि में, स्थिति में, और प्रलयात्मक संहार में कितना ताप भरा है । ऐसे तापत्रय से तप्त लोगों के लिये भगवन् ! आप शर् अर्थात् शरण प्रदान करते हैं और शरण के लिये आर्त्त भक्त को आप अनुग्रह करने के लिये वरण भी कर लेते हैं । इन तीन सम्बोधनों से यह ध्वनित है कि, वे रुद्र और घोर होते हुए भी शर्व हैं ।

४.इस प्रकार सभी विग्रहों को धारण करने में समर्थ भगवान् भैरव ही रुद्र भी हैं । घोर भी हैं और शर्व भी हैं । ऐसे सर्वसमर्थ भगवान् को साक्षात् देखकर पार्वती कह रही हैं कि, ते अर्थात् तुमसे सम्बन्धित रौद्री, ज्येष्ठा और वामा रूप तीनों शक्तियों का शाक्त उल्लास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इन शक्तियों से भी सम्बन्धित रुद्र और उनके शक्तिचक्र हैं । इस संहितात्मक मन्त्र परिवेश में साधक उनका साक्षात्कार करता है ।

१.रुद्राष्टाध्यायी स्वस्ति प्रार्थना मन्त्राध्याय: ७म: श्लोक: । यह नमस्कारावसानक मन्त्र नहीं है । यहाँ नमस्कारावसानक लिखा है ।

येषां तेभ्यः–परचैतन्यानन्दघनाद्वयमहाभैरवात्मकस्वरूपप्रत्यभिज्ञापकेभ्यः 'अघोरेभ्यः', तथा अनाश्रितसदाशिवेश्वरादिरूपभेदात्मपदप्रदेभ्यः 'अथेति'-उक्तरूपभित्ति-प्रथमानत्वाद् अनन्तरभाविभ्यः, अत एवाहन्ताच्छादितेदन्तोन्मज्जनेन आद्यरूपापेक्षया भीषणत्वात् 'घोरेभ्यः'-परचित्प्रथाभित्त्याभासिताहन्तेदन्ताभासकात्मकस्व-शक्तिदर्पणोट्टङ्कितमायादिक्षित्यन्तभेदप्रथाप्रदेभ्यः, अतिभीषणत्वात् 'घोरतरेभ्यश्च' 'रूपेभ्यः'-स्वाभावेभ्यः, एकैकस्य रूपस्य परभैरवरूपभित्तिमयत्वेन पूर्णत्वात्, 'सर्वतः'-सर्वेण रूपेण 'सर्वेभ्यः' सर्वदा-सर्वत्र सर्वसर्वात्मतया स्फुरद्भ्यः महामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तापरामर्शमयेभ्यो 'नमः'- आमन्त्रणपदपरामर्शाभिमुखी-भूतमहारुद्रशक्तित्रयस्फारविवशीभवत्पाशराशिशरीरादिकल्पितप्रमातृपद-प्रह्वीभावेन समाविशामीत्यर्थः ।

उनके नाम अपरा, परा और परापरा हैं । इनमें भेद, अभेद और भेदाभेद का उल्लास होता है । भेद और भेदाभेद ये दोनों पाश रूप हैं । अतएव घोर माने जाते हैं । किन्तु पराशक्ति अभेद अद्वय सद्भाव की प्रतीक है । अत सर्वप्रथम इसी रूप में प्रणाम कर रही हूँ ।

५.अघोरेभ्यः– महाभैरव के अभेद अद्वय सद्भाव की परचैतन्यात्मक आनन्दमयता में चिद्घन अनिर्वचनीय ऊर्जस्वल अस्तित्व का उल्लास हो रहा है । यह शाश्वत स्फुरत्ता तुम्हारे उसी अनिर्वचनीयता की परिचायिका और प्रत्यभिज्ञापिका है । तुम्हारे इन अघोर उल्लासों वाले भाव के लिये नमस्कार है ।

६.घोरेभ्यः– 'घोरेभ्यः' के पहले अथ अव्यय का प्रयोग है । यह अव्यय किसी बिन्दु से किसी नये सर्जनात्मक आरम्भ में प्रयुक्त होता है । यहाँ पर भी एक ऐसी ही स्थिति है । अघोर अद्वय अभेद सद्भाव को प्रथित करता है । उसके तुरत बाद वहाँ घोर रूप भेद सद्भाव की सृष्टि हो गयी है । अहन्ता से आच्छादित इदन्ता का उन्मज्जन हो गया है । परिणाम यह हुआ है कि, आदि रूप अघोर की अपेक्षा यह भीषणतम घोर ही आ उपस्थित हो गया है ।

इसे थोड़ी और गहरायी से समझें । वास्तव में विश्वोत्तीर्ण अवस्था में परचित् का चिन्मय चैतन्य ही प्रकाशित रहता है । वह चिदाकाशमय शिव का स्वाङ्ग होता है । वही चित्प्रकाशरूप भित्ति है । परमेश्वर का स्वात्म फलक है । उसी फलक पर अर्थात् अहन्ता की भित्ति पर विश्वालेख्य विधायी परमेश्वर में अद्भुत का उद्भव हो गया है । इदन्ता की स्फुरत्ता का उन्मिषद्भाव उद्भूत हो गया है अर्थात् आभासित हो उठा है । उस समय परमात्मा के निर्मल शाक्त मुकुर में सदाशिव से शुद्ध विद्यातक शुद्ध और माया से क्षितिपर्यन्त अशुद्ध अध्वा की भेद-प्रथा का प्रथन हो गया है ।

उक्तं च श्रीमालिनीविजये–

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून्याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराःस्मृताः ।।

यही घोर और भीषण- परमेश्वर का स्वरूप यहाँ वर्णित है। यह घोर रूप भी हम साधकों के लिये वन्दनीय है।

यह तो मात्र भीषण रूप था। इससे भी यदि भीषण हुआ तो वह अति भीषण की ही संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। इसीलिये आगे विशेष भीषण रूप की प्रार्थना की जा रही है।

७. घोरतरेभ्यश्च– घोर रूपों से भी आत्यन्तिक भीषणताओं के द्योतन के लिये 'तरप्' प्रत्यय का प्रयोग और बहुवचन प्रयोग से उनकी असंख्यता का बोध कराया गया है। अर्थात् विश्व के प्रपञ्चात्मक मंच पर जितने भीषण संघट्ट होते हैं, उनमें स्वात्म संरक्षण के लिये साधक को तत्पर रहना चाहिये। अणु और पुद्गलजीव उस भीषण के प्रभाव से बच नहीं पाते।

८.रूपेभ्यः– जिस अदृश्य सत्ता में इनके अस्तित्व का अम्बार बना रहता है, वह उनका स्वात्म भाव है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, इनकी भिति या इनके अस्तित्व का आधार वही परभैरव की चिन्मय चैतन्य सत्ता ही है। उसी का यह उल्लास भी है। अतएव अपने में पूरा भी है।

९. सर्वतः- अर्थात् सभी दृष्टियों से, अस्तित्व के ये अणु कणकण से सृजन को प्रभावित करने की क्षमता से पूर्ण हैं।

१०. सर्वेभ्यः– वे चाहें अघोर रूप में अहन्ता के उल्लास मय हों, चाहे अहन्ताच्छादित इदन्ता के उन्मिषद् रूप में हों या अहन्ता के आच्छादन के बावजूद इदन्ता के सामानाधिकरण्यमय हों, इनमें महामन्त्रवीर्यात्मकता का परामर्श रहता है। इन सभी के लिये प्रह्वीभाव का प्रकल्पन साधक को करना चाहिये।

११. नमः– सामान्यतः नमस्कार के लिये प्रयुक्त यह अव्यय यहाँ अपने विशिष्टबोध के साथ उल्लसित हो रहा है। ऊपर तीन प्रकार के सम्बोधन हैं। १.रुद्र २. घोर, ३. शर्व। इन तीनों में अपरा, परा और परापरा शक्तियों के भेद, अभेद,और भेदाभेद रूप में शाक्त विस्फार शाश्वत है। साधक इनसे प्रभावित रहता है। पाशराशि का ही परिणाम यह जीव भाव और यह शरीर है। इसमें प्रमातृ भाव का भी असत्प्रकल्पन है। साधक इस प्रपञ्च से ऊब गया है। वह समावेश क्रम से अपनी विनम्रता के माध्यम से उसी पराहन्तोल्लास में समा जाने की प्रार्थना इस 'नमः' अव्यय के द्वारा कर रहा है।

मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्वज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताःस्युःघोराः परापराः ।।
पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकाशितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ।।' इति ।

श्रीपञ्चार्थप्रमाणे तु–

'घोरेति पाशजालाख्यं पापयुक्तं भयानकम् ।
तद्येषां तु न विद्येत ह्यघोराः परिकीर्तिताः ।।
वामेश्वरादयो रुद्रा जालमूलोपरिस्थिताः ।
ते ह्यघोराः समाख्याताःशृणु घोरान्समासतः ।।
प्रोक्ता गोपतिपूर्वा ये रुद्रास्तु गहनान्तगाः ।
ते तु घोराः समाख्याता नानाभुवनवासिनः ।।
विद्येश्वराद्यनन्तान्ता महामाहेश्वराश्च ये ।
घोरघोरतरास्त्वन्ये विज्ञेयास्त्वध आश्रिताः ।।

श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्र[१] में इस सम्बन्ध में यह कहा गया है –

'विषयों में मन और इन्द्रियों के संयोग से एकदम सराबोर डूबे हुए अणुता के संकोच से ग्रस्त अणु प्राणियों को अपने आलिङ्गन में दबोच कर माया नीचे से नीचे गिराने को उद्यत रहती है । अणु भी रुद्राणु ही होते है । ये नीचे गिराने वाली और आलिङ्गनबद्ध करने वाली शक्तियाँ घोरतरा कहलाती हैं ।''

'परापरा शक्तियाँ ही घोर कहलाती हैं । ये मिश्रकर्मफल की आसक्ति से जीव भाव को ग्रस्त करती हैं । ये मुक्तिमार्ग की निरोधिकायें हैं । इनसे ग्रस्त जीव मुक्ति मार्ग की ओर अग्रसर नहीं हो सकता ।'

'तीसरे प्रकार की शक्ति का नाम पराशक्ति है । ये शक्तियाँ आणव समावेश में पड़े प्राणियों की अणुता का अन्त करती रहती हैं । सत्कर्म में प्रवृत्त कराकर शिवधाम में प्रवेश रूपी सुन्दर फल देकर अणु को अनुगृहीत करती हैं । पराशक्ति के प्रकाश रूप ऐश्वर्यलक्ष्मी के साक्षात्कार करने वाले विज्ञ और विचक्षण विद्वान् इसे परा शिवशक्ति कहते है ।'

इसी विषय का व्याख्यान पञ्चार्थ प्रमाण नामक आगमिक ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है–

---

१. श्रीमालिनी वि० तन्त्र-३/३१,३२,३३,/४-४८

एते अघोरा घोराश्च घोरघोरतरास्तथा ।
एतेष्ववस्थिता नित्यं शक्तयः पारमेश्वराः ।।
स्थितिप्रलयसर्गेषु बन्धमोक्षक्रियासु च ।
सर्वार्थप्रेरकत्वेन रूपेष्वेतेषु शक्तयः ।।
रूपेभ्य एभ्यः सर्वेभ्यो नमस्कारं करोत्यणुः ।
नमस्कारः परित्यागः कार्यकारणलक्षणः ।।'इति।।४३।।

'घोरा' यह पाशजाल का ही एक दूसरा शाक्त नाम है । यह नाम ही भयानक है । यह निश्चित सत्य है कि, पाशजाल पापयुक्त रहता ही है । इसीलिये पाशग्रस्त प्राणी संकुचित, कञ्चुकों से अंचित और पापी होते हैं । झूठे पाशजाल से जो भाग्यशाली मुक्त रहते हैं, वे अघोर रुद्र के कृपापात्र होते हैं । अघोर रुद्र की शक्ति को अघोरा या 'परा' शक्ति कहते हैं । वामेश्वरेन्द्र या वामदेव आदि रुद्र जालमूल से ऊपर रहते हैं । साधना से साधक इसी पाशजाल मूल को उखाड़ फेंकता है और शिवत्व का अधिकारी बन जाता है । वे भी अघोर कहलाते हैं ।

शास्त्रकार आगे घोर रुद्रों के सम्बन्ध में कह रहे हैं– गोपति से लेकर गहनेश पर्यन्त जितने रुद्र हैं, ये भी घोर रुद्र हैं । ये रुद्र अनेक रुद्रलोकों में निवास करते हैं । इसी तरह विश्वेश्वर से लेकर अनन्त पर्यन्त जितने रुद्र हैं, ये महामाहेश्वर कहलाते हैं ।

इनके अतिरिक्त घोरघोरतर रुद्र होते हैं । ये उक्त अघोर के अघोभाग में अवस्थित हैं । इस तरह रुद्रों के तीन भेद स्पष्ट होते हैं । १. अघोर, २. घोरतर और ३. घोर । इनके साथ ही अघोरा (परा), घोरतरा (अपरा), घोरा (परापरा) ये शक्तियाँ भी रहती हैं । ये पारमेश्वर शक्तियाँ नित्य अपने कार्य में संलग्न रहती हैं ।

सृष्टि, स्थिति और प्रलय की अवस्थाओं में तथा बन्ध और मोक्ष सम्बन्धी सक्रियता में इनकी प्रेरणा ही प्रधान रूप से प्रधान कारयित्री हेतु मानी जाती है । इसीलिये इन्हें सर्वार्थ प्रेरक शक्तियाँ कहते हैं । ये उक्त वर्णित रूपों में ही स्फुरित और सक्रिय रहती हैं ।

अणु पुरुष इन्हीं रूपों में इनका नमस्कार करता है । जाने या अनजाने इन्हीं सारी शक्तियों से प्रभावित पुरुष इनके प्रति जब नम्र होता है, तो उसके कल्याण का मार्ग ही प्रशस्त होता है । नमस्कार कार्य-कारण लक्षण रूप पाश का परित्याग ही माना जाता है । कार्य कारण भाव की गहरायी से छानबीन करनी चाहिये । साधनायें कार्य हैं और साधन कारण है । साधक कर्त्ता है और सिद्धियाँ फल हैं । इसी दृष्टि से अणु अपने उद्धार में प्रवृत्त होता है । यही नमस्कार है । सांसारिकता का परित्याग ही वास्तविकनमस्कार है ॥४१-४३॥

एवमस्य सर्वसर्वात्मकपारमेश्वरसतत्त्वमयस्य दुर्लभस्यापि भक्तिशालिभिः सततलब्धस्य महामन्त्रस्य स्वरूपमभिधाय, माहात्म्यं प्रकटयति–

सकृदुच्चारितो देवी नाशयेत्सर्वकिल्बिषम् ।
जन्मकोटीसहस्त्रैस्तु भ्रमद्भिः समुपार्जितम् ।।४४।।

शिष्याणां दीक्षासमये गुरुणा प्रयुज्यमान इति शेषः ।।४४।।

तथा–

स्मरणान्नाशयेद्देवि तमः सूर्योदयो यथा ।

तम इति–आणवं मायीयं च मलम्, तमः–अन्धकारमिव सूर्योदयो नाशयति, एवं दीक्षया तमश्च–देहाद्यभिमानरूपमज्ञानम्, स्मरणान्नाशयत्वेव स्ववाच्यभैरवदेवता-समावेशनेन शिष्याणामेव च प्रामादिकसमयाननुष्ठानकिल्बिषरूपम्, साधकानां च विघ्नरूपं तमोऽपि व्याख्यातपरमार्थवीर्यानुसंधानात्मकस्मरणमात्रादेव नाशयत्येव इत्यस्मिन् सकलभोगापवर्गप्रदे महामन्त्रे नार्थवादशङ्कया भ्रमितव्यम्,तथा च श्रीमतङ्गशास्त्रे–

उक्त विश्लेषण के द्वारा एक महत्वपूर्ण महामन्त्र के स्वरूप का ही स्पष्टीकरण हुआ है । यह सर्व सर्वात्मक परमेश्वर की समस्त तात्विकता से परिपूर्ण मन्त्र माना जाता है । यद्यपि यह परम दुर्लभ है फिर भी भक्ति से भरपूर अनन्य भक्ति सम्पन्न भक्तों के लिये सतत लब्ध है । इसीलिये इसे महामन्त्र कहते हैं । स्वरूप कथन के बाद इसके माहात्म्य के सम्बन्ध में अपने भावों का अभिव्यञ्जन कर रहे हैं–

दिव्य शक्ति स्वरूपिणी देवि पार्वती ! यह महामन्त्र अद्भुत है । एक बार के उच्चारण से ही यह समस्त किल्बिष रूप कलुष कलङ्कों का कीलन कर देता है, उन्हें नष्ट कर देता है । भले ही वे पाप करोड़ों करोड़ों जन्मों के भी उपार्जित किये हुए क्यों न हों? यह चमत्कार उस समय घटित होता है, जब दीक्षा देते समय गुरुदेव के मुखारविन्द से मकरन्दामृत के समान कर्ण कुहरों में श्रवण गोचर होकर हृदय में समा जाता है ।।४४।।

इसके अतिरिक्त भी,

यदि कोई शिष्य दीक्षोपरान्त इसका स्मरण भी कर लेता है, तो स्मृतिमात्र से ही यह सारे तमस्तोम का संहार कर देता है । उसी तरह जैसे सूर्य उदय होते ही समस्त अन्धकार का विनाश कर देता है । सूर्योदय हुआ कि, अन्धकार मिटा ।

'प्रमाणमेकं तद्वाक्यं तथ्यमीश्वरभाषितम् ।'

इत्युक्तम्, परभैरवस्फारमयैरस्मद्गुरुभिरपि तन्त्रालोकेऽभिहितम्-

'विधिवाक्यमिदं चैव नार्थवादः कदाचन ।

नार्थवादाभिरूपत्वं वाक्ये माहेश्वरे भवेत् ।।' इति ।।४४।।

तम शब्द अज्ञान-अन्धकार अर्थ में यहाँ प्रयुक्त है । अज्ञान ही मल कहलाते हैं । 'मलमज्ञानमिच्छन्ति' यह प्रसिद्ध आगमिक उक्ति है । मल तीन प्रकार के माने जाते हैं । १. आणव मल, २.कार्म मल, और ३. मायीय मल । इस प्रकार अन्धकार दो प्रकार के सिद्ध होते है । सामान्य अन्धकार सूर्योदय होते ही नष्ट हो जाता है । इसी तरह आणव और मायीय मल रूपी अज्ञान का अन्धकार दीक्षा से ही नष्ट हो जाता है ।

आणव और मायीय मलों के कारण देह सम्बन्धी अभिमान से पुद्गल पुरुषों को कड़ी जड़ता का शिकार होना पड़ता है । यह जड़ता एक प्रकार का 'तम' ही है । इसी तरह मायीय मल द्वारा प्रमाद जन्य दोष उत्पन्न होते हैं । उससे समयाचार बाधित हो जाता है और नियमानुष्ठान भङ्ग हो जाते हैं । इसी तरह साधकों के समक्ष अनेक विघ्न भी होते रहते हैं । ये सभी मोक्ष पक्ष के अन्धकार हैं ।

दीक्षा के प्रभाव से शिष्य में स्वात्म अस्तित्व के परिवेश में भैरव सद्भाव का भावन स्वाभाविक रूप होता है । यह एक प्रकार का दीक्षा द्वारा स्वात्म भैरव का ही स्मरण माना जाता है । स्वात्म में भैरव सद्भाव के स्मृत होते ही एक वैद्युतिक ऊर्जा का उल्लास घटित हो जाता है और सारे अज्ञानान्धकार ध्वस्त हो जाते हैं । इसी की उपमा सूर्योदय से नष्ट होनेवाले अन्धकार से दी गयी है । स्मृति भी यह सामान्य स्मृति नहीं होती, वरन् पारमार्थिक रूप से भैरवभाव की जो वीर्य और ओज से ऊर्जस्वल भावों की अनुसन्धानमयी स्मृति होती है । इसके प्रभाव से अनपेक्षित अन्धकार का विनाश स्वाभाविक है ।

इन तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि, यह महामन्त्र समस्त सांसारिक भोगों को उपलब्ध करा देने में और अपवर्ग सम्बन्धी अनुग्रह में सक्षम है । इसमें किसी प्रकार के अर्थवाद का आश्रय नहीं लिया गया है । यह नितान्त सत्य उक्ति है । मतङ्ग शास्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि,

"वह मन्त्रात्मक अमर वाक् एक प्रमाणवाक्य है । नितान्त सत्य है और स्वयं भगवान् के मुखारविन्द से विनिःसृत अमृतात्मक परावाक् ही बैखरी में व्यक्त है ।"

अस्य परमेश्वरस्यानुग्रहार्थं भक्तिभाजां चिन्मूर्तावेव प्रदर्शयिष्यमाणव्याप्तिकमाकारमूट्टङ्कयितुं वक्त्रमन्त्रानाह–

यकारादिवकारान्ताः संहारेण समायुताः ।।४५।।
बिन्दुमस्तकसंभिन्ना भैरवस्य मुखानि च ।

मातृकापर्यन्तवर्तित्वात् संहारेण–क्षकारेण सम्यगिति–आदौ, आयुताः–सम्बद्धाः, वेदनात्मकबिन्दुव्याप्तिसाराः–ऊर्ध्वपूर्वदक्षिणपश्चिमवाममुखानां परमव्योमवायुतेजोवारिधराशक्तिसाराणां वाचकत्वाद् भैरवीयस्वरूपप्रवेशोपायत्वाच्च भैरवस्य मुखानि एते मन्त्राः ।

आचार्य क्षेमराज ने परभैरव के विस्फार रूप से उन्मिषित विग्रहवान् भगवान् श्रीमदभिनव के सम्बन्ध में लिखा है और कहा है कि, उन्होंने अपने तान्त्रिक विश्वकोष श्रीतन्त्रालोक में लिखा है कि,

'यह साक्षात् भगवदुक्त विधिवाक्य है । यह अर्थवाद की श्रेणी में प्रकल्पनीय वचन नहीं है । भगवान् महेश्वर के वाक्यों में कभी अर्थवाद की अभिरूपता नहीं होती' अर्थात् इसमें अर्थवाद का प्रकल्पन नहीं किया जा सकता ।।४४।।

एतादृश चिदानन्देच्छा ज्ञान क्रिया प्रक्रिया के प्रवर्त्तक परमेश्वर के 'अनुग्रह' के लिये शिवभक्तियोग सम्पन्न साधकों ने अपनी धारणा में जिस आकार का प्रकल्पन किया है, वह चिन्मूर्त्ति में व्याप्त चिन्मय आकार ही है । उसमें मुख की प्रकल्पना के लिये जिन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें वक्त्रमन्त्र कहते हैं । इस भैरव व्याहृत शास्त्र में उन मन्त्रों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है–

१. यकारादिवकारान्ताः–

'य' से लेकर 'व' पर्यन्त चार अक्षर । इन अक्षरों के क्रम हिन्दी भाषा में प्रचलित क्रम के अनुसार नहीं हैं । इनका क्रम आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी के क्रम से अपनाया गया है । आकाश बीज 'ह' कार है । इसे आज्ञापद्मचक्र के वामदल में न्यस्त करते हैं । 'क्ष' को द्वितीय दल में यकारादि को स्वाधिष्ठान में न्यस्त करते हैं ।

२. संहारेण समायुताः–

संहार का अर्थ चक्रेश्वर में विलय है । 'क' से 'स' तक अक्षर 'क्ष' रूप चक्रेश्वर में संहृत हो जाते हैं । इसलिये 'क्ष' को संहार कहते हैं । संहार से संबद्ध करने पर ये पाँच वर्ण 'क्ष','य','र','व', और 'ल' के क्रम से रहस्यार्थ का अभिव्यञ्जन करते हैं ।

एतानि च-

ब्रह्मभङ्ग्या नियोज्यानि मूर्धादिचरणावधि ।।४६।।

ब्रह्मणो बृहत्त्वाद् बृंहकत्वाद् विश्वात्मन: शक्तिमूर्तेः, भङ्ग्यादण्डाकारतया, ब्रह्मणां च ईशानादीनां पञ्चानां, भङ्ग्या-विभागेन तेन प्रणवपूर्वं 'क्षं' ईशानमूर्ध्ने

---

३. बिन्दुमस्तकसंभिन्ना:-

'सर्वं वेत्ति इति बिन्दुः' इस विग्रह के अनुसार बिन्दु में विश्व वेतृत्त्व का सद्भाव व्याप्त रहता है। यही वेदनात्मक बिन्दु उक्त पाँचों वर्णों के मस्तक पर संभिन्न अर्थात् अभिव्यक्त होता है। मन्त्रोद्धार के समय इसे व्यक्त करते हैं।

४. ये पाँचों भैरवस्य अर्थात् देवाधिदेव महादेव के मुखानि अर्थात् मुख हैं। मुख का अर्थ उपाय भी होता है। यदि भैरव सद्भाव में अनुप्रवेश करना हो,तो इसका प्रयोग करने से इसमें सफलता मिल सकती है।

इनका अवस्थान क्रमश: ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और वाम मुखों में माना जाता है। इन मन्त्रों के माध्यम से भैरव की मूर्त्ति का प्रकल्पन भी हो सकता है।

इन मुखों का नियोजन ब्रह्म से मूर्धा से चरण पर्यन्त करना चाहिये। 'ब्रह्मभङ्गी' शब्द विशेषत: विचारणीय है। ब्रह्म शब्द में वृंह धातु से मनिन् प्रयय लगता है। इस धातु के वृहत् और विस्तार आदि अर्थ होते हैं। यही ब्रह्म तत्त्व विस्तार प्राप्त कर विश्व में वृंहित हो रहा है। अर्थात् यही सर्वव्यापक तत्त्व है। इसकी भङ्गी का अर्थ इसकी लहरावमयी शृंखला का स्वभाव है। इसके अनुसार यह मेरुदण्ड के आधार पर शरीर के समान विश्व शरीर को धारण करने का स्वभाववान् है। भैरव भी अपने अस्तित्व में दण्ड के समान उपवृंहित है और पाँच ब्रह्मवक्त्र के पाँच मन्त्रों से समन्वित है, जो स्वात्म में शिवादिधरान्त तत्त्वों को धारण भी करता है। सतत्त्व, समन्त्र पाँचों ब्रह्मवक्त्रों को इस तालिका में स्पष्टतया देखा जा सकता है।

वृहत् और वृंहित-भैरव ब्रह्मका समन्त्रक चित्र

तत्त्व	ब्रह्मवक्त्र	बीज	दिशा स्थान	मन्त्र
१. आकाश	ईशान	क्षं	ऊर्ध्वमुख	ॐ क्षं ईशान मूर्ध्ने
२. वायु	तत्पुरुष	यं	पूर्व	ओम् 'यं' तत्पुरुषवक्त्राय
३. तेज	अघोर	रं	दक्षिण मुख	ओम् रं अघोरहृदयाय
४. वारि	वामदेव	वं	पश्चिम मुख	ओम् वं वामदेवगुह्याय
५. धरा	सद्योजात	लं	उत्तर वक्त्र	ओम् लं सद्योजातमूर्त्तये

'यं' तत्पुरुष-वक्त्राय 'रं' अघोरहृदयाय 'वं' वामदेवगुह्याय 'लं' सद्योजातमूर्तये, इति–मूर्तिरेकत्वादेकेन मन्त्रेण दण्डाकारा अनुद्भिन्नावयवा भगवन्मूर्तिः कल्प्या ॥४६॥

अस्या विभागदर्शनार्थं वक्त्रक्षेत्रे भाविस्फुटवक्त्रविभागभित्तिभूतां कवाटभङ्गिं दर्शयति–

पुनश्चोर्ध्वं मुखं कल्प्यं प्राग्दक्षिणमथोत्तरम् ।

मुखानीति पदविभक्तिविपरिणामात् तृतीयाबहुवचनान्तमिह योज्यम्, तेन मुखैः– 'क्षंयं रंवंलं' इत्येतैः मुखमन्त्रैः पुनरिति-ब्रह्मभङ्ग्या न्यासोपरि, मुखमिति-मुखावकाशदानार्थमूर्ध्वप्रागादिकवाटे न्यसेदित्यर्थः । अत्र च 'ओं क्षं' ईशानवक्त्राय नमः इति पृथक्पृथग्न्यासः कार्यः,वक्त्राणां भिन्नत्वात् ।

इस एक दण्डकारा मूर्त्ति के इन पाँचों वक्त्रों का एक ही यह मन्त्र है । इस चित्रतालिका में मूर्त्तिका प्रकल्पन है । ऊर्ध्वमुख को मूर्धास्थानीय और वाम या अधोवक्त्र को धरा स्थानीय मानने पर शरीरवत् दण्डाकार रूप प्रत्यक्ष हो जाता है । इसलिये सद्योजात के साथ मूर्त्ति शब्द का प्रयोग करते हैं । यह ध्यातव्य है कि, यह शिवलिङ्ग ऐसा है, जिसमें किसी अङ्ग या अवयव का विकास नहीं है । इसीलिये इसे 'अनुद्भिन्न अवयवा मूर्त्ति' कहते हैं । साधक इसी भैरव मूर्त्ति की उपासना करता है । चिन्मूर्त्ति के अन्तर्गत यह शाक्त मूर्त्ति है । इसे ज्ञानवान् गुरु से जानना चाहिये ॥४५-४६॥

इसके विभागों को दिखलाने के लिये वक्त्रों के क्षेत्रों में पुनः जो स्फुरण होंगे, उस समय ये क्षेत्र भित्ति का काम करेंगे । भित्ति में प्रवेश के लिये किवाड़ियों (कपाट-कवाट) की आवश्यकता होती है । उन्हीं के प्रकल्पन की बात इन श्लोकों के माध्यम से कर रहे हैं –

आर्षवचनों के रहस्य-गर्भ अर्थ का विश्लेषण करते समय व्याकरण जन्य व्युत्पत्ति के कुछ विचित्र परिणाम देखने में आते हैं । श्लोक ४६में 'मुखानि' प्रथमान्त बहुवचन प्रयुक्त है । श्लोक सैंतालिस में पुनः मुखं पद भी प्रयुक्त है । और उसके साथ पुनः अव्यय का प्रयोग भी किया गया है । इन सन्दर्भों में अन्विति बिठलाने के लिये मुखानि का प्रथमान्त बहुवचन तृतीयान्त बहुवचन में बदल कर अर्थ की संगति को सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है । अर्थात् 'मुखैः' शब्द का प्रकल्पन कर उनके मन्त्रों से कवाट मुख की अन्विति करते हैं ।

किं च

अपरं कल्पयित्वा तु कलाभेदेन विन्यसेत् ।।४७।।
पूर्वं च दक्षिणं चैव उत्तरं पश्चिमं तथा ।
ऊर्ध्वमूर्ध्ना तु संयुक्तं क्षकारं त्वीशरूपिणम् ।।४८।।

इह

'शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान् ।
सा शक्तिर्भिद्यते भूयोभेदैः...................... ।।'

इस तरह मुखानि स्थान पर मुखैः शब्द का अर्थ 'क्षं यं रं वं लं इन मुख मन्त्रों वाले अपर भैरव मन्त्र हो जायेगा । तभी पुनः अव्यय का अन्वयार्थ होगा कि, ब्रह्मभङ्गी के अनुसार इन मन्त्रात्मक अपर भैरवार्थ प्रकल्पित मुखों के स्थान पर जो मन्त्र भैरवभट्टारक न्यस्त थे, उनके ऊपर पुनः कवाटवत् न्यास करना चाहिये । वक्त्रों के पार्थक्य के कारण उन्हीं पर मन्त्र न्यास करना चाहिये । जैसे–

पहले ऊर्ध्ववक्त्र पर 'क्षं' ईशान मूर्घ्ने' मन्त्र का प्रयोग किया गया था । अब उसमें अनुप्रवेश के लिये 'ओम् क्षं ईशानक्त्राय नमः' इस मन्त्र का न्यास करते हैं । इसी को श्लोक कहता है –

'पुनश्चोर्ध्वं मुखं कल्प्यम्' अर्थात् पूर्व दण्डाकार भैरव वपुष में कवाट मुखों का प्रकल्पन ऊर्ध्व, प्राची, दक्षिण, प्रतीची और उदीची दिशाओं के अनुसार करना चाहिये । सभी दिशाओं में सभी मुखों पर पुनः कवाटात्मक मन्त्र न्यास पृथक् पृथक् ओं यं तत्पुरुषवक्त्राय नमः, ओं रं अघोरवक्त्रहृदयायनमः, ओं वं वामदेव वक्त्राय नमः, और ओं लं सद्योजात वक्त्राय नमः मन्त्रों से करना चाहिये क्योंकि, ये सभी वक्त्र पृथक् पृथक् ही प्रकल्पित हैं ।

इसी सन्दर्भ को शास्त्रकार ने और भी स्पष्ट कर दिया है और कहा कि, इस प्रकार कवाट का प्रकल्पन और उस न्यास का विनिश्चय कर उस पर पुनः कलाभेद से भी न्यास करना चाहिये । यहाँ अपरं शब्द का अन्वय ऊपर की पंक्ति से होना चाहिये । उसकी क्रिया कल्प्यम् है । इसके तुरत बाद कल्पयित्वा के अन्वय में कुछ अनुत्तरित अर्थ छूट सा रहा है । विद्वान् अध्येता इस पर विचार करेंगे ।।४७।।

यह न्यास पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम तथा ऊर्ध्व शिरोभाग पर करना चाहिये । इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, 'क्ष'कार ईश स्वरूप अर्थात् चक्रेश्वर वर्ण है ।।४८।।

इति वक्ष्यमाणनीत्या भगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिसारस्य यथा मूर्तिग्रहणं तथा तदनुरूपं तत्तच्छक्तिस्फारमयत्वं न तु शान्तरूपत्वम्, इति दर्शनसतत्त्वमुन्मीलयितुं कवाटादि-भङ्गिषु कलापर्यायाणां शक्तीनां न्यास उच्यते, तत्र 'पाठक्रमादार्थः क्रमो बलीयान्' इति स्थित्या ऊर्ध्वमूर्ध्वरूपं पूर्वं दक्षिणमुत्तरं पश्चिमामिति क्रमेण संसारतारकत्वादन्वर्थनामा–

'तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारिणी ।
ईशानस्य कलाः पञ्च.................... ।।'

इसी ग्रन्थ में आगे यह कहा गया है कि, "शिव की एक मात्र महाशक्ति 'शिवा' है और एक मात्र अनादिमान् तत्त्व शिव हैं। शिव की वह शक्ति अनन्त भेदों में उल्लसित होती है।"

यह शास्त्र की दृष्टि है। इसके अनुसार भगवान् भैरव स्वात्मस्वातन्त्र्यशक्ति सार-सर्वस्व माने जाते हैं। इनकी मूर्त्ति का प्रकल्पन वेदनात्मक बिन्दुव्याप्ति के आधार भूत ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, वाम मुखों के रूप में की जाती है। यह निश्चित है कि, तदनुरूप उन शक्तियों का स्फार भी उसी तरह स्वाभाविक रूप से होता है। यह भैरव की स्वातन्त्र्य शक्ति का ही चमत्कार है। इसी शक्ति के उल्लास के परिणाम स्वरूप मूर्त्ति प्रकल्पन और तदनुरूप शक्तियों का स्फार शाश्वत प्रवर्त्तित है। यह उल्लास उनकी शान्त रूपता में सम्भव नहीं हो सकता।

उस शक्ति स्थान में प्रवेश के लिये कपाट की आवश्यकता होती है। इसके लिये 'कलाओं ' के न्यास की वहाँ आवश्यकता पड़ती है। इसको शास्त्र के व्याख्याकार कवाट भङ्गी की संज्ञा देते हैं। वस्तुतः कलायें भी शक्ति की विस्फार रूप ही हैं। इन्हें कला की संज्ञा शास्त्र में प्रवेश और तत्त्व में प्रवेश की दृष्टि से दी जाती है। मूलशक्तियों के ही अवान्तरस्फार पर्याय ये कलादि शक्तियाँ होती हैं। यह दार्शनिक रहस्य का निदर्शन है।

शास्त्र में एक महत्वपूर्ण न्याय का आश्रय लेना पड़ता है। शास्त्र लेखन में गद्य पद्य दोनों का आश्रय लिया जाता है। पद्य में छान्दसिकप्रतिबद्धता होती है। अतः पाठ में शब्दों का व्यतिक्रम हो जाता है। अर्थ प्रधान दृष्टि से शब्द को बदलना व्याख्याकारों के लिये अनिवार्य हो जाता है। एसे सन्दर्भों को व्यक्त करने के लिये नियम बनाया गया है। वह नियम है कि, 'पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है।' अर्थात् अर्थ व्यवस्था के लिये अर्थानुकूल पाठ कर लेना ही श्रेयस्कर होता है।

इति वक्ष्यमाणो यः कलाभेदः तेन 'क्षकारं मन्त्रमीशरूपिणम्' ईशानभट्टारकाख्यवाच्य-देवतास्फारमयमूर्ध्वं पूर्वादिकं वक्त्रं विन्यसेत्, क्षकारश्च पूर्वमित्यादि सामानाधिकरण्येनोक्तं योज्यम्, कलाभेदश्च प्रातिलोम्येनानुसंधेय इति गुरुक्रमः । एवं 'क्षं' सुतारिण्यै नमः इत्यूर्ध्वकवाटे, 'क्षं' तारयन्त्यै नमः इति पूर्वस्मिन्, यावत् 'क्षं' तारायै नमः इति पश्चिमकवाटे, ईशानव्याप्तिदर्शनाय कलान्यासः कार्यः, इति पिण्डार्थः ॥४८॥

अथ वक्त्राणि स्फुटयितुमाह–

एवं वक्त्रं चतुर्धा तु वक्त्रेष्वेव नियोजयेत् ।

इस तरह पहले क्रम ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के स्थान पर ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम कर लेना पड़ता है । सारी कलाओं का न्यास इसी क्रम से करना उत्तम है । इसे इस क्रम में देखें–

१. कुछ कलाओं की विशेषता यह होती है कि, वे संसार से उद्धार करने का उत्तरदायित्व लेकर ही प्रवृत्त होती हैं । वे तारक कलायें हैं । उनका नाम भी अन्वर्थ ही होता है । जैसे–

'क्ष' कार मन्त्र को लें । यह ईश रूप होता है । ईश की दिशा 'ईशान' मानी जाती है । ईशान भट्टारक के नाम से वाच्य ये देवता ऊर्ध्व मुख में ही न्यस्य हैं ।

ईशान की पाँच कलायें मानी जाती हैं । १. तारा, २. सुतारा, ३. तरणी, ४. तारयन्ती, ५. सुतारिणी । प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, इन कलाओं के क्रम क्या हों ? व्याख्याकार महामाहेश्वर क्षेमराज पारम्परिक सम्प्रदाय के गुरु क्रम से परिचित थे । उन्होंने लिखा है कि, ईशान की इन कलाओं को अन्त से प्रयोग में लाया जाय । इस तरह क्षं बीज के साथ सुतारिणी कला का योग कर 'क्षं' सुतारिण्यै नमः ऊर्ध्वं न्यस्यामि । यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है । एक मुख में ही पाँच कवाटों का परिकल्पन आवश्यक है । इसीलिये 'क्षं' तारयन्त्यै नमः पूर्व कवाटे के क्रम से 'क्षं तरण्यैनमः दक्षकवाटे, क्षं सुतारायै नम उत्तरकवाटे, क्षं तारायै नमः पश्चिमकवाटे मन्त्रों द्वारा ईशान व्याप्ति में ईशान कलान्यास होता है ॥४८॥

ईशान वक्त्र के उपरान्त शेष चार वक्त्रों के सम्बन्ध में कला का प्रकल्पन कैसे किया जाता है, इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं । श्लोक सैंतालिस में 'कलाभेदेन विन्यसेत्, रूप विधि का निर्देश है । उसके अनुसार चार वक्त्र मन्त्रों का विन्यास अवशिष्ट वक्त्रों पर कलाभेद को ध्यान में रख कर करना चाहिये । पुरुष की चार कलायें इस प्रकार की मानी जाती हैं–

कलाभेदेनेत्यनुवर्तते, एवमिति च ईशानकलाभेदन्यायेनैव पूर्ववक्त्रमन्त्रं 'यकारं' वक्त्रेषु चतुर्धा पूर्वादिवक्त्रनिमित्ततत्स्फुटीकरणाय चतुर्धैव कलाभेदेन योजयेत्, कलाश्चात्र–

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्ता तथैव च ।

पुरुषस्य कला एताश्चतस्रः.................. ।।'

इति वक्ष्यमाणाः, अत्रापि प्रातिलोम्येन सृष्टिक्रमेण न्यासः,तेन 'यं' शान्तायै तत्पुरुषवक्त्राय नमः, इत्यादि 'यं' निवृत्तये सद्योजातवक्त्राय नम इत्यनुसन्धेयम्, वक्त्रचतुष्टयस्य च स्फुटता भावनीया ।

पुरुषादिकलानां स्फुटभेदोल्लासकत्वात्, ऊर्ध्ववक्त्रे तु अनुद्भिन्नाकार-भेदेऽवधिमाह–

पञ्चमं यद्भवेद्वक्त्रं क्षकारेणैव निर्दिशेत् ।।४९।।

परस्वरूपस्य व्यञ्जकत्वात् संसारत्राणाच्च वक्त्रम्, एवकारेण अत्र स्फुटाकार-तानुसन्धेया, इति ध्वनति ।।४९।।

निवृत्ति, २.प्रतिष्ठा, ३.विद्या और ४.शान्ता यहाँ भी प्रतिलोम विधि अपनाकर कलाओं का सृष्टि क्रम से वक्त्रों पर न्यास किया जाता है । जैसे–पूर्ववक्त्र 'यं' कार है । इसके साथ प्रातिलोम्य विधि से शान्ता का योग कर सृष्टि क्रम से वक्त्र पर न्यास करेंगे । मन्त्र इस प्रकार बनेंगे–

१. यं शान्तायै तत्पुरुष वक्त्राय नमः ।

२. यं विद्यायै अघोरवक्त्राय नमः ।

३. यं प्रतिष्ठायै वामदेव वक्त्राय नमः ।

४. यं निवृत्यै सद्योजात वक्त्राय नमः ।

इस तरह तत्पुरुष वक्त्र मन्त्र के साथ तत्पुरुष की चार कलाओं को चार वक्त्रों पर न्यास का यह विधान पूरा होता है । इसमें वक्त्रों की स्फुटता का भी साथ ही साथ अभिव्यञ्जन होता रहता है ।

जहाँ तक ऊर्ध्व ईशान मुख का प्रश्न है, वह ऊर्ध्व होने के कारण पाँचवाँ मुख है । वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण वक्त्र है । वक्त्र की निरुक्ति 'व' से पर स्वरूप की व्यंजकता और संसार की त्राणशक्ति को ध्यान में रखकर करनी चाहिये । इस तरह ऊपर का ऊर्ध्व ईशान वक्त्र सतत रूप से परस्वरूप का व्यंजक और सृष्टि का रक्षक माना जाता है । उसमें 'क्षं' वक्त्र के विन्यास का ही विधान है ।

एवमूर्ध्ववक्त्रक्षेत्रयोः कवाटकलावक्त्रभङ्गिन्यासमुक्त्वा हृत्क्षेत्रादावघोरकलान्यासमाह–

हृदि ग्रीवांसपृष्ठे तु नाभौ च जठरे तथा ।
पृष्ठे चोरसि विन्यस्येदघोरेण यथाक्रमम् ।।५०।।

'तमा मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ।
अघोरस्य कला ह्येता अष्टौ वै वरवर्णिनि ।।'

अतः उसमें स्फुरत्ता के अनुसन्धान की अवस्था में भी–

१. क्षं शान्तायै ऊर्ध्वे तत्पुरुषवक्त्राय नमः ।

२. क्षं विद्यायै ईशाने अघोरवक्त्राय नमः ।

३. क्षं प्रतिष्ठायै ईशाने वामदेववक्त्राय नमः और

४. क्षं निवृत्त्यै ईशाने सद्योजात वक्त्राय नमः मन्त्रों से ईशान में ही स्फुरत्ताका अनुसन्धान किया जाता है। स्फुटता के अनुसन्धान की प्रक्रिया में 'क्षं' रूप वक्त्रमन्त्र के प्रयोग का आधार श्लोक ऊनचास में प्रयुक्त 'एव'कार ही माना जाता है ।।४९।।

ऊर्ध्व ईशान वक्त्र और शेष चार प्रकार के वक्त्रों में कवाट भङ्गी से कलाओं की विधिपूर्वक न्यास की बात को स्पष्ट करने के बाद हृदादिक्षेत्रों में अघोर कलान्यास का कथन कर रहे हैं ।

१. हृदय, २. ग्रीवा, ३. स्कन्ध, ४. स्कन्ध का ऊपरी पृष्ठ भाग, इसी तरह ५. नाभि, ६. जठर, ७. जठर का पृष्ठ भाग और उदर क्रम से उघोर कलाओं का यथाक्रम न्यास करना चाहिये ।।५०।।

अघोर की आठ कलायें निम्नवत् कही गयी हैं। १. तमा, २. मोहा, ३. क्षुधा, ४. निद्रा, ५. मृत्यु, ६. माया, ७. भया और ८. जरा ये आठ कलायें हैं। इन कलाओं का अघोर वक्त्र मन्त्र से उक्त अङ्गों पर न्यास करना चाहिये । जैसे–

१. ओं रं तमायै हृदयाय नमः मन्त्र से तमा अघोर कला का न्यास हृदय में करना चाहिये। श्लोक ४५ के अनुसार रं बीज अघोर वक्त्र बीज है। तमा कला है। हृदय अङ्ग है। यह प्रथम न्यास हृदय में हुआ ।

२. ओं रं मोहायै नमः ग्रीवायाम्–इससे गले में अघोर कला का न्यास हुआ ।

३. अंस प्रदेश में ॐ रं क्षुधायै नमः असंयोः मन्त्र से न्यास करना चाहिये ।

४. असं पृष्ठ में ओं रं निद्रायै नमः अंसपृष्ठे ।

५. नाभि में ओं रं मृत्यवे नमः नाभौ ।

गुह्यादिक्षेत्रे श्रीवामदेवकलान्यासमाह–

गुह्ये तथा गुदे चैव तथोर्वोर्जानुनोरपि ।
जङ्घयोश्च स्फिजोः कट्यां पार्श्वयोरुभयोरपि ।।५१।।
विन्यसेच्चैव वामेन शरीरे तु यथाक्रमम् ।

'रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रिया ।
ऋद्धिर्माया च रात्रिश्च भ्रामणी मोहनी तथा ।।
मनोन्मनी कला ह्येता वामदेवे त्रयोदश ।।'

इति वक्ष्यमाणकलाभेदात्, अघोरेण-अघोरवक्त्रमन्त्रेण यथाक्रमं विन्यसेत्, तेन 'ओं रं' तमायै हृदयाय नमः इत्यादि, 'ओं रं' जरायै नमः उदरे, इत्यन्तो न्यासः कार्यः, अघोरभट्टारकस्य संहारप्रधानत्वात् कलास्तथोचितनाम्न्यः ।।५०।। इति वक्ष्यमाणं सृष्टिप्रधानस्य श्रीवामदेवस्य कलाभेदं सृष्टिप्रधानोचिताभिधानं गुह्यादिस्थानत्रयोदशप्रकटनपरं यथाक्रमं वामेनेति श्रीवामदेववक्त्रेण न्यसेत्, तेन 'वं रजायै' नमः गुह्ये इत्यनुसंधेयम् ।।५१।।

---

६. जठर में ओं रं मायायै नमः जठरे ।

७. जठर पृष्ठ में ओं रं भयायै नमः जठर पृष्ठे ।

८. उदर में ओं रं जरायै नमः उदरे तक उक्त विधि से समन्त्रक न्यास करना चाहिये । इन कलाओं की संज्ञाओं की भयङ्करता का कारण यह है कि, अघोर भैरव भट्टारक स्वयं संहार प्रधान हैं । संहार में ऐसी कलायें ही अपना काम करती हैं ।।५०।।

वामदेव भैरव भट्टारक की तेरह कलायें प्रसिद्ध हैं । १. रजा, २. रक्षा, ३. रति, ४. काम्या, ५. तृष्णा, ६. मति, ७. क्रिया, ८. ऋद्धि, ९. माया, १०. रात्रि, ११. भ्रामणी, १२. मोहनी, १३. मनोन्मनी ये तेरह वामदेव की कलायें हैं ।

१. गुह्य, २. गुदा, ३. दो उरु, ४. दो जानु, ५. दो जङ्घा, ६. दोनों स्फिच् ७. कटि, ९. दोनों पार्श्व । ये सभी तेरह अङ्ग होते हैं । इन तेरहों पर वामदेव की तेरहों कलाओं का वामदेव वक्त्र बीज मन्त्र के साथ न्यास करना चाहिये । जैसे–'वं' वामदेव वक्त्र के साथ गुह्य अंग में न्यास करने के लिये आदि कला का योग करने पर 'वं रजायै नमः गुह्ये' मन्त्र से न्यास होना चाहिये । इसी तरह प्रत्येक अंग पर वामदेव कलाओं का न्यास करना चाहिये । अन्तिम तेरहवाँ मन्त्र 'वं मनोन्मन्यै नमः दक्षपार्श्वे' मध्य के सारे अङ्गों पर इसी प्रकार बीच की कलाओं का ऊहन करना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, वामदेव सृष्टि प्रधान भट्टारक हैं ।।५१।।

भगवतः पादादिक्षेत्रस्थ श्रीसद्योजातकलान्यासमाह–

पादौ हस्तौ तथा नासां शिरश्चैव भुजावथ ।।५२।।
सद्येन कल्पयेद्देवि सर्वमेतद्यथाक्रमम् ।

सद्येन श्रीसद्योजातमन्त्रेण, पादादीन् यथाक्रमं कल्पयेत्, अर्थात् सद्योजातकलाभिरेव, ताश्च वक्ष्यन्ते–

'सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा स्थितिः ।
सद्योजातकलास्त्वेवमष्टौ संपरिकीर्तिताः ।।'

इत्ति श्रीमत्सद्योजातस्य स्थितिपदाप्यायकत्वात् सिद्ध्यादयः कलाः, तेन 'ओं लं' सिद्ध्ये नमः दक्षिणपादे इत्यनुसंधेयम्, यद्यपि पूर्ववक्त्रमन्त्रेण वक्त्राणामुन्मीलनं

सद्योजात की आठ कलायें प्रसिद्ध हैं । ये आठों भगवान् सद्योजात के हाथ से लेकर पैर तक अधिष्ठित मानी जाती हैं । उसी प्रकार अपने शरीर में भी उनका न्यास करना चाहिये । यह न्यास सद्य से अर्थात् सद्योजात मन्त्र से करना चाहिये । इसमें जैसा क्रम अपनाया गया है, उसी क्रम से न्यास होना चाहिये ।।५२।।

सद्योजात की कलायें और उनके न्यास योग्य अङ्गों का क्रम इस प्रकार है ।

क्रमांक	अङ्ग	सद्योजातमन्त्र
१.	दक्षपाद	ओम् लं सिद्ध्यै नमः दक्षिण पादे
२.	वामपाद	ओं लं ऋद्ध्यै नमः वाम पादे
३.	दक्ष हस्त	ओं लं द्युत्यै नमः दक्ष हस्ते
४.	वाम हस्त	ओं लं लक्ष्म्यै नमः वाम हस्ते
५.	नासिका	ओं लं मेधायै नमः नासायाम्
६.	शिर	ओं लं कान्त्यै नमः शिरसि
७.	दक्ष भुजा	ओं लं सुधायै नमः दक्षबाहौ
८.	वाम भुजा	ओं लं स्थित्यै नमः वामबाहौ

सद्योजात स्थिति के आप्यायक भैरव भट्टारक हैं । इसलिये उनकी १-सिद्धि, २-ऋद्धि, ३-द्युति, ४-लक्ष्मी, ५-मेधा, ६-कान्ति, ७-सुधा और ८-स्थिति रूप कलायें भी स्थिति दशा की ही आप्यायक हैं ।

यहाँ एक मुख्य बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं–

वस्तुतः वक्त्रों के उन्मीलन का क्रम पूर्ववक्त्र से ही स्वीकृत है ।

कृतं तथापि शिर:क्षेत्रनासाक्षेत्रयो: कल्पना पुनरनेन विधिना कर्तव्या, प्रतिपदोक्तत्वात्, पादस्थसद्योजातकलानामपि नासाशिर:क्षेत्रपर्यन्तां व्याप्तिमभिदधत् 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इति भङ्ग्या शिक्षयति हस्तौ कल्पयेदिति, गृहं संमार्ष्टि इतिवत् प्रधानविधेरस्य संख्याया अविवक्षितत्वाद् अष्टादशभुजत्वस्य च वक्ष्यमाणत्वात् 'प्राजापत्या नव ग्रहा भवन्ति' इतिवत् अनागतावेक्षणरूपतन्त्रयुक्त्या दक्षवामपार्श्वगत-भुजनवकद्वयकल्पनं द्युतिलक्ष्मीभ्याम्, इति मन्तव्यम् ॥५२॥

फिर भी वक्त्र प्रकल्पन के साथ उसमें शिरोभाग और नासिका भाग की प्रकल्पना भी इसी प्रकार करनी चाहिये । सद्योजात की कलायें पादक्षेत्रीय होती हैं । फिर भी इनकी व्याप्ति सार्वत्रिक होती है, यह एक शास्त्रीय मान्यता है । शास्त्र तो यहाँ तक कहता है कि, 'सारे तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है ।' सर्व की सर्वव्यापकता स्वाभाविक है । इसी दृष्टि से श्लोक ५२-५३ में यह निर्देश दिया गया है । 'कल्पयेत्' इस क्रिया में विधि क्रिया का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया गया है ।

सामान्यत: गुरुजन घर की सफाई का निर्देश करते समय एक प्रयोग करते हैं । एक वाक्य में ही उनका आदेश होता है–'घर की सफाई करो' यह एक आदेश ऊपर नीचे सभी कक्षों से सम्बन्धित होता है । इसी तरह का यह आदेश भी है । नियम यह है कि, एक विधि सम्बन्धी प्रधान आदेश सर्वत्र लागू होता है । उसमें संख्या आदि की विवक्षा नहीं होती । घर में जितने कक्ष हैं, सब की शुचिता आवश्यक होती है । भैरव की अठारह भुजाओं की प्रकल्पना के बावजूद 'हस्तौ कल्पयेत्' से ही काम चला लिया गया है ।

एक दूसरा उदाहरण वैदिकी प्रक्रिया में प्रचलित 'प्राजापत्या नव ग्रहा भवन्ति' इस उक्ति का है । नव ग्रहों की गणना ज्योतिशास्त्र में प्रसिद्ध है । प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति रूप अग्निदेवता के अधिष्ठाता देव[१] के भी नौ ग्रह मिलकर १८ ग्रह हो जाते हैं । ठीक इसी प्रक्रिया के अनुसार भविष्यत् अदृष्ट के दर्शन की शक्ति से संपन्न तन्त्र शास्त्र के प्रवर्त्तक ने भी 'हस्तौ' इस प्रयोग में नौ दाहिने हाथ और नौ वाम की प्रकल्पना भर दी है । इस तरह दक्ष वाम हस्तौ का अर्थ लगा कर दक्ष ९ + वाम ९ =१८ अठारह हाथों का दक्ष में द्युति और वाम में लक्ष्मी के समुल्लास के प्रभाव से प्रकल्पन प्रामाणिक हो जाता है ॥५२॥

---

१. शु० यजुर्वेद काण्वसंहिता ३१।१।११

कला निर्देष्टुमाह–

तासां नामानि वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।।५३।।
तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारणी ।
ईशानस्य कलाः पञ्च निरञ्जनपदानुगाः ।।५४।।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
पुरुषस्य कला ह्येताश्चतस्रः परिकीर्तिताः ।।५५।।
तमा मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ।
अघोरस्य कला ह्येता अष्टौ वै वरवर्णिनि ।।५६।।
रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रिया ।
ऋद्धिर्माया च रात्रिश्च भ्रामिणी मोहनी तथा ।।५७।।

कलाओं का निर्देश कर रहे हैं–

उनका कहना है कि, मैं उनका यथावत् आनुपूर्वी क्रम से कथन करने जा रहा हूँ ।

१.ईशान की पाँच कलायें निर्धारित हैं । वे इस प्रकार हैं । १.तारा, २.सुतारा, ३.तरणी, ४.तारयन्ती, ५.सुतारिणी । ईशान ऊर्ध्व वक्त्र माने जाते हैं । ये निरञ्जन परम पद की ही अनुगामिनी मानी जाती है । 'निरञ्जनपदानुगा' यह विशेषण पाँचों कलाओं से सम्बद्ध है ॥५३-५४॥

२–तत्पुरुष पूर्ववक्त्र देव हैं । इनकी मात्रचार कलायें प्रसिद्ध हैं । वे इस प्रकार है । १. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या और ४. शान्ता ॥५५॥

३–अघोर (दक्षवक्त्र) भगवान् परम शक्तिशाली देव हैं । श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्र का प्रवर्त्तन इन्होंने ही किया था । अघोर मन्त्र सर्वातिशायी तेजस्वी मन्त्र माना जाना है । इनकी आठ कलायें शास्त्रों में वर्णित हैं । वे इस प्रकार है । १. तमा, २. मोहा, ३. क्षुधा, ४. निद्रा, ५. मृत्यु, ६. माया, ७. भया और ८. जरा । अघोर भट्टारक संहार प्रधान हैं । अत एव इनकी ये आठों कलायें संहार की अनुरूप संज्ञाओं वाली हैं ॥५६॥

४. वामदेव भट्टारक सृष्टि प्रधान देवता हैं । इनकी कलायें सृष्टि प्रधान नाम परक संज्ञाओं वाली हैं । वे कुल तेरह हैं और इस प्रकार हैं । १. रजा, २. रक्षा, ३. रति, ४. पाल्या, ५. काम्या, ६. तृष्णा ७. मति, ८. क्रिया, ९. ऋद्धि, १०. माया ११. रात्रि, १२. भ्रामिणी, १३. मोहनी, १४. मनोन्मनी ॥५७१/२॥

मनोन्मनी कला ह्येता　वामदेवे　त्रयोदश ।
सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा स्थितिः ।।५८।।
सद्योजातकलास्त्वेवमष्टौ　संपरिकीर्तिताः ।

यथावदिति–यथाव्याप्त्यनुसारम्, अनुपूर्वश इति-ऊर्ध्वपूर्वदक्षवामपश्चिमवक्त्र-क्रमेण, अत्र च–

'अपरा सा तनुः स्थूला षट्त्रिंशत्तत्त्वकल्पिता ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या षट्त्रिंशत्तमस्य तत्त्वस्य 'शुद्धात्मा उन्मना परम्' इति त्रिभेदत्वात् तत्त्वव्याप्त्यैव भैरवदेहन्यासः कार्यः, षोडशद्वादशदशसंख्यसोमसूर्याग्नि-कलाव्याप्त्या त्रिधाममयत्वापत्त्यर्थम्, इत्यन्ये ।।५८।।

सद्योजात स्थिति पद के आप्यायक देवता माने जाते हैं । ये पश्चिम वक्त्र से सम्बद्ध है । इनकी आठ कलाओं का क्रम इस प्रकार है । १.सिद्धि, २.लक्ष्मी, ३.ऋद्धि, ४.द्युति, ५.मेधा, ६.कान्ति, ७.सुधा और ८.स्थिति । पैर में सिद्धि ऋद्धि और हाथ में द्युति और लक्ष्मी का ही प्रभाव प्रधान रूप से मान्य है ।।५८$^{१/२}$।।

श्लोक ५३ में यथावत् अव्यय का प्रयोग किया गया है । इसका तात्पर्य उसकी तात्त्विक व्याप्ति के अनुसार ही लेना या ग्रहण करना चाहिये । इसी तरह अनुपूर्वशः का अर्थ भी ऊर्ध्व, पूर्व, दक्ष, वाम और पश्चिम वक्त्र क्रम लगाना चाहिये । यहाँ एक ऐसा रहस्यात्मक तथ्य है, जिस पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है । एक आगमिक उक्ति है–

'छत्तिस तत्त्वात्मिका दृष्टि के अनुसार शिवशक्ति प्रवर्तित जो विश्वात्मक प्रपञ्च-मय शरीर है, यह अपरा शक्ति है । अपरा का स्थूल शरीर छत्तिस तत्त्वमयी है',

इस उक्ति के अनुसार इसमें जो छत्तीसवाँ तत्त्व है, उसमें भी तीन भेद प्रकल्पित हैं । १.शुद्धात्मा, २.उन्मना, और ३.पर । इस भेदमयता के अनुसार तत्त्व-व्याप्ति का ध्यान रखकर भैरव शरीर में न्यास करना चाहिये । इसमें एक दृष्टि और है । सोलह, बारह और दश कलाओं से युक्त सूर्य, सोम और अग्नि की कलायें प्रसिद्ध हैं । अग्नि प्रमाता, सूर्य प्रमाण और सोम प्रमेय रूप तीन धामों में ही सारी व्याप्ति है । भैरव तत्त्व सब में व्याप्त सर्वधाममय तत्त्व है । इस दृष्टि से भी भैरव की व्याप्ति के अनुसार न्यास अपेक्षित है ।।५८$^{१/२}$।।

अथात्र षट्त्रिंशत्तत्त्वमये देहे सूक्ष्मव्याप्त्या परव्याप्त्या च मूर्तिन्यासं दर्शयति–

पुनश्च साधको देवि सर्वाङ्गेषु यथाक्रमम् ।।५९।।

नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च ध्रुवेण परिकल्पयेत् ।

पुनरिति-कलारूपपूर्णदेहन्यासानन्तरं यथाविभागमुक्तेषु सर्वाङ्गेषु–

'प्रकृतिः पुरुषश्चैव नियतिः काल एव च ।

माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ।।'

इति वक्ष्यमाणं नवतत्त्वं वामादिशक्तिव्याप्त्या कपालेशादिस्वच्छन्दान्तभैरवव्याव्त्या च आत्मविद्याशिवाख्यं त्रितत्त्वं शुद्धात्मोन्मनापरतत्त्वव्याप्त्या, ध्रुवेणेति सर्वमन्त्रेषु-अविचलद्व्याप्तिकेन प्रणवेन 'ओं शिवादिप्रकृत्यन्तनवतत्त्वात्मने नमः' इति प्रयोगेण–

यहाँ तक अपरा व्याप्ति के अनुसार न्यास की चर्चा की गयी थी । अब इस षट्त्रिंशतत्त्व मय शरीर में सूक्ष्म व्याप्ति और पर व्याप्ति के अनुसार मूर्त्ति न्यास का वर्णन कर रहे हैं–

भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! साधक द्वारा सभी अङ्गों में यथाक्रम नव तत्त्व और त्रितत्त्व का परिकल्पन करना चाहिये ।।५९१/२।।

श्लोक में पुनः शब्द का उपयोग किया गया है । एक बार कोई प्रक्रिया अपनाने के बाद दूसरी बार पुनः कार्य करने पर इस अव्यय का प्रयोग किया जाता है । यहाँ कलाओं से भरे पूरे शरीर में कलाओं का न्यास किया जा चुका है । अब पूरे शरीर में नव तत्त्व और त्रितत्त्व न्यास करने के लिये पुनः अव्यय प्रयुक्त है ।

त्रितत्त्व और नवतत्त्व की परिकल्पना के सन्दर्भ में पहले नवतत्त्व न्यास की चर्चा कर रहे हैं–

प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश और सदाशिव ये नौ तत्त्व सूक्ष्मतत्त्व हैं । इनकी व्याप्ति के अनुसार ही न्यास करना चाहिये । नवतत्त्व न्यास के अन्तर्गत शक्ति और शक्तिमान् तत्त्व दृष्ट्या वामा आदि नौ शक्तियों का उसी व्याप्ति के अनुसार न्यास उचित माना जाता है ।

इसी प्रकार त्रितत्त्व न्यास भी १. आत्मतत्त्व, २. विद्यातत्त्व और ३. शिवतत्त्व के अनुसार करना चाहिये । त्रितत्त्वन्यास १. शुद्धात्मा[१], २.उन्मना और ३. परतत्त्व व्याप्ति के अनुसार भी होता है ।

---

१. श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्र १/४८

'मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्ठे च हृदये.......... ।'

इति वक्ष्यमाणस्थानानुसन्धानेन कल्पयेत् 'ओं शिवतत्त्वाय नम:' इत्यादिक्रमेण, शिखान्तभ्रूमध्यहृदयेषु सृष्टिक्रमेण कल्पयेत् ॥५९॥

एवमियदन्तेन न्यासेन भगवतो भैरवभट्टारकस्य स्फुटीभावे जाते–

विद्याङ्गानि पुनर्न्यस्य तेषां मन्त्राञ्शृणु प्रिये ।।६०।।

परिपूर्णवेदनात्मतया विद्यारूपस्य भगवतो बहुरूपस्याङ्गानि ॥६०॥

श्लोक में 'ध्रुवेण' शब्द प्रयुक्त है । ध्रुव निश्चय अटल अर्थ में प्रयुक्त होता है । यह शब्द 'प्रणव' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । यहाँ इसका अर्थ प्रणव ही लिया गया है । अर्थात् प्रणव लगा कर ही मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये । यह सभी मन्त्रों को साथ, अविचलद्भाव से अनवरत स्थिर भाव से पड़ा हुआ है । अत: इसे मन्त्र के साथ हमेशा लगाना ही चाहिये । जैसे–'ॐ शिवादि प्रकृत्यन्तनवतत्त्वात्मने नम:' एक मान्त्रिक प्रयोग में ॐ लगा हुआ है । इसी मन्त्र के अंश से अन्य सभी नव स्थानों में न्यास करना चाहिये । जैसे ॐ शिवतत्त्वाय नम: मूर्ध्नि से मूर्धा में, ॐ सदाशिवतत्त्वाय नम: वक्त्रे, ॐ ईशतत्त्वाय नम: कण्ठे इत्यादिक्रम से न्यास करना चाहिये । त्रितत्त्वन्यास का सृष्टिक्रम न्यास ॐ शिवाय नम: शिखायां ॐ विद्यातत्त्वाय नम: भ्रूमध्ये और ॐ आत्मतत्त्वाय नम: हृदये, इन मन्त्रों से उन अङ्गों का स्पर्श कर करना चाहिये ॥५९ $^{1/2}$॥

इस प्रकार उक्त न्यास विधान से भैरवभट्टारक का पूरा शरीर परिकल्पित हो जाता है । साधक एक प्रकार से भैरवभट्टारक का भावात्मक साक्षात्कार कर धन्य हो उठता है । इस स्फुटीभाव के अनन्तर विद्या के अङ्गों का न्यास भी अनिवार्यत: करणीय माना जाता है । वही कह रहे हैं –

विद्याङ्गों का न्यास करना अनिवार्यत: आवश्यक माना जाता है । इन विद्याङ्गों के सम्बन्ध में 'न्यस्य' में पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग है । इसका अर्थ यह है कि, सर्वाङ्ग में नवतत्त्व त्रितत्त्व का न्यासकर मूर्त्ति को स्फुट रूप प्रदान किया जाता है । पहली क्रिया पूरीकर हे प्रिये ! उनके मन्त्रों का भी निर्देश मै यहाँ कर रहा हूँ । भगवान् पूर्णविद्यारूप हैं क्योंकि, परिपूर्ण वेदनात्मकता तो वहीं है । ऐसे परिपूर्ण वेदनात्मक सर्ववेदक भगवान् के अनन्त रूपों और अनेक अङ्गों की कल्पना करना भी भक्त साधक के लिये एक अनिवार्य विषय बन जाता है ॥६०॥

तन्मन्त्रानाह–

अघोरेभ्यो समालिख्या थ घोरेभ्यो द्वितीयकम् ।
घोरघोरतरेभ्यश्च तृतीयं परिकल्पयेत् ।।६१।।
सर्वतः शर्व सर्वेभ्यो चतुर्थं परिकल्पयेत् ।
नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः पञ्चमं च विधानतः ।।६२।।
ओंकारमुच्चरेत्पूर्वं जुं-सश्च तदनन्तरम् ।
नेत्रत्रयं प्रकल्पेत विद्यादेहस्य भामिनि ।।६३।।

अथैषाम्–

विद्याङ्गानि विजानीयाद् नामानि च निबोध मे ।
सर्वात्मा तु ब्रह्मशिरो ज्वालिनि पिङ्गलं तथा ।।६४।।

उनके मन्त्रों का ही निर्देश यहाँ कर रहे हैं –

सर्वप्रथम 'अघोरेभ्यो' लिखना चाहिये । इसे लिखने के बाद ऽथ घोरेभ्यो घोरेघोरतरेभ्यश्च सर्वत: शर्व सर्वेभ्यो नमस्ते रुद्र रूपेभ्य ओं जुंस: लिखने से विद्याङ्ग पूर्ण हो जाते हैं । इनका न्यासमन्त्र इस प्रकार बनता है–

१.	हृदि–	१. ओं अघोरेभ्य: हृदयाय नम: ।
२.	शिरसि–	२. अथ घोरेभ्य: शिरसे स्वाहा ।
३.	शिखायां–	३. घोरघोरतरेभ्य: शिखायै वषट् ।
४.	कवचाय–	४. सर्वत: शर्व सर्वेभ्य: कवचाय हुम् ।
५.	अस्त्राय–	५. नमस्ते रुद्ररूपेभ्य: अस्त्राय फट् ।
६.	नेत्रत्रयाय–	६. ओं जुंस: नैत्रत्रयाय वौषट् ।

ये छ: अङ्गों के छ: मन्त्राङ्ग या विद्याङ्ग हैं । वस्तुत: विद्याङ्ग तो पाँच ही हैं । नेत्रत्रय (ऊर्ध्व दक्षवामनेत्र) के लिये ओं जुंस: अलग से मन्त्र के अङ्ग के रूप में न्यस्त किया जाता है । यह ध्यान देने की बात है कि, उक्त मन्त्र संहिता पद्धति से नहीं वरन् पद पद्धति से ही यहाँ उल्लिखित है । मन्त्र न्यास से साधक में भैरव भाव का भावन हो जाता है । भैरव के विद्यादेह के ये अङ्ग विद्याङ्ग कहलाते हैं ॥६१-६३॥

इन विद्याङ्गों का नाम निम्नलिखित रूप से भगवान् शिव, माता पार्वती को निबोधित कर रहे हैं । हृदय पर न्यस्य मन्त्र 'सर्वात्मा' कहलाता है । सर्वात्मा लगाने पर हृदयमन्त्र १. "ओं सर्वात्मने अघोरेभ्यो हृदयाय नम:" हो जाता है । इस प्रकार २. ओं ब्रह्मशिरसेऽथ घोरेभ्य: शिरसे स्वाहा मन्त्र भी ब्रह्मशिरस् के साथ प्रयुक्त करना चाहिये । तीनों शिखामन्त्र के प्रयोग के समय भी नाम का प्रयोग करने

दुर्भेद्यं पाशुपत्यं च ज्योतीरूपं तथैव च ।

द्वात्रिंशदक्षरविद्यादेहस्य भगवतोऽवयवरूपाः–हृत् शिरः शिखा कवचम् अस्त्रं च, इति पञ्चानां पञ्च मन्त्राः, त्र्यक्षरस्तु ऊर्ध्वदक्षिणवामनेत्रत्रयस्य, अत्र च पदानां प्राग्वत् संहिताकार्यं न कृतम् ।

अत्र अनागतावेक्षणतन्त्रयुक्त्या अन्ते-नमःस्वाहादिजातिर्देया, तेन 'अघोरेभ्यो सर्वात्मने हृदयाय नमः' इत्यादिप्रयोगः कार्यः, 'दुर्भेद्यं पाशुपत्यम्' इति पदद्वयमस्त्रे योज्यम्, अत्र च 'सर्वज्ञता तृप्तिः अनादिबोधः स्वतन्त्रता अविलुप्तशक्तिः अनन्तशक्तिः' इति भगवद्गुणा एते हृदादिनेत्राङ्गतया प्रसृता इत्याम्नायः, कवचन्यासादनन्तरं नेत्रन्यासः, ततोऽस्त्रन्यासः कार्यः, अस्त्रस्य बहिरङ्गत्वात्, नेत्रमन्त्रस्य तु विद्यादेहावयवत्वाभावात् पश्चादुद्देशः कृतः, एवमासन-चिन्मूर्तिब्रह्मकवाटवक्त्रभङ्गीन्यासानन्तरं पञ्चादिकलात्मकषट्त्रिंशत्तत्त्वव्याप्त्या पञ्चभिः

का विधान अपनाना चाहिये । इस तरह इसके ज्वालिनी नाम के साथ ३. ज्वालिन्यै घोर घोरतेरभ्यः शिखायै वषट्' मन्त्र बनता है । कवचमन्त्र में पिङ्गल नाम का प्रयोग कर ४. ओं पिङ्गलाय सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः कवचाय हुम् बनेगा ।

यह सिद्धान्त है कि, कवचन्यास के बाद नेत्रत्रयन्यास करना चाहिये । नेत्रत्रय के पश्चात् अस्त्रन्यास होना चाहिये । वस्तुतः अस्त्र बाहिरङ्ग माना जाता है । प्रश्न यह होता है कि, ऐसी स्थिति में नेत्र मन्त्र के पश्चात् क्यों लिखा गया है? इसका उत्तर यह है कि, यह विद्या का अङ्ग नहीं है । इसलिये पाँचवें मन्त्र के रूप में ५."ज्योतीरूपाय ओं जुंसः नेत्रत्रयाय वौषट्" मन्त्र बनेगा । अस्त्रमन्त्र के रूप में दुर्भेद्यं पाशुपत्यं ये दोनों विशेषण नाम के रूप में प्रयुक्त होंगे । मन्त्र का 'ओं दुर्भेद्याय पाशुपत्याय नमस्ते रुद्ररूपेभ्ये ऽस्त्राय फट्' यही रूप बनता है ।

इन मन्त्रों के उद्धार में इन मुख्य बातों पर विशेष बल दिया गया है –

१. मन्त्रों के साथ उनके नाम का प्रयोग पहले करना आवश्यक है ।

२. मन्त्रों के अन्त में जाति प्रयोग आवश्यक होता है ।

३. इन मन्त्रों के साथ अपने आम्नाय के अनुसार १. सर्वज्ञता, २.तृप्ति, ३.अनादिबोध, ४.स्वतन्त्रता, ५.अविलुप्तशक्ति और ६.अनन्तशक्ति रूप भगवान् भैरव के छः गुणों का समन्वय भी किया गया है ।

४. इन विद्याङ्गों के इनके वैशिष्ट्य को ध्यान में रखकर नाम रखे गये हैं । उनका प्रयोग विद्याङ्ग के पहले होता है ।

प्रघट्टकैरष्टात्रिंशत्कलान्यासमुक्त्वा भैरवनवकव्याप्त्या नवतत्त्वन्यासं शुद्धात्मोन्मनापरतत्त्वव्याप्त्या च त्रितत्त्वन्यासमभिधाय सर्वज्ञतादिधर्मव्याप्त्याङ्गन्यास उक्तः, एवमधिष्ठात्रधिष्ठेयाशेषविश्वशरीरत्वं भगवतो बहुरूपत्वं दर्शितम् ।

---

५. ये सभी हृत्, शिर, शिखा, कवच और अस्त्र अङ्गों के लिये निर्धारित पाँच विद्याङ्ग हैं ।

६. कवच न्यास के बाद यद्यपि अस्त्र परिगणित है, फिर भी कवच के बाद नेत्रत्रय न्यास करना चाहिये । इसके लिये विद्याङ्ग नहीं है । विद्याङ्ग के स्थान पर ओं जुंसः का प्रयोग करना चाहिये ।

७. ओं ऊर्ध्वनेत्र जुं दक्षिण नेत्र के लिये और सः वाम नेत्र के लिये एक साथ ही प्रयुक्त किये जाते है ।

इन तथ्यों को इस तालिका से समझा जा सकता है –

क्रम	न्यासयोग्य अंग	विद्याङ्ग	विद्याङ्गों के नाम	जाति
१.	हृत्	अघोरेभ्यः	सर्वात्मा	नमः
२.	शिरस्	अथ घोरेभ्यः	ब्रह्मशिरस्	स्वाहा
३.	शिखा	घोरेघोरतरेभ्यः	ज्वालिनी	वषट्
४.	कवच	सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः	पिङ्गल	हुम्
५.	नेत्रत्रय	(ओं जुं सः ये विद्याङ्ग में परिगणित नहीं हैं)	ज्योतीरूप	वौषट्
६.	अस्त्र	नमस्ते रुद्र रूपेभ्यः	दुर्भेद्य पाशुपत्य	फट्

इस चित्र से पूरा अर्थ व्यक्त हो जाता है ॥६४-६५॥

इस प्रकार आसन (श्लोक३८) चिन्मूर्त्ति (३९-४०) वक्त्रमन्त्र (४५) वक्त्रभङ्गीन्यास (४६) पञ्चादिकलात्मक (४७-४८) अष्टात्रिंशत् कलान्यास (५०-५८) भैरवनवकव्याप्ति पूर्वक ९, ३ तत्त्वन्यास (५९-६०) आदि वर्णनों के उपरान्त सर्वज्ञतादि धर्मव्याप्ति (६३-६४) की सारी रहस्यमयी बातें यहाँ तक बतलायी गयी हैं । इसके परिणाम स्वरूप इस समग्र विश्वमय भैरव शरीर में अधिष्ठाता और अधिष्ठेय का ज्ञान स्वाध्यायशील व्यक्तियों को हुआ । इनके ज्ञानवर्द्धन के लिये यह उपदेश किया गया है । भगवान् रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव के अनुसार अनन्त रूपों में व्यक्त है । यह ज्ञान भी यहाँ तक व्यक्त किया गया है ।

स्वाध्याय से इस विज्ञान का ज्ञान भी साधक को हो जाता है, शक्तित्रयात्मक यह विस्फार भी आत्म, विद्या और शक्ति रूप त्रितय में ही विश्रान्त है । इसको और भी प्रकाशमान करने के लिये यहाँ शक्तिमन्त्रों के न्यास का वर्णन करने जा रहे हैं –

क्रिया ज्ञानं तथैवेच्छा तासां मन्त्रान्निबोध मे ।।६५।।

विश्वप्रसरस्य शक्तिषूपसंहारेणैव विश्रान्तिरिति क्रिया ज्ञानं चेच्छा चेति प्रक्रम: ।।६५।।

आसां क्रमेण मन्त्रामाह–

चतुर्थस्वरसंयुक्तं हान्तं बिन्दुविभूषितम् ।
क्रियाशक्तिः समाख्याता सर्वसृष्टिप्रकाशिका ।।६६।।

एवं चैतत्सर्वं त्रितयविश्रान्तमपि शक्तित्रयस्फारमयमेव, इति दर्शयितुमेतदुपरि शक्तिमन्त्रन्यासार्थमाह–

चतुर्थस्वर ईकार:, हान्तं क्षवर्णम् ।।६६।।

शकारस्य तृतीयं तु षष्ठयुक्तं सबिन्दुकम् ।
ज्ञानशक्तिः स्मृता ह्येषा प्रबोधजननी शुभा ।।६७।।

शकारस्य तृतीयं सकारं, षष्ठेन ऊकारेण संयुक्तम् ।।६७।।

शक्तियों के रूप में यह माना जाता है कि, परमेश्वर शिव,चित् आनन्द (स्वातन्त्र्य) शक्तियों से सम्पन्न है । इन दोनों शक्तियों का सविस्तार उल्लेख पहले कई माध्यमों से करने के बाद यहाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन शक्तियों का ही उल्लेख कर रहे हैं । क्रिया अर्थात् सारी विश्वविस्फार रूप सक्रियता, उनको ज्ञान करने वाली ज्ञान शक्ति तथा जिसमें सब कुछ समाहित होता है, ऐसी इच्छा शक्ति रूपी शक्तित्रितय में ही सारा विस्फार विश्रान्त होता है ।

इन शक्तियों के मन्त्रों को स्वयं भगवान् बतला रहे हैं । यह निश्चित है कि, विश्वप्रसर की विश्रान्ति शक्ति में ही होती है । अत: शक्तियों को क्रिया, ज्ञान और इच्छा रूप में ही व्यक्त किया गया है ।।६५।।

क्रियाशक्ति के मन्त्र का उद्धार–

१. चतुर्थ स्वर दीर्घ 'ई' निर्धारित है । इस स्वर समन्वित २. हान्त अक्षर क्ष दीर्घ ई से मिल कर 'क्षीं' बनता है । इस पर ३. बिन्दु के विभूषित करते हैं । इस तरह एकाक्षर मन्त्र 'क्षीं' बनता है । यह क्रिया शक्ति का प्रतीक माना जाता है । यह क्रिया शक्तिरूप मन्त्र ही समग्र सृष्टि सद्भाव प्रकाश का मन्त्र माना जाता है ।।।६६।।

ज्ञान शक्ति के मन्त्र का उद्धार इस प्रकार करते हैं । 'श'अक्षर का तृतीय वर्ण दन्त्य 'स'कार है । इसमें छठां स्वर दीर्घ 'ऊ'कार समन्वित कर बिन्दु से विभूषित करने की प्रक्रिया अपनायी जाती है । तीनों के समन्वित रूप में स्+ऊ+बिन्दु मिलकर 'सूं' बीज रूप एकाक्षर ज्ञान शक्ति का मन्त्र निष्पन्न होता है ।ज्ञानशक्ति चूँकि प्रबोध जननी होती है । अत: इस मन्त्र के जप से अज्ञान का विनाश होता है और प्रबोध रूप प्रकाश की प्राप्ति होती है, यह निश्चय सिद्धान्त है ।।६७।।

क्षादिं द्विस्वरसंभिन्नं त्रिपञ्चेन तु मूर्छितम् ।
इच्छाशक्तिः समाख्याता भैरवस्यामितात्मिका ।।६८।।

क्षकारस्य आदिवर्णं 'ह' द्विस्वरः 'आकारः' त्रिपञ्चः पञ्चदशः स्वरः 'अंकार' ॥६८॥

अथासामशेषविश्वस्वीकारिणीनां शक्तीनां यत्र विश्रान्तिः, तस्य भगवतः सर्वात्मतायामपि निष्प्रपञ्चस्य स्वच्छन्दभट्टारकस्य प्रोक्ताशेषमन्त्रोपरि न्यासाय मन्त्रमाह–

हंसाख्यो बिन्दुसंयुक्तः पष्ठस्वरविभेदितः ।
बालेन्दुनादशक्त्यन्तः स्वच्छन्दो निष्कलः स्मृतः ।।६९।।

इच्छा शक्ति के मन्त्र का उद्धार इस प्रकार होता है । १. क्षादि अर्थात् 'क्ष' अक्षर के पहले परिगणित वर्ण 'ह'कार है । २. द्विस्वर 'आ' को कहते हैं । इससे संभिन्न कर (ह+आ) हा बनता है । ३. 'हा' पद को त्रिपञ्च अर्थात् (३*५) पन्द्रहवें स्वर से मूर्च्छित अर्थात् युक्त करते हैं । पन्द्रहवाँ स्वर बिन्दु रूप 'अं' होता है । कुल मिलाकर ह+आ+ं= 'हां' रूप एकाक्षर इच्छाशक्ति मन्त्र निष्पन्न होता है । यह इच्छाशक्ति ही है । यह भैरव रूप सर्वव्यापक परमेश्वर आनन्त्य को व्यक्त करती है ॥६८॥

आगमिक रहस्यदर्शी स्वाध्याय सम्पन्न साधक यह जानता है कि, ये क्रिया, ज्ञान और इच्छा रूप शक्तियाँ स्वात्म में समग्र विश्व प्रसार को मयूराण्ड रसन्याय की तरह स्वीकार करती हैं अर्थात् समग्र विश्वप्रसार इन्हीं में उल्लसित है । इन तीनों महत्तम शक्तियों का भी एक विश्रान्ति धाम है । इस धाम को सर्वतत्त्वात्मा भगवान् भैरव के रूप में यह दर्शन स्वीकार करता है । ऐसी स्थिति में भैरव का जो निष्प्रपञ्च निष्कल स्वच्छन्द भट्टारक रूप है, उसंको शास्त्रोक्त विशिष्ट बीजमन्त्र को भी जानना चाहिये । वह मन्त्र शक्ति मन्त्रों के ऊपर भी न्यास करने योग्य होता है । उसी मन्त्र का यहाँ उद्धार कर रहे हैं–

१. 'हंस' नामक शब्द में प्रथम अक्षर 'ह' है । इसका अर्थ 'हान' होता है । दूसरा अक्षर 'स' है । इसका अर्थ समादान होता है । हानसमादान धर्म हेयोपादेय विज्ञान को कहते हैं । इसमें समग्रविश्वात्म सृष्टि और उसके संहार का अर्थ भी निहित होता है । शास्त्रकार ने एक स्थान पर कहा है कि, 'हंस' आख्य अर्थात् नामक यह

हंसाख्य इति-सर्वसृष्टिसंहारकारित्वेन हानसमादानधर्मा ।

प्रकृतिर्विकृतिश्चैव उभे षष्ठेन संयुक्तः ।'

इति वक्ष्यमाणस्थित्या आदिक्षान्तस्य विश्वस्य प्रकृतिभूतः

'नादाख्यं यत्परं बीजं............।'

इत्यादिना, परं शास्त्रेषु अभिहितानाहतध्वनिरूपः

'नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते ।

स्वयमुच्चरते देवः.......................।।'

इति वक्ष्यमणस्फारः, सततोदितानस्तमितस्फुरत्तैकसारः अनच्क-हकारः षष्ठस्वरेण ऊकारेणोन्मेषात्मकज्ञानशक्तिप्रसरात्मरूपेण अन्तर्विश्वमूर्ध्वाधोरूपतया बिभ्रता

शब्द समग्र सृष्टि और संहार कारक होने के कारण हान और समादान धर्म से समन्वित अर्थ वाला माना जाता है । 'ह' से हान अर्थात् त्याग और समादान अर्थात् ग्रहण या स्वीकार करना अर्थ हेयोपादेय विज्ञान की ओर ही संकेत करता है ।

अ से क्ष पर्यन्त मातृका नाद विश्व का उत्स है । इसके विषय में शास्त्र कहता है कि, "यह नाद ही विश्वबीज है ।" यही विश्व का प्रकृति भूत तत्त्व है । यह नाद अनाहत ध्वनिरूप ही है । इसके विषय में शास्त्र कहता है कि,

'इसका न तो कोई उच्चारयिता है और न ही इसका कोई प्रतिहन्ता ही है अर्थात् इसका कोई परावर्त्तक ही है । इस रूप में स्वयं भगवान् भैरव देव ही उच्चरित हो रहे हैं ।' अर्थात् भगवान् भैरव देव स्वयम् अनाहत ध्वनि रूप में उच्चारित शक्तिमान् परमेश्वर हैं । यह परमेश्वर का परस्फार है । यह सतत उदित रहने वाला और कभी अस्त न होने वाला ऐसा परम तत्त्व है, जिसकी स्फुरता ही परम सार अर्थात् हृदय है । ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकार कहते हैं कि,

सा स्फुरत्ता परा सत्ता देशकालाविशेषिणी[१]।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।।

अर्थात् स्फुरत्ता उसका साररूप चितिशक्त्यात्मक विमर्श है । अर्थात् चिद्विमर्शमय स्फुरण रूप है ।

इसे हम दूसरे शब्दों में अनच्क 'ह' कार कह सकते हैं । अच् समस्त स्वरों को कहते हैं । अच् से रहित अनच्क अर्थात् स्वर रहित वर्ण होता है । यहाँ हानसमादानधर्मा 'ह' अनच्क वर्ण गृहीत है । इसमें ही छठवाँ स्वर अर्थात् दीर्घ 'ऊ' कार समायोजित किया जाता है ।

१.ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १।५।१४

संवित्स्फारस्य किञ्चिदूनताभासनेन क्रियाशक्त्यासूत्रणात्मना लिपिक्रमेणापि ऊर्ध्वाधः प्रसृतशक्तिद्वयकोटिप्रकटनोट्टङ्कितशुद्धाशेषविश्वसर्गसंहारात्मसततप्रसरेण

'षष्ठं च पञ्चमं चैव तस्य देवि गुणाः स्मृताः ।'

इति वक्ष्यमाणनीत्या नादभट्टारकशक्तिरूपतया गुणभूतेन ऊर्ध्वाधः-संचारितया च चरणरूपेण विभेदितः संयोजितः ।

'ऊ' कार अत्यन्त रहस्यात्मक वर्ण है । ह्रस्व उकार उन्मेष बीज माना जाता है । उन्मेष ज्ञान शक्ति का विस्फार ही होता है । बीज से वृक्ष के उच्छलन की पहली स्फुरण शीलता का अर्थ होता है–शिव के अन्तर मे पहले ही विद्यमान विश्व का उल्लास । विश्व के उल्लास का यही क्रम है । पहले वह शिव के अन्तर में था । जैसे पीपल बीज के अन्तर में विद्यमान पीपल का वृक्ष । उन्मेष होने पर शिव के अन्तर से विश्व का उल्लास हो जाता है । श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक–

'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' के अनुसार यहाँ भी ऊर्ध्व और अधोभाव होता है । 'ह' कार ऊपर और ऊकार नीचे समायोजित होता है । यहाँ एक मर्म की बात ध्यान देने योग्य है । शिव के अन्तर का उल्लास उसके संवित्तत्त्व का ही स्फार माना जाता है । संवित् स्फार का परिणाम यह होता है, यह किञ्चित् ऊनता से अन्वित हो जाता है । दीर्घ 'ऊ' के दो अर्थ होते हैं । १–ऊनता और ऊर्मिरूपता । ये दोनों स्थितियाँ क्रिया शक्ति का आसूत्रण मानी जाती हैं ।

संवित्स्फारमय यह विश्व ऊनता से प्रभावित हो जाता है । जैसे समुद्र ऊर्मिल होता है, तो व्यक्त ऊर्मियों में भी ऊनता आ जाती है । उर्मियों का यह अमर लहराव अतिरिक्त रहते हुए भी अनतिरिक्त रहता है । उसी तरह विश्व भी शिव समुद्र में ही ऊर्मि की तरह अनतिरिक्त रह कर ही लहरा रहा है । यह सब क्रिया शक्ति का ही चमत्कार है । उन्मेष में ज्ञान शक्ति और ऊनता या ऊर्मिभाव में क्रिया शक्ति का आसूत्रण सहजतया अनुभवनीय है । यहीं से लिपि का प्रादुर्भाव है । लिपियाँ ऊर्मियों की ठहराव मात्र हैं । 'ह' प्राणात्मक ऊर्मि रूपायित हो गयी है और 'ऊ' में ऊनता ही उट्टङ्कित हैं ।

इस तरह ह् + ऊ ='हू' इस स्वरूप सत्ता में ऊर्ध्व और अधोभाव की भव्यता का उल्लास है । २–शुद्धतत्त्व से अशुद्ध ऊनतत्त्व भी रूपायित है । इसमें समस्त शुद्धाशुद्ध विश्व ओतप्रोत है । ३–और सातत्य भाव से इसमें सर्ग एवं संहार का प्रसर भी सक्रिय है । यह सातत्य मय प्रसार अनवरुद्ध भाव से अप्रतिहत गतिशील हो रहा है । इसी बात को इसी ग्रन्थ में एक दूसरे कूट के माध्यम से भी कहा गया है ।

अथ च पराभेदभूमेः किञ्चिच्चलितोऽनुग्राह्यानुग्रहाय उच्चार्यमन्त्ररूपतापादनेन उन्मुखीभूतः, बिन्दुना अशेषविश्वसामरस्यवेदनात्मना, सम्यगिति अभेदापत्त्या युक्तः, वक्ष्यमाणव्याप्तिसतत्त्वा बालेन्दुनादशक्तयो गर्भीकृतनिरोधिका-नादनादान्तव्यापिनीसमनोन्मनाप्रमेयसतत्त्वस्फारा अन्ते विश्रान्तौ यस्य, स एव

"षष्ठं अर्थात् छठाँ स्वरतत्त्व (ऊर्मिबीज) 'ऊ' कार और पाँचवाँ उन्मेष बीज 'उ' कार ये ऐसे स्वर हैं जिनमें सृष्टि के उन्मेष का और संहार बीज ऊ,उ के गुण इस भैरव बीज में विद्यमान है। भगवान् कहते हैं कि, देवि ! इनमें उक्त गुण कूट-कूट कर भरे हुए हैं।"

इसे हम दूसरे शब्दों में कह सकते है कि, स्वयं नाद भट्टारक का शाक्तस्वरूप गुणीभूत होने पर ऊर्ध्व और अधः उभयसंचार समन्वित होकर उल्लासित होते हैं। संचार के कारण ही चरण की चारमयी संज्ञा चरितार्थ होती है। यह छठवें स्वर से विभेदित अनच्क हकार का बिन्दु संयुक्त स्वच्छन्द बीज माना जाता है। इस प्रकार श्लोक ६६ में क्रिया शक्ति बीज 'क्षीं' का, श्लोक ६७ द्वारा ज्ञान शक्ति बीज 'सूं' का और श्लोक ६८ द्वारा इच्छा शक्ति बीज 'हां' का उद्धार किया गया है। इस ६९ वें श्लोक में स्वच्छन्द बीज 'हूं' का उद्धार कर यहाँ तक इसकी व्याख्या में आचार्य क्षेमराज ने पारंपर्य क्रम से प्राप्त विज्ञान का वैचक्षण्य पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

श्लोक ६९ में ही 'बालेन्दुनादसंयुक्त' विशेषण शब्द प्रयुक्त है। यह निष्कल स्वच्छन्द की विशेषता का आसूत्रण कर रहा है। सर्व प्रथम यह देखना है कि, स्वच्छन्द भैरव देव 'परा' भूमि में ही विराजमान रहते हैं। उनके शाक्त स्फुरण में अनुग्राह्य साधक भक्तवर्ग के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा उन्मिषित होती है। इसका परिणाम यह होता है कि, शैवीपरावाक् अव्यक्त पश्यन्ती दशा से मध्यमा भाव में और उच्चार्यमाण मन्त्रभाव के बैखरी रूप में मन्त्र के उन्मुखीभाव को प्राप्त कर लेती है। इसे परमेश्वर का उन्मुखीभाव माना जाता है।

इस प्रकार साधक वाक्साधना के बल पर परमेश्वर के इस उन्मुखी भूत रूप का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। वह यह देखता है कि, स्वच्छन्द भैरव के इस मन्त्रात्मक रूप में बिन्दु समवाय सम्बन्ध से उल्लसित है। इसे यह ज्ञान है कि, बिन्दु सम्पूर्ण विश्व के सामरस्य का संवेदक होता है। वहाँ अभेद भाव की भव्यता भरी रहती है। बिन्दु यह सिद्ध करता है कि, भैरव का बिन्दुविभूषित उन्मुखीभूत व्यक्त मंत्र विश्वात्मकता को अभेदभाव से आत्मसात् करता है। यह भैरव बीज का बिन्दुसंयुक्त रूप होता है।

परमेश्वर: स्वच्छन्दो निष्कल: अनाहतध्वनिपरमार्थमहामन्त्रवीर्यरूपोऽपि शिरोरूपाकारकलया षष्ठेन सकारेण च घोरतरशक्तिचक्ररूपेण ब्रह्मविष्णुरुद्रान् ब्रह्मप्रकृतिमायाण्डानि जागरस्वप्नसुषुप्तानि प्रमेयप्रमाणप्रमातॄंश्चेति सृष्टिस्थिति-संहारविलयमात्रं भेदमयं जगद् दर्शयति, व्याख्यास्यमानसतत्त्वतया बिन्द्वादिप्रमेय-परिपाट्या च घोररूपतया भेदाभेदमयेश्वरसदाशिवानाश्रितादीन् शक्त्यण्डवर्तिन:

साधना पथ के पथिक यह जानते हैं कि, आज्ञा से ऊर्ध्व यात्रा में बालचन्द्र अर्धचन्द्र के रूप में कहाँ विराजमान होता है। बिन्दु अर्धचन्द्र होते हुए नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना का प्रमेय क्रम कितना महत्त्व पूर्ण होता है। बिन्दु से विभूषित हो जाने पर वह स्वच्छन्द भैरव बीज मन्त्र के रूप में अनाहतध्वनि से भी समन्वित रहता है तथा बिन्दु भाव को शिरोधार्य करता हुआ व्यक्त होता है।

"प्रकृति और विकृति दोनों 'ऊ' रूप छठें अक्षर सकार से समन्वित हैं।" इस उक्ति के अनुसार यह सकार से समन्वित होता है। 'स'कार विभिन्न रहस्यों से भरा हुआ है। जैसे-

१. यह घोरतरशक्तिचक्र का प्रतीक है।

२. यह ब्रह्म, विष्णु और रुद्र की भेदमयता का आधार है।

३. यह ब्रह्माण्ड (पृथ्व्यण्ड), प्रकृत्यण्ड और मायाण्ड का प्रतिनिधि है।

४. यह ब्रह्म, प्रकृति और माया के साथ ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को अन्तर्भूत करता है।

५. यह प्रमेय, प्रमाण और प्रमातृभाव को भी आत्मसात् करता है।

६. यह सृष्टि, स्थिति, संहार और विलय तत्त्वों को भी आत्मसात् करता है।

इसका अर्थ है कि, इन उक्त छ: बिन्दुओं द्वारा व्यक्त भेदमयता को भी यह प्रदर्शित करता है। यह स्पष्ट है कि, भेदमयता से भरा हुआ यह विश्व विस्फार अर्थात् जगत् इस 'स' वर्ण द्वारा व्यक्त, अनुभूत और दृष्ट हो जाता है। यह सकार का घोरतर चक्रमय व्यक्तीकरण है। इसमें ऊं लगाने पर यह ज्ञान शक्ति का प्रतीक बन जाता है। इसे घोर रूप चक्र के माध्यम से भी समझा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि, शक्त्यण्ड में भेदाभेदमय ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित भट्टारक आदि का अवस्थान मान जाता है। यह तुर्य पद की दशा है। इसमें क्रमिकता का सातत्य भी रहता है। इसके परिणाम स्वरूप सर्ग, स्थिति, संहार शक्तियों से आक्रान्त जीवों को आभासित भी करता है।

तुर्यपदावस्थितान् क्रमात्क्रमं सातिशयान् सर्गस्थितिसंहारशक्त्याक्रान्तानाभासयति, उन्मनाशक्त्या तु अघोररूपशक्तिचक्रपरमार्थतयाशेषतुर्यातीतपदारोहितया स्वात्ममयीकुर्वन् मोचयति, इति भगवतो बहुरूपस्य पदार्थद्वारेण यावान् स्फारो व्याख्यात:, सोऽस्य भगवत: सर्व एव अभेदेनैवान्त: स्थित:, इत्ययं भगवान् सदा पञ्चविधकृत्यकारी अशेषशक्तिचक्रात्मकस्वातन्त्र्यशक्त्यवियुक्त: श्रीस्वच्छन्दो निष्कल इति निष्क्रान्ता अशेषा: कला: शक्तयो यस्मात्, कलनारूपात् यश्च निष्क्रान्तोऽप्रमेय इत्यर्थ:, अथ च अकारोकारमकारबिन्द्वादिकला-योगाच्चतुष्कलशब्दवाच्योऽपि वस्तुतो निष्कलानाहतध्वनिपरमार्थत्वात् निष्कल:, यद्वक्ष्यति

इसी प्रकार अघोरशक्ति चक्र का उल्लास उन्मना शक्ति के द्वारा जहाँ अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्रदर्शित करता रहता है और तुर्यातीत पद की सर्वातिशायी अवस्था में सर्व को स्वात्ममय रूप में स्वीकार करते हुए मुक्ति का द्वार खोल देता है ।

ये सारी विशेषतायें स्वच्छन्द निष्कल परमेश्वर की हैं और सभी साधक की अनुभूति के विषय हैं । जब परमेश्वर मन्त्रमयता की ओर उन्मुख होकर बीजमन्त्र के रूप में व्यक्त होते हैं, तो इस मन्त्र में भी अर्थात् हंसाख्य मन्त्र में भी ये विशेषतायें उल्लसित हो जाती हैं ।

भगवान् का यह बहुरूप विस्फार पदार्थों के माध्यम से भी अभिव्यक्त हो रहा है । यह सारा का सारा स्फार भगवान् के 'स्व' में अभेद अद्वयभाव से ही उल्लसित था, उल्लसित है और शाश्वतरूप से भविष्य में रहेगा, यह ध्रुव सत्य है ।

इन विशेषताओं के उल्लास के आधार ये परमेश्वर पाँच प्रकार के कृत्यों के कर्त्ता माने जाते हैं । वे समग्र शक्तिचक्र के संचालन के स्वातन्त्र्य से संवलित हैं । संवलित न कह कर यह कहा जाना अधिक समीचीन है कि, शक्ति स्वातन्त्र्य से अवियुक्त हैं । उनका स्वातन्त्र्य ही उनका आनन्द है और उनका आनन्द ही उनका स्वातन्त्र्य है । इसी रहस्य के कारण उन्हें स्वच्छन्द कहते हैं । स्वच्छन्द ही निष्कल हो सकता है । निष्कल अर्थात् सम्पूर्ण कलारूप शक्तियाँ उनसे ही विनि:सृत होकर उल्लसित हो रही हैं ।

'सगुणः सकलो ज्ञेयो निर्गुणो निष्कलः शिवः ।'

इत्यलं मन्त्ररहस्यप्रकटनेन, सम्प्रदायस्तु मा परिच्छेदीति किञ्चिदुन्मीलितम् । स्मृत इति भगवता श्रीकण्ठेनेश्वरेण सदाशिवेनापि पारम्र्येण स्वस्वरूपः परमेश्वरानुग्रहादेव उपलब्धः प्रणवः चतुष्कलः 'स्वच्छन्दभैरवाय नमः' इति च प्रयोगः ॥६९॥

कलायें परमेश्वर की ही शक्तियाँ हैं । निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्यादि की कल्पना वहाँ कला रूप में सम्भव है । निष्कल रूप अप्रमेय परमेश्वर में कलना की कल्पना भी अप्रकल्प्य है ।

यह कहा जा सकता है कि, ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मरूप में ओङ्कार अ,उ,म, बिन्दु रूप के विलास के साथ चतुष्कल रूप से स्वीकृत है । ऐसी दशा में क्या ओङ्कार अप्रमेय ब्रह्म का प्रतीक माना जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है । वस्तुतः 'ओम्' त्रयोदश धाम का प्रतीक होता है । यह परमार्थतः अनाहत ध्वनिरूप ही माना जाता है । इसलिये 'ओं' भी निष्कल है और अप्रमेय है । शास्त्र कहता है कि,

"सगुण सकल और निर्गुण ही निष्कल माना जाता है ।"

इस प्रकार मन्त्र के रहस्यार्थ का यह प्रकाशन सम्प्रदाय की मान्यताओं की सीमा में ही चरितार्थ है । इससे अधिक की वाचनिक प्रकल्पना से विरति यहाँ अपेक्षित है ।

श्लोक में प्रयुक्त 'स्मृतः' शब्द के विषय में कुछ विचार अपेक्षित रूप व्यक्त करने योग्य है । 'स्मृ' स्मरण अर्थ में प्रयुक्त धातु है । पहले ही सम्पन्न उपक्रम का बाद में चिन्तन या ध्यान या स्मृति होती है । वस्तुतः परमेश्वर का अनुग्रह किसी क्रिया के सम्पन्न होने का मुख्य कारण है । परमेश्वर ने अनुग्रह क्रिया सम्पन्न की । इससे श्रीकण्ठ अवतरित हुए । ईश्वर भाव में भी उल्लास अनुग्रह का ही सुफल है ।सदाशिव भाव में भी कृपा ही कारण है । पारम्पर्य से स्व के स्वरूप की उपलब्धि में भी अनुग्रह कला, श्रीकण्ठ कला, ईश्वर कला और सदाशिव कला रूप से चतुष्कलता की अनुभूति स्वाभाविक है । प्रणव की चतुष्कलता का प्रकल्पन भी अनुग्रह मूलक मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये । "ओं स्वच्छन्द भैरवाय नमः" इस मन्त्र में भी चतुष्कलता और निष्कलता की अनुभूति साथ साथ होती है । इन तथ्यों की अभिव्यक्ति मूलक अनुभूति को कहने के लिये स्मृतः शब्द ही पूर्णतया समर्थ है ॥६९॥

पूर्वपदस्य च माहात्म्यं प्रकटयति–

अस्योच्चारणमात्रेण ये युक्ताः सर्वपातकैः ।
शुद्धस्फटिकसंकाशाः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।७०।।

एतत्पूर्वव्याख्यानेनैव गतार्थम् ॥७०॥

अस्यानाहतात्मकस्वस्वरूपस्फाराणि सर्वज्ञतादिरूपाण्यङ्गान्याह-

सान्तं दीर्घस्वरैः षड्भिर्भिन्नजातिविभेदितम् ।
हृच्छिरश्च शिखा वर्म लोचनास्त्रं प्रकल्पयेत् ।।७१।।

सान्तं-हवर्णं, दीर्घस्वराः षट्-आईऊऐऔअः, एते च विसर्गमृते बिन्दुयुक्ता इत्यर्थात् जातयः-'नमः स्वाहा' इत्यादिवक्ष्यमाणाः, षडेते क्रमेण हृदयादीनां मन्त्राः ॥७१॥

'हंस' मन्त्र को ही आचार्य क्षेमराज ने यहाँ पूर्वपद कहकर कूट प्रक्रिया का आश्रय लिया है । इसका महत्त्व भी कहने में नहीं आ सकता । इसी अनिर्वचनीयता को स्पष्ट करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इसके उच्चारण मात्र से ही चमत्कार घटित हो जाता है । समस्त पातकों से युक्त घोर पातकी भी निर्दोष और निर्मल हो जाते हैं । जैसे शुद्ध स्फटिक पारदर्शी होता है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता, उसी तरह शुद्ध और निर्मल वे पापी भी हो जाते हैं, जो इस 'हंस' मन्त्र का एक बार भी उच्चारण कर लेते हैं । गीता के शब्दों में– 'साधुरेव स मन्तव्यः' के अनुसार वह उच्चारयिता पुरुष परम शुद्ध भगवद्रूप ही हो जाता है । अन्त में वह अनामय ब्रह्मपद प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है ॥७०॥

अनच्क हकार अनाहत ध्वनि का प्रतीक है । इसके स्वात्म स्वरूप का विस्फार भी विचित्र होता है । दीर्घस्वरों के साथ इसके समायोजन से ज्ञानशक्ति विस्फाररूपसर्वज्ञता एवम् अन्य रूपों के प्रभाव अङ्गों में स्फुरित होने लगते हैं । वही इस श्लोक के माध्यम से कह रहे हैं –

१. सान्तम्– 'स' वर्ण के अन्त में आने वाला वर्ण अर्थात् अनच्क हकार ।

२. दीर्घस्वरैः षड्भिः– दीर्घ स्वर छः माने जाते हैं –

१. आं, २. ईं, ३. ऊं, ४. ऐं, ५. औं और ६. अः

३. ये स्वर 'ह' कार के साथ समायोजित किये जाते हैं ।

४. छः विभिन्न जाति नामक अव्यय शब्द भी इनके साथ जुटते हैं ।

५. वे छः अङ्ग निम्नलिखित हैं– १. हृत् (हृदय) २. शिरस्, ३. शिखा ४. वर्म (कवच) ५. लोचन और ६. अस्त्र ।

प्रयोगे इतिकर्तव्यतामाह–

ओंकारो दीपनस्तेषामन्ते जातिं प्रकल्पयेत् ।
नमः स्वाहा तथा वौषट् हुं वषट् फट् क्रमेण तु ।।७२।।

तेन 'ओं हां हृदयाय नमः' इत्यादिक्रमेणैषां प्रयोगः ।।७२।।

अस्य साङ्गस्य न्यासे फलमाह–

एष भैरवराजस्तु सर्वकामार्थसाधकः ।

अशेषभोगमोक्षद इत्यर्थः । एवं चाभिदधत् श्रीसकलभट्टारक-परमीकरणरूपस्यापि अस्य भाजनं जनं प्रति पृथगनुष्ठानत्वमपि भवति, इति सूचयति, अतश्च त्रयोदशे पटले भविष्यति, अत्र च वक्त्रमन्त्राः पूर्वोक्ता एव, इति तेषां सकलभट्टारकतदङ्गवत्पदवाच्यत्वाभावाद् बीजाक्षररूपत्वमेवास्ति, इति निष्कलभट्टारकतदङ्गवद् न पुनर्वक्त्रमन्त्रान्तरैर्निष्कलीकरणं कृतं शाक्तस्फारत्वादस्य नयस्य ।

---

६. जाति नामक अव्यय शब्दों के साथ मन्त्र रूप में प्रयुक्त करने पर अङ्गों की संज्ञाओं में चतुर्थी विभक्ति होती है । इनके मान्त्रिक स्वरूप के निर्माण में ये सारे उक्त प्रकल्प अपनाये जाते हैं ।।७१।।

पूरा प्रयोग उस समय पूर्णता प्राप्त करता है, जब इन मन्त्रों के पूर्व में ओङ्कार का समायोजन होता है । 'ओं' लगा देने से मन्त्र की शक्ति उद्दीप्त होने लगती है अर्थात् मन्त्रवीर्य स्फुरित होने लगता है । जातियाँ भी छः ही होती हैं और अङ्गों में क्रमिक रूप से लगती हैं । ओङ्कार का उच्चारण कर श्लोक ७१ के अनुसार पूरा मन्त्र इस तालिका के अनुसार समझना चाहिये–

क्रम	दीपनतत्त्व	दीर्घस्वरों के साथ हकार	चतुर्थ्यन्तअङ्ग	जातियाँ
१.	ओं	हां	हृदयाय	नमः
२.	ओं	हीं	शिरसे	स्वाहा
३.	ओं	हूं	शिखायै	वषट्
४.	ओं	हैं	कवचाय	हुम्
५.	ओं	हौं	लोचनत्रयाय	वौषट्
६.	ओं	हः	अस्त्राय	फट्

इन मन्त्रों के रहस्यार्थ का स्मरण करते हुए साधक अङ्ग न्यास करता है और स्वात्मशक्ति को उद्दीप्त करता है ।।७२।।

भगवत्या मन्त्रमाह–

हरईम अकारश्च ङादिरोस्वरसंयुतः ।।७३।।
यान्त एकारसंयुक्तः षादिर्लान्तविभेदितः ।
लादिस्त्रिस्वरसंभिन्नो हंसो बिन्दुसमायुतः ।।७४।।
षष्ठस्वरसमोपेतः फट्कारान्तविकल्पितः ।
अघोरेश्वरीति विख्याता स्वच्छन्दोत्सङ्गगामिनी ।।७५।।

यहाँ इस महामन्त्र का नामकरण कर रहे हैं । यह मन्त्र 'भैरवराज' संज्ञा से विभूषित है । यह सर्व कामार्थ साधक माना जाता है । 'सर्वकाम' शब्द से भोगवादात्मकता की अनुभूति होती है तथा अर्थ शब्द से सर्वोच्च पुरुषार्थ मोक्ष की प्रतीति हो रही है । इसलिये सर्वकामार्थ शब्द से भोग का साधक यह मन्त्रराज है । इसका नाम भैरवराज मन्त्र है ।

सगुण ही सकल होता है और निर्गुण निष्कल माना जाता है, इस नियम के अनुसार सकल भट्टारक का यह परमीकरण स्वरूप है, जिसे हम भैरवराज के रूप में स्वीकार करते हैं । इस रूप के भाजन असामान्य साधक होते हैं । इसका वे पृथक् अनुष्ठान करते हैं ।

तेरहवें पटल के श्लोक में प्रणवासन पर आरूढ़ अङ्गवक्त्रों से समान्वित रूप की चर्चा की गयी है तथा परमेश्वर भैरव की पूजा का निर्देश भी किया गया है । वहाँ भी इसी पटल के श्लोक ४५ और श्लोक ७१-७२ का ही अनुसरण किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि, वक्त्रमन्त्र वही हैं, जो पूर्व में निर्दिष्ट हैं ।

प्रश्न यह है कि, इस के निष्कलीकृत रूप में और सकल भट्टारक के अङ्गवत् रूप में अन्तर को ध्यान में कैसे रखा जाय और भैरवराज मन्त्र किसे कहा जाय? इसका उत्तर स्वयम् आचार्य क्षेमराज दे रहे हैं कि, इस में पद वाच्यत्वाभावात् बीजाक्षर रूप की ही प्रधानता सर्वतोभावेन मान्य है । इसीलिये किसी अन्य वक्त्रमन्त्र का प्रकल्पन कर इसके निष्कलीकरण का प्रयास नहीं किया गया है । यह ध्यान देने की बात है कि, इस सम्प्रदाय में शाक्त स्फार ही स्वीकृत सरणि है ।

शाक्त स्फार के सन्दर्भ में सर्वप्रथम भगवती परमाम्बा के मन्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक रूप से होना चाहिये । साधक के कल्याण की दृष्टि से उसी का वर्णन कर रहे हैं –

हकाररेफावनच्कौ-अकारस्योच्चारणत्वात्, तेन हश्च रश्च ईश्च मश्च तेन 'हरईमो' मिलिताः एकं बीजम्, अकारः अ, ङादिः ङ्कारस्यादिः घः ओस्वरेणयुक्तः घो, यान्तः रेफः एकारेण युक्तः रे, षादिः शकारः लान्तेन वकारेण विभेदितः मिश्रितः श्व, लस्यादिः रेफः त्रिस्वरेण इकारेण मिश्रितः रि, हंस इत्यादिना

अ– ह,र,ई,म अकार,ङादि अक्षर 'घ' 'ओं' स्वर से संयुक्त 'घो',यान्त र एकार से संयुक्त 'रे' षादि 'श' लान्त व से विभेदित अर्थात् मिश्रित 'श्व', लादि रेफ त्रिस्वर 'इ' ये मिलकर 'रि' तथा हंस अर्थात् हकार अक्षर बिन्दु (अनुस्वार) से संयुक्त और छठें स्वर 'ऊ' से समन्वित, साथ फट् से अनवरत अन्वित जिस मन्त्र का उद्धार किया जा रहा है, यहँ अत्यन्त विख्यात देवीमन्त्र है । इसे अघोरेश्वरी कहते हैं । यह स्वच्छन्द भैरव की उत्सङ्गगामिनी देवी शक्ति मानी जाती है ॥७३-७५॥

इन तीनों श्लोकों द्वारा अघोरेश्वरी मन्त्र का उद्धार किया गया है । सर्वप्रथम हंस बीज 'ह' और 'र' दो अक्षरों का उल्लेख है । इनमें बैठा 'अ' केवल उच्चारण के लिये है । इन्हें 'ह्' और 'र' रूप में लिखकर इनके साथ दीर्घ 'ई' कार की मात्रा लगाने से ह्री द्वक्षर रूप निष्पन्न होता है । इसमें (म से अ को अर्थात् अकार को अलग करने पर) म् रूप वर्ण मिला देते हैं । यह 'ह्रीम्' बीज का उद्धार है ।

ब– श्लोक ७३ की तीसरी और चौथी पंक्ति से श्लोक ७४ की तीसरी पंक्ति तक पृथक् द्वितीय मन्त्रांश का उद्धार किया गया है । इसके अनुसार

१. अकारश्च से 'अ' स्वर लिखिये ।

२. ङादिः से 'ङ' अक्षर का पहला वर्ण 'घ्' लिखिये ।

३. ओं स्वर संयुतः के अनुसार 'घ्' में ओ स्वर मिलाइये । इस मिश्रण से 'घो' निष्पन्न होता है ।

४. यान्तः अर्थात् य के अन्त में आने वाला वर्ण 'र्' होता है ।

५. इसे ए स्वर से संयुक्त करने पर 'रे' बनता है ।

६. षादिः अर्थात् 'ष्' के पहले वाला वर्ण 'श' लिखिये ।

७. लान्त अर्थात् 'ल' के बाद का वर्ण 'व' होता है । इसे तालव्य 'श्' से मिलाने पर 'श्व' निष्पन्न होता है ।

८. लादि अक्षर 'र' माना जाता है ।

९. त्रिस्वर ह्रस्व 'इ' की मात्रा होती है । इसे 'र्' में मिलाने से 'रि' पद निष्पन्न होता है ।

इस तरह इन सबके विभेदित अर्थात् मिश्रित करने पर 'अघोरेश्वरि पद रूप मन्त्रांश निष्पन्न होता है ।

चतुष्कलस्वरूपं योजयन् सकलनिष्कलैक्यस्फारसारैषा देवीति प्रथयति, हंसः हकार: अनच् बिन्दुसमायुत: षष्ठस्वरेण ऊकारेण समोपेत: हूं, फट्कारेण अन्ते विशेषेण कल्पित: नित्यमेव क्रूरजातियुक्त: अत एव अशेषभेददाहात्मानुग्रहैकप्रवण:,

---

स– इसके बाद मन्त्र के तीसरे पद का उद्धार किया जा रहा है ।

१. श्लोक ७४ की चौथी पंक्ति में 'हंस:' शब्द का उल्लेख है । इसका अर्थ 'ह्' वर्ण है ।

२. षष्ठस्वर समोपेत: के निर्देशानुसार उसमें छठां स्वर 'ऊ' कार लगाते है और

३. बिन्दु समायुक्त: कर देते हैं । इन तांनों के योग से 'हूं' पद का उद्धार होता है ।

४. फट्कारान्त विकल्पित के अनुसार 'हूं' के साथ सातत्य भाव से 'फट्' नामक क्रूर जाति नामक अव्यय जोड़ते है ।

इस तरह अ,ब और स भागों के एकत्र उच्चारण करने पर 'ह्रीम् अघोरेश्वरि ! हूं फट्' इस मन्त्र का उद्धार इन श्लोकों द्वारा किया गया है । इस मन्त्र का अद्भुत महत्त्व है । विशिष्ट रूप से तीन चार बिन्दुओं पर अवश्य ध्यान देना चाहिये । जैसे,

१. 'ह्रीं' यह त्र्यक्षरा विद्या मानी जाती है । यों यह पृथक् रूप से महालक्ष्मी बीज भी कहा जाता है । इसको इस मन्त्र के साथ समायोजित करने से इसका महत्त्व और बढ़ जाता है ।

२. अघोर मन्त्र के जितने अन्य उल्लास हैं, वे सभी भैरव के ही उल्लास हैं । यह शक्ति सब की ईश्वरी शक्ति मानी जाती है । यह भैरव की गोद की अधिकारिणी महाशक्ति मानी जाती है ।

३. भैरव का चतुष्कल रूप बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है । इसमें सकल और निष्कल दोनों रूपों की एकता की स्फारसाररूपा यह अघोरेश्वरी शक्ति मानी जाती है । भैरव का चतुष्कल बीज 'हूं' माना जाता है । इसका प्रयोग साथ होने से इसमें अवान्तर सहित स्वात्मशिव का सच्चिद्भाव भी स्फुरित होता है । इस प्रकार हूँ चतुष्कल भैरव बीज के उल्लास से इस मन्त्र का महत्त्व और भी बढ़ जाता है ।

४. इसके साथ 'फट्' जाति का भी समायोजन किया जाता है । फट् क्रूरता की प्रक्रिया से सक्रिय जाति है । इसके कारण समग्र भेदवाद दग्ध होता रहता है । अत: केवल अनुग्रहकारिणी यह शक्ति साधकों के लिये वरदान रूप मानी जाती है । यह शक्ति अघोरशक्ति चक्र की महास्वामिनी है ।

अत एव व्याख्यातस्वरूपाघोराख्यशक्तिचक्रस्वामिनी विशेषेण ख्याता-स्फुरत्तासारतया द्योतमाना, श्रीमतः स्वच्छन्दभैरवस्योत्सङ्गगामिनी-नित्यावियुक्ता उन्मनान्त-कोर्ध्वसङ्गप्रसरसारा तत्प्रकाशप्रवणा च, इत्यर्थः ॥७५॥

अथ च आकृतिमतो भगवतोऽङ्कगताया देव्या अङ्गवक्त्राणि योजयितुमाह–

भैरवाङ्गसमोपेता वक्त्रपञ्चकसंयुता ।

भैरवशब्देन समनन्तरप्रतिपादितो मुख्यो निष्कल एवात्र विवक्षितः, तेन निष्कलाङ्गान्येव तदविभेदसाराया देव्या अङ्गानि 'वक्त्रपञ्चकसंयुता' इति सामान्योक्त्या सकल निष्कलमन्त्रैकरूपायाः श्रीदेव्याः पूर्वोक्तबीजकल्प्यानि सकलनिष्कलभट्टारकवदविभक्तान्येव वक्त्राणि ।

---

५. यह विख्यात शक्तितत्त्व नित्य उपास्य है । विशेषतः 'सा स्फुरत्ता महासत्ता' के नियमानुसार महास्फारसार स्वरूपतया विद्योतमान महाशक्ति है ।

६. यह भैरव की उत्सङ्गगामिनी है । उत्सङ्ग में शाश्वत भासमान होने के कारण यह सदा ही अवियुक्त भाव से विराजमान रहती है । साधना पथ का पथिक यह जानता है कि, समना को पारकर 'षट्त्यागात् सप्तमे लयः' उक्ति के अनुसार जब साधक ऊर्ध्व उन्मना क्षेत्र में स्वात्मसाक्षात्कार करता है, वहाँ उस सामरस्य रस के प्रसार में अघोरेश्वरी शक्ति ही उल्लसित रहती है । ऊर्ध्वस्थ शैवव्याप्ति-सद्भाव में बोध के प्रकाश के प्रसर में यह शक्ति पूरी तरह काम करती है । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिये ॥७३-७५॥

श्लोक ७६ की पहली दो अर्धालियों की व्याख्या यहाँ प्रस्तुत की गयी है । 'भैरव' शब्द की व्याख्या पहले आ चुकी है । भैरव शब्द से प्रायः निष्कल भैरव का ही अर्थ मुख्य रूप लिया जाता है । निष्कल भैरव की अङ्ग कल्पना भी निष्कल रूपा ही हो सकती है । भैरवाङ्ग समोपेता से भी भैरव भाव से अवियुक्त तदभेदभावमयी उत्सङ्गगामिनी देवी भी निष्कलाङ्गी ही सिद्ध होती है । यह पहली अर्धाली का रहस्य है ।

दूसरी अर्धाली वक्त्रपञ्चक संयुता अघोरेश्वरी का विशेषण है और सामान्य उक्ति है । पहली अर्धाली में भैरव शब्द विशेष उक्ति है । उससे निष्कल अर्थ निकलता है । वक्त्र पञ्चक से सामान्यतः सकल निष्कलमन्त्रैक रूपा देवी के पाँचों मुख जिस तरह सकल निष्कल भैरव वस्तुतः एक ही हैं, उसी तरह अविभक्त ही माने जा सकते है

अथ श्रीस्वच्छन्दभैरवरश्मिपुञ्जात्मनो भैरवाष्टकस्य मन्त्रानाह–

हान्तो यादिर्यकारान्तो रादिः षष्ठकलाविन्तः ।।७६।।
बिन्दुनादसमायोगात् कपालेशः प्रकीर्तितः ।

हस्यान्त: क्षकार: अनच् क्ष्, यस्यादि: म्, यकारस्यान्त: र्, रस्यादि: य्, तेन 'क्ष्म्र्य्' इति क्रमेण मिश्रीकृत्य षष्ठकलया ऊकारेणान्वित: बिन्दुनादाभ्यामर्धचन्द्रादेरपि स्वीकाराद् बिन्द्वर्धचन्द्रादिपरिपाट्या, सम्यगिति वक्ष्यमाणव्याख्यानुसारम्, आ- समन्तात् परतत्त्वैक्यापत्तिरूपाद् योगात्, अयं कपालेश उक्त:-मन्त्राणां मन्त्रदेवतैकात्मत्वात् एवमन्यत्र ।

ऐसी अवस्था में आचार्य क्षेमराज द्वारा लिखित 'आकृतिमतो भगवतोङ्कगताया' शब्द भ्रम में डालने वाला है । जैसे मनुष्य की अङ्गमयी आकृति होती है, इस अङ्गमयी भैरवाकृति की कल्पना समझने मात्र के लिये है । सकल अर्थात् सगुण रूप में भी भगवती अघोरश्वरी की निष्कलता और भैरव की निष्कलता बाधित नहीं होती, एक ही रहती है । एक तरफ तो वे कहते हैं कि, आकृतिमन्त भगवान् की अङ्कगता देवी के अङ्गवक्त्र की योजना के उद्देश्य से इस श्लोक का प्रवर्त्तन हो रहा है । वहीं अपनी व्याख्या में यह भी लिखते हैं कि, यहाँ मुख्यत: निष्कल भाव ही विवक्षित है । अत: अविभेदसाररहस्य रूपा देवी के निष्कलाङ्गरूपी वास्तविक अङ्ग ही प्रकल्पित करना चाहिये । सकल के अङ्ग निष्कल के अङ्ग की भले छाया हों किन्तु आकृतिमान् सगुण में वे सकलवत् ही होने चाहिये । यह रहस्य का दर्शन है । सकल निष्कल रूपों में साधक को चमत्कृत करने वाला है । इसका चिन्तन गहराई से करना अपेक्षित है ।

स्वच्छन्द भैरव रश्मिपुञ्ज से प्रकाशमान आठभैरव रूपों में समुल्लसित होते हैं । इन आठों रूपों को भैरवाष्टक कहते हैं । इनके पृथक् पृथक् मन्त्र हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, देवता भी मन्त्र रूप ही होते हैं । भैरवाष्टक के प्रथम रश्मिपुञ्ज को कपालेश भैरव कहते हैं । कपालेश भैरव के मन्त्र का उद्धार कर रहे हैं –

१. कपालेश भैरवमन्त्र–

हान्त: अर्थात् 'ह' अक्षर के अन्त में आने वाला वर्ण 'क्ष्' ; यादि: अर्थात् 'य' अक्षर के प्रारम्भ में आने वाला वर्ण 'म्' ; यकारान्त: अर्थात् 'य' अक्षर के अन्त में आने वाला 'र' ; रादि: अर्थात् 'र' के आदि का अक्षर 'य्' ; ये चार अक्षर 'क्ष् म् र् य्' सभी अनच्क अर्थात् स्वर से रहित हैं । इनको यदि स्वरों की छठीं कला अर्थात् दीर्घ ऊकार से समन्वित किया जायेगा तो एक साथ 'क्ष्म्र्यू' (क्ष् म् र् यू) पद बनेगा ॥७६॥

सान्तो बिन्दुरधो ह्यग्निः षष्ठयुक्तस्तु कीर्तितः ।।७७।।
शिखिवाहनसंज्ञस्तु ज्ञातव्योऽसौ वरानने ।

सान्तः ह्, तस्याधोऽग्निः र्, षष्ठ ऊकारः बिन्दुनादाद्युपलक्षणपरः ।।७७।।

संहारः षष्ठसंयुक्तः षडन्तेन समन्वितः ।।७८।।

संहार क्ष्,षष्ठेन स्वरेण-ऊकारेण संयुक्तः, तथा षण्णां वर्गाणांअकचटतपवर्गाणामन्तेन मकारेण अनुस्वारोच्चारणात्मना युक्तः, अर्थाद् बिन्द्वादियुक्तोऽपि ।

· इसमें बिन्दु (अनुस्वार) और नाद (अनुनासिक अर्थात् अर्धचन्द्रँ) का समायोजन करना चाहिये । बिन्दु के योग से 'क्ष्म्र्यूं' तथा अर्धचन्द्र के योग से 'क्ष्म्र्यूँ' रूप बनते हैं। ये दोनों रूप स्वीकार्य हैं ।

वस्तुतः बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी इन तीनों के बाद ही नाद की गणना साधना के सन्दर्भ में की जाती है । नाद से प्रत्यक्षतः अर्धचन्द्र अर्थ नहीं आता किन्तु बिन्दु के बाद अर्धचन्द्रमयी नादात्मकता के बोध के लिये ही नाद शब्द का प्रयोग श्लोक में किया गया है । यह 'क्ष्म्र्यूं' मन्त्र कपालेश भैरव मन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है । इसमें प्रयुक्त सभी अक्षर परतत्त्वैक्य रूप से परस्पर मिल कर मन्त्रात्मक हो जाते हैं । यही इनका समायोग माना जाता है । समायोग से ही कपालेश भैरव मन्त्र का उद्धार हो जाता है ।

२. शिखिवाहन भैरव मन्त्र–

सान्तः अर्थात् स् के अन्त में आने वाला अक्षर 'ह्' ।

बिन्दुः अर्थात् बिन्दुनाद समायोग का संकेत ।

अधो अग्निः अर्थात् ह् के नीचे अग्नि बीज रेफ ।

षष्ठ युक्तः अर्थात् 'ऊ' से समन्वित । इस तरह ह् +र् +ऊ+बिन्दु सब मिलाकर 'ह्रूं' इसरूप में मन्त्र का उद्धार होता है ।

भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, सुमुखि ! इस प्रकार उद्धार किये जाने पर इस मन्त्र का रूप 'ह्रूं' बनता है । इसे शिखिवाहन भैरव मन्त्र कहते है । यह निश्चित रूप से जानना चाहिये ।।७७।।

३. क्रोधराज भैरव मन्त्र–

संहारः अर्थात् 'क्ष्' वर्ण (स्वर रहित) । षष्ठ संयुक्तः अर्थात् छठे स्वर 'ऊ'कार से युक्त और षडन्तेन समन्वितः अर्थात् अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग छ वर्गों के अन्त में आने वाला अक्षर 'म्' होता है । इस तरह क्ष्+ऊ+म् तीनों मिलकर 'क्षूम्' मन्त्र का उद्धार करते हैं । म् का उच्चारण अनुस्वारात्मक ही होना चाहिये । यों बिन्दु नाद समायोजन से यह तीन प्रकार से लिखा जा सकता है । क्षूम्, क्षूं और क्षूँ इन तीनों रूपों में इस भैरव मन्त्र का दर्शन व जपादि समान फलप्रद हैं ।।७८।।

क्रोधराजः समाख्यातः तथान्यं कथयामि ते ।
आदिः षष्ठस्वरोपेतस्त्रिपदेन समायुतः ।।७९।।
बिन्दुमस्तकसंभिन्नो विकरालो वरानने ।

आदिः झ्, त्रिपदेन इच्छाज्ञानक्रियाव्याप्तिसारेण, अन्यत्र त्रिशूलशब्दाभिहितेन औकारेण समायुक्तः, षष्ठेन च ऊकारेणोपेतः, औकारानुसरणन्यायेनोच्चारतायुक्तः ॥७९॥

सान्तः शाद्येन संयुक्तः षष्ठस्वरयुतोऽप्यधः ।।८०।।
चतुर्दशस्वराक्रान्तो बिन्दुनादान्तभूषितः ।
मन्मथः कथितो ह्येष सुरसिद्धनमस्कृतः ।।८१।।
येनेदं तु जितं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

सान्तः ह्, शकारस्य तालव्यस्य आद्यः व्, षष्ठः ऊ, चतुर्दशस्वरः औ, एतदक्षरसंघातात्मायं मन्त्रः बिन्द्वादियुक्तः ॥८०-८१॥

---

४. विकराल भैरव मन्त्र–

आदिः अर्थात् ञ् अक्षर का पहला वर्ण झ् षष्ठस्वरोपेतः अर्थात् 'ऊ'कार रूप छठें स्वर से समन्वित त्रिपद से समायुक्त अर्थात् त्रिपदरूप इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति से समन्वित । त्रिपद से त्रिशूलाब्ज पदस्थित अपरा, परा और परापरा शक्तियों से समन्वित 'औ स्वर' से युक्त तथा बिन्दुयुक्त होने पर 'औं' युक्त । इस तरह श्लोकानुसार झ्+ऊ+औं='झूऔं' मन्त्र बनता है ।

आचार्य क्षेमराज इस अन्वय को न मानकर औकारानुसरण न्याय का आश्रय ले कर दूसरा ही अन्वय करते हैं । उनके अनुसार आदि अक्षर झ् त्रिपद अर्थात् बिन्दु युक्त औ से समन्वित होना चाहिये । इसके बाद ही षष्ठस्वरोपेत होना चाहिये । अर्थात् झ्+औं+ऊ+. होना चाहिये । इस तरह 'झौंऊं' के रूप में मन्त्रोद्धार होगा । यह क्रम उचित नहीं है । गणेश बीज मन्त्र 'गूंऔं' प्रसिद्ध है । इसी दृष्टि से श्लोकान्वय के अनुसार 'झूऔं' रूप ही विकराल भैरव मन्त्र होना चाहिये । 'झौंऊं' मन्त्र की परम्परा उस समय प्रचलित थी, ऐसा प्रतीत होता है । अन्यथा श्लोक के विपरीत आचार्य क्षेमराज कभी नहीं लिखते । जो हो, उकारेणोपेतः का अर्थ उच्चारता युक्तः करना 'औ' स्वर के 'अउ' रूप उच्चारण की नकल भर है ॥७९॥

५. मन्मथ भैरव का मन्त्र–

सान्तः 'ह्' वर्ण, शाद्येन-'श' तालव्य के आदि में पड़ने वाला वर्ण 'व्' है । ह् वर्ण व् से संयुक्त करने पर तथा नीचे छठाँ स्वर लगाने पर 'ह्वू' बनता

हररादिसमायुक्तः ऊकाराधः सबिन्दुकः ।।८२।।
मेघनादेश्वरो ह्येष भैरवः संप्रकीर्तितः ।

अकारस्य उच्चारणार्थत्वात् ह्-र्, रस्यादिना अनच्केन यकारेण युक्तः सबिन्दुकः ।।८२।।

क्षसान्तर्बिन्दुसंयुक्तः पञ्चमेन विभेदितः ।।८३।।
सोमेश्वरः समाख्यातो जन्ममृत्युविनाशनः ।

क्षसयोः क्षकारसकारयोः, अन्तर्मध्ये 'ह्' पञ्चमेन उकारेण विभेदितः उच्चार्यमन्त्ररूपतामापादितः ।

क्षादिर्यान्तसमोपेतो हान्तेनाधोनियोजितः ।।८४।।
भान्तो वादिर्लकारान्तो राद्योऽधो रुद्रयोजितः ।

है । इसमें 'औ' यह चतुर्दश स्वर समायोजित किया जाता है । बिन्दु नाद से भूषित होने पर इसका रूप 'ह्लौं' बनता है । इस मन्त्र को मन्मथ मन्त्र कहते है । यह देवताओं और सिद्धों द्वारा भी वन्दनीय मन्त्र है । इसकी जिसके द्वारा भी सिद्धि कर ली जाती है, उसके द्वारा यह सारा स्थावर जंगमात्मक जगत् जीत लिया जाता है ।।८०-८१।।

६. मेघनादेश्वर भैरव मन्त्र–

ह्+र्+रादि (य्)+ऊ+.बिन्दु इन सबके समायुक्त होने 'ह्र्यूं' बीज मन्त्र का उद्धार होता है । इस मन्त्र को मेघनादेश्वर भैरव मन्त्र कहते हैं । इस मन्त्र की महिमा शास्त्रों में वर्णित है ।।८२।।

७. सोमेश्वर भैरव मन्त्र–

क्ष् और स् और दोनों के मध्य में सान्त अर्थात् 'ह' वर्ण संयुक्त होने पर क्ष्ह्स् रूप बनता है । इसमें पञ्चम स्वर ह्रस्व उकार का समायोजन कर बिन्दु लगाने पर 'क्ष्ह्सुं' मन्त्र का उद्धार होता है । इस श्लोक में सान्त शब्द में स+सान्त दोनों अर्थ लिये गये हैं । यदि क्षसान्त बिन्दु पाठ होता तो दूसरा मन्त्र बनता । यह महत्त्वपूर्ण मन्त्र है । इसके सिद्धकर लेने पर जन्ममृत्यु से छुटकारा मिल जाता है अर्थात् व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है । यह ध्रुव सत्य है ।।८३।।

८. विद्याराज भैरव महामन्त्र–

१. क्षादिः अर्थात् क्ष का आदि वर्ण 'ह' ।

२. यान्तः अर्थात् य अक्षर के बाद में आने वाला वर्ण र् ।

बिन्द्वर्धेन्दुसमायुक्तो　　नादशक्तिसमन्वितः ॥८५॥

विद्याराजः समाख्यातो महापातकनाशनः ।

क्षादिः ह्, यस्यान्तः र्, हस्यान्तः क्ष्, भस्यान्तः म्, वस्यादिः ल्, लकारस्यान्तः व्, रस्यादिभूतं बीजं य्, अधो रुद्र ऊकारः, एवमूकारान्ता अष्टौ वर्णाः, गृहीतनादादिव्याप्तिको बिन्दुर्नवम इत्ययं-नवात्मा, महापातकनाशन इति पूर्ववत्, एते च नवमे पटले वक्ष्यमाणतत्तत्सिद्धिसाधकत्वादेवमभिधाना उक्ताः ॥८५॥

एवं च-

भैरवाष्टकमेतद्धि परिवारः प्रकीर्तितः ॥८६॥

---

३. हान्तेन अर्थात् हकार के बाद का वर्ण क्ष् के अधोनियोजित अर्थात् उसके बाद लगा हुआ वर्ण ।

४. भान्तः अर्थात् भ के बाद का वर्ण म् ।

५. वादिः अर्थात् व के पहले का वर्ण ल् ।

६. लकारान्तः अर्थात् ल् के बाद का वर्ण व् ।

७. राद्यः अर्थात् र का आदि वर्ण य् ।

८. अधो रुद्रयोजितः-अर्थात् इन उक्त सभी सात वर्णों के समवाय के अन्त में रुद्रस्वर अर्थात् दीर्घ 'ऊ' कार समायोजित करने पर 'ऊ' को मिलाकर सभी आठ वर्ण होते हैं ।

इसके बाद बिन्दु, अर्धचन्द्र और नाद इन तीनों शक्तियों से समन्वित करने पर अर्थात् नादादि व्यक्ति से समन्वित केवल बिन्दु तत्त्व से युक्त होने पर यह नवात्मा महामन्त्र निष्पन्न होता है । इसका मान्त्रिक उद्धृत रूप ह्र्क्ष्म्ल्व्यूं= ह्क्ष्म्ल्व्यूं निष्पन्न होता है । यह महापातकों का नाश करने वाला विद्याराज भैरव मन्त्र है ॥८३-८५ १/२॥

भैरवाष्टक का उक्त महाभैरव परिवार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवारों के अन्तर्गत परिगणित है । लगता है कि, यह आठ सदस्यों का ही परिवार है । पर वस्तुतः ऐसा नहीं है । करुणालय श्री परभैरव संसारी जनों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये रहस्यमय अपने तेजः पुञ्ज से इन आठ आकारों में साकार रूपतया भासमान होते हैं । सूर्य जैसे साकार रश्मिपुञ्ज रूप में भासमान है । ऐसे ही ये आठों भैरव भी पर भैरव प्रकाशांश रूप में सक्रिय हैं । यही भैरवाष्टक के रूप में भी परिगणित हैं ।

संसार्यनुग्रहाय गृहीताकारस्य परभैरवस्य रश्मिपुञ्जस्थानीयमेतद्भैरवाष्टकं द्वितीयपटले प्रदर्शयिष्यमाणध्यानस्वरूपम् ॥८६॥

जगदधिष्ठातॄणां लोकपालानां भगवच्छक्तिरूपकपालेशाद्यधिष्ठितानां तद्व्याप्त्यै लोकोत्तरया पूज्यानां मन्त्रान् वक्तुमाह-

लोकपालांस्तथोद्धृत्य स्वनामप्रणवादिकान् ।
नमस्कारावसानांश्च सास्त्रान्संपरिकल्पयेत् ।।८७।।

स्वनाम्ना प्रणव आदिर्येषामिति विग्रहः, सास्त्रानित्यनेन-अस्त्राणि न पृथगावरणतया कल्पयेत्; अपि तु 'ओं इन्द्राय वज्रहस्ताय नमः' इत्यादि क्रमेण अग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायु-कुबेरईशानान् शक्तिदण्डखड्गपाशध्वज-गदात्रिशूलहस्तांश्चतुर्थ्यन्तान् प्रणवादिनमस्कारान्तान् एकावरणतया कल्पयेत्, इति शिक्षयति

यहाँ दो सूचनायें अपेक्षित हैं । इनके सम्बन्ध में ही ये हैं–

१. द्वितीय पटल में इनके ध्यान के स्वरूप में विशदवर्णन किया गया है ।

२. नवें पटल में यह स्पष्ट किया गया है कि, ये विविध सिद्धियों के साधक हैं । इसी साधकता के आधार पर ही इनके नाम भी इनके गुणों के अनुसार ही निर्धारित किये गये हैं ॥८६॥

इसके बाद लोकपालों के मन्त्रों का वर्णन किया जा रहा है । लोकपाल इस विश्व के अधिष्ठाता माने जाते हैं । ये सभी परभैरव स्फार रश्मिपुंज के साकार विग्रह कपालेश आदि भैरवों से अधिष्ठित होते हैं । उनकी व्याप्ति के कारण ही ये लोक में लोकोत्तर रूप से पूज्य माने जाते हैं । इन लोकपालों के भी विशिष्ट मन्त्र हैं । उन्हीं का वर्णन यहाँ अभीष्ट है–

लोकपालों के उनके अपने अपने उद्घृत नाम, उनके साथ समायोजनीय प्रणव, उनके साथ अन्त में प्रयुक्त नमः, जिनके साथ अस्त्र भी परिगणित रहते हैं । इन सबके परिकल्पन का निर्देश भगवान् स्वयम् दे रहे हैं ॥८७॥

श्लोक में जिनके नाम के पहले प्रणव आवश्यक है, यह स्पष्ट कर दिया गया है । अन्त में 'सास्त्रान्' प्रयोग के माध्यम से यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, इनके नाम के साथ इनके अस्त्रों का प्रयोग भी मन्त्र में रहेगा । पृथक् आवरण के रूप में अस्त्र का प्रयोग नहीं होगा । इस तरह पहले प्रणव, लोकपाल और उनके अस्त्र, दोनों में चतुर्थी विभक्ति के रूप और अन्त में नमः योजित करने पर लोकपालाष्टक मन्त्रों का उद्धार हो जाता है । सभी लोकपालों के मन्त्र यहाँ इन्द्र के उदाहरण के साथ प्रस्तुत हैं ।

'भैरवाष्टकरूपेण ध्यातव्या....................।'

इति वक्ष्यमाणत्वादिह लोकपालाष्टकमेव, न त्वन्यत्रेव तद्दशकम्, अस्मिन् मन्त्रपटले श्मशानाधिपमन्त्रा भाविनोऽपि नोद्धृता:-तेषां यद्येकविषयत्वात् 'उद्धृत्यपरिकल्पयेत्' इति वाचोयुक्त्या समनन्तरपटलभाविनो न्यासपूजाविधे: प्रकारमुपक्षिपन् पाटलिकीं संगतिं दर्शयति भगवान् ॥८७॥

सर्वप्रथम सर्वश्रेष्ठ लोकपाल इन्द्र का मन्त्र बनाने के लिये पहले 'ओम्' लिखिये । इन्द्र का अस्त्र वज्र है । इसलिये चतुर्थ्यन्त रूप में ओं के बाद इन्द्राय वज्रहस्ताय लिखिये और अन्त में नम: लिखिये । इन्द्रमन्त्र का इस तरह उद्धार हो जाता है । मन्त्रों की तालिका के पहले उनके नाम और उनके अस्त्रों को जान लेना आवश्यक है । इनके हथियारों के साथ इन लोकपालों के नाम इस प्रकार हैं –

१. इन्द्र (वज्र), २. अग्नि (शक्ति), ३. यम (दण्ड), ४. निर्ऋति (खड्ग), ५.वरुण (पाश), ६.वायु (ध्वज), ७.कुबेर (गदा) और ८.ईशान (त्रिशूल) मन्त्र में लोकपाल नाम और अस्त्रहस्त के चतुर्थी का रूप देना चाहिये । मन्त्रतालिका इस प्रकार है –

१	२	३	४	५	६
क्रमाङ्क	दिक्	प्रणव	लोकपालों के चतुर्थ्यन्त नाम	अस्त्रहस्त के चतुर्थ्यन्त रूप	नमस्कारान्त
१.	पूर्व	ॐ	इन्द्राय	वज्रहस्ताय	नम: ।
२.	अग्निकोण	ॐ	अग्नये	शक्तिहस्ताय	नम: ।
३.	दक्षिण	ॐ	यमाय	दण्डहस्ताय	नम: ।
४.	नैर्ऋत्यकोण	ॐ	निर्ऋतये	खड्गहस्ताय	नम: ।
५.	पश्चिम	ॐ	वरुणाय	पाशहस्ताय	नम: ।
६.	वायव्य	ॐ	वायवे	ध्वजहस्ताय	नम: ।
७.	उत्तर	ॐ	कुबेराय	गदाहस्ताय	नम: ।
८.	ईशान	ॐ	ईशानाय	त्रिशूलहस्ताय	नम: ।

आठ लोकपालों के प्रणव सहित मन्त्रों की यह तालिका और दिशाओं के नाम जानकारी मात्र के लिये है । ये नाम मन्त्र में सम्मिलित नहीं हैं । इन्हें लोकपालाष्टक कहते हैं । लोकपालों में अधिष्ठित भैरवों की सूची इस प्रकार है

'अध्वानं सकलं निमज्ज्य सुसितां चिन्मूर्तिमुन्मज्ज्य तां
कृत्वा भैरवरूपिणीं तदखिलं रूपं त्रितत्त्वात्मकम् ।
शक्तित्रैधमयं विलाप्य परमे स्वच्छन्दधाम्नि स्फुर-
त्तच्छक्तिप्रथितं तदात्मनिखिलं लोकेश्वरान्तं नुमः ।।'
'गतानुगतिकप्रोक्तव्याख्याभेदतमोऽपनुत् ।
पराभेदरसोल्लासी स्वच्छन्दोद्द्योत उत्थितः ।।'

	१	२	३	४	५	६	७	८
लोकपाल-	इन्द्र	अग्नि	यम	निर्ऋति	वरुण	वायु	कुबेर	ईशान
भैरव-	कपालेश	शिखिवाहन	क्रोधराज	विकराल	मन्मथ	मेघनादेश्वर	सोमेश्वर	विद्याराज

लोकपालों का ध्यान भैरवाष्टक रूप से ही करना चाहिये । इस तरह यह भी सिद्ध हो जाता है कि, ऊर्ध्व और अध: के लोकपाल इस सम्प्रदाय में गृहीत नहीं हैं ।

इस मन्त्र पटल में कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनका उद्धार यहाँ नहीं किया गया है । जैसे श्मशानाधिप भैरव मन्त्र । श्लोक ८७ में 'उद्धृत्य परिकल्पयेत्' इस नियम के अनुसार आगामी पटलों के वे विषय हो सकते हैं, यह ध्यान में रखकर पाटलिकी संगति व्यवस्थित की गयी है । यही भगवदिच्छा है । उसका ध्यान परमावश्यक है ॥८७॥

अध्वा में अधिष्ठित थी, साधना से साक्षात्
किया मैंने चिन्मूर्त्तिभैरवी का भावमय
त्रैधशाक्तभाव का विलापन स्वच्छन्दरूप,
भैरव में किया मैने भव्य अनुभावमय,
स्फुरित अनुभूति में, यह भैरव-विस्फार भव,
भरा तीन तत्त्व से है अमृत-संप्लावमय ।
जगत्-शक्ति-भैरव, आठ लोकपाल सबको,
क्षेमराज का प्रणाम नव भैरव प्रभाव मय ।

गतानुगतिक अनेक विध
व्याख्या-तम-आदित्य ।
उदित अरुण उद्योत यह
चिन्मय चरमाचित्य ॥

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे
श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-
व्याख्योपेते मन्त्रोद्धारप्रकाशनं नाम
प्रथमः पटलः ।।१।।
।।श्रीमत्साम्बशिवार्पणं भूयात् ।।

हंसोस्म्यहं भैरवभर्गभिज्ञः व्याख्यातवान् प्राक्पटलं प्रवालम् ।
स्वच्छन्दतन्त्रप्रियसुप्रतीकं भाषामयं भाष्यमिदं मनोज्ञम् ।।

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे महामाहेश्वराचार्य श्रीक्षेमराजविरचितोद्योताख्यव्याख्योपेते
डा० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीर-विवेकाभिधे भाषाभाष्यसमन्विते
मन्त्रोद्धारप्रकाशनं नाम प्रथमः पटलः परिपूर्णः ॥१॥
शूभं भूयात्

ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय

ॐनमः स्वातन्त्र्योद्भासितविश्वमूर्त्तये स्वच्छन्दभट्टारकाय

अथ

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

अथ द्वितीयः पटलः

विगलति भवदौर्गत्यं मोक्षश्रीः श्रयति हृत्कजं कचति ।
प्रसरति परमानन्दो यत्र तदीशार्चनं जयति ।।

प्रश्नोद्देशक्रमेण प्राप्तावसरं कालस्वरूपं काम्यवन्नित्यविधौ प्रायेण अनुपयोगाद् बहुवक्तव्यत्वाच्च अनभिधाय, यत्रैषां मन्त्राणां साधकतमत्वं येन च मन्त्राः फलदा तमर्थसंगत्या प्राप्तप्रतिपादनावकाशम् अर्चाजपहोमादिविधिं प्रकाशयितुं द्वितीयपटलारम्भः । तत्र 'नित्यपूर्वं नैमित्तिकम्' इति नित्यमेव तावद्विधिं प्रदर्शयितुं 'श्रीभैरव उवाच'–

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यक्षेमराज कृतोद्योताख्यव्याख्योपेतः
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीरविवेकभाषाभाष्य सवंलितः

द्वितीयः पटलः

[२]

भव-दुर्गति गलती तथा,
मोक्षश्री मुसकान–
मिलती,खिलता मन कमल,
मिलता भवसम्मान ।।
जिस ईशार्चन से सरस,
प्रसरित परमानन्द,
जय उसकी, स्मृति में स्फुरित
रहे सदा स्वच्छन्द ।।

स्वच्छन्दतन्त्र का उपक्रम देवी के प्रश्नों के सन्दर्भ में हुआ था । उसके अनुसार मन्त्रोद्धार विषय का प्रतिपादन प्रथम पटल में सम्पन्न किया गया है । उद्देशक्रम से यहाँ काल और आयुष्य का वर्णन करना था । इस प्रसङ्ग में यह ध्यान देने की बात है कि, काम्य और नित्य विधियों में काल की कोई उपयोगिता नहीं होती । साथ ही यह भी विचारणीय तथ्य है कि, काल के असीमित सन्दर्भों में कितना कुछ कहा जाय? यह एक स्वतन्त्र विषय है । इस सम्बन्ध में बहुत कहा जा सकता है । उसका यहाँ कोई उपयोग भी नहीं ।

अथार्चनं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

अथेति मन्त्रप्रकाशानन्तरं, स्नानन्यासावाहनादेः जपहोमादेश्च अर्चनाङ्गभूतत्वादङ्गिभूतमर्चनमेव, प्रकर्षेण इति वैतत्येन वक्ष्यामि, यथावदिति गर्भीकृतव्याप्तिसतत्त्वतया, अनुपूर्वश इति स्नानशौचादिक्रमेण, यत इयमर्चनक्रिया पाकक्रियावद् अनेकावयवक्रियारम्भपूर्तिः, अतः स्नानाद्यवयवक्रियाभिधानपुरःसरं तत्प्रतिपादनम्, न च अकृतशुद्धेः स्नानाधिकारः, इति शौचपुरःसरमेव स्नानं दर्शयति–

अतः इस काल सम्बन्धी कलन का यहाँ प्रकल्पन उचित न मानकर जहाँ मन्त्रोद्धार के बाद मन्त्रों का अधिक सदुपयोग होता है तथा अत्यन्त साधकतम हेतु होने के कारण मन्त्र जहाँ सर्वाधिक फलप्रद सिद्ध होते हों, उसी प्रसङ्ग को लिया जाय तथा उसी की अर्थसंगति के अनुसार उसी का प्रतिपादन किया जाय, भगवान् की दृष्टि में यही ऐसा अवसर प्राप्त था। इन मन्त्रों से ही सम्बद्ध जप, अर्च्चा और होम के प्रसङ्ग शिव द्वारा व्यक्त किये जाने अपेक्षाकृत उचित थे। इसी लिये एतत्सम्बन्धी प्रतिपादन परक इस द्वितीय पटल का प्रारम्भ भगवान् भैरव ने किया।

शास्त्रीय सिद्धान्त है कि, नित्यकर्म सम्पादन पूर्वक ही नैमित्तिक कर्म सम्पन्न किये जाँय। इसलिये नित्य विधि के प्रर्वर्त्तन के उद्देश्य से 'श्री भैरव ने कहना प्रारम्भ किया कि,

अथ अर्थात् इस ग्रन्थ में यहाँ सर्वप्रथम अर्चन के विषय में प्रकर्ष पूर्वक अर्थात् विस्तार पूर्वक कहने जा रहा हूँ। यहाँ दो क्रिया विशेषण शब्दों का प्रयोग किया गया है।

१. यथावत्–इस अव्यय शब्द का अर्थ है-जैसा वस्तुतः अर्चन का अर्थ होता है। इस अर्थ में एक रहस्य तत्त्व की व्याप्ति का अर्थ भी छिपा हुआ है। वह है–अर्चा क्रिया में आराध्य के प्रति जिस श्रद्धा के उद्देश्य से अर्चा की परिभाषा निर्धारित की जाती है, उस तत्त्व की इसमें व्याप्ति।

२. अनुपूर्वशः शब्द यह घोषित करता है कि, अर्चा में एक क्रम होता है। उसी क्रम के अनुसरण के साथ विधि का सम्पादन उचित है।

जैसे भोजन के पकाने की प्रक्रिया में क्रमिकता होती है। चावल पकाने के लिये १. चावल को नापकर वर्त्तन से निकालना २. फटकना, ३. बीनना, ४. पानी से

शौचं कृत्वा ततः स्नानं कर्तव्यं तु मृदम्भसा ।।१।।
शुचिस्थानान्मृदं पूर्वं गृहीत्वास्त्रेण शोभिताम् ।
प्रक्षाल्य जलतीरं तु स्थापयेत्तां वरानने ।।२।।

अस्त्रेणेति–'स्थूले कर्मणि निष्कलस्य अनधिकारत्' सकलेन तृणकेश-पर्ण-काष्ठादि, अस्त्रमन्त्रेण चोद्धरेत् ॥२॥

धोना, ५. उचित मात्रा में पानी डालकर पाकपात्र में रखना, ६. गैस चालू करना, ७. जलाना, ८. गैस कम करना, ९. आग पर रखना, १०. उबाल-पाचन आदि की प्रतीक्षा, ११. पकने पर आग पर से उतारना आदि । उसी तरह इसमें भी अर्थात् अर्चा क्रिया में भी शय्यात्याग से लेकर पूजा पर्यन्त विभिन्न आङ्गिक नित्य क्रियाओं की पूर्त्ति करनी ही पड़ती है ।

इसलिये शुचिता के लिये शौचोपरान्त और दन्तधावन के बाद स्नान की प्रधान क्रिया से अर्चन का वर्णन करना ही प्रत्येक दृष्टि से उचित है । इसलिये सर्वप्रथम स्नान की परिभाषा पूर्वक इस प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है । विना शौच आदि शुद्धि के स्नान क्रिया का अधिकार शास्त्र नहीं देता । अतः पहले ही अधिकार के लिये नित्य क्रिया के अङ्गरूप में अनिवार्य शौच प्रक्रिया के बाद ही स्नान की चर्चा की गयी है । भगवान् कहते हैं–

शौच आदि से निवृत्त होने के तुरत बाद मृत्तिका और जल दोनों के सह प्रयोग के अनुसार स्नान करना चाहिये ॥१॥

पहले पवित्र स्थान से साफ मिट्टी ले आनी चाहिये । मिट्टी ग्रहण करने के बाद भैरवास्त्र मन्त्र से उसका शोधन करना चाहिये । तालाब या नदी के किनारे के स्थान को धोकर वहीं वह मिट्टी रखनी चाहिये । भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, सुमुखि देवि ! उक्त क्रम पर ध्यान देकर स्नान क्रिया में प्रवृत होना चाहिये ।

मिट्टी को अस्त्र मन्त्र से शोधित करने का रहस्य यह है कि, स्नान एक स्थूल कर्म है । इस स्थूल के लिये निष्कल भैरव मन्त्र के प्रयोग का अधिकार शास्त्र नहीं देता । इसलिये सकल अस्त्रमन्त्र से ही शोधन करना चाहिये । शोधन का तात्पर्य है कि, उसमें से, खरपतवार, बाल, पत्तों के टुकड़े या छोटी-छोटी टहनियों आदि के टुकड़े यदि हों तो निकाल कर मिट्टी को साफ कर लेना चाहिये ॥२॥

भागद्वयं ततोऽस्त्रेण कर्तव्यं तु कृशोदरि ।
भागार्धेन कटिं चोरू जङ्घे पादौ तथैव च ।।३।।
क्षालयेत यथान्यायं त्रिरन्तरितयोगतः ।

तत इति शोधितायाः मृदः ।

भागार्धेनेति एकभागस्य सम्बन्धिना अर्धेन श्रीपूर्वाद्युक्तनीत्या संहारक्रमेण आदौ पादौ प्रक्षाल्य जङ्घोरुकटि क्षालयेद् इति यथान्यायशब्दार्थः, त्रीन्वारांस्त्रिः मध्येभवता हस्तक्षालननान्तरितो यो योगः क्षालनसम्बन्धस्ततः पादौ प्रक्षाल्य हस्तौ क्षालयेत् ततो जङ्घे ततो हस्तौ तत ऊरू ततो हस्तौ ततः कटिं ततोऽपि हस्तौ इति मध्ये त्रिरेव हस्तक्षालनम् इति 'त्रिरन्तरितयोगतः' शब्दस्यार्थः । उक्तं च श्रीमृत्युजिति–

पुनः अस्त्रमन्त्र से ही उसे दो भागों में बाँट लेना चाहिये । ध्यान रहे कि, शोधित मृदा को ही दो भागों में किया जाता है । आधे में का एक भाग लेकर कमर, जङ्घे, जङ्घों और कमर का जोड़, दोनों ऊरु, और पैर का क्षालन करना चाहिये । इस प्रक्षालन का तीन अन्तर योग आवश्यक है ।

एक तरह से मृदा का चौथा भाग ही भागार्ध होता है, यह अर्थ है । भागार्ध का अर्थ एक पिण्ड के दो भागों का आधा ही माना जाना चाहिये । इस तरह आधे मृदा भाग से ही त्रिरन्तरित योग की पूर्त्ति करनी चाहिये । पुनः अर्ध का अर्ध करने का अर्थ यहाँ करने से मिट्टी के चार भाग सिद्ध हो जाते हैं । पैर से प्रारम्भ करने में संहार क्रम का प्रयोग यथान्याय के अर्थ को व्यक्त करता है । अर्थात् पहले पैर तब जङ्घा, फिर ऊरु और अन्त में कमर का प्रक्षालन करना न्यायपूर्ण स्नान की प्रारम्भिक क्रिया मानी जाती है ।

तीन अन्तर योग का क्रम यहाँ इस प्रकार करना चाहिये ।

१. पहले तीन बार मिट्टी से हाथ मलना ।

२. तब पैर मलिये ।

३. इसके बाद तीन बार पुनः हाथ मिट्टी से धो लीजिये ।

यह एक प्रयोग हुआ । इसके बाद जाँघ-प्रक्षालन, पुनः हाथ का तीन बार प्रक्षालन । यह दूसरा योग हुआ । इसी तरह ऊरु और कमर के प्रयोग में भी मध्य-मध्य में तीन बार हाथ प्रक्षालन करने का विधान है । त्रिरन्तरित योग की यह प्रक्रिया वहीं तालाब के किनारे ही सम्भव है । अन्यत्र इसका प्रयोग दुःसाध्य है । नगरों में तो

'पादौ जङ्घे करौ चोरू मृत्स्नाभिस्तिसृभिः क्रमात् ।
त्रिरन्तरितयोगेन सप्तभिः शोधयेत्पुनः ।।'

इति । पुनः पश्चात् सप्तभिर्हस्तौ क्षालयेदित्यर्थः, न तु तिसृभिर्हस्ताविति व्याख्येयं-द्रव्याभ्यावृत्तौ सुजभावात् । यत्तु तिसृभिर्मात्राभिर्मृद्भागैरन्तरितो यतो योग इति केनचित्पठित्वा व्याख्यातं तदत्यन्तासमन्वितत्वादुपेक्ष्याम् ।।३।।

अवशिष्टं तु भागार्धं गृहीत्वास्त्राभिमन्त्रितम् ।।४।।
सप्तवारान्वरारोहे अर्कदीप्तं तु कारयेत् ।

अवशिष्टमिति एकस्माद्भागात्, अर्कदीप्तमिति कराभ्यां मृदित्वा, सूर्यस्पृष्टं तदनेन प्राणस्पृष्टं वा कृत्वा ।।४।।

यह नितान्त असंभव हो गयी है । अब तो सफाई मिट्टी से होती ही नहीं,श्वेतक (साबुन) का सुलभ प्रयोग सार्वत्रिक हो गया है । श्री मृत्यजित् नामक शास्त्र का आदेश भी इसी से मिलता जुलता है–

दोनों पैर, दोनों जाँघे, दोनों हाथ और दानों उरू इन अवयवों को बीच-बीच में तीन अन्तरित योग द्वारा सातबार प्रक्षालन कर अवयवों का शोधन कर लेना चाहिये ।

इतना करने के बाद सात बार पुनः केवल हाथ का प्रक्षालन करना चाहिये । तीन तीन बार हाथ का प्रक्षालन जैसे कटि, ऊरु आदि अङ्गों के मध्य में तीन बार करते हैं, अन्त में उसे सात बार करने का अभिप्राय यहाँ व्यक्त किया गया है । तीन मात्राओं के परिणाम से पूर्ण मृत्तिका लेकर ही हाथ का प्रक्षालन करना चाहिये । अन्तरित प्रयोग का यह अर्थ आचार्य क्षेमराज नहीं मानते । उनके अनुसार यह अनन्वित अर्थ हेय है ।।३।।

शेष मृत्तिका भाग लेकर उसे भी अस्त्र से अभिमन्त्रित कर लेना चाहिये । उसको सात बार सूर्य की किरणों से दीप्त कर लेना चाहिये । हाथ को मिट्टी से अच्छी तरह मल कर निर्मल करते हैं । मिट्टी लगे हाथ को ही सूर्य की किरणों से दिखलाने की विधा अपनायी जाती है । सूर्य के न रहने पर प्रायः सूर्य की शाक्तरश्मियों से ही दीप्त करना चाहिये ।

अर्कदीप्त करने का तात्पर्य निर्मलता की पराकाष्ठा से लेना चाहिये । सूर्य के न रहने पर प्राण सूर्य से दीप्त करने का तात्पर्य भी वही है । वस्तुतः प्राण भी सूर्य ही माना जाता है । शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है–

'उदेत्येषः प्राजानां प्राणः सूर्यः । अर्थात् प्राण रूप में प्रगट यह सूर्य ही है, जो प्रजाओं को प्राण की ऊर्जा से ऊर्जस्वल बना रहा है ।।४।।

तेनैव–

शिरःप्रभृति पादान्तमागुण्ठ्य स्नानमाचरेत् ।।५।।

शुद्धतत्त्वसृष्टिव्याप्त्यैतत्, तदागुण्ठ्येति लिप्त्वा ॥५॥

उत्तीर्योदकमध्यात्तु उपस्पृश्य यथाक्रमम् ।
संध्याया वन्दनं कुर्याच्छास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।।६।।

उपस्पर्शनमाचमनम्, तत्र चान्तः सूक्ष्मदेहशुद्ध्यर्थं प्रणवेन त्रिरपां पानम्, द्विः सृक्विमार्जनम्, चक्षुरादिद्वारस्पर्शनं च इति यथाक्रमशब्दार्थः, शास्त्रदृष्टेन-वेदादिसिद्धेन ॥६॥

मलस्नानं भवेदेवं विधिस्नानं प्रचक्ष्महे ।
भागार्धं यत्स्थितं पूर्वं ततो भागत्रयं कुरु ।।७।।
वामहस्तस्य पूर्वे च दक्षिणे चोत्तरे क्रमात् ।

ऐसी अर्कदीप्त मृत्तिका से शिर से पैर तक शरीर में पूरा उपलेप करना चाहिये । इस उपलेप के बाद शरीर को जल से पवित्र कर लेना चाहिये । यह स्नान ही सर्वोत्तम स्नान माना जाता है । इस तरह यह पार्थिव शरीर भी सूर्य की प्राणवत्ता से वरेण्य हो जाता है ॥५॥

स्नान की यह प्रक्रिया सरोवर या नदी में ही सम्पन्न करना श्रेयस्कर माना जाता है । इसी लिये आदेश दे रहे हैं कि, उदक मध्य से अर्थात् सरोवर से या नदी से निकल कर क्रम पूर्वक (यथाक्रम) आचमन करने के क्रमानुसार उपस्पर्शन करना चाहिये । उपस्पर्शन का अर्थ आचमन ही होता है ।

आचमन का क्रम शास्त्र में इस प्रकार दिया गया है–

१. सूक्ष्म शरीर की आन्तर दिव्यता के उद्देश्य से प्रणव से ही तीन बार आचमन करना चाहिये ।

२. दो बार जल से सृक्वि का मार्जन करना चाहिये । सृक्विन् शब्द मुख के चतुर्दिक् किनारे को कहते हैं । जल से आचमन के समय उसी समय मुख के किनारों को धो लेना चाहिये ।

३. इसके बाद शरीर के ऊर्ध्व द्वारों का भी उपस्पर्शनान्त स्पर्श कर लेना चाहिये । यही शास्त्रदृष्ट मार्ग अर्थात् वेदनिर्दिष्ट मार्ग है । इसी के अनुसार आचरण करना चाहिये ॥६॥

स्नान के सम्बन्ध में यहाँ ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह सब 'मल' स्नान कहलाता है । इसके बाद अब विधिस्नान के सम्बन्ध में कहा जा रहा है ।

मलस्नानं चित्तदेहशुद्धिः, भागार्धमिति, एकस्य भागस्य समस्तस्य उपयुक्तत्वाद्द्वितीयभागः सकलः-मृदपेक्षया त्वर्धम् ॥७॥

पूर्वभागं ततोऽस्त्रेण सप्तवारांस्तु मन्त्रयेत् ॥८॥
दक्षिणस्थं तथा वक्त्रैरभिमन्त्र्य वरानने ।
उत्तरं चाभिमन्त्र्यैवं देवेनाङ्गयुतेन च ॥९॥
पूर्वभागं गृहीत्वा तु दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।
उत्तरेण तु भागेन जलं चैवाभिमन्त्रयेत् ॥१०॥
बाहुमात्रप्रमाणेन भैरवेशमनुस्मरन् ।
आत्मानं गुण्ठयित्वा तु दक्षभागेन सुव्रते ॥११॥
स्नायाद्राजोपचारेण सुगन्धामलकादिभिः ।

मिट्टी का जो चौथा भाग बचा था, उसमें भी तीन भाग करना चाहिये । पहले वाम हस्त और फिर दक्षिण हाथ के क्रम से क्रमशः मार्जन करना चाहिये ॥७॥

मल स्नान कहने का कारण यह है कि, चित्त और देह में स्थित अशुद्धि को दूर करने के लिये यह स्नान प्रधान साधन माना जाता है । भागार्ध का अर्थ यहाँ श्लोक दो से सात तक में व्यर्थ का जटिल बना दिया गया है । श्लोक दो के अनुसार अस्त्राभिमन्त्रित मिट्टी को जल के किनारे रखा गया । श्लोक तीन के अनुसार भागद्वय में से आधे कटि,ऊरु,जङ्घे और पैरों का उपलेप हुआ । श्लोक चार के अनुसार भागार्ध अर्थात् भाग द्वय में से एक भाग के आधे से शिर से पैर तक का उपलेपन हुआ । पुनः भागार्ध तीन भाग में किया गया । पूर्व भाग दक्षभाग और उत्तर भाग । पूर्व भाग को सात बार अस्त्राभिमन्त्रित किया गया है । दक्ष भाग को वक्त्रमन्त्रों से अभिमन्त्रित किया गया है । उत्तर भाग को भी इसी प्रकार अभिमन्त्रित करने के साथ जल को भी अभिमन्त्रित करते हैं ।

नदी में जहाँ खड़े हैं, वहाँ बाहु की लम्बाई तक के भाग को भैरव देव मय भावित करना चाहिये । उसे शिवतीर्थ के रूप में गणित करना चाहिये । उस समय दक्षभाग स्थित मृत्तिका से उपलिप्त करना चाहिये । भगवान् कह रहे हैं कि, समस्त व्रतों को व्रत की सुभगनिष्ठा से मनाने वाली देवि ! इतना करने के बाद नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि को छोड़कर गृहस्थ व्रतधारी का कर्त्तव्य है कि, वह नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों और आमलक निर्मित सुरभित पदार्थों से राजवत् स्नान राजोपचारों से करे ।

अत्रैव भैरवभट्टारको यथादर्शनं सकलो निष्कलो वा, एवमेव अङ्गाद्यपि ज्ञेयम्, बाहुमात्रप्रमाणेनेति स्वाभिमुखं शिवतीर्थं हस्तमात्रं प्रकल्पयेदित्यर्थ:, राजोपचारेणेति गृहस्थानां सति सम्भवे सुगन्धामलकाद्यभ्यङ्गस्नानं विहितमेव, न तु नैष्ठिकवन्निषिद्धमित्यर्थ: ॥११॥

प्राणायामाभिषेकौ तु कर्तव्यौ भैरवेण च ॥१२॥

प्राणायामं कुम्भकवृत्त्यावस्थानम्, अभिषेक: उन्मज्जनादनन्तरं कलशमुद्रया शिरसि जलपात: ॥१२॥

उत्तीर्योदकमध्यात्तु तद्वास: परिवर्तयेत् ।
उपस्पृश्य कृतन्यासो मूलमन्त्रमनुस्मरन् ॥१३॥
तीर्थं संगृह्य देवेशि आत्मनोऽग्रे निधापयेत् ।

न्यासकरणं संक्षेपेण मन्त्रैकादशिकया, तीर्थं संगृह्येति अङ्कुशमुद्रया आकृष्य ॥१३॥

यहाँ एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है । वस्तुत: भगवान् भैरव जैसे निष्कल और सकल दो भागों में उपास्य हैं, उसी तरह अपने शरीर को भी निष्कल और सकल दोनों रूपों में भावित करना चाहिये । इन तथ्यों पर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥११$^{1/2}$॥

इस प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण स्नान करने के उपरान्त जल में ही कुम्भक वृत्ति अपनाकर प्राणायाम प्रक्रिया अपनानी चाहिये । प्राणायाम के बाद कलश मुद्रा में शिर पर जलपातन प्रक्रिया द्वारा शिरोभाग पर जल गिराते हुए स्वयम् का स्वयम् अपना ही अभिषेक करना शास्त्र सम्मत है । शिरोभाग पर यह जलाभिषेक भैरव मन्त्र से समन्वित होना चाहिये ॥१२॥

अब नदी से बाहर आ जाना चाहिये । बाहर आकर वह भीगा वस्त्र परिवर्त्तित कर देना चाहिये । कपड़े बदल कर पुन: उपस्पर्शन करना चाहिये । न्यास के शस्त्रोक्त नियमानुसार सभी न्यास विधि पूरी कर मूल मन्त्र का जप करना उचित माना गया है । यही शास्त्र की सम्मति है । यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि, मूल मन्त्र का स्मरण करते हुए ही तीर्थ को संगृहीत कर अपने आगे ही निधापित कर लेना चाहिये । तीर्थ का संग्रह अङ्कुश मुद्रा से करना चाहिये । मूलमन्त्र का इतने में जितना भी स्मरण हो जाय, उतना ही पर्याप्त है । इसमें अष्टोत्तर शत का नियम नहीं है । कम से कम ग्यारह बार स्मरण भी पर्याप्त है ॥१३$^{1/2}$॥

तत्रस्थो वन्दयेत्संध्यां मार्जनादिरनुक्रमात् ।।१४।।
अघमर्षः प्रकर्तव्य उपस्थानं दिवाकरे ।
जपं कृत्वा निवेद्यैवं प्रणम्य च वरानने ।।१५।।
मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा देवानामृषिभिः सह ।
सर्वेषां भूतसंघानां ततस्तीर्थं तु संहरेत् ।।१६।।
मूलमन्त्रमनुस्मृत्य......................... ।

हृत्तालुद्वादशान्तविश्रान्तिपरतया मूलमन्त्रपरामर्शात् सन्ध्यावन्दनमिदं परमेश्वर-मन्त्रक्रमेण, पूर्वं तु वैदिकैर्मन्त्रैः, तच्चापि अनिवृत्तप्राग्जातिवासनैः कार्यम्, इतरैस्तु विधिस्नानानन्तरमेव शैवैर्मन्त्रैः, यथोक्तम्–

'ब्राह्मीं कुर्यान्न वा कुर्याच्छैवीमेव नियोगतः ।' इति ।

वही बैठकर अर्थात् संगृहीत तीर्थस्नान में ही उपवेशन कर सन्ध्यावन्दन करना चाहिये । सन्ध्या का वन्दन और सन्ध्या के सन्दर्भ में भैरव भाव में भावित होकर वन्दन दोनों अर्थ यहाँ अभिप्रेत हैं । कर्म कारक युक्त सन्ध्या का वन्दन प्रधानतः ग्राह्य अर्थ है । इस प्रक्रिया में मार्जन आदि का शास्त्रीय अनुक्रम यहाँ नितान्त अपेक्षित है ।।१४।।

तत्पश्चात् अघमर्षण करना चाहिये । अघमर्षण के बाद उपस्थापन, पुनः जप, जप का निवेदन, प्रणाम, मन्त्र तर्पण, देवतर्पण, ऋषितर्पण और समस्त प्राणिवर्ग का तर्पण करना चाहिये । यही उत्कृष्ट क्रम है । इसके बाद मूलमन्त्र का स्मरण कर शिवतीर्थ का विसर्जन करना चाहिये । यहाँ बिन्दुमयी रेखा पर **'स्वस्मिन् संहारमुद्रया'** पाठ होना चाहिये । इस विसर्जन क्रिया का यह महत्त्वपूर्ण अंग है कि, शिवतीर्थ का विसर्जन 'स्व' से पृथक् नहीं होता; अपितु स्वात्म में ही अनुप्रविष्ट रूप से आन्तर उल्लसित कर देना चाहिये ।।१४-१६।।

इन श्लोकों में मुख्य रूप से जिन विषयों की चर्चा की गयी, उनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है–

१. मूलमन्त्रानुस्मरण (श्लोक १२)– मूलमन्त्र का परामर्श हृदय (अनाहत) तालु (विशुद्ध के ऊपर जहाँ से तालुरन्ध्रका प्रारम्भ होता है) द्वादशान्त (उन्मनाक्षेत्र) स्थानों में विशेष रूप से करना होता है । इन स्थानों में मन्त्र की व्याप्ति और विश्रान्ति की अनुभूति साधकों को होती रहती है ।

एवं भस्मस्नानेऽपि द्विः सन्ध्यावन्दनं योज्यम्, वामकरविप्रुषां दक्षकरशाखाभि-रस्त्रेणाधःक्षेपः, वक्त्राङ्गमन्त्रैस्तु उपरि, इति मार्जनम्, आदिशब्दान्मन्त्रसंहिता-जप्तदक्षकरवारिणः शिरसि क्षेपः, तच्चैतदनुक्रमात्, अनुक्रमश्च अघमर्षणादनन्तरं मार्जनादि, तत उपस्थानमिति, ईदृशस्तत्राघमर्षो दक्षिणपाणिस्थं जलं सितरूपं प्रणवतेजसोद्दीपितं दक्षनासापुटेनैव अन्तरनुप्रविष्टं वाङ्मनःकायमलक्षालनात्कृष्ण-रूपं वामनासापुटाद् बहिर्निःसृतं ध्यात्वाधः क्षिपेद् इति, ईदृशमुपस्थानमिति-

---

२. सन्ध्यावन्दन (श्लोक १४)– सन्ध्या परमेश्वर मन्त्र से होनी चाहिये । इसमें आचार्य क्षेमराज ने एक मुख्य बात की पारम्परिकता को संकेतित किया है । जो व्यक्ति आगमिक भैरव दीक्षा से दीक्षित हो जाता है, उसकी पूर्व जाति नहीं रह जाती । सन्ध्यावन्दन के सन्दर्भ में जब वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता है, वहाँ प्राग्जाति वासना जागृत हो जाती है । प्राग्जाति वासना से वासित पुरुष सन्ध्या में वेद मन्त्रों का प्रयोग कर सकता है । दीक्षा के अधिकार इसमें बाधक नहीं होते ।

अन्य जाति के लोग इस दीक्षा परम्परा की विधि स्नान के अनन्तर शैव मन्त्रों से ही सन्ध्यावन्दन करें । इस सम्बन्ध में शास्त्र की सम्मति है कि, "ब्राह्मी अर्थात् वैदिकी सन्ध्या करे या न करे शैवी सन्ध्या की नियोग पूर्वक नियम पालन करते हुए प्रक्रिया पूरी करे अर्थात् अवश्य करे" ।

३. मार्जनादि– सन्ध्या वन्दन भस्मस्नान के अवसर पर भी इसी प्रकार ब्राह्मी शैवी का योजन करना चाहिये । जहाँ तक मार्जन का प्रश्न है, इसमें यह ध्यान देना चाहिये कि, बायें हाथ में जल लें । दाहिने हाथ की अङ्गुलियों से जल का अस्त्रमन्त्र से अधः निक्षेप करें । इसी प्रकार वक्त्र-मन्त्रों से ऊपर निक्षेप करें । यही मार्जन की प्रक्रिया है । मार्जन के साथ आदिशब्द का प्रयोग भी किया गया है । इसके निहितार्थ के रूप में यह समझना चाहिये कि, मन्त्र के संहितात्मक जप के साथ दाहिने हाथ में पड़े जल को शिरोभाग पर प्रोच्छित करना उत्तम होता है । यह सारा का सारा कार्य अनुक्रम पूर्वक होना चाहिये ।

अनुक्रम की पद्धति प्रचलित पद्धति ही माननी चाहिये । प्रचलित वर्त्तमान क्रम के अनुसार अघमर्षण के बाद मार्जन आदि के काम होने चाहिये । इसके अनन्तर उपस्थान होना चाहिये ।

४. अघमर्ष– दाहिने हाथ में स्थित जल श्वेतात्मक प्रणव के तेज से उद्दीप्त हो जाता है, यह अनुभूत सत्य है । इसको दाहिने नासापुट से अन्तः प्रविष्ट होते हुए

परमेश्वरशक्त्यात्मसूर्यसंमुखं मन्त्रसंहितया अञ्जलिक्षेपः, ततो यथाशक्ति जपं कृत्वा हृत्स्थाय श्रीभगवते पूरकेण निवेद्य शरीरादिप्रह्वीभावोन्मग्नपरस्वरूपानुप्रवेशरूपं प्रणामम्, स्वकल्पमन्त्राणां जलेन तर्पणं कृत्वा-'देवेभ्यो नमः' इत्यादिक्रमेण देवर्षिभूतसंघानां तर्पणं कृत्वा, मूलमन्त्रमनुस्मृत्य, संहारमुद्रया शिवतीर्थं संहरेत्-स्वात्मनि अनुप्रविष्टं ध्यायेत् ॥१६॥

एवं जलस्नानमुक्त्वा भस्मस्नानं नैष्ठिकस्यावश्यकम्, गृहस्थस्यं कामचाराद्वक्तुमाह–

अनुभूत करना चाहिये । वह जल का तेज भीतर जाकर वाणी,मन और पूरे शरीर के मल को प्रक्षालित कर देता है । परिणाम स्वरूप वह कृष्णवर्णी हो जाता है । उसे बायें नासापुट से बाहर निकलते हुए अनुभव करना चाहिये । इसके बाद जल को नीचे निक्षिप्त कर देना चाहिये ।

५. उपस्थान (श्लोक १५)– सूर्य वस्तुतः परमेश्वर की तैजसिकता के ही प्रतीक हैं । उनके संमुख मन्त्र संहिता के पाठ के साथ अञ्जलि का जल गिराना चाहिये । इसके बाद यथाशक्ति जप करना चाहिये । इस जप को अन्तः स्थित भगवान् के लिये पूरक के माध्यम से निवेदित कर देना चाहिये । पूरे शरीर को नम्रता की प्रतिमूर्त्ति बनाकर परमेश्वर के स्निग्धकरुण रूप में स्वात्म को अनुप्रविष्ट कर देना चाहिये । इसी अवस्था को 'प्रणाम' (श्लोक १५) कहना चाहिये । इस प्रकार की विनम्र प्रक्रिया को प्रणाम कहते हैं ।

६. तर्पण (श्लोक १६)– मन्त्र की शक्ति में इतनी व्यापकता होती है कि, साधक उसे स्वात्म रूप में आत्मसात् कर मन्त्रमय ही हो जाता है । ऐसे मन्त्रों से मन्त्रित जल से 'देवताओं को बारम्बार नमस्कार है' इस भाव को संस्कृत में 'देवेभ्यः नमः' कहते हैं । इसी क्रम में 'देवर्षिभ्यो नमः, भूत संघेभ्यो नमः' कह कर सबको तृप्त करने के लिये तर्पण किया जाता है ।

७. तीर्थ संहार (श्लोक १६)– तर्पण के बाद मूल मन्त्र का स्मरण करते हुए संहार मुद्रा दिखला कर शिवतीर्थ का उपसंहार अर्थात् स्वात्मसात् कर लेना चाहिये ॥१३-१६॥

जल से स्नान की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विशद वर्णन करने के उपरान्त भस्मस्नान के विषय में आवश्यक तथ्यों से सम्बन्धित जानकारी दे रहे हैं । पहली बात यह है कि, यह नैष्ठिक के लिये अनिवार्यतः आवश्यक होता है । वहीं गृहस्थ के लिये उसकी इच्छा पर निर्भर करता है । इसको कामचार वृत्ति कहते हैं ।

......................भस्मस्नानमतः परम् ।

उच्यत इति शेषः, तन्त्रान्तरोक्तविधिसाधितम् अस्त्राभिमन्त्रितं भस्म कृत्वा, आ काद्धृदयावधि, आ पादाच्छिरोन्तं हृदन्तं वा संहारक्रमेण भस्म कृत्वा इति-समुद्धूल्य ।

मलस्नानं प्रकर्तव्यं भावितेनान्तरात्मना ।।१७।।

प्रसन्नेन चित्तेन ।।१७।।

परिवृत्त्य ततो वासः संध्यां प्रागिव वन्दयेत् ।

जल स्नान के बाद भस्मस्नान की बात क्रमिक रूप में स्वीकृत है । यह शास्त्र की सम्मति है । इस सम्बन्ध अन्यान्य तन्त्रों में विविध विधियों का निर्देश किया गया है । उनके द्वारा साधित वह भस्म होना चाहिये । किसी तन्त्रोक्त नियमानुसार साधित भस्म को भी अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित कर लेना आवश्यक माना जाता है ।

यहाँ बिन्दुमयी रेखा वाली पंक्ति में आकापात् हृच्छिरोऽन्तं वा पाठ होना चाहिये । इसके अनुसार 'शिर से हृदय पर्यन्त, सृष्टिक्रम से, पैर से लेकर शिर पर्यन्त अथवा हृदय पर्यन्त संहारक्रम से भस्म का उपलेपन होना चाहिये । इसके बाद यहाँ श्लोक १७ में 'मल स्नानं' पाठ श्लोक ७ के अनुकूल है । यहाँ 'जलस्नानं' पाठ होना चाहिये क्योंकि भस्म का प्रक्षालन जल से ही हो सकता है । अर्थात् भस्म स्नान के अनन्तर जल से विधिवत्स्नान करना चाहिये । इसके लिये यह निर्देश दिया गया है कि, जल स्नान भावित अन्तरात्मा से होना चाहिये । अन्तरात्मा भैरव भाव से भावित तभी होता है, जब साधक पर अनुग्रहपूर्ण प्रसाद होता है । इससे साधक में हर्ष और प्रसन्नता का उल्लास स्पष्ट दृग्गोचर होने लगता है । अतः प्रसन्नचित्त साधक द्वारा इस स्नान को पूरी आस्था से सम्पन्न करना चाहिये ।।१७।।

इसके बाद भीगे वस्त्र को बदल कर सूखा पवित्र वस्त्र धारण करना चाहिये । कपड़े बदल कर सुसज्जित भाव से सन्ध्यावन्दन में लग जाना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, सन्ध्या जल के साथ ही होनी चाहिये । बहुत से मनमाने आचरण करने वाले लोग विना जल के ही सन्ध्या वन्दन आदि करते हैं । उसका निषेध करते हुए आचार्य क्षेमराज ने स्पष्ट कर दिया है कि, जल से ही वन्दना का कार्य सम्पन्न होना चाहिये ।

सन्ध्या वन्दन के अनन्तर विधिस्नान (श्लोक ७) का भी विधान है । यह विधिस्नान क्या है? परिभाषा का संकेत देते हुए कहा गया है कि, भैरवेश का अनुस्मरण करते हुए इसे करना चाहिये । अनुस्मरण का तात्पर्य साधक के स्वात्म का पूर्व ऐकात्म्य भैरवेश्वर से है । इस ऐकात्म्य भाव से भावित स्नान को विधिस्नान कहना चाहिये ।

जलेनैव ।

विधिस्नानं ततः कुर्याद्भैरवेशमनुस्मरन् ।।१८।।

भैरवव्याप्तिमात्मनो विभावयन् ॥१८॥

शिरो वक्त्रं च हृद्गुह्यं पादान्तं च विभागशः ।

भैरवेणाङ्गयुक्तेन समुद्धूल्यं यथाक्रमम् ।।१९।।

साङ्गेन मूलेन भस्म अभिमन्त्र्य शुद्धतत्त्वसृष्ट्यर्थं मूर्धादिपादान्त-मूद्धूलयेत् ॥१९॥

समस्त आगमोपनिषद्रूप श्रीतन्त्रालोक में महामाहेश्वर आचार्य श्रीमदभिनवगुप्त ने आठ प्रकार के स्नानों का विशद वर्णन करते हुए एक स्थान पर इन स्नानों के शुभ फलों का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार पार्थिव स्नान से १. धृति, २. जलस्नान से आप्यायन, ३. अग्निस्नान से मल दाह, ४. वायु स्नान से वीर्य पराक्रम वृद्धि ५. नाभस स्नान से व्याप्ति, ६. चान्द्र स्नान से ऋजुता, ७. सूर्य स्नान से प्रतिष्ठा और ८. शैवभावात्मक स्नान से अभेद अद्वय तादात्म्य प्राप्त होता है । [1]इन आठों पृथिव्यादि मूर्त्तियों को वे शिवात्मक अनुग्रह भी घोषित करते हैं[2] ।

मेरी दृष्टि से स्वच्छन्दतन्त्र वर्णित यह विधि स्नान स्नानावष्टक का आठवाँ स्नान ही है। विधिस्नान का नामतः प्रयोग मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में भी किया गया है[3]। किन्तु इसे विद्यात्रितय मन्त्रित माना गया है । इस तरह स्नान सदृश शुचिता के साधन को भी इन ग्रन्थों में आध्यात्मिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसी तरह योग संचर, निर्मयाद आदि शास्त्रों में भी इसके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । याग गृह में प्रवेश के पहले का एक महत्त्वपूर्ण अंग स्नान है, यह सिद्ध हो जाता है ॥१८॥

यथाक्रम शिर, वक्त्र (मुख) हृद् (वक्षप्रदेश) गुह्य (पायु-उपस्थ) पाद और पादान्त (पादपृष्ठ और पदतल) इन अङ्गों पर विचार पूर्वक भैरव-मूलमन्त्र से समुपलेपन के लिये भस्म को अभिमन्त्रित करना शास्त्र सम्मत नियम है। इसके सभी अङ्गों में क्रमिकरूप से उपलिप्त करने से अशुद्ध शरीर में शुद्ध तत्त्व की सृष्टि हो जाती है । अतः इसे अनिवार्यतः सम्पन्न करना चाहिये ॥१९॥

---

१. श्रीतन्त्रालोकः आ० १५/६२ भाग पाँच

२. तदेव १५/६३

३. श्री मालिविनीजयोत्तरंतन्त्रम् अ० ८/१०

ततोऽपि–

अभिषेकं प्रकुर्वीत परं तत्त्वमनुस्मरन् ।

निष्कलवीर्यमाविशन् ।

संध्याया वन्दनं कुर्याद्यथापूर्वं वरानने ।।२०।।

यथापूर्वमिति-जलेनैव अघमर्षणादिकं कार्यमित्यर्थः, अभिषेको मूलमन्त्रेण कलशमुद्रया भस्ममुष्टेः शिरसि क्षेपः, एवं भस्मस्नानं गृहस्थेनापि कामतः कार्यम् तन्त्रान्तरनिर्दिष्टनीत्या त्रिपुण्ड्रकमात्रमेव वा गृहस्थेन कार्यम् ॥२०॥

एवं स्नानं विधाय अर्चाविधिं कर्तुमुपक्रमेत–

ततो यागगृहं गत्वा हस्तौ पादौ च क्षालयेत् ।
शिखां बद्ध्वा शिखां स्मृत्वा उपस्पृश्य विधानतः ।।२१।।

इसके बाद नैष्ठिक ब्रह्मचारी को परम तत्त्व के तादात्म्य का अनुस्मरण करते हुए पुनः भस्माभिषेक करना चाहिये । अपने सकल रूप के निष्कलस्वरूप में अनुप्रवेश की यह एक सामान्य विधि है, जिससे यह प्रतीत होता है कि, यह अभिमन्त्रित भस्म भैरव अनुग्रह का ही तेजस्वरूप है, जो हमें आमूल चूल आक्रान्त कर रहा है । भगवान् कहते हैं कि, सुमुखि ! पार्वती ! इसके बाद पूर्ववत् सन्ध्या वन्दन करना चाहिये ॥२०॥

यहाँ यथापूर्व कहने का तात्पर्य है कि, सन्ध्या वन्दन जल के साथ ही होना चाहिये । अघमर्षण का प्रयोग विना जल के कभी नहीं करना चाहिये । जहाँ तक अभिषेक का प्रश्न है, मूलमन्त्र से कलश मुद्रा द्वारा भस्म की मुष्टि का शिर पर बरसाना अर्थात् भुरभुरा कर गिराना माना जाता है । काम्यकर्म की सिद्धि के लिये इसे गृहस्थ भी कर सकता है । यों यह प्रक्रिया गृहस्थ के लिये नहीं अपनानी चाहिये । अन्य तन्त्र ग्रन्थों के अनुसार गृहस्थ 'त्रिपुण्ड' लगा सकता है । इस पर ध्यान देना चाहिये ॥२०॥

स्नान की विधि साधक के स्वात्म परिष्कार की पारम्मरिक प्रक्रिया मानी जाती है । इन विविध स्नानों से नितान्त शारीरिक और मानसिक शुचिता प्राप्त कर लेने के बाद अर्चा का अधिकार प्राप्त होता है । इसी लिये क्रमानुसार यहाँ अर्चा विधि प्रस्तुत करने जा रहे हैं–

इसके बाद याग के लिये जिस सदन का निर्माण हो गया है, उसमें जाने का उपक्रम करना चाहिये । वहाँ जाने के मार्ग में गली आदि में चलने से पैरों पर धूलि के कण बैठ जाते है । उनका स्पर्श हाथों से भी हो जाता है । अतः पैरों और हाथों

रथ्याधूलिलिप्तौ पादौ तत्स्पर्शाद्धस्तावपि क्षालयेत् ।

उपस्पृश्य-आचम्य, विधानतः-एकाग्रचित्ततया, शिखां-शिखामन्त्रं स्मृत्वा शिखां-मध्यशक्तिं, बद्ध्वा-अवष्टभ्य ॥२१॥

बाह्यपूजाधिकृतत्वमात्मनि जनयितुं संक्षेपेण मन्त्रैकादशिकस्मरणेन-

सकलीकृतदेहस्तु पुष्पमादाय सुव्रते ।
दिङ्मातृभ्यो नमस्कृत्य द्वारं संप्रोक्ष्य यत्नतः ॥२२॥
शिवाम्भसास्त्रमन्त्रेण विघ्नप्रोच्चाटनं भवेत् ।

शिवाम्भसा इति सामान्यार्घपात्रमादौ बाह्यपूजार्थं कुर्वीतेति सूचयति ॥२२॥

दोनों का प्रक्षालित करना आवश्यक माना जाता है । श्लोक में इसी लिये विधि लिङ् के द्वारा क्रिया में उतरने की बात कही गयी है । विधान पूर्वक बैठकर शिखाबन्धन का कार्य सम्पन्न करना चाहिये ।

शिखाबन्धन एक रहस्यात्मक उपक्रम है । दुर्गा सप्तशती में कवच मन्त्र है- 'शिखामुद्योतिनी रक्षेत् ।' मस्तिष्क की उद्योतिनी शक्ति शिखा की रक्षा करती है । यह रहस्य यहाँ उद्घाटित है । यह एक विद्युत् धारा है, जो अधोगामिनी नहीं अपितु ऊर्ध्व गतिशील है । यह आकाश के अवकाश में न समा जाय, इसी उद्देश्य से शिखा बन्धन का कार्य वैदिक सन्ध्या सदाचार का एक अंग है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यजमान यागगृह में प्रवेश कर पहले आचमन करे । पुनः विधान के अनुसार ऊर्ध्वगतिशील मध्यशक्ति का बन्धन करे अथवा अवष्टम्भित कर दे ॥२१॥

पूजा एक पुण्य जनक पवित्र कार्य माना जाता है । इस के लिये पूजक ऐसा होना चाहिये, जो उसकी विधि का विशेषज्ञ हो, उसको स्वात्म में पूजन की योग्यता का अधिकार उत्पन्न करना आवश्यक होता है । मन्त्रों से भी परिचित होना आवश्यक है । क्रमिक रूप पूजा कहाँ से प्रारम्भ की जाय, इसकी जानकारी भी आवश्यक होती है । इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर यह कारिका प्रस्तुत की जा रही है-

आराधक सर्व प्रथम सकलीकृत शरीर होना चाहिये । सकली करण[1] तन्त्र शास्त्र की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा साधक का स्वात्म सर्वसद्भाव सम्पन्न हो जाता है । भगवान् कह रहे हैं कि, व्रतों का सम्यक् निर्वाह करने वाली देवि ! पहले हाथ में फूल लेकर दिक् मातृकाओं को प्रणाम पूर्वक स्मरण करना चाहिये । तत्पश्चात् यागसदन के द्वार का सम्प्रोक्षण किया जाता है । शिव मन्त्र से अभिमन्त्रित जल और मद्य दोनों शिवामृत माने जाते हैं । इसको अस्त्र[2] मन्त्र से ही अभिमन्त्रित

---

१. श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम् भाग १ पटल ३/१३२-१३७
२. तदेव पटल ३/१२५-१२९

ततः–

द्वारशाखोर्ध्वतो देवं गणेशं च श्रियं तथा ।।२३।।
सम्पूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्धूपादिभिरनुक्रमात् ।
अर्घ्यपाद्योपहारैश्च......................

'ओं दिङ्मातृभ्यो नमः' इति कुसुमं क्षिप्त्वा आयतने यागगृहे बाह्ये वा व्योम्नि प्रभामण्डलवृषत्रिशूलसूर्यान् बाह्यपरिवारनिष्ठोर्ध्वडम्भरे द्वारस्य दक्षिणाद्वामान्तं गणेशं तथाशब्दसमुच्चितां वागीशीं श्रियं च प्रणवादिनमःशब्दान्तेन मन्त्रेण पूजयेदिति क्रमः ॥२३॥

...................ततो द्वारस्य चोत्तरे ।।२४।।
नन्दिगङ्गे समभ्यर्च्य महाकालं च दक्षिणे ।
कालिन्दीं चैव सम्पूज्य यथानुक्रमयोगतः ।।२५।।

प्रवेश द्वार का सम्प्रोक्षण करते हैं । परिणामतः विघ्नों का अपसारण हो जाता है । इस उक्ति द्वारा शिवाम्भस परिपूर्ण अर्घपात्र बाह्य पूजा के लिये अनिवार्य होता है, यह सूचना भी मिल जाती है ॥२२॥

प्रवेश द्वार के ऊपर चौखट के दोनों ओर अर्थात् दक्ष भाग में गणेश और वाम भाग में श्री देवी की नमस्कार मन्त्र से अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, गन्ध, पुष्प, धूप और नैवेद्य आदि से अनुक्रम पूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥२३॥

जैसे दिङमाताओं का सामन्य मन्त्र 'दिङ्मातृभ्यो नमः' माना जाता है । इस मन्त्र से कुसुम का प्रक्षेप करना चाहिये । यह प्रक्रिया चाहे घर में, याग सदन में या खुले आकाश के नीचे की जा रही हो, समान रूप से सम्पन्न होती है । गणेशलक्ष्मी के बाद परिवार रूप में परम्परा के अनुसार द्वार पर एक प्रभामण्डल भी बनाया जाता है । उसी में एक ओर वृषभ चित्र द्वार पर बनाते हैं । त्रिशूल चित्रित करते हैं । सूर्य की रश्मियों के अरों से निर्मित और समन्वित चित्र भी दीवाल पर उकेरे जाते हैं । इनके लिये भी सबमें ओम् लगाकर 'प्रभामण्डलाय नमः,वृषभाय नमः, त्रिशूलाय नमः, सूर्याय नमः, वागीश्यै नमः, श्रियै नमः' इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अर्घ्यपाद्य आदि उपहारों से इनकी पूजा करनी चाहिये ॥२४॥

द्वार के उत्तर भाग में नन्दी और गङ्गा की पूजा करनी चाहिये । उत्तर भाग वाम भाग ही होता है । इस सम्प्रदाय में शाक्तस्फार का प्राधान्य स्वीकृत है ।

कालिन्दीं-यमुनाम्, दक्षिणस्रोतसः संहारप्राधान्यान्महाकालयमुने द्वारस्य दक्षिण एव पूज्ये, वामे तु नन्दिगङ्गे, शाक्तस्फारसारत्वाच्चास्य नयस्य गुप्ते स्वगृहादौ द्वारवामात्प्रभृति वामकरेण पूजयेदिति गुरवः । एष च द्वारदेवताक्रमः श्रीत्रिशिरोभैरवस्रोतसि दृश्यते, केवलं तत्र द्वारवामदक्षिणयोर्दिण्डिमहोदरावधिकौ पूज्यावुक्तौ, वामस्रोतोभेदे पुनः सृष्टिप्रधाने द्वारस्य दक्षिणे नन्दिगङ्गामेषास्याः, वामे तु महाकालयमुनाच्छागलास्या इति क्रमः । सिद्धान्तेषु तु द्वारस्य दक्षिणे नन्दिगङ्गे वामे तु महाकालयमुने, प्रायश्च सिद्धान्तप्रियो लोकः सिद्धान्तक्रम-माश्रितः, इतीह लोकोत्तरे भैरवस्रोतसि भगवदुक्त एव क्रमः आश्रयितव्यो न त्वन्यथा भ्रमितव्यम्, अतो ये सिद्धान्तदर्शनभ्रान्ता भगवदुक्तं पूर्वपश्चिमद्वारापेक्षया विपर्यासयन्ति ते विपर्यस्ता एव ॥२५॥

वाम भाग की बात यहाँ पहले की गयी है । वामनय के अनुसार अपने घर में जो गुप्त साम्प्रदायिक पूजा होती है,उसमें बायें हाथ से ही पूजा की जाती है । यही प्रथा है । दक्षिण में महाकाल और कालिन्दी की पूजा का विधान है । दक्षस्रोतस् (सम्प्रदाय) के अनुसार संहार का प्राधान्य ही स्वीकार्य है । इसीलिये दक्ष भाग में महाकाल और यमुना की पूजा की जाती है ।

त्रिशिरो भैरव शास्त्र के अनुसार भी द्वार देवताओं का यही क्रम स्वीकृत है । केवल द्वार के वाम और दक्षिण भागों में दिण्डि और महोदर का अधिक प्रयोग प्रदर्शित है । वामस्रोतस् के भेदवाद के सन्दर्भ सृष्टिक्रम के कारण ही प्रदर्शित होते हैं ।

परिणाम स्वरूप द्वार के दक्ष भाग में नन्दी,गङ्गा और मेषवदना योगिनी की पूजा का और वाम में महाकाल एवं यमुना के साथ छागलमुखी योगिनी की पूजा का क्रम अपनाया गया है ।

सिद्धान्त मतवाद में द्वार के दक्षिण में नन्दी और गङ्गा तथा वामभाग में महाकाल और यमुना की पूजा का ही विधान स्वीकृत है । आचार्य महामाहेश्वर यह स्वीकृत कर रहे हैं कि, लोक सिद्धान्त प्रिय होता है ।' 'सिद्धान्तप्रियो लोकः' यह एक लोकोक्ति ही है । इस लिये इसकी परम्परा में सिद्धान्त क्रम ही प्रचलित है ।

इस लोकोत्तर भैरव मार्ग में भगवदुक्त मार्ग का ही आश्रय लेना चाहिये । अन्यान्य सम्प्रदायों के क्रम और उनके विविध पूज्य तथा विधि विधानों के भ्रम में न ही पड़ना चाहिये । इस दृष्टि से इस भैरवस्रोत के विपरीत सिद्धान्त स्वीकृत मान्यताओं से भ्रान्त लोक उत्तर दक्षिण को पूर्व और पश्चिम की अपेक्षा से दिग्वाचक मानकर सिद्धान्त का विपर्यास करते हैं,उनकी बातों में नहीं आना चाहिये । अपना मार्ग ही सर्वोत्तम होता है ॥२५॥

ततः-

भैरवास्त्रं समुच्चार्य पुष्पं संगृह्य भावितः ।
सप्ताभिमन्त्रितं कृत्वा ज्वलदग्निशिखाकुलम् ।।२६।।
नाराचास्त्रप्रयोगेण प्रविशेद्गृहमध्यतः ।

अत्रादौ देहल्यर्चां कुर्यात्, भैरवास्त्रमतिदीप्तं निष्कलास्त्रमेव, ज्वलदित्यादि ध्यानम्, नाराचास्त्रप्रयोगस्तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठप्रेरणात्, गृहमध्यत इति प्रक्षिपन्निति शेषः ।।२६।।

निवारितं तेन सर्वं विघ्नजालमनन्तकम् ।।२७।।

भावयेदिति शेषः ।।२७।।

इसके बाद का क्रम इस प्रकार है-

भैरवास्त्रमन्त्र का उच्चारण कर हाथ में पहले से पड़े पुष्पों को लेकर भैरव सद्भाव भावित होकर पुनः सातबार उन्हें अभिमन्त्रित कर यह सोचना चाहिये कि, ये ज्वलनशील अर्चियों से रोचिष्णु हो रहे हैं । यह सोचते हुए नाराचास्त्र का प्रयोग करते हुए याग सदन के मध्य में प्रवेश करना चाहिये । नाराचमुद्रा होती है । इसमें तर्जनी और मध्यमा को अङ्गुष्ठ की आग से प्रेरित करते हैं । तर्जनी में वायु और मध्यमा में आकाश की प्रतिष्ठा होती है । इस तरह नाराच से शरीर का वायु और आकाश तत्त्व आग से उद्दीप्त हो जाते हैं । इसी लिये इसी भाव से भावित होकर फूलों को मार्ग में विकीर्ण करते हुए आगे बढ़ना श्रेयस्कर होता है ।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है । द्वार के चतुष्काष्ठ जिनके दक्षवामकाष्ठों में कपाट जटित होते हैं, उन भागों की ओर और ऊर्ध्वस्थित देवों की पूजा के साथ नीचे लगे चौकठ को भी पूज्य मानकर उसको प्रणाम करना चाहिये । इसे 'देहली' अर्चा कहते हैं । दूसरी बात जो जानने योग्य है कि, भैरवास्त्र निष्कल भैरवास्त्र ही होता है । इन सभी प्रक्रियाओं की आध्यात्मिक तत्त्ववादिता का ध्यान करते हुए पुष्प विकीर्ण करते हुए यागगृह के मध्य भाग में साधक पहुँचता है ।।२६।।

याग सदन के मध्य में पहुँचने वाले साधक ने इस तरह अनन्त विघ्नों के समवाय के विनाश में सफलता प्राप्त कर ली है, यह निश्चित है । यही वहाँ भावन भी करना चाहिये । इसके लिये सावधान रहना चाहिये कि, पुनः याग सदन में विघ्नकारी शक्तियों के प्रवेश का अवकाश न रहे । इसके लिये विघ्नों से रक्षा के उद्देश्य से दशों दिशाओं में अस्त्र मन्त्रों से अभिमन्त्रित पुष्पों का निक्षेप करना भी आवश्यक माना जाता है ।।२७।।

ततो रक्षार्थमस्त्रं च दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।

विघ्नानां प्रवेशावकाशनाशाय।

अथ–

मध्ये सम्पूज्य ब्रह्माणं गन्धैः पुष्पैरनुक्रमात् ।।२८।।
दक्षिणायां ततो मूर्तौ प्रणवासनसंस्थितः ।
उपविश्यासनं बद्ध्वा स्वभ्यस्तं वै पुरःस्थितम् ।।२९।।

'ब्रह्माणं' वास्त्वधिष्ठातारम् । 'दक्षिणायाम्' इति दक्षिणस्रोतोऽनुष्ठानप्रवृत्तौ, समस्तभेदप्लोषकाघोरवक्त्रसम्मुखत्वस्यानुरूप्यात्; मन्त्रोद्धारप्रारम्भे त्वनुष्ठानस्या-

---

याग सदन में मध्य भाग में 'ब्रह्मा' नामक अधिष्ठाता आचार्य की पूजा की जानी चाहिये । उसी की देखरेख में पूरा याग सञ्चालित होता है । अतः ध्यानपूर्वक गन्ध पुष्प आदि उपचारों से अनुक्रम पूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥२८॥

दक्षिण स्रोत का अनुष्ठान ही प्रायः इसमें करते हैं । अतः दक्ष के दक्षिणाम्नाय के देवमूर्त्ति अघोर के सामुख्य के कारण यह ध्यान देना चाहिये कि, समस्त भेदवाद के विनाशक अद्वय अभेद के सांमुख्य में साधक प्रणवरूप आसन पर ही अधिष्ठित हो । अथवा स्वभ्यस्त जो भी अपने सुखासन के रूप में सिद्ध हो, उसी पर यजमान दीक्ष्य साधक बैठे । यहाँ किस मुँह बैठे इसका निर्देश श्लोक में नहीं है । इसलिये यजमान पूर्व मुख या उत्तरमुख दोनों में से किसी ओर मुँह कर बैठ सकता है । इसका संङ्केत प्रथमपटल के श्लोक में भी दिया गया है । यह प्रसङ्ग मन्त्रोद्धार का था फिर भी यह अर्थ लिया जा सकता है ।

जहाँ तक आसन का प्रश्न है, उसको शुद्ध कर उस पर बैठने के पहले बीज मन्त्रों का प्रयोग करते हैं । यहाँ पर आसन की संज्ञा ही 'प्रणवासन' बतायी गयी है अर्थात् प्रणव से अभिमन्त्रित आसन होना चाहिये, जिस पर यजमान बैठ रहा है । प्रणव के रूप में कई बीज मन्त्रों का प्रयोग शाक्त सम्प्रदाय में प्रचलित है । यहाँ भैरव याग के सन्दर्भ में प्रणव रूप में 'ओङ्कार' ही स्वीकृत है । इसकी व्याप्ति और भैरवाद्वय तादात्म्य का अभिमान दोनों ही आसन के प्रयोग में अपेक्षित हैं ।

'बद्ध्वा' शब्द शिखाबन्ध एवम् अन्य कई प्रकार के जालन्धर आदि बन्धों के स्मारक के रूप में यहाँ प्रयुक्त है । आसन भी बन्ध पूर्वक ही होते है । उसमें स्वभ्यस्तता आवश्यक होती है । ऐसे सिद्ध आसन पर बैठना उचित है,

प्रवृत्तेः 'प्राङ्मुखोदङ्मुखो वा' इत्युक्तम् । 'प्रणवासने' वर्णितव्याप्तिके सम्यग्भैरवाभेदाभिमाने स्थितः ॥२९॥

करन्यासमाह–

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा अस्त्रेण परिशोधयेत् ।
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ प्लावयेदमृतेन तु ।।३०।।
परां शक्तिं तु संक्षोभ्य................।

जिस पर कार्य की समाप्ति पर्यन्त यज्ञ कर्त्ता बैठ सके। उसके सामने ही यज्ञ के पूजन में प्रयोज्य और हव्य या हवनीय सारे पदार्थ पड़े हुए है। आसन पर बैठ कर पुर:स्थित सारी सामग्री का एकबार अवलोकन कर लेना चाहिये ॥२९॥

अभी तक बाह्य भूमिकाओं के रूप में सारे प्रयोग किये गये। जैसी आधिकारिकता होनी चाहिये और जैसी शुचिता अपेक्षित थी, वह आसन तक पूरी कर ली गयी है। अब आन्तर मान्त्रिक शुचिता के लिये सर्वप्रथम कर न्यास की चर्चा कर रहे हैं–

दोनों हाथों को गन्ध से दिग्ध अर्थात् उपलिप्त कर अस्त्र मन्त्र से परिशोधित कर लेना चाहिये। पुन: कवच से अवगुण्ठित कर अमृत प्लावित कर लेना चाहिये ॥३० ॥

गन्ध से हाथ को उपलिप्त करना शुचिता के लिये आवश्यक माना जाता है। इसके लिये वृत्ति में कुलक आदि लिप्त करने की चर्चा है। क, पुस्तक में अलक्तक आदि के पाठ भेद की भी चर्चा है। अलक्तक से दोनो हाथों का उपलिप्त करना व्यावहारिक नहीं है। कुलक गन्ध का विशेषण शब्द है। अत: यहाँ कई प्रकार के गन्धों के मेल से बना विशिष्ट सुगन्धित अर्थ करना ही उचित है।

हाथों को गन्धदिग्ध करने के बाद उन्हें अस्त्र मन्त्र से परिशोधित करने की प्रक्रिया भी अपनानी चाहिये। परिशोधयेत् क्रिया, विधिपरक और क्रियाशक्ति को उल्लसित करने की प्रेरणा परक है। अत: इसे अवश्य करना चाहिये, यह ध्वनित होता है। दूसरी बांत विशेष रूप से उपस्थापित कर रहे हैं कि, इन दोनों को कवच से अवगुण्ठित करना चाहिये।

एक अन्य विधि क्रिया का प्रयोग कर यह कहना चाहते हैं कि, कवच[1] से अवगुण्ठित कर अमृत से इन्हें आप्लावित करना चाहिये। इसके लिये परा शक्ति को संक्षोभित करना भी आवश्यक है, क्योंकि परा शक्ति को संक्षुब्ध करने पर ही अमृत उपलब्ध होता है। इस अर्थ को पुष्ट करने के लिये आचार्य क्षेमराज द्वारा श्लोक ३१ की प्रथम अर्धाली को भी श्लोक ३० से सम्पृक्त कर दिया गया है।

---

१. पिङ्गलाय सर्वत: शर्व सर्वेभ्य: कवचाय हुम्।

गन्धेन [१]कुलकादिना, दिग्धौ लिप्तौ, 'परिशोधयेत्' क्रियाशक्तित्वं प्रापयेत । परां द्वादशान्तस्थशिवचन्द्रचन्द्रिकारूपां शक्तिं संक्षोभ्यानङ्गधेनवी-युक्त्या प्रसरोन्मुखीं कृत्वा, 'अमृतेन' परानन्दरसेन 'प्लावयेत्' आच्छुरयेत् । पश्चात् तथारूपतारक्षार्थं कवचमन्त्रेणावगुण्ठ्य ॥३०॥

ततोऽनन्तं प्रकल्पयेत् ....

वास्तविकता यह है कि, शिष्य याग गृह में प्रविष्ट हो चुका है । प्रथम पटल में शिष्य के शुभ लक्षणों से यह सम्पन्न है । उसे यह ज्ञात है कि, भैरवाष्टक रूप में तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध लोकपालों के अस्त्र कौन हैं ? उनके साथ किन बीजों और विद्याओं का प्रयोग होता है । आचार्य आसन पर विराजमान हैं । वे मन्त्र बोल रहे हैं । सुविज्ञ शिष्य उसे तुरत संपादित कर देता है । अस्त्र हाथ में ही होते हैं । उनके ध्यान से हाथों में तुरत क्रिया शक्ति का उल्लास हो गया है । कवच से अवगुण्ठित कर उसे शिष्य ने अमृत से आप्लावित भी कर लिया है । वस्तुतः परभाव समावेश में जब साधक का अवष्टम्भ होता है, तो एक ब्रह्म द्रव रस अस्तित्व को ही आप्लावित कर देता है । शिष्य इस दशा से परिचित है और ऐसा कर लिया है ।

पराशक्ति के संक्षोभ की बात गुरु शक्ति के मुख से निकलते ही उसने हाथों को अमृत से आप्लावित भी किया और अनन्त का परिकल्पन भी साथ ही सम्पन्न कर लिया है । यहाँ 'परांशक्तिं तु संक्षोभ्य' के साथ ही 'ततोनन्तं प्रकल्पयेत्' पंक्ति भी लिखी जानी चाहिये ।

परा शक्ति के संक्षोभ के लिये केवल द्वादशान्तस्थ शिवचन्द्र चन्द्रिका रूप शक्ति के संक्षोभ की बात कर देना ही पर्याप्त नहीं है । इस स्तर पर अभी शिष्य संभव है कि पहुँच भी न पाया हो । यह आचार्य का उत्तर दायित्व है कि, उसे इसका ज्ञान कराये । उस अवसर पर केवल भैरव भाव समावेश में रसानुभूति के भावन पूर्वक ही कवचावगुण्ठन प्रक्रिया पूरी की जा सकती है ।

शास्त्रकार ने अनङ्गधेनवी युक्ति का उल्लेख किया है । साधक मूलाधार में अश्विनी मुद्रा की सिद्धि के आधार पर तथा क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध, स्थापन, दीपन, तत्समापत्ति की सोपान परम्परा से वहाँ रसवत्ता की प्राप्ति करता है । वही परानन्द रस माना जाता है । यह उच्च कोटि की उत्कर्षमयी साधना की पराकाष्ठा है । वहीं शिवाभिमर्शिणी विद्या का विमर्श कर परतादात्म्य रूप चिदैक्य समापत्ति हो जाती है ॥३०॥

---

१. क.पु. अलक्तकादिनेति पाठः ।

मूर्तिं न्यस्यानुवक्त्राणि स्वच्छन्दं परिकल्पयेत् ।।३१।।

करशुद्धिविधाने[1] तत्तन्मन्त्रैर्न्यास उचित एव कार्य: । तेनोपबाहुदण्डाग्रगग्रन्थिप्रान्तवर्तिविद्यापदोर्ध्वावस्थितानाश्रितप्रेतान्तमनन्तासनं प्राङ्निर्णीततत्त्वं प्रणवेन कल्पयेत् ।

इसके बाद अनन्त का परिकल्पन करना चाहिये । पराशक्ति उन्मना के मध्य शूलाब्ज भी अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है । उसके संक्षोभ के अनन्तर ही प्रसरण शीलता में अनन्त की ओर की प्रकल्पना उचित है.। इस स्तरीयता में कर शुद्धि का सन्दर्भ बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है । बाहु दण्ड शरीर का महान् उपयोगी अंग है । इसमें वज्रधारिणी, दण्डिनी और अम्बिका शक्तियाँ तो रहती ही हैं, इस दण्ड के अग्रभाग की ग्रन्थियों में विद्या स्थान से ऊपर प्रसारित अनाश्रित भट्टारक रूप प्रेत के समीप ही अनन्त का आसन भी परिकल्पित है । उसका ध्यान करते हुये ॐकार युक्त अनन्तासनाय नम: मन्त्र का भी उच्चारण करना चाहिये ।

इतना प्रकल्पित कर लेने के उपरान्त अनुवक्त्र मन्त्रों का प्रकल्पन कर स्वच्छन्द संज्ञक सकल भैरव का स्वात्म मय परिकल्पन करना चाहिये । यह न्यास कवाट भङ्गी से किया जाता है । वस्तुत: ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव क्रम अपनाने की गुरु परम्परा के अनुसार इनके बीजमन्त्र रूपी कपाट खोलकर अनुद्भिन्न अवयव वाले भगवान् के शरीर में प्रवेश कर लेते हैं । उसी के बाद स्वच्छन्द भगवन्मूर्ति का पूर्णतया तादात्म्यीकरण हो जाता है । सभी ब्रह्मनामधारी इन मुखों के साथ इनकी कलाओं के साथ न्यास का विधान गुरु से जानना चाहिये । मैं यहाँ ईशान वक्त्र के वक्त्रमन्त्र का उदाहरण प्रस्तुत कर रहर हूँ–

१–सर्व प्रथम 'ओं' का प्रयोग । इसके बाद

२–बीज मन्त्र 'क्षं' का प्रयोग । ऊर्ध्व मुख होने से

३–उनके नाम पूर्वक 'ईशान मूर्ध्ने' का प्रयोग । इसके बाद

४–कला के नाम चतुर्थ्यन्त क्षं सुतारिण्यै नम: । इसके बाद

५–ऊर्ध्व कवाटे बोल कर न्यास कर लेना चाहिये । पूरा मन्त्र–"ॐ क्षं ईशानवक्त्राय क्षं सुतारिण्यै नम: ऊर्ध्वकवाटे" बनता है । इसी तरह प्रथम पटल में श्लोक ४८ से ५८ तक वर्णित कलाओं के नाम प्रतिलोम क्रम से देकर यह न्यास विधि पूरी कर लेनी चाहिये । इस तरह स्वात्म की जो मूर्त्ति परिकल्पित होती है, यह स्वच्छन्द भैरव की सकल मूर्त्ति होती है । शास्त्र कहता है कि,

---

१. क. ख. पु. शुद्धितत्तन्मन्त्रन्यास इति पाठ: ।

मूर्तिब्रह्मकवाटकलावक्त्रन्यासादि प्रागेव निर्णीतम् । अतो यत्र यत्रायाति तत्र तत्र प्रथमपटलनिर्णीतव्याप्तिरनुसर्तव्या । 'स्वच्छन्दम्' इति सकलम् ॥३१॥

अनन्तरम्–

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं विन्यसेदङ्गपञ्चकम् ।
भैरवानपि संकल्प्य परं तत्त्वमनुस्मरेत् ॥३२॥

उभयोरपि करयोः पद्ममुद्रामाविष्टयोः । 'अस्त्रं नखेषु' इति गुरवः ।

ततः–

यावदुच्चार्यते वाचा, यावल्लेख्येऽपि तिष्ठति ।
तावत्स सकलो ज्ञेयः ....॥[1]

इस प्रकार सकल स्वच्छन्द भाव परिकल्पन के परिणाम स्वरूप शिव भावात्मक देह शुद्धि के पूर्ण हो जाने से शिष्य के शरीर में पवित्र भैरवीय ऊर्जा का उल्लास हो जाता है ॥३१॥

इसके बाद अङ्गुष्ठ से कनिष्ठा पर्यन्त अङ्गुलियों में अङ्गपञ्चक का विन्यास होना चाहिये । उस समय दोनों हाथ पद्ममुद्रा में आविष्ट कर लेना चाहिये । अङ्ग पञ्चक न्यास के ऊह मन्त्र इस प्रकार होंगे–

१.	ॐ	अङ्गुष्ठयोः	क्षं	हृदयाय नमः
२.	ॐ	तर्जन्योः	यं	शिरसे स्वाहा
३.	ॐ	मध्यमयोः	रं	शिखायै वषट्
४.	ॐ	अनामिकयोः	लं	कवचाय हुम्
५.	ॐ	कनिष्ठिकयोः	वं	नेत्रत्रयाय वौषट्
६.	ॐ	नखेषु	(सर्वबीज)	अस्त्राय फट्

तत्पश्चात् कपालीश आदि आठ भैरवनाथों का संकल्प करके परात्मक तत्त्व का अनुस्मरण करना चाहिये ॥३२॥

भैरव शब्द से कपालीश आदि आठ भैरवों का अर्थ लेना चाहिये । ये आठों बाँयी तर्जनी से लेकर दक्षिण तर्जनी तक न्यस्त होने चाहिये । इनको इस पद्ममुद्रा में बनी अङ्गुलियों पर संकल्प पूर्वक न्यस्त कर परतत्त्व अर्थात् निष्कल भैरव तत्त्व को अनुस्मृत करना चाहिये । प्रश्न है कि, क्या निष्कल नाथ के साथ अङ्ग और परिवार का भी स्मरण किया जा सकता है ?

---

१. स्वच्छन्द तन्त्रम् ७/२३७ ।

'भैरवान्' कपालीशादीनष्टौ वामतर्जनीतो दक्षिणतर्जन्यन्तं 'परं तत्त्वं' निष्कलनाथं साङ्गं सदेवीकम्, अर्थात् स्फारिताङ्गुष्ठयोः 'अनुस्मरेत्' विश्वानुगामित्वेनानुसन्दध्यात् । यद्यपि करयोः पिण्डावयवत्वाद् भाविपिण्डन्यासेनैव न्यासः सम्पद्यते, तथापि सर्वकर्मप्रवृत्तिप्रथमाङ्कुरकल्पयोर्भगवत्क्रियाशक्तिमयत्वप्रत्यभिज्ञानाय तयोर्देहन्यासात्पूर्वं सर्वागमेषु न्यास उच्यमान उपपन्न एव । शिवहस्तस्त्वन्यादृगेव विशिष्टविधिविषयः ॥३२॥

एवं करन्यासमुक्त्वा देहन्यासे इतिकर्तव्यतामाह–

प्राणायामत्रयं कार्यं देहसंशुद्धिकारणम् ।

आचार्य क्षेमराज का मत है, कि आठ अङ्गुलियों में आठ भैरवों को न्यस्त करने के बाद वाम और दक्षिण दोनों अङ्गुष्ठ जो शेष रह गये हैं, उन्हीं पर परतत्त्व का अर्थात् पर भैरव का अङ्गपूर्वक और सदेवीक अर्थात् शाक्त प्रसार समर्थ दिव्य शक्ति मती के साथ ही अनुस्मरण करना चाहिये । इस अनुस्मरण का उद्देश्य भी यही है कि, परभैरव की विश्वव्याप्ति में विश्वानुगमिता का चिन्तन होना ही चाहिये ।

यद्यपि दोनों हाथ एक पिण्ड के अवयव मात्र के रूप में ही हैं और इनके न्यास की ऊर्जा से ऊर्जस्वल एक भावी पिण्डमय साधक का शरीर होने जा रहा है । इस न्यास के सम्पादन भी चरितार्थता भविष्य में ही प्रति फलित होने वाली है । यह आचार्य जानते हैं । न्यास का महत्त्व सभी आगमों में प्रमुखतया मान्य है । उसका कारण है–सारे कर्मों की प्रवृत्ति की प्रथम क्रियाशीलता जब उन्मिषित होती है, तो यह सोचना पड़ता है कि, सक्रियता का मूल कारण क्या है ? इस सक्रियता के मूल में क्या है ? सभी विचारक यह जानते हैं कि, इसके मूल में भगवान् की क्रियाशक्ति ही कारण है । इसी भगवान् कि क्रिया शक्ति के प्रभाव से विश्व की सारी क्रियायें सम्पन्न होती हैं । क्रिया की स्फुरत्ता जीव शरीर के हाथों में ही दीख पड़ती है । सारे काम हाथ से ही प्रायः सम्पन्न किये और कराये जाते हैं । इसमें क्रिया शक्ति के प्रत्यभिज्ञान के लिये देह न्यास से पहले कर न्यास ही सम्पन्न किये जाते हैं । यह तथ्य सभी आगमों की न्यास प्रक्रिया से प्रमाणित है । यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि, कर न्यास की प्रक्रिया एक पृथक् प्रक्रिया है । शिवहस्त प्रक्रिया के अन्तर्गत यह नहीं है । शिवहस्त विधि की प्रक्रिया एक पृथक् और विशिष्ट प्रक्रिया है ॥३२॥

कर न्यास की इस विधि को पूर्ण करने के बाद अब देह न्यास सम्बन्धी इति कर्त्तव्यता के सम्बन्ध में आगमिक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे हैं–

इह चैतन्यविश्लेषपूर्विकां देहदाहोत्प्लावनाप्यायनादिमयीं शुद्धिमाधाय भैरवात्मतापत्तिः कार्या । चैतन्यस्य च

'प्राक्संवित्प्राणे परिणता ।'

इति नीत्या [1]प्राणेनैव विशोधनं कार्यम् । न चाशुद्धेन तेन तत्कर्तुं शक्यम्-इति प्रथमं तच्छुद्धिः । देहस्याशुद्धस्य पुर्यष्टकरूपस्य संशुद्धिकारणम् ।

तत्प्रदर्शयंश्चैतन्यविश्लेषं वक्तुमाह-

अशुद्धः स्वमरुद्रेच्यः शुद्धेनापूरयेत्तनुम् ।।३३।।
कुम्भकं रेचकं कृत्वा व्योम्न्यात्मानं निधापयेत् ।

तीन प्रणायाम इसके लिये आवश्यक रूप से करणीय हैं । प्राणायाम देह संशुद्धि कारण माने जाते हैं । अतः देह संशुद्धि के लिये प्राणायाम करना ही चाहिये । इस प्रक्रिया में चैतन्य विश्लेष एक मुख्य क्रिया है । इसके बाद ही देह शुद्धि की प्रक्रिया अपनायी जाती है । देह शुद्धि के लिये १-देह दाह, २-उत्प्लावन और ३-आप्यायन नाम की प्राणायाम के द्वारा ही तीनों क्रियायें की जाती हैं ।[2] इसमें वं, रं और यं बीज वर्णों का प्रयोग करते हैं । इसे गुरु द्वारा जानकर ही करना चाहिये । इन तीन प्राणायामों की अङ्गभूत क्रियाओं से देह की शुद्धि हो जाती है । इसका परिणाम यह होता है कि, भैरव भाव की समापत्ति (प्राप्ति) हो जाती है । यह क्रिया अवश्य करणीय है ।

चैतन्य विश्लेष का नाम आते ही एक आगमिक उक्ति का उल्लेख आवश्यक हो जाता है । उक्ति है-'प्राक् संवित् प्राणे परिणता ।' अर्थात् आदि सृजन बेला के प्रथम क्षण में संवितत्त्व प्राण रूप में परिणत हो गया । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, प्राणायाम से संवितत्त्व भी संशोधित हो जाता है ।

अशुद्ध प्राण से चैतन्य में चमत्कार घटित नहीं हो सकता । इसलिये सर्वप्रथम इसकी शुद्धि आवश्यक है । इसकी शुद्धि ही पुर्यष्टक रूप शरीर की शुद्धि का भी कारण है । यहाँ उसके विश्लेष के सम्बन्ध में अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है । वही कह रहे हैं-

१. सर्वप्रथम अपने शरीर में स्थित श्वास वायु को जो स्वयम् अशुद्ध है, उसका रेचन कर देना चाहिये ।

---

१. ख. पु. प्रणवेनेति पाठक्षः ।

२. परशुरामकल्पशूत्रम्, श्रीक्रमः सत्रं १२, श्यामाक्रमे सू० ९-१० कुलार्णवतन्त्रम् पञ्चदश उल्लासः ३५-३९ ।

'अशुद्ध' इति बहि:प्रसरे[1] हेवाकचाञ्चल्प्राबल्योल्लासितविकल्पतया जीवस्य पाशत्वेन स्थित: । 'रेच्य' इति स्वरसवाहप्रशमनेन भोगद्वादशान्ते निवेश्य: । 'शुद्धेन' इति द्वादशान्तविश्रान्तिलब्धशाक्तबलेन, आ समन्तात् स्वरसवाहनिरोधेन 'पूरयेत्' तच्छाक्तस्पर्शेनाच्छुरयेत् । आपूर्यैवं कंचित्कालं प्रवेशनिरोधेन बललाभाय हृदयान्मूलपीठान्तं पूर्णकुम्भवदचलस्थित्या[2] स्थापयेत् । तत: कुम्भकप्रकर्षलबध-

---

२. तत्पश्चात् शुद्ध श्वास वायु से पूरक करना चाहिये ।

३. इसके बाद तुरत कुम्भक करना चाहिये ।

४. कुम्भक द्वारा आपूरित वायु अब सोमतत्त्वमय हो गया है । अत: उसका शरीर पर आयास होने के पहले ही रेचित कर देना चाहिये ।

५. पश्चात् बाह्य कुम्भक वृत्ति में स्वात्म प्राण को चिद्व्योम रूप चिति केन्द्र में स्थापित कर देना चाहिये । यह मूल श्लोक की दृष्टि है ॥३३॥

वायु को प्रथम विन्दु में अशुद्ध कहा गया है । अशुद्ध शब्द विचारणीय है । यह समग्र जगत् ही एक प्रकार का बाह्य प्रसार है । इस बाह्य प्रसर में ही सभी प्राणी श्वास लेते हैं ।

१. इसमें हेवाक रूप प्रबल उत्कण्ठा रूप जागतिक इच्छाओं का ही उल्लास रहता है । इसी से प्रेरित जीव बाह्य प्रसर में रम जाता है ।

२. इसी के प्रभाव से मानसिक चाञ्चल्य भी रहता है ।

३. इस बाह्य व्यापार को सम्पन्न करने में प्रबलविकल्पों का उतार चढ़ाव भी जीव की पुद्गलता का कारण बनता है । परिणामत: जीव का पाशव भाव उसे अपने प्रत्यभिज्ञान से वंचित रखता है । इन विकल्पों से वह मरुत् भी प्रभावित रहता है ।

अत: वह रेच्य है । अर्थात् प्राणपानवाह की जो स्वारसिक क्रिया शाश्वत गतिशील रहती है, उसका प्रशमन करना चाहिये । यह तभी सम्भव है, जब रेचन के बाद उस बाहर जाने वाले वायु को बाह्य द्वादशान्त मे डाल दें । इसे भोग द्वादशान्त भी कुछ विचारक मानते हैं । यह गलत है । उस द्वादशान्त में समाहित होने पर सारे विकल्प प्रशमित हो जाते हैं ।

बाह्य द्वादशान्त का दूसरा नाम चितिकेन्द्र है । यह नासाछिद्र के ठीक बारह अङ्गुल पर विद्यमान रहता है । यही जीवन का उत्स केन्द्र हैं । वायु के रेचन के बाद शरीर प्राण और अपान से रहित एक निष्प्राण दशा में रहता है ।

---

१. ग. पु. प्रसरहेवाकेति पाठ: ।

२. क. ख. पु. अविचलिततयेति पाठ: ।

शाक्तबलेन तेन वक्ष्यमाणदिव्यकरणानुसरणयुक्त्योर्ध्वरेचकं कृत्वा प्राणाश्रयमात्मानं 'व्योम्नि' मुण्डान्ते विश्रामयेत् । एष च प्रणवोच्चारसगर्भः प्राणायामः कार्यः । अत्र च रेचनादौ व्योमविश्रान्त्यन्ते पञ्चके धारणापञ्चकं मनसा सूक्ष्मभुजयानुसन्धायाविकल्पविश्रान्त्या मनोऽहङ्कारबुद्धीः परतत्त्वे विलाप्य विश्राम्येत् । एवं सूक्ष्मशरीरशुद्धिर्भवति-इति गुरवः ॥३३॥

उसी चिति केन्द्र से प्राण जीवन लेकर शरीर में आता है । द्वादशान्त की विश्रान्ति में ही यह शाक्तबल जीव को प्राप्त होता है ।

यह सब साधना का विषय है । आचार्य क्षेमराज ने इसे बहुत सामान्य रूप से ही व्याख्यायित किया है । यद्यपि सारी श्वास साधना आणव समावेश की साधना ही होती है, फिर भी इससे शाम्भव भाव की उपलब्धि होती है । यह निश्चित है ।

जहाँ शुद्ध वायु से तनु को आपूरित करने बात कही गयी है, वहाँ आचार्य क्षेमराज इतना ही अर्थ बता रहे हैं कि, उस शाक्त स्पर्श से शरीर को भर ले । फिर कुम्भक में कुछ समय प्रवेश निरोध कर हृदय से मूलाधार तक रोके रहे । फिर ऊर्ध्व रेचक करे । कुम्भक के प्रकर्ष से शाक्तबल प्राप्त कर दिव्य करण युक्ति से प्राणाश्रित स्वात्म को मुण्डान्त व्योम में स्थापित करे । इसका नाम उन्होंने प्रणवोच्चार सगर्भ प्राणायाम कहा है ।

अन्त में अपने गुरु क्रम की कुछ बातें लिखकर इसकी पूर्ति करने की पूरी चेष्टा की है । इसके अनुसार रेचन से लेकर व्योम विश्रान्ति रूप पाँच विचारणीय बिन्दु हैं । इन्हें ऊपर कहा गया है । इनमें धारणा पञ्चक का समावेश कर विकल्प विश्रान्ति पूर्वक मन, अहङ्कार और बुद्धि को परतत्त्व में विलापित कर देते हैं । इससे सूक्ष्म शरीर की शुद्धि होती है ।

आणव समावेश की साधना उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पन के पाँच सोपानों की साधना है । यह ३३वाँ श्लोक उच्चार साधना का प्रतीक है । वस्तुतः यह प्राणायाम की प्रक्रिया नहीं है । अपितु श्वास के अयत्नवाह क्रम में यत्न वाह की आयास रहित विधि उन्मना में पराशूलाब्ज में समाहित होने की साधना मात्र है । जहाँ तक ऊर्ध्व रेचन की बात है, वह उदान वायु और अश्विनी मुद्रा के फल स्वरूप नाद से उन्मना तक की सोपान क्रम की साधना की रहस्य सूचना है । इस विषय में श्री तन्त्रालोक के पञ्चम आह्निक मे मैंने इस विधि को पूर्णतया विश्लिष्ट किया है । यह सब मैंने आचार्य के विपरीत नहीं मात्र अपने वैमत्य का ही संसूचन किया है, मेरे गुरुदेव मुझे क्षमा करेंगे । ये सम्प्रदाय की परम्परा से प्राप्त साधना के सोपान हैं । अतः इन पर निष्पक्ष व्यापक विचार होना चाहिये ॥३३॥

किंरूपमात्मानमित्याह–

खद्योतकनिभं सूक्ष्मं करणैस्तु विवर्जितम् ।।३४।।
कार्येणैव विहीनं च मायाप्रध्वस्तगोचरम् ।

'खद्योतकनिभं' प्रकाशमात्रतत्त्वम् 'सूक्ष्मम्' अवेद्यम्, 'करणैः' त्रयोदशभिरिन्द्रियैः 'कार्येण' स्थूलसूक्ष्मात्मना दशविधेन, प्रध्वस्तो 'मायागोचरः' कालनियत्यादिर्यस्य इति व्यत्ययः पूर्वनिपातस्य ।।३४।।

एवं [१]शुद्धतामापादितोऽपि–

शिवीकार्यस्तथात्मैव यथा भवति तच्छृणु ।।३५।।

'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' ।

इति न्यायात् । 'शृणु' अन्तः परामृश ।।३५।।

स्वात्म विलापन भी चर्चा ऊपर श्लोक में की गयी है । यहाँ उसके स्वरूप के सम्बन्ध में स्पष्ट कर रहे हैं–

आत्मा का स्वरूप उस अवस्था में जुगनू के समान सूक्ष्म रहता है । उसके संस्कार में ऐन्द्रयिक विकल्प नहीं रहते । करण अर्थात् इन्द्रिय वर्ग से वह रहित होता है । करण की वर्जना में कार्य की सम्भावना भी नहीं होती । साथ ही माया का प्रभाव पूर्णतया प्रध्वस्त हो गया होता है ।।३४।।

खद्योत की उपमा प्रकाश मात्र सतत्त्वता को व्यक्त करती है । इसीलिये सूक्ष्म विशेषण से उसे विशिष्ट भी किया गया है । तेरह इन्द्रियों का अर्थ लेना चाहिये । स्थूल और सूक्ष्म दो भेदों वाले कार्य अवान्तर भेद से दश प्रकार के माने जाते हैं । माया से गोचर होने वाले कला, काल, नियति आदि के संस्कार भी प्रध्वस्त हो जाते हैं । यहाँ पर प्रध्वस्त का पूर्व प्रयोग मध्य में किया गया है । इसे पूर्व निपात का व्यत्यय कहते हैं ।।३४।।

इस तरह शुद्धता को आपादित कर चुकने के बाद भी उसे स्वात्म के शिवीभाव का भावन करना ही चाहिये । यह कैसे होता है, इसका आन्तर विमर्श स्वयं ही करना साधक का कर्त्तव्य है ।।३५।।

वस्तुतः आगमिक सिद्धान्त है कि, 'शिव रूप हो कर ही शिव का 'यजन' होना चाहिये ।' इस न्याय के अनुसार ही स्वात्म को शिव के रूप में परामर्श करना अर्थात् आन्तर विमर्श करते हुए इसे स्वात्मसात् कर लेना चाहिये ।।३५।।

---

१. ख. पु. शुद्धात्मतामिति पाठः ।

परं भावं तु सङ्गृह्य

'अहमेव[१] परो हंसः शिवः परमकारणम्' ।

इत्यादौ वक्ष्यमाणं परं स्वभावं सम्यगिति अविकल्पावष्टम्भेन, गृहीत्वा स्वीकृत्य[२] ।

अत एव सृष्टिसंहारकारिपरमेश्वररूपसमावेशात्–

ततः शोष्य तनुः प्रिये ।

सूक्ष्मायाः शुद्धत्वात् स्थूला ।

कथम्–

संहारेण यभिन्नेन रुद्रबीजयुतेन च ।।३६।।

इस प्रकार पर भाव का साक्षात्कार कर लेने पर अर्थात् "मैं ही परात्पर 'हंस' रूप आत्मा परमहंस हूँ । हंसरूप परम कारण शिव मैं ही हूँ" इस महाभाव को अर्थात् पराभावभरित स्वात्मभाव को विकल्प रहित स्थिति में (निर्विकल्प में) शाश्वत अवष्टम्भ की दृढधारणा आवश्यक है । सम्यक् रूप से अपने संस्कार में धारण करने से अपने में एक विचित्र समावेश उत्पन्न होता है । यह एक प्रकार का शाम्भव समावेश ही माना जाता है । उक्ति है कि,

'मत्त एवोदितमिदं, मय्येव प्रविलीयते ।[३]

मदभिन्नमिदं सर्वम् ....।।'

इस समावेश दशा में दार्ढ्य से सृष्टि, संहार आदि के कर्त्तव्य से समन्वित परमेश्वर भाव साधक में उल्लसित हो जाता है ।

इसके बाद भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, प्रिये ! शरीर का यह स्थूल रूप साधक द्वारा शोष्य हो जाता है । सूक्ष्म शरीर तो स्वयम् सूक्ष्म है । उसके शोषण की आवश्यकता नहीं होती । प्रश्न है कि, इसका शोषण का उपाय क्या है इसी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं–

'य' से भिन्न (युक्तः) संहार अर्थात् क्ष अक्षर युक्त कर रुद्रबीज से भी उसे युक्त करने पर जो बीज मन्त्र उद्धृत होता है, उसी से शोषण करना चाहिये ॥३६॥

---

१. ख. पु. अवमेवेति पाठः ।

२. क. ख. पु. स्वीकार्येति पाठः ।

३. श्रीतन्त्रालोकः ३/२८०

संहारः क्ष् ईशानस्फाररूपो यभिन्नो य इत्यनेन युक्तः रुद्रबीजम् ऊकारः, बिन्दुरत्राक्षिप्तः[1] एवमन्यत्र। अत्र देहे पार्थिवीं धारणां कृत्वा तच्छोषणे वायवी धारणा स्मर्तव्या। तनोः शोषोऽहन्ताभिमानरसतनूभावः ॥३६॥

तेनैव दहनं कार्यमूर्ध्वाधोऽग्नियुतेन च।

तेनैवेदानीं निर्णीततत्त्वेन संहारेण, ऊर्ध्वाधोऽग्निना रेफेन युक्तेन तेन र् क्ष् र् य् ऊँ इति पिण्डीकृतबीजाक्षरेणाग्नेय्या धारणया कालाग्निना आ पादान्मुण्डान्तं दहनम्–इति अहन्ताभिमानपाशस्य प्लोषणं कार्यम्।

'क्ष' अक्षर संहार बीज माना जाता है। 'य्' अक्षर ई और अ के योग से यण सन्धिभाव में निष्पन्न होता है। 'ई' ईश्वर-बीज अक्षर है। ई बीज के स्फार के कारण 'य' से युक्त होने पर 'क्ष्य्' बन जाता है। रुद्र बीज 'ऊ' कार को कहते है। इससे युक्त हो जाने पर 'क्ष्यू' रूप में निष्पन्न होता है। इसमें बिन्दु का प्रयोग गुरु परम्परा के अनुसार करते है। अब यह 'क्ष्यूं' शोषक बीज रूप में 'उद्घृत' हो जाता है।

शोषण बीज के निष्पन्न होने की बात भगवान् ने पार्वती को बनाया। इससे शरीर के शोषित करने की विधि आचार्य क्षेमराज स्पष्ट कर रहे हैं। उनके अनुसार सर्व प्रथम पार्थिव शरीर में पार्थिवी[2] धारणा को दृढ़ता पूर्वक अनुष्ठित कर लेना पड़ता है। इसके बाद वायवीधारणा के प्रयोग के साथ शोषक बीज का प्रयोग करना चाहिये। इसी धारणा से स्थूल का शोषण होता है। तनु के शोषण का तात्पर्य इसे सुखाकर काँटा बनाने का नहीं, अपितु इसमें जो अहमात्मक अशुद्ध अभिमान का रस भरा हुआ है, उसे सुखाना है। इससे अशुद्ध 'अहं' की निवृत्ति और शुभ्र का जागरण हो जाता है ॥३६॥

उसी संहार बीज से जिसके आगे और पीछे दोनों ओर अग्निबीज का प्रयोग किया गया हो और रुद्रबीज युक्त य् (बिन्दु सहित) भी उसमें मिलता हो, ऐसी पिण्ड विधि से निष्पन्न बीज मन्त्र से आग्नेयी धारणा द्वारा स्थूल शरीर के शोषण के बाद दहन करना चाहिये। श्लोक का सान्वय शब्दार्थ इस प्रकार होगा–

१. तेन एव= उससे ही अर्थात् पूर्वोक्त संहार बीज 'क्ष्' से ही

२.ऊर्ध्वाधो= ऊर्ध्व ऊपर और अधः नीचे अर्थात् दोनों ओर

३.अग्नियुतेन च= अग्निबीज रेफ माना जाता है। यह 'क्ष्' के दोनों ओर लगाने से 'र् क्ष् र्' स्थिति बनती है।

---

१. ख. पु. अर्थाक्षिप्त इति पाठः।

२. आमाणमित्त मम् १६-३९

अधो विष्णुसमायुक्तो वायुवर्णः सबिन्दुकः ।।३७।।
उत्पूयनकरो ह्येष

विष्णुरुकारः, वायुवर्णो य्, उत्पूयनमुत्प्लवनं प्लुष्टस्यापि देहाभिमानस्य संस्कारशेषस्य वायव्या धारणयैव निर्धूननम् ॥३७॥

प्लावने वारुणः स्मृतः विन्दुमस्तकसंभिन्नः ।

वारुणो वकारः सबिन्दुको वारुणधारणया ऊर्ध्वद्वादशान्तादधोमुखं प्रवृत्तैः[1] पूर्णचन्द्रकारबिन्दुप्रसरत्सितप्रकाशवारिपूरैरशेषप्लावकः स्मृतः,स प्लावने[2] भाविशुद्धसर्गभित्तिविरचने प्रभवतीत्यर्थः । सर्वाणि चैतानि बीजानि परस्वस्वभाव-

---

४. य् से युक्त रुद्र बीज ऊकार,बिन्दु युक्त श्लोक ३६ से अन्वित करने पर र्+क्ष्+र्+यूं का पिण्डरूप 'र्क्ष्र्यूं' बीज मन्त्र बनता है । यह आग्नेयी[3] धारणा का बीज है । इससे शुष्क स्थूल शरीर का दहन करते है । इसे कालाग्नि बीज भी कहते हैं । इसमें (ऊर्ध्व आ अधः) ऊपर से नीचे सृष्टि क्रम से या नीचे पैर से शिरोभाग तक संहार क्रम से दहन करने की प्रक्रिया अपनायी जाती है । यहाँ दहन करने का तात्पर्य अशुद्ध अहन्ता के अभिमान रूप पाश का पूर्णतया प्लोषण हो जाना ही है । यह क्रिया यज्ञ कर्त्ता को अपनानी चाहिये ॥३७॥

विष्णु शब्द कूट शब्द है । इसका अर्थ ह्रस्व 'उ' कार होता है । वायुवर्ण 'य्' माना जाता है । यह विष्णु से युक्त होने और स बिन्दुक अर्थात् बिन्दु रूप अनुस्वार से युक्त होने पर 'युं' रूप वायवी[4] धारणा का बीज मन्त्र बन जाता है । यह उत्पूयनकरी धारणा मानी जाती है । उत्पूयन, उत्प्लवन तथा प्लुष्ट का ऊर्ध्व निर्धूनन (भस्म को हवा से उड़ा देने) अर्थ में यह वायु बीज काम करता है । देह का अभिमान जब प्लुष्ट हो जाता है अर्थात् जलकर राख हो जाता है, तो इसी बीज से उसे बाहर उड़ा देते हैं ॥३७॥

भीतर बची राख को भी पानी में बहा देने से पूरी सफायी हो जाती है । इसके लिये वारुण बीज का प्रयोग करते हैं । वारुण अर्थात् वरुण देव का बीज वर्ण 'व' है । यह भी इस बिन्दुमस्तक संभिन्न प्रयोग में सबिन्दुक होता है । अर्थात् 'वं' इस बीज के उच्चारण के साथ वरुण का महाप्रवाह प्रवाहित होकर उस देहाभिमान की राख को

---

१. क. पु. प्रवृत्तेरिति पाठः ।
२. क. पु. संप्लावन इति पाठः ।
३. मा. वि. तन्त्रम् १३/२०-३३
४. श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्रम् १३/३४-५३

प्रभाभूतानि विचिन्त्यानि । अत्र च विषस्येव मारकत्वं मन्त्रयुक्त्या देहस्याहमभिमानात्मकपाशरूपत्वं दह्यते, प्रतिदिनं तदभ्यासप्रकर्षेण च शिवाहन्तोज्जृम्भते, न तु साक्षाद्देहो दह्यते प्रत्यक्षबाधात् । अत एवानादिदेहाहङ्कारस्यापसार्यत्वात् प्रत्यहं शुद्धात्मस्थितिग्रहणतदानयनामृतप्लावनभैरवतापादनादि क्रियमाणं युक्तमेव ।

बहाकर विश्वात्म को अर्पित कर देता है । शरीर में ऊर्ध्व द्वादशान्त से अधः प्रवाहित उस वारुण धारा में अनुस्वार और अर्धचन्द्र का प्रसरित प्रकाश चमक भरता रहता है । इसी के फलस्वरूप सारा मल समाप्त हो जाता है । इसके उत्पूयक और उत्प्लावक होने की यही प्रक्रिया आधार है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, शिष्य के भविष्यत् अस्तित्व में शुद्धता का पावन उल्लास होगा ही, इसमें सन्देह नहीं ।

धारणाओं की जो प्रक्रिया मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में विस्तार पूर्वक प्रदर्शित है, यह प्रक्रिया उस प्रकार की नहीं है । यहाँ मात्र इन धारणाओं का सबीज स्मरण करते हैं और उसी स्मरण जन्यफल की अनुभूति से भर जाते हैं । इसे सबीज धारणा स्मरण प्रयोग कह सकते हैं । ये सभी बीज परात्पर शिव स्वभाव प्रभाव की प्रभा के पुञ्ज रूप हैं । इनका स्मरण ही महान फलप्रद माना जाता है ।

विष का कार्य है, अपने प्रभाव से जीवन को संहार में बदल देना । मारने के लिये जहर का उपयोग लोग करते ही हैं । विष में मारकत्व होता है । इसी युक्ति से यज्ञकर्त्ता के शरीर पर पाशों के प्रभाव को समाप्त करने के लिये तथा देह के अशुद्ध अहन्ताभिमान को भस्मसात् करने के लिये मन्त्रों का प्रयोग करते हैं । सभी तत्त्वों के बीजमन्त्र यहाँ ऊपर वर्णित हैं । उनका प्रयोग करना चाहिये ।

वस्तुतः यह अभ्यास मात्र एक दिन का ही नहीं है ।यह जीवन भी एक यज्ञ है । इसके लिये व्यक्ति इन बीजों का प्रतिदिन नियम पूर्वक प्रयोग करे । प्रतिदिन के इस प्रकार के प्रयोग से शिवाहन्ता ध्रुव रूप से उज्जृम्भित हो जाती है । साक्षात् शरीर भी दग्ध नहीं होता । दग्ध हो भी नहीं सकता । इसमें रहने वाले पाशमात्र ही दग्ध होते हैं ।

इसलिये साधक का यह कर्त्तव्य होता है कि, अनादि रूप से संस्कारतः प्राप्त शरीराध्यास रूप अशुद्ध अहन्ता रूप अहङ्कार का अपसारण नियमतः अनुष्ठान की तरह किया जाय । प्रतिदिन शुद्धात्मता का ग्रहण किया जाय । प्रतिदिन शैव महाभाव का आनयन हो, प्रतिदिन पाशों का दहन हो, राख का निर्धूनन हो और अमृत के महाप्रवाह से प्लावन हो,तो निश्चित है कि, भैरवभाव की प्राप्ति होती ही है । यह अनिवार्यतः आवश्यक रूप से करणीय कार्य है,इसमें सन्देह नहीं ।

एवमशुद्धदेहसंहारयुक्तिमुक्त्वा शुद्धदेहसृष्टिं वक्तुमाह–

शक्तिन्यासस्ततो भवेत् ।।३८।।

ततो देहदाहाद्यनन्तरं विश्ववैचित्र्यं बिभ्रत्याः पारमेश्वर्या[1] मनोन्मनिकायाः शक्तेर्भाविमन्त्रमयशुद्धदेहनिर्माणभित्तिभूताया न्यासो भवेत् ॥३८॥

तदनु–

आनयेत्तं यथानीतं प्लावयेदमृतेन तु ।

यथेति मध्यमार्गोर्ध्वरेचकेण नीतं 'तम्' आत्मानमूर्ध्वरेचकेणैव[2] 'आनयेत्' शक्तिदेहस्य मध्यं हृदयं कल्पनया प्रापयेत 'अमृतेन' परभावसमावेशावष्टम्भरसेन 'प्लावयेत्' भैरवाभेदपरामर्शमयं कुर्यादित्यर्थः । यथाभूतश्चासौ पूर्वं हृत्पादावस्थितोऽभूत् तथाभूतमेव नीतं तमानयेत् ।

इस तरह अशुद्ध देह का उपसंहार हो जाता है । इन तथ्यों के विश्लेषण के उपरान्त शुद्ध शरीर की सृष्टि कैसे की जाती है, इस सम्बन्ध में आगमिक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं –

इसके बाद शरीर में शक्ति का न्यास भी प्रतिदिन करना चाहिये । उसकी विधि के सम्बन्ध में उनका कहना है कि, मन्त्रमय शुद्ध शरीर निर्माण की भित्ति या आधार स्वरूप 'मनोन्मनी' शक्ति का न्यास करना चाहिये । देहगत पाश अबदग्ध हो गये हैं । उस समय विश्व वैचित्र्य का संभरण करने वाली शक्ति का आश्रय ही एकमात्र उपाय है ॥३८॥

भगवान् कह रहे हैं कि, इस प्रयोग में 'तम्' अर्थात् विधि के अनुसार जिस मार्ग से उन्मनाभाव में पहुँचाया गया था, उसी मार्ग से 'आनयेत्' अर्थात् ले आना चाहिये । इसके लिये आचार्य क्षेमराज ने 'ऊर्ध्व' रेचन के शैव' विधि का प्रयोग किया है ।

वस्तुतः इसकी साधना प्रक्रिया में अश्विनीमुद्रा के द्वारा चक्र भेदन करते हुए तालुरन्ध्र से आज्ञाचक्र को पार करते हुए उदान वायु के द्वारा उन्मना तक पहुँचा जा सकता है । शक्ति देह का न्यास करने के लिये उसी मार्ग से हृदय तक ले आना होता है । यह सब साधना की प्रक्रिया है । इसे गुरु द्वारा जानना चाहिये । हृदय तक ले आने में सामान्य जन कल्पना का भी प्रयोग करते हैं । यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है । हृदय पारिभाषिक शब्द है । यह केन्द्र अर्थ में प्रयुक्त होता है । शरीर के भूर्भुवस्वः तीनों भागों में भुवः मध्य है । साधना में नाभि केन्द्र को मध्य मान कर प्राणापानवाह का सांचालन होता है । इसलिये नाभि तक देह में पूरक भाव में लाकर ही 'अमृतेन प्लावयेत्' अर्थात् अमृत से प्लावित करते हैं ।

---

१. ख. पु. पारमेश्वर्या इच्छात्मन इति पाठः ।

२. ख. पु. ऊर्ध्वपूरकेणेति पाठः ।

कीदृशं च–

मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम् ।।३९।।
रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा ।
नियत्या यमितं भूयः पुंभावेनोपबृंहितम् ।।४०।।
प्रधानाशयसम्पन्नं[1] गुणत्रयसमन्वितम् ।
बुद्धितत्त्वसमासीनमहङ्कारसमावृतम् ।।४१।।
मनसा बुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः ।

युक्तमिति शेषः । नयनानयनपात्रत्वादेव संकोचाभासरूपेण 'मलेन प्रध्वस्तं' गुणीभूतं चैतन्यं' यस्य, अत एव 'किञ्चित्कर्तृत्वज्ञातृत्वरूपाभ्यां 'कलाविद्याभ्यां समाश्रितम्' । एवमन्यत् । अन्येषां च कलादीनां स्वरूपमुत्तरत्र स्वावसरे निर्णेष्यामः ।।४१।।

नाभिकेन्द्र को मातृकेन्द्र या पौर्णमास केन्द्र भी कहते हैं । अपान चन्द्र रूप सोमतत्त्व का अमृत यहाँ तक व्याप्त होकर शरीर को अमृतत्व से आप्लावित करता है । यह साधना प्रक्रिया का क्रम है । यहाँ पर कल्पना द्वारा अमृत को परभाव में समावेश के माध्यम से उसमें अवष्टम्भ करते हैं । उसी के आनन्द को ही अमृत कह रहे हैं । इस अमृतत्व प्रकल्पन में भैरवाभेद परामर्श होता है । यह अभेद रूप अद्वय परामर्श ही अमृत का प्लावन है । इसमें विधि क्रिया का निर्देश कर भगवान् अप्रत्यक्ष आदेश ही दे रहे हैं कि, शिवभक्ति योग सम्पन्न साधक को यह नियमतः करना ही चाहिये ।

इस स्थिति में आ जाने पर याजक साधक का पूरा शरीर सुधा से सराबोर हो जाता है । पाश रहित निष्कल भाव से भरित शुद्ध अहन्ता के आनन्द की अनुभूति से आपाद मस्तक भर उठता है ।।३८।।

इस स्तर पर पहुँच जाने की स्थिति भैरवाभेद परामर्शमयी मानी जाती है । इसके बाद अब शुद्ध देह की उत्पत्ति में ऐसे तत्त्वों का न्यास करना होगा,जो इस प्रकार की शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, देवेश्वरि पार्वती ! ये तत्त्व संख्या में इकतीस हैं । इन सबका न्यास प्रणव के माध्यम से ही किया जाता है । इसका क्रम इस प्रकार है–

शरीर में जब तत्त्व न्यास करना होता है,तो इस बात के लिये तत्त्वों को समझते रहना होगा कि, इन सब के चैतन्य की क्या स्थिति है ? भैरवाभेद परामर्श के कारण साधक का स्वात्म नितान्त शुद्ध है । इसके विपरीत तत्त्वों का चैतन्य मल से प्रध्वस्त है अर्थात् चैतन्य गौण हो गया है ।

---

१. ग. पु. शयमापन्नमिति पाठः ।

यदेतन्मायादिक्षित्यन्तं तत्त्वजातम्-

प्रणवेन तु तच्छरीरोत्पत्तिकारणम् ।।४२।।
न्यसेत्क्रमेण देवेशि त्रिंशदेकं च संख्यया ।

'शरीरोत्पत्तेः कारणं' मायादिक्षित्यन्तं तत्त्वानि एकत्रिंशतं 'प्रणवेन' श्रीमन्निष्कल[1] तुल्यव्याप्तिकेन शुद्धदेहोपपत्त्यर्थं 'न्यसेत्' । प्रणवन्यासाच्चैतानि प्राग्दशातोऽन्यादृश्येव । तथा हि-अख्यातिरूपा माया भेदप्रागल्भयाविमोहिनी अस्य, कला पूजाध्यानादिकिञ्चित्कर्तृत्वोन्मीलिका, विद्या तात्त्विकविवेकप्रदा, रागो भक्त्यभिष्वङ्गप्रदः, कालः उपदेशादि विषयकलनाप्रदः, नियतिः भगवदाराधनादौ नियामिका, पुंभावः 'अहं शिव एव' इति प्रथाप्ररोहकः । एवमन्यत् ।।४२।।

अस्यास्तत्त्वैकत्रिंशतो मध्यात्

षट्तत्त्वी त्वात्मसम्बद्धा ज्ञातव्यात्र वरानने ।।४३।।

सबसे पहले कला और विद्या की बात आती है । ये दोनों अख्याति रूप माया की पुत्री शक्तियाँ है । कला सर्वकर्त्ता शिव को किंचित्कर्तृत्व सम्पन्न बनाकर संकुचित कर देती है । वहीं अशुद्ध विद्या सर्वज्ञ शिव को अल्पज्ञ बना देती है । अख्यातिरूपा माया के दो पुत्र राग और कला ऐसे समय में कब चूकने वाले हैं । राग आत्मा को रञ्जित करता है और 'काल' आत्मा को काल-कवलित करने के प्रयत्न में लगा रहता है । माया की तीसरी और पाँचवीं सन्तति नियति कहलाती है । यह सर्वव्यापक परमात्मा को शरीर में व्याप्त करने पर विवश करती है । ये उक्त षट् कञ्चुक कहलाते हैं ।

इस प्रक्रिया में ये सभी सहायक बन जाते हैं । जैसे-**माया** भेद के भयप्रद भाव से विमुग्ध नहीं करती । **विद्या** अब अशुद्ध भाव छोड़कर तात्त्विक ज्ञान की ओर प्रवृत्त करने का पुण्य कार्य करती है । **कला** अल्प पूजा ध्यान आदि में प्रवृत्ति रूप अपनी नयी सक्रियता में लग जाती है । **राग** भक्ति का अभिष्वङ्ग (आसक्ति पूर्ण स्नेह) प्रदान करने लगता है । **काल** उपदेश आदि में कितने समय लगे-इसकी कल्पना करने लगता है । और **नियति** भगवन् की अराधना उपासना आदि में नियामिका के उत्तर दायित्व का निर्वाह करने लगती है । यह नव देह सृष्टि की सार्थकता का अभिनव स्वरूप सामने आ जाता है ।

---

१. ख.पु. निष्कलभट्टारक इति पाठः ।

मायादिनियत्यन्ता कञ्चुकरूपा 'षट्तत्त्वी' 'आत्मन:' पुँस्तत्त्वस्य तण्डुलकम्बुकवत् सम्यगालक्ष्य पृथक्तया बद्धा ज्ञातव्या न त्वस्यामात्माभेदो ग्राह्य: । एवमात्मन: परो देह: ।।४३।।

स्थूलसूक्ष्मौ युगपदाह–

प्रधानावनिपर्यन्तं शरीरं च विनिर्मितम् ।

ज्ञातव्यमिति लिङ्गविपरिणामात् । 'विनिर्मितं' कृत्रिमं न तु तात्त्विकमित्यर्थ: ।

जहाँ तक **पुरुषतत्त्व** का प्रश्न है, यह शिवोऽहं अर्थात् मैं स्वयं शिव ही हूँ, इस पावन प्रथा के प्ररोह की प्रेरणा देता है । **प्रधान** अर्थात् प्रकृति त्रिगुणात्मक के सामरस्य रस से समन्वित करती रहती है । **बुद्धि** स्वात्म का प्रबोध में प्रवृत्त कर देती है । **अहङ्कार** अशुद्धि के विपरीत शुद्धि वातावरण बनाकर स्वात्म को शिवभाव में समावृत कर देता है । दशों इन्द्रियों को मन के साथ स्वात्म संवित् का प्रसाद मिल जाता है । यह नव सृजन का साक्षात्कार अपने में अत्यन्त मनोरम है ।

स्वात्म में इन सभी तत्त्वों को केवल प्रणव के साथ उन स्थानों पर न्यस्त करते हैं । यही न्यास नये शरीर की उत्पत्ति का कारण माना जाता है । इन्हें इनके क्रम के अनुसार ही न्यस्त करना चाहिये । जैसे 'ॐ मायायै नम: आवाहयामि तव स्थाने न्यसामि च नम:' यह ऊह मन्त्र बन सकता है । भूतत्त्व से लेकर माया तक ३१ तत्त्व होते हैं । इनका क्रमिक न्यास नव देह सृजन प्रक्रिया के लिये परम आवश्यक है ।।३९-४२।।

इन तत्त्वों में शीर्षस्थानीय छ: तत्त्वों अर्थात् १. माया, २. कला, ३. विद्या, ४. राग, ५. काल, ६. नियति को 'षट्तत्त्वी' कहते हैं । इन्हें षट्कञ्चुक भी कहते हैं । माया से नियति पर्यन्त ये तत्त्व पुरुष तत्त्व से उसी प्रकार से सम्बद्ध हैं, जिस तरह तण्डुल के ऊपर कम्बु (भूसी-तुष) लगा रहता है । इसी लिये शास्त्र इसे अर्थात् षट्तत्त्वी को स्वात्म संम्बद्ध मानता है । इस तरह न्यास से आत्मा का नवीन शरीर बनता है, यह ध्यातव्य है ।।४३।।

इस तरह स्थूल और सूक्ष्म दो शरीर्र यहाँ स्पष्ट रूप से अनुभूति के विषय बन रहे हैं । एक तो प्राकृत है । स्थूल है । दूसरा शरीर विनिर्मित है । कृत्रिम है । प्रधान से पृथिवीतत्त्व पर्यन्त ३१ तत्त्व मय है । 'ज्ञातव्यम्' में लिङ्ग विपरिणाम भी यहाँ द्रष्टव्य है ।

अत्र च–

चतुर्विंशतितत्त्वानि चैतन्यरहितानि तु ।।४४।।

द्रष्टव्यानि वरारोहे

'द्रष्टव्यानि' वेद्यतयैव निश्चेयानि ।।४४।।

यद्येतान्यचेतनानि कथमेतानि दृश्यन्ते? इत्याह–

पुरुषाधिष्ठितानि तु ।

सचेतनानि सर्वाणि ज्ञातव्यानि सदैव हि ।।४५।।

अधिष्ठितता [1]कलोद्वलितस्वकर्तृताच्छुरणम्, 'ज्ञातव्यानि' अहन्तापहस्तनेन वेद्यरूपाणि बोद्धव्यानि, बुद्धेरपि वृत्तिद्वारेण वेद्यत्वात् । वेद्यत्वादेवैतानि तण्डुलतुषवद्बहिरङ्गानि । षट्तत्त्वी तु आत्मनोऽन्तरङ्गप्रधानस्य संवेद्य[2]-परत्वमिति (?) ।।४५।।

एक बात और ध्यातव्य है कि, प्रधान से अवनि पर्यन्त २४ तत्त्व (महाभूत+तन्मात्रा+इन्द्रियाँ+अन्त:करण+प्रधान) चैतन्य से रहित हैं अर्थात् वेद्य मात्र हैं । भगवान् कह रहे है कि, मनोरमे पार्वति ! इस बात को गहरायी से देख कर सोचविचार कर निर्णयात्मक रूप से समझ लेना चाहिये ।।४४।।

प्रश्न यह होता है कि, यदि ये चैतन्य रहित हैं, तो इनके लिये 'द्रष्टव्यानि' इस विशेषण का उपयोग क्यों और किस आधार पर किया गया है? इसी का उत्तर दे रहे हैं–

वस्तुत: पुरुषतत्त्व से अधिष्ठित सभी सचेतन हैं । यह कहना उचित है । इसे हम अनुभव भी करते हैं । कला से शिव के आवृत हो जाने पर जीव में किञ्चित्कर्तृत्व रहता है । यही पुरुषतत्त्व की अधिष्ठितता है । कलोद्वलित स्वकर्तृता का च्छुरण यही है । इसमें अहन्ता का अपहस्तन हो जाता है । अहन्ता के अशुद्ध होते ही, उसमें वेद्यता का उल्लास हो जाता है । सभी वेद्य हो जाते हैं । बुद्धि यद्यपि ज्ञान कराती है । फिर भी वेद्य है । क्योंकि इसमें विविध विकल्प वृत्तियों का सद्भाव है । वेद्य होने के कारण ही ये तुषतण्डुल न्याय के अनुसार बहिरङ्ग मानी जाती हैं । जहाँ तक षटतत्त्वी का प्रश्न है, वह आत्मतत्त्व के अन्तरङ्ग तत्त्व रूप में प्रसिद्ध है । इस वाक्य के आगे प्रश्न वाचक चिह्न लगा है । यह इसके व्याकरण सम्बन्धी व्यतिक्रम को व्यक्त कर रहा है ।।४५।।

---

१. क. पु. कालोद्वलितेति पाठ: ।

२. ख. पु. पर्वत्वमिति पाठ: ।

तेन सह–

पञ्चविंशकमेतच्च प्राकृतं समुदाहृतम् ।

प्रकृतिरेव प्राकृतम्, प्रकृतेरायातं च 'प्राकृतं' गुणादिक्षित्यन्तमेव । 'ओं शुद्धदेहाय नम:' इति मन्त्रेण युगपत्षट्तत्त्वीरूपं परम्, तन्मात्रान्त:करणरूपं सूक्ष्मम्, पृथिव्यादिरूपं च स्थूलं परामृतप्लवितस्यात्मनो देहं न्यसेत् ।

तामेव शुद्धरूपतां स्फुटयितुमाह–

ततो मूर्तिं न्यसेद्देवि मूलमन्त्रसुलक्षितम् ।।४६।।

यह पचीस तत्त्वों का समूह 'प्राकृत' सर्ग के अन्तर्गत परिगणित होता है । आचार्य क्षेमराज का विग्रह प्रकृतिरेव प्राकृतं प्रकृति और प्राकृत के ऐकात्म्य का निदर्शक है । प्रकृतेरायातं हेतुवाद का प्रदर्शन है । यह प्राकृत सर्ग त्रिगुणात्मिका प्रकृति से पृथिवी पर्यन्त ही उल्लसित है । इसी सन्दर्भ में शरीर भेद दृष्टि से न्यास विधि की चर्चा कर रहे हैं –

१. सर्वप्रथम षट्तत्त्वी रूप पर शरीर का न्यास 'ॐ शुद्धदेहाय नम:' इस मन्त्र से करना चाहिये ।

२. ॐ सूक्ष्म देहाय नम: इस मन्त्र से तन्मात्रा और अन्त:करण रूप सूक्ष्म देह का न्यास करना चाहिये ।

३. इसके बाद ॐ स्थूल देहाय नम: इस मन्त्र से पृथ्वीतत्त्व प्रधान स्थूल देह का न्यास करना चाहिये ।

न्यास के इस अवसर पर साधक निरन्तर यह अनुभव करता रहे कि, मेरा स्वात्म शाश्वत परामृत से आप्लावित है । इन्ही शरीरों का यहाँ न्यास किया जा रहा है ।

शुद्धरूपता को और भी स्पष्ट कर रहे हैं–

इसके बाद ही मूल मन्त्र का अनुस्मरण करते हुए और मूलमन्त्र मयत्त्वरूप से परिलक्षित मन्त्रमय मूर्त्तिन्यास करना चाहिये । आचार्य क्षेमराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि, प्रथम पटल में निर्णीत ये बातें ध्यातव्य है । जैसे मूर्त्तिका प्रकल्पन प्रथम पटल के श्लोक ३९ में हंसाक्षर से ही करने का विधान निर्दिष्ट है । इस मूर्त्ति के विन्यास से अणुत्व का प्रविलापन हो जाता है ।।४६।।

सकलं भैरवं न्यस्य द्वात्रिंशार्णं सुलोचने ।
मुखानि कल्पयेत्पश्चान्मूर्धादिचरणावधि ।।४७।।
वक्त्राणि कल्पयेत्पश्चादूर्ध्वं पूर्वं च दक्षिणम् ।
उत्तरं पश्चिमं चैव यथावत्प्रविभागशः ।।४८।।
कलाभेदं यथापूर्वं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् ।
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च विद्याङ्गा लोचनत्रयम् ।।४९।।

फिर सकल भैरव न्यास करना क्रमसिद्ध प्रक्रिया है । सकल भैरव अशेषवाच्य वाचक शरीर रूप और चिन्मूर्त्ति से परिव्यक्त और अनुग्राह्य जनों पर अनुग्रह करने में समर्थ देव माने जाते हैं । इनका न्यास करे ।

तत्पश्चात् बत्तीस वर्णों में समुल्लसित अघोर मन्त्रराज का न्यास करना चाहिये ।

इसके बाद पञ्चवक्त्रों का ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम स्थित शिव के पाँच मुखों का प्रकल्पन 'क्षं' इत्यादि बीज मन्त्रों के साथ उन्हीं रूपों में स्वात्म में मूर्धा से चरण पर्यन्त[१] करना चाहिये । यह यथावत् अर्थात् निश्चित रूप से शास्त्र की मान्यता कवाटभङ्गी से अङ्ग भाग की परिकल्पना करके ही न्यस्त करना उचित है ॥४७-४८॥

कलाओं के भेद[२] जैसे पहले बतलाये गये हैं, उन्हीं के अनुसार न्यास करना चाहिये । सकल भैरव न्यास के बाद कलाओं और अध्वाओं को न्यास के लिये अध्वाशोधन के दीक्षा सन्दर्भ में निर्दिष्ट नियम ही अपनाया जाना उचित है । आगे कहा भी गया है कि,

'दीक्षा के समय अध्वाशोधन आवश्यक है ।अध्वाशोधन के उपरान्त ही दीक्षा देने का प्रकल्प उचित है ।'

जहाँ तक नव तत्त्व का प्रश्न है– १.प्रकृति, २.पुरुष, ३.नियति, ४.काल, ५.माया, ६.विद्या, ७.ईश्वर, ८.सदाशिव और ९.शिव यही नव तत्त्व माने जाते हैं । इनका प्रकल्पन भी समय से करना चाहिये ।

इसी तरह १.आत्म तत्त्व, २.विद्या तत्त्व और ३.शिव तत्त्व यही तीन तत्त्व माने जाते हैं । शरीर में इनका परिकल्पन भी अनिवार्यतया आवश्यक है ।

१. प्रथम पटल श्लोक ४६ ।
२. तदेव ५३-५९ ।

वर्गातीतेन क्षुरिकामूर्ध्वाधोऽग्निप्रदीपिताम् ।
षोडशान्तर्हता सा तु रक्षिका विघ्ननाशिका ।।५०।।
नवकं कल्पयेत्पूर्वं[1] मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्ठके ।
हृदये नाभिदेशे च गुह्य ऊर्वोश्च जानुत: ।।५१।।
पादान्तं चैव विन्यस्य स्वध्यानगुणसंयुतम् ।
क्रियाज्ञाने तथेच्छा च दक्षे वामे च मध्यत: ।।५२।।
विद्याराज: स्मृतो ह्येष भैरवे मन्त्रनायक: ।

सर्वमेतत्प्रथमपटल एव यथा निर्णीतसतत्त्वं तथेहोत्तरत्रापि चानुसन्धेयम्, विषममतिरिक्तं च व्याक्रियते । मुखानीति क्षादीनि, मूर्धादीति दण्डभङ्ग्या सहायमेव क्रमो युक्तो भैरवन्यासान्तं सृष्टिक्रमस्य स्थितत्वादित्युक्तत्वात्, अतो न नैष्ठिका-भिप्रायेणान्यथा व्याख्येयम् । 'यथावत्प्रविभागश:' इति कवाटवक्त्रभङ्गिभ्याम् । 'शोध्याध्वानम्' इति सकलन्यासान्ते कलाद्येकतममध्वानं भावियुक्त्या गर्भीकृते-तराध्वपञ्चकन्यासादिवशेन शोधनीयं दीक्षायामेव कल्पयेत् ।

विद्याङ्ग शब्द में शस् विभक्तियों को आ आदेश होने के कारण यहाँ विद्याङ्गानि के स्थान पर 'विद्याङ्गा' प्रयोग में लाया गया है । विद्याङ्गों के न्यास बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिये । ये बड़े महत्त्वपूर्ण वर्णात्मक रश्मिपुंज हैं । इसमें त्रिनेत्र न्यास तो और भी महत्त्व पूर्ण माना जाता है क्योंकि, यह ज्योति रूप 'ॐ जूंस:' इस लघु मृत्युंजय के रूप में किया जाता है ।।४९।।

क्षुरिका मन्त्र वर्गातीत 'क्ष' वर्ण में ऊर्ध्व और अध: दोनों ओर अग्नि से प्रदीप्त करना चाहिये । इसके साथ षोडशस्वरान्त (सोलहवाँ अ:) अर्थात् विसर्ग समन्वित करना चाहिये । इस प्रकार 'क्ष्र्:' बीज बनता है । यही क्षुरिका मन्त्र है । इसे कटि प्रदेश में न्यस्त करना चाहिये । यह क्षुरिका मन्त्र विघ्नों का विनाश करने वाला मन्त्र है ।।५०।।

इसके बाद श्रीस्वच्छन्द भैरव के साथ आठ कपालीश भैरव से लेकर विद्याराज पर्यन्त भैरवाष्टक[2] को मिलाकर भैरव 'नवक' का न्यास करना चाहिये । इनका न्यास क्रमश: १.मूर्घा, २.वक्त्र, ३.कण्ठ, ४.हृदय, ५.नाभि, ६.गुह्य, ७.ऊरु, ८.जानु और ९.पादान्त नामक अङ्गों में प्रकल्पित करना चाहिये । यह न्यास इन भैरवों के गुणों का ध्यान करते हुए होना चाहिये ।

---

१. ख. पु. पश्चादिति पाठ: ।
२. स्व०त० पटल १/७६-८६

यद्वक्ष्यति–

'दीक्षाकाले तु देवेशि शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् ।' इति ।

'विद्याङ्गा' इति शसोऽत्र आ-आदेशः, विद्याङ्गानीत्यर्थः । क्षुरिकामन्त्रः कट्यां न्यस्तः, स पूर्वमनुक्तत्वादिहोक्तः । 'वर्गातीतः' क्ष्, 'अग्निः' र् 'षोडशान्तः' षोडशस्वराणामन्तः अः, 'नवकम्' इति श्रीस्वच्छन्देशकपालीशाद्यष्टकोपेतम् । अस्य 'मूर्ध्नि' इत्यादिना निर्देशः । स्वस्य ध्यानादि समनन्तरं भविष्यति क्रियेत्यादि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्,

'ज्येष्ठाज्ञाने तथा दक्षे क्रिया वामा तथोत्तरे ।'

इति भाविग्रन्थेनैकार्थत्वात् प्राधान्याच्च दक्षिणे ज्ञानशक्तेर्वामे क्रियाशक्तेर्न्यासः ॥५२॥

परन्यासमाह–

निष्कलं तु तथावाह्य अङ्गान्येवं यथाक्रमम् ॥५३॥

न्यसेदित्येव । आ समन्ताद् द्वादशान्तादावाहयित्वा अवतार्येत्यर्थः । एवमित्यावाह्य, अङ्गानि च सर्वज्ञत्वादिगुणषट्करूपाणीति पूर्वमेवोक्तम् । तेनात्राङ्ग[1]

इसके बाद क्रिया, ज्ञान और इच्छा शक्तियों का न्यास करना चाहिये । इनके न्यास के क्रम के सम्बन्ध में दक्ष, वाम और मध्य का निर्देश शास्त्र में निर्दिष्ट है किन्तु शास्त्रीय सिद्धान्त की प्रतिपादिका एक उक्ति यह भी है कि, 'पाठक्रम से अर्थ क्रम बलवान् होता है ।' इसके अनुसार दक्षिण में ज्ञान शक्ति और उत्तर में क्रिया शक्ति का न्यास करना चाहिये । मध्य में इच्छा का स्वाभाविक न्यास मान्य है । इसी ग्रन्थ में आगे चल कर एक उक्ति है । उसके अनुसार ज्येष्ठा ज्ञान शक्तियाँ दक्षिण ओर तथा क्रिया और वामा का बाम भाग में न्यास होना चाहिये । अर्थक्रम बलीयान् के न्यायानुसार इस क्रम की सङ्गति भी बैठ जाती है । इसलिये शक्ति प्राधान्य दृष्टि से यही क्रम शास्त्र द्वारा समर्थित और सर्वतोभावेन मान्य है । यह ध्यान देन की बात है कि, नवक भैरव न्यास में अन्तिम न्यास विद्याराज भैरव का ही होता है । यह भैरव मन्त्रों का नायक माना जाता है । प्रथम पटल में इसे महापातक नाशन कहा गया है ॥५२॥

यहाँ पर न्यास की चर्चा कर रहे हैं । निष्कल का आवाहन कर उसके न्यास को यथाक्रम इस प्रकार सम्पादित करना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, निष्कल का आवाहन द्वादशान्त से होता है ।

---

१. ख. पु. अङ्गेति पदं नास्ति ।

त्राणरूपाण्यङ्गानीति तन्त्रान्तरयोजनमसत् । अङ्गन्यासावसरे मुद्राषट्कबन्धः कार्यः- इति गुरवः । तत्र हृदि निलीनाङ्गुष्ठा मुष्टिः, सैवोच्छ्रिताङ्गुष्ठा शिरसि, उच्छ्रित-तर्जनीका शिखायाम्, परस्परान्तरिताङ्गुलि पाणिद्वयं कवचे, मध्यमातर्जन्यनामि-काभिर्नेत्रत्रयस्पर्शो नेत्रे, तर्जन्यङ्गुष्ठच्छोटिकादर्शनमस्त्रे ॥५३॥

आवाहनानन्तरम्–

गन्धैर्धूपैस्तथा पुष्पैर्विविधैर्भक्ष्यभोजनैः ।
पूजयेद्देवदेवेशं मनसैव प्रकल्पितैः ॥५४॥

एवं च–

आत्मानं भैरवं ध्यात्वा ततो हृद्यागमाचरेत् ।

निष्कल के अङ्गों का प्रकल्पन पहले पटल के श्लोक ६४-६५ में किया गया है । उसके अनुसार १.सर्वज्ञता, २.तृप्ति, ३.अनादिबोध, ४.स्वतन्त्रता, ५.अविलुप्त शक्तिः, ६.अनन्त शक्ति, ये छः गुण हैं । ये सभी १.हृदय, २.शिर, ३.शिखा, ४.कवच, ५. नेत्रत्रय और ६.अस्त्र अङ्गों में न्यस्य हैं ।

किसी टीकाकार ने जिनका नाम आचार्य श्रीक्षेमराज ने नहीं लिया है, उसने अङ्गत्राण रूप अङ्ग की योजना की है । वह सम्प्रदाय विरुद्ध है । तन्त्रान्तरोक्त है । अतएव यहाँ अमान्य है ।

अङ्गन्यास के अवसर पर मुद्राषट्क रूप बन्ध करना ही चाहिये । यह गुरु परम्परा से प्राप्त क्रम है । इन्हीं का विवरण देते हुए कह रहे हैं कि,

१. हृदय में ऐसी मुष्टि बना कर सटायी जाय, जिसके भीतर ही अंगूठे को दबा लिया गया है ।

२. उस मुठ्ठी में से अंगूठे को ऊँचा उठाकर शिरोभाग पर दिखलाया जाता है ।

३. मुठ्ठी में तर्जनी को निकाल कर उच्छ्रित करके शिखा में मुठ्ठी सटायी जाती है ।

४. कवच में दोनों हाथों को परस्पर अन्वित कर लेते हैं ।

५. मध्यमा, तर्जनी और अनामिका से तीनों नेत्रों का स्पर्श करते हैं ।

६. तर्जनी और अंगूठे से अस्त्र प्रयोग कर चुटकी बजाते हैं ॥५३॥

आवाहन के बाद गन्ध, धूप, पुष्प आदि पूरक द्रव्यों से तथा विविध व्यञ्जनों के नैवेद्य समर्पण से देवों के देव महादेव निष्कल भैरव का अर्चन करना चाहिये । पूजा सामग्री प्रत्यक्ष तैयार न करके मानस पूजा से यह क्रम पूरा करना चाहिये ।

पुर्यष्टकशरीरमपि भैरवीकर्तुमयं प्रक्रम आरब्धः ॥५४॥

तत्र याज्यस्य भैरवरूपस्यात्मन आसनन्यासं तावद्वितत्य निरूपयति–

नाभौ कन्दं समारोप्य नालं तु द्वादशाङ्गुलम् ॥५५॥
हृदन्तं कल्पयेद्यावत्तत्र पद्मं विचिन्तयेत् ।
अष्टपत्रं महादीप्तं केसरालं[1] सकर्णिकम् ॥५६॥

इस प्रकार स्वात्म को ही भैरव भाव से भावित करना चाहिये । साधनावस्था की यह एक उपलब्धि मानी जाती है कि, साधक अपने इस अणुत्व का निराकरण कर भैरवतादात्म्य प्राप्त कर ले । इस प्रकार से अपने को भैरव रूप मानकर तब हृदय-याग का आचार पूरा करना चाहिये । हृद्-याग करने का यह उपक्रम पुर्यष्टक शरीर को भी भैरव रूप में अनुभूत करने के लिये किया गया है ॥५४॥

यह हृद्-याग एक तरह से आत्मयाग ही है । यहाँ स्वात्म रूप ही याज्य है । यह स्वात्म भी भैरवरूप ही है । इसके लिये सर्व प्रथम आसन की आवश्यकता होती है । इसके लिये यह क्रिया करे–

स्वात्म भैरव प्रमाता अब साधना की प्रक्रिया में उतर आता है । इस साधना में जिस आसन की परिकल्पना करते हैं, उसे षडुत्थ आसन कहते हैं । इसी पर साधक विराजमान होता है । यह आसन शरीरगत है । इसके पहले पूजा के बहिरङ्ग आसन पर वह बैठा हुआ था । इस पर वह वज्रासन या सुखासन का प्रयोग कर अपनी स्वात्म यजन प्रक्रिया पूरी करता है ।

सबसे पहला उसका काम होता है कि, अपने कन्द को वह नाभि तक ले जाने की साधना में परिपक्व हो जाये । यह सरल नहीं है । लिङ्ग और गुदा के बीच का गद्दीदार भाग 'कन्द' कहलाता है । जिस कमल के आसन की हम परिकल्पना कर रहे हैं, वह इसी कन्द से अङ्कुरित होता है । कन्द के नीचे मूलाधार चक्र है । पायु (गुदा) मार्ग है । इसे मत्तगन्ध भी कहते हैं ।

कन्द को नाभि तक समारोपित करने के लिये पायु में स्थित मूलाधार चक्र को ही परिचालित करना पड़ता है । विना मूलाधार की सहायता से कन्द में न तो कमल का उन्मेष हो सकता है और न ही नाभि तक उसका समारोपण हो सकता है । उसके लिये मत्तगन्ध-संपीडन युक्ति को अपनाना पड़ता है ।

---

१. ख. पु. सकेसरमिति पाठः ।

'कन्दं' पद्मोत्पत्तिमूलं 'समारोप्य' परिकल्प्य, मत्तगन्धपीडनयुक्त्या च कन्दं 'नाभौ' नाभिविषये समारोप्य उल्लास्य 'नालं' प्राणशक्तिरूपं नाभिहृदन्तरालस्य द्वादशाङ्गुलत्वात् द्वादशाङ्गुलमित्युक्तम् ॥५६॥

अत्र व्याप्तिमाह–

कन्दं शक्तिमयं तत्र नाले वै कण्टकास्तु ये ।
भुवनानि च तान्येव रुद्राणां वरवर्णिनि ।।५७।।

मत्तगन्ध का संपीडन अश्विनी मुद्रा के द्वारा किया जाता है । इसका बीज मन्त्र होता है । उसे कूर्च बीज कहते हैं । इस प्रयोग को सिद्ध तन्त्र योगी से सीखना चाहिये । इसे निर्भीक भाव से करने पर प्राण दण्ड के समान उल्लसित होने लगता है । यही प्राणदण्ड 'नाल' कहलाता है । यह नाल उसी कन्द से निष्पन्न होता है । कन्द से निकल कर स्वाधिष्ठान को भेदित करते हुए नाल नाभि में पहुँचता है । नाभि केन्द्र मातृकेन्द्र और पौर्णमास केन्द्र कहलाता है । इसमें मणिपुर चक्र होता है । इस चक्र के अग्नि बीज से प्राणदण्ड रूपी नाल और भी उद्दीप्त हो जाता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि, नाभि से हृदय चक्र अर्थात् अनाहत की दूरी बारह अङ्गुल की होती है । नाभि से हृदय पर्यन्त नाल भी द्वादश अङ्गुल का ही होता है । यह केवल कल्पना का विषय नहीं । जो नहीं जानता, वह कल्पना करे । यह उसकी विवशता होती है । जो इसमें सिद्ध है,उसके वज्रासन पर बैठते ही यह कमल केवल विकसित ही नहीं होता, वरन् उन्मना पर्यन्त उल्लास का आनन्द उसे मिलने लगता है ।

हृदय का यह कमल अष्टपत्रों से सम्पन्न होता है । इसमें अग्नि बीज की उद्दीप्ति भरी होती है । इस लिये वह महादीप्त होता है । उसमें केसर और कर्णिका का प्रकल्पन साधक करता है । यह प्रकल्पन किसी के लिये कल्पना का विषय हो सकता है । पर यह योग का सत्य है ॥५५-५६॥

मूलाधार का शाक्त उल्लास कन्द की सत्ता में शक्ति की दीप्ति को जागृत कर देता है । कन्द शक्ति मय हो जाता है । जहाँ तक नाल का प्रश्न है, यह कण्टकों से युक्त होता है । प्राण संवित् तत्त्व की परिणति माना जाता है । संवित् तत्त्व में मयूराण्ड रस न्यास से सारा भुवनाध्वा उल्लासित रहता है । इस प्राण दण्ड के नाल में ये कण्टक सारे भुवन ही हैं । इनमें प्रतिफलित कण्टक रुद्रों के ही भुवन माने जाते हैं । भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, सुन्दर वर्णों से समन्वित देवि पार्वति ! यहाँ तक कन्द और नाल रूप आसनों का रहस्य हमने तुम्हें समझाया । इसके विषय में तुम्हें पहले से ही जानकारी है कि, कन्द में जिस शक्ति का उल्लास होता है, वह इच्छा शक्ति ही मानी जाती है । यह मूल से निष्पन्न आधार रूपा शक्ति होती है ।

कल्पयेदित्यनुवर्तते । शक्तिरिच्छात्मा पारमेश्वरी आधारभूता यस्यां विश्वमिदमाध्रियते सा 'व्योमाकाराम्' वक्ष्यमाणत्वाद् गर्भीकृतधरादितत्त्वचतुष्टया । यथोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे–

'आदावाधारशक्तिं तु नाभ्यधश्चतुरङ्गुलाम्[१] ।

धरां सुरोदं पोतं च कन्दश्चेति चतुष्टयम् ।।' इति ।

तत्र अप्तत्त्वव्याप्त्या सुरार्णवम्, तेजोव्याप्त्या ख्यातं 'पोतम्, प्राणप्रसूतिहेतुं व्यूहात्मकं वायुव्याप्त्या कन्दमित्येवंव्यक्तिका शक्तिः प्रकृतं रूपं यस्य तत्सारमित्यर्थः । अत एव अङ्कुरनालरूपाशेषाध्वव्यक्तेः 'तत्र' गन्धतन्मात्रादिकलातत्त्वान्तनालव्याप्तिः । रुद्राणामिति तत्तत्तत्त्वाधिष्ठातृणाम् ।।५७।।

मायात्मको भवेद्ग्रन्थिरशुद्धाध्वव्यवस्थितः ।

विद्यापद्मं महादीप्तं कर्णिकाबीजराजितम् ।।५८।।

इसमें सारा विश्व गर्भित होता है । फिर भी यह व्योमाकार मानी जाती है । व्योमाकारा होते हुए भी आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप्, अप से पृथ्वी की नियमित उत्पत्ति के कारण उसमें धरा पर्यन्त ये सभी महाभूत तत्त्व चतुष्टय भरे रहते हैं ।

इसे ही श्री पूर्व शास्त्र (श्रीमालिनी विजयेत्तर तन्त्र) ८/५५/११० में कहा गया है कि,

"आदि में आधार शक्ति एवं नाभि से नीचे चार चार अङ्गुल के क्रम से धरा, सुरोद, पोत और कन्द की अवस्थिति का ध्यान रखना चाहिये ।" इस तरह मूलाधार में धरातत्त्व कन्द में अप् तत्त्व, अर्थात् सुरोद अर्थात् सुरासमुद्र, अग्नितत्त्व के रूप में पोत और प्राण के संप्रीणन के कारण व्यूहात्मक वायु का आधार कन्द यहाँ व्याप्त है । इस प्रकार अङ्कुरण से नाल रूप प्राणदण्ड का प्रकरण यहाँ रहस्य से अनुस्यूत होता है । यहाँ धरा से कला तत्त्व तक की व्याप्ति आचार्य क्षेमराज मानते हैं, जो सत्य अनुभव पर आधारित है । वस्तुतः रुद्र ही इन प्राणदण्ड स्थित भुवनों के अधिष्ठाता भी माने जाते हैं ।।५७।।

कन्द और नाल रूप आसन के बाद ग्रन्थि की चर्चा कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि, देवि पार्वति ग्रन्थि मायात्मिका होती है । इसी लिये कहा गया है कि, यह मायात्मका ग्रन्थि होती है । यह सब गाँठ है, जहाँ से सभी फूलों के पत्तों की उत्पत्ति होती रहती है । यही गाँठ अशुद्ध अध्वा में व्यवस्थित रहती है । माया के ऊपर तत्त्वों की जो व्यवस्थिति है, वह शुद्ध अध्वा कहलाती है ।

---

१. क. ख. ग. पु. आधार्याधारेति पाठः ।

महादीप्तमिति शुद्धाध्ववर्त्यशेषमन्त्रतेजोमयत्वात् ॥५८॥

पुष्कराणि च देवेशि तत्र विद्येश्वराः स्मृताः ।

एवं ध्यात्वा महापद्मं सर्वदेवमयं शुभम् ।।५९।।

'पुष्कराणि' बीजानि । 'विद्येश्वराः' अनन्तभट्टारकाद्याः शिखण्ड्यन्ताः । एवं कन्दनालग्रन्थिदलकर्णिकाबीजरूपं षडुत्थमासनं प्रसिद्धम् ॥५९॥

अशुद्ध अध्वा माया तक ही व्यवस्थित है । इन्हीं में यह गाँठ रहती है । इस लघुचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि, यह ग्रन्थि कहाँ है, जिससे पद्मपत्र निकलते हैं–

श्लोक ५६-५७

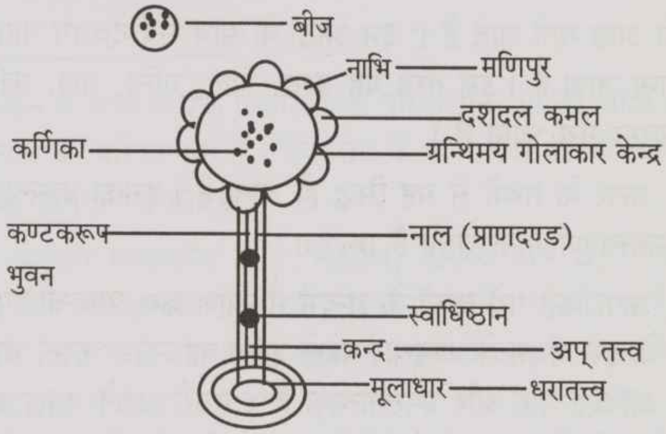

यह अशुद्ध विद्या पद्म है । इसे अत्यन्त दीप्त मानते हैं । इसका कारण है । इसके ऊपर शुद्धअध्वा का तात्त्विक तेजोमय मण्डल है । उसमें मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्र-महेश्वर, शाक्त और शैव चिति की चैतन्यमयी अर्चियाँ करोड़ों सूर्यों के समान देदीप्यमान हैं । उनका प्रकाश छन कर इस विद्या पद्म पर पड़ता रहता है । परिणाम स्वरूप यह भी महादीप्त हो जाता है । इसी के साथ कर्णिका के मध्य में बीजों से भी यह सुशोभित होता है ॥५८॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, देवेश्वरि ! पुष्कर भी वहाँ पुष्कल रूप में विद्यमान रहते हैं । पुष्कर शब्द मुख्य रूप से कमल वाचक है । यों इसके विभिन्न अर्थ होते हैं । इसके साथ बीज शब्द का अर्थात् पुष्कर बीज का अर्थ कमल बीज अर्थात् कमलगट्टा होता है । किन्तु यहाँ पुष्कर शब्द का ही अर्थ बीज लिखा हुआ है । सम्भव है, तत्कालीन भाषा प्रयोग में पुष्कर का अर्थ बीज ही लिया जाता हो । इन बीजों को विद्येश्वरों के आश्रय के रूप में स्मरण करते हैं । विद्येश्वर १.अनन्त, २.सूक्ष्म, ३.शिवोत्तम, ४.त्रिनेत्र, ५.श्रीकण्ठ, ६.शिखण्डी, ७.एकनेत्र और ८.एकरुद्र इस

आसनन्यासे[1] क्रममाह–

शक्तिन्यासो भवेत्पूर्वं कन्दं तु तदनन्तरम् ।

अङ्कुरं नालविन्यासमनन्तं परिकल्पयेत् ।।६०।।

तेजोमयं महाशुभ्रं स्फुरत्किरणभास्वरम् ।

विश्वोल्लेखभित्तिभूतामिच्छाशक्तिमाविश्य तदवष्टम्भरूपं कन्दमाक्रम्य तदुन्मेष-तत्प्रसररूपाङ्कुरनालात्मकमशेषं मायान्तमध्वानमासूत्र्य तदुपरि 'अनन्तं' विघ्नेशं तेजोमयं स्मरणमात्रेण कल्पयेदित्यर्थः ।।६०।।

क्रम से आठ माने जाते हैं ।[2] इन आठों के साथ सर्व देवमय महापद्म ध्यान शुभफल प्रद माना जाता है । इस तरह यह कन्द, नाल, ग्रन्थि, दल, कर्णिका और बीजमय छः आसन मय ध्यान है ।

ऊपर के तथ्यों से यह सिद्ध हो जाता है । इसका प्रकल्पन स्वात्म उत्कर्ष के लिये महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।।५९।।

ऊपर कहे गये तथ्यों के सन्दर्भ में न्यास क्रम सम्बन्धी स्पष्टीकरण दे रहे हैं । शास्त्र के इस वचन के अनुसार पहले शक्ति का न्यास करना चाहिये । वस्तुतः यह न्यास आवेशात्मक और स्मरणात्मक है । सबसे पहले प्रबल इच्छा शक्ति आवेश साधक में होना चाहिये । शैव इच्छा शक्ति से ही विश्व का शाश्वत उन्मेष सम्पन्न है । शिव होकर शिव का यजन उचित है, इस न्यास के अनुसार स्वात्म शिव की प्रबल इच्छाशक्ति साधक या यज्ञ कर्त्ता में होनी ही चाहिये । यद्यपि यहाँ मूलाधार की चर्चा नहीं है फिर भी इच्छा शक्ति के प्रभाव से सर्वप्रथम स्पन्द अश्विनी मुद्रा द्वारा वहीं सम्भव है । तब उसका अवष्टम्भ कन्द में अनुभूत होता है ।

इसके परिणाम स्वरूप उन्मेष और प्रसरौन्मुख्य के कारण अङ्कुरण होता है । यह अङ्कुरण नालदण्ड के रूप में अनुभूत होता है । नालदण्ड से माया पर्यन्त समस्त अध्वावर्ग का आसूत्रण यहाँ हो जाता है । माया और अनन्तेश्वर का अटूट सम्बन्ध है । इसी विघ्नेश्वर से मिलकर माया असित सृष्टि करने में प्रवृत्त रहती है । अतः अनन्त को माया ग्रन्थि के साथ ही परिकल्पित करते हैं । अनन्त अत्यन्त तेजस्वी विघ्नेश्वर माना जाता है । ये सारी बातें क्रमिक रूप से स्वात्म शरीरान्तराल में स्मरण द्वारा परिकल्पित की जानी चाहिये ।।६०।।

---

१. ख. पु. नादिन्यासे इति पाठः ।

२. स्वच्छन्दतन्त्रम् पटल १०/११६१-११६२

नालं विन्यस्य यदुक्तं 'अनन्तं परिकल्पयेत्' इति तन्मध्ये ग्रन्थिस्थाने सिंहासनं तदुपरि च पद्मं क्रमेण कल्पयितुमाह–

धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च क्रमान्न्यसेत् ।।६१।।

एते[1] च–

सितरक्तपीतकृष्णा आग्नेय्यादीशदिग्गता: ।
पादका: सिंहरूपास्ते त्रिनेत्रा भीमविक्रमा: ।।६२।।

पादका इति एतद्वासनानुविद्धा हि संसरन्ति संसारे-इत्यशेषसंसारिण: अज्ञाता: पादा: पादका:, एते 'सिंहरूपा' इति पराक्रममहिम्ना, अशेषविश्वाक्रमणात् । ईश्वरशक्त्यधिष्ठाने एवैतदेषां घटते, न तु सांख्यनये जडबुद्धिधर्मरूपतायाम्-इतीश्वरशक्त्यधिष्ठानादेते त्रिनेत्रा:, घोरसंसारघातहेतुत्वाच्च भीमविक्रमा: ॥६२॥

ग्रन्थि के स्थान के मध्य में एक सिंहासन की परिकल्पना भी की जाती है । यह नाल विन्यास के बाद की परिकल्पना है । सिंहासन के ऊपर पद्म की भी परिकल्पना आचार्य क्षेमराज की अपनी मान्यता है ।

श्लोक के अनुसार मायाग्रन्थि अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य और ईशान कोणों में क्रमश: श्वेत, रक्त, पीत और कृष्णवर्णी १.धर्म, २.ज्ञान, ३.वैराग्य और ४.ऐश्वर्य का न्यास करना चाहिये । इन चारों को पादक कहते हैं । इनकी आकृति सिंह के समान होती है । पादक वासना से विद्ध सारे जीव एक तरह से आक्रामक स्वभाव के साथ ही संसार में विचरण करते हैं । विचारणीय यह है कि, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चारों आदर्श भाव हैं । इनकी वासना में मायात्मकता के प्रवेश के कारण ये भयङ्कर भी हो जाते हैं ।

अज्ञात है पाद जिनका उन्हें पादक कहते हैं, इस परिभाषा के अनुसार ये कब अपना पाद प्रहार कर दें, यह भी अनिश्चित है । सिंह पराक्रमी होता है । पराक्रम के कारण इन्हें भी सिंह रूप ही माना जाता है । ये सभी विश्व पर आक्रमण के लिये तैयार रहते हैं । इसलिये भी इन्हें आक्रामक सिंह की आकृति वाला मानते हैं ।

यहाँ एक बात और विचारणीय है । ऐश्वर्य तो ईश्वर शक्ति का ही उल्लास है । ईश त्रिनेत्र माने ही जाते हैं । अत: इन्हें भी अर्थात् चारों को साहचर्य के कारण ही 'त्रिनेत्र' कहते हैं । सांख्य शास्त्र की दृष्टि यहाँ अमान्य है । यहाँ जड़ता नहीं अपितु ईश्वर शक्ति के अधिष्ठान के कारण इनमें जड़त्व निराकृत है । त्रिनेत्रता इनका स्वभाव है । घोर संसार पर घात करने के कारण ही सभी भीमविक्रम भी माने जाते हैं । यह इनका वैशिष्ट्य है । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, १.धर्म (श्वेत) अग्निकोण

---

१. क. पु. एतदिति पाठ: ।

एते च मुमुक्षुणा–

शिवशक्तिमया मन्त्रा न्यस्तव्या वीरवन्दिते ।

वस्तुत: परमेश्वरशक्तिमया एव, तथा त्वपरिज्ञाता अधरपदसंचारिण: । यदा तु तथा प्रत्यभिज्ञायन्ते तदा मननत्राणधर्मका: प्रत्यभिज्ञातु: शिवस्य इच्छया मन्त्ररूपतां प्रकटयन्त: शुद्धप्रसरणिसंसारिणो भवन्ति भक्तिभाज इति परमार्थ:, न त्वन्यथैषां मन्त्ररूपता काचिंद् अशुद्धाध्वव्यवस्थिते: ।

सिंहासनेऽवयवान्तराण्याह–

अधर्माज्ञानावैराग्यमनैश्वर्यं च प्राग्दिश: ।।६३।।

एते हि–

उत्तरान्तं निवेश्यं तु गात्रका: सितवर्णका: ।

सिंहासनपट्टिकारूपा: । प्रायश्च सर्वेऽख्यातिमयमायाच्छादितत्वादधर्मादिमया:, अतएव धर्मादीन्प्रति स्पृहयालव: इत्यधर्मादय एषां मायापदे अज्ञातानि गात्रकाणि ।।६३।।

में, २.ज्ञान (रक्त) निर्ऋति में, ३.वैराग्य (पीत) वायुकोण में,और ४.ऐश्वर्य (कृष्ण) का ईशान कोण में न्यास होता है । ये सभी पादक हैं, सिंहरूप हैं, त्रिनेत्र हैं और भयङ्कर पराक्रमी है । इन बातों पर ध्यान देना चाहिये ।।६१-६२।।

उक्ति दृष्टिकोण सांसारिक वासना की दृष्टि से अपनाया गया है । इन्हें पादक और भीम रूप आदि बताया गया है, यह सच भी है । ये चारों अच्छे होते हुए भी संसार में अनर्थ के कारण भी बन जाते हैं ।

मुमुक्षु की दृष्टि से विचार करने पर चित्र कुछ दूसरा बनता है । ये सभी अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, परमेश्वर की शक्ति के ही प्रतीक हैं । पूर्णज्ञान के अभाव में इनका अधरपद में संचार के कारण दुरुपयोग होने लगता है । इनको इनके वास्तविक प्रत्यभिज्ञान के बाद ही सच्चे अर्थों में समझा जा सकता है । तब ये मन्त्र बन जाते हैं । इनमें मनन और त्राण के दोनों गुण स्पष्ट झलकने लगता है ।

भगवान् शिव की इच्छा से इनमें मन्त्र रूपता व्यक्त हो जाती है । इनको इस रूप में जानने वाले शुद्ध सरणि के लोग परमार्थ रूप से भक्तिमन्त हो जाते हैं । इनकी मन्त्ररूपता कभी विकृत नहीं होती । हाँ अशुद्धअध्वा में रहने के कारण जब इन पर अशुद्धि का प्रभाव पड़ जाता है तो मन्त्र रूपता में व्याघात हो कर ही रहता है ।

इसी तरह पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य का भी न्यास किया जाता है । इन सभी को 'गात्रक' संज्ञा से विभूषित किया जाता है । ये सभी श्वेतवर्ण के होते हैं । वास्तव में ये सिंहासन की पट्टिका रूप होते हैं । अख्याति माया का धर्म है । ये सभी माया से आच्छादित होने

अत्रैव–

सन्धानकीलकाश्चैव अतसीपुष्पसन्निभाः ।।६४।।
वेदा युगाश्च ते चैव ज्ञातव्याः क्रमशः प्रिये ।

आग्नेय्यादिक्रमेण प्रतिकोणं पादकेन सह गात्रकद्वयस्य बन्धनार्थं कीलकद्वयमिति । ऋगादयो वेदाः, कृतादयश्च युगास्तत्तद्भोगवासनाः पुष्णन्तः संसारबन्धनहेतवो विचित्रशङ्काशङ्कुरूपाः सन्धानकीलका इत्युक्ताः । बन्धकत्वादेव च कृष्णवर्णा ज्ञातव्याः पूर्वोक्तपारमेश्वरशक्तिरूपतया यथाज्ञाता बन्धका भवन्ति । ननु एते बुद्धिधर्माः कथमियतीं भूमिं प्राप्ताः? उच्यते-सर्वेषां बुद्ध्यादिधर्माणां मायोत्पत्तिभूः, बुद्ध्यादयस्तु विभवस्थानम्, उच्छेद्यास्तु मूलभूमित उच्छिन्ना न पुनः ! प्ररोहन्तीत्युत्पत्तिपदादुच्छेत्तुमेतानीदृक्क्रमो दर्शितः ।।६४।।

के कारण ही अधर्म आदि के अभावात्मक दृष्टि से देखे जाते हैं । वस्तुतः ये धर्म आदि के प्रति स्पृहयालु होते हैं । मायापद में अज्ञात गात्रक हो जाते हैं ।।६३।।

खेल खेल में कभी-कभी रहस्य का उद्घाटन हो जाता है । उसी तरह यहाँ सिंहासन पर पादकों और गात्रकों को बाँधने के संधान कीलक की व्यवस्था कर यह बताना चाहते हैं कि, विना बाह्य अनुशासन के बातें बिगड़ जाती हैं । ये कीलें भी साधारण नहीं हैं । धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के लिये ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व की चार कीलें होनी चाहिये । इन्हीं में बँध कर धर्म आदि अडोल और स्थिर भाव से टिके रह सकते हैं ।

यही दशा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की स्थिरता के लिये कृत त्रेता, द्वापर और कलियुगों की चार कीलों की आवश्यकता पड़ती है । भगवान् कह रहे कि, देवि पार्वति ! क्रमिक रूप से उस सिंहासन में इन कीलों की मानसिक व्यवस्था होनी चाहिये ।

ऋक् आदि वेद और कृत आदियुग उन-उन भोगवासनाओं का शोषण करते हुये संसार बन्धन के कारण बन जाते है । इसलिये ये कीलें शङ्काओं के शङ्कु रूप से काम करती हैं । इसीलिये इन्हें सन्धान कीलक संज्ञा दी गयी है ।

ये सभी अतसी पुष्प के समान ही श्याम वर्ण के हाते हैं, क्योंकि ये बन्धक होते हैं । ये बाँधते हैं । भले ही ये पारमेश्वर शक्ति रूप हैं फिर भी उनको उनके वास्तविक रूप से न जानने के कारण ये बन्धक हो जाते हैं ।

प्रश्न यह है कि, ये सभी बुद्धि के धर्म हैं । वे इस स्तरीयता को कैसे प्राप्त कर लेते हैं ? इसका उत्तर यह है कि, सभी बुद्धि और अन्य अन्तः करण के धर्म वास्तविक रूप से माया के प्रभाव क्षेत्र से ही उत्पन्न होते हैं । बुद्धि आदि तो विभवात्मक तत्त्व हैं । जो उच्छेद्य होते हैं, वे उच्छिन्न होने पर पुनः प्ररोह प्राप्त नहीं करते । इनकी उत्पत्ति को भूमि से उच्छिन्न करने के उद्देश्य से ही यह क्रम अपनाया गया है ।।६४।।

अतएव सत्त्वरजस्तमांसि मूलत एवोच्छेत्तुं सिंहासनोपरि गुणमयमेव माया-मसूरकं न्यसितुमाह[१]–

अधश्छादनमूर्ध्वं च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत् ।।६५।।
मध्ये तमो विजानीयाद्गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ।

ऊर्ध्वं शुद्धविद्यानिकटवर्तित्वात् सितं सत्त्वरूपम् । अधस्तु संसरणानुगुणत्वाद्रक्तं रजोमयम् । मध्ये तु ख्यात्याच्छादनप्रकर्षात् तमोमयं कृष्णम् । प्राधानिकः प्रपञ्चो मायायामसन्नित्यादि त्वसत्, अशेषमायाकार्यस्य मायायां सूक्ष्मरूपतया भुवनाध्ववर्णयिष्यमाणस्थित्यावस्थितत्वात् । शक्तिपातपवित्रैस्तु सर्वमेतच्छिवशक्तिरूपं मन्त्रतयैव भावनीयम् । यद्वक्ष्यति–

'यत्र यत्र..................।

इत्युपक्रम्य–

.........सर्वं शिवमयं यतः ।।' (४-३१०) इति

इसी आधार पर सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों को मूलतः उच्छिन्न करने के उद्देश्य से त्रिगुण रूप माया के मसूरकों के न्यास की चर्चा यहाँ करने जा रहे हैं–

कबीर ने कहा है–हम दो पाटों के बीच में हैं । यह शास्त्र उसका पूर्ण प्रतिपादक है । यह शाश्वत सत्य है । कबीर ने उसे साधुओं से सुना था, गुना था और निजी अनुभूतियों के ताने बाने में बुना था । भगवान् उस सत्य का साक्षात्कार करा रहे हैं । सावधान कर रहे हैं कि, साधको ! इस स्वप्न के झरोखे से सत्य का प्रकाश देखो । नीचे तुम्हारे पाँव तले नित्य सरकने वाला आकर्षण लाल रंग का रजोगुणी संसार है । तुम्हारे ऊपर उज्ज्वल शुद्ध अध्वा का आकर्षक उजाला है । यह शुद्ध विद्या का उजाला है । वह तुम्हारे ऊपर श्वेत प्रकाश की सुधा बरसा रहा है । मध्य में जहाँ तुम हो, अन्धकार ने तुम्हें काली चादर से घेर रखा है । ऊपर का प्रकाश तुम्हारे प्रकाश तक भी नहीं पहुँच पा रहा है ।

इन्हें शास्त्रीय भाषा में गुण कहते हैं । ये सभी प्राधानिक प्रपञ्च हैं । ये सभी माया में असत् रूप से ही मसूरक रूप में प्रतिभासित हैं । माया के ये कार्य माया में ही सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं । इनकी स्थूलता भी भुवनाध्वा के रूप में उल्लसित है । इसका स्पष्टीकरण आगे के पटलों में यथा स्थान विषय सन्दर्भ के रूप में किया जायगा ।

---

१. ख. पु. दर्शयितुमाहेति पाठः ।

अथ सिंहासनमसूरकोपरि विद्यापद्मं न्यसितुमाह–

सितं पद्मं विजानीयात्केसराणि विचिन्तयेत् ।।६६।।
सितरक्तप्रपीतानि मूलमध्याग्रदेशतः ।
कर्णिका हेमसंकाशा बीजानि हरितानि तु ।।६७।।

ईदृग्वर्णमेव सितपद्मं भवति । सितत्वं चास्य शुद्धविद्यामयत्वात् ।।६७।।

अस्य दलेषु देवतान्यासमाह–

वामां पूर्वदले न्यस्य ज्येष्ठां वह्निदलाश्रिताम् ।
रौद्रीं दक्षिणपत्रे तु कालीं नैर्ऋतगोचरे ।।६८।।
कलविकरणीं देवीं विन्यस्येद्वारुणे दले ।
बलविकरणीं वायव्यदलमाश्रिताम् ।।६९।।
बलप्रमथनीं देवीमुत्तरे विनियोजयेत् ।

ऐसे साधक जो शक्तिपात से पवित्र हो चुके हैं, वे इस समस्त प्रपञ्च को शिवशक्ति रूप सामरस्य से समुल्लसित मन्त्र के रूप में देखते हैं । इसी शास्त्र के ४/३१३ श्लोक द्वारा यह प्रतिपादित है कि, "जहाँ मन जाता है, ज्ञेय तत्त्व का ही चिन्तन वहाँ वहाँ होना चाहिये । वास्तव में मन चलन धर्मा है । वह चल कर भी कहाँ जा सकेगा क्योंकि, सर्वत्र शिवता का ही उल्लास वास्तविक है ।" इस दृष्टि से माया के इन गुण रूपी मसूरकों के दानों की वास्तविकता के प्रति सचेत रहना चाहिये ।।६६।।

इनके ऊपर श्वेतपद्म का मानसिक स्मरण कर उस पद्म में सुशोभमान केसरों का चिन्तन करना चाहिये । यह पद्म मूल में श्वेत, मध्य देश में रक्त और अग्र अर्थात् विकसमान होने पर ऊपर पीतवर्णी माना जाता है ।

इस कमल की कर्णिका स्वर्णवर्णी और उसमें रहने वाले बीज हरित रंग के होते हैं ।।६७।।

कमल दल में न्यास करने योग्य देवताओं का इस प्रकार निर्देश किया गया है–

१. पूर्व दल में वामा शक्ति का न्यास होना चाहिये ।

२. अग्निकोण के दल में ज्येष्ठा शक्ति का न्यास करना चाहिये ।

३. दक्षिण दल पर रौद्री शक्ति का न्यास होता है ।

४. नैर्ऋत्य कोण के पत्र पर काली शक्ति न्यस्य है ।

सर्वभूतदमनीं च ऐशान्यां विनियोजयेत् ।।७०।।

मध्ये मनोन्मनीं देवीं कर्णिकायां निवेशयेत् ।

स्पष्टमेतत् ।।७०।।

एतच्च–

शक्रचापनिभं देवि ध्यातव्यं शक्तिमण्डलम् ।।७१।।

ततोऽपि–

मध्ये सूर्यसहस्राभां चिन्तयेत्तु मनोन्मनीम् ।

एता देव्यो भुवनाध्वनीत्या परेण रूपेण शक्तितत्त्वे स्थिताः, मध्ये तु पदे परापरेण, इह तु विद्यायामपरेण रूपेणेति विभागः । तत्रैव चासां नामानुसारि स्वरूपं दर्शयिष्यामः–सर्वं प्रागुक्तशक्तित्रमयमिति ।।७१।।

---

५. वारुण अर्थात् पश्चिमी पत्र पर जिस शक्ति का न्यास शास्त्र में निर्दिष्ट है, उसे कल विकरणी कहते हैं ।

६. वायव्य दल पर 'बलविकरणी' न्यास उचित है ।

७. उत्तर दल पर बलप्रमथनी शक्ति का न्यास करना चाहिये ।

८. ईशान दल पर 'सर्वभूतदमनी' शक्ति को न्यास करने की आज्ञा शास्त्र देता है ।

९. मध्य में मनोन्मनी शक्ति न्यस्य मानी जाती है । मध्य में कर्णिका पर मनोन्मनी के न्यास से इस अष्ट दल कमल सम्बन्धी न्यास पूरा हो जाता है ।।६८-७०।।

यह पूरा का पूरा शक्ति मण्डल अतीव शोभमान इन्द्र धनुष के समान प्रभा से भासमान होता है । जहाँ तक कर्णिका में विराजमान मनोन्मनी देवी का प्रश्न है, वे सहस्राधिक सूर्यों की सम्मिलित आभा प्रभा से अधिक भास्वर मानी जाती है ।

यहाँ भुवनाध्वमयी इस रहस्यमयी अवस्थिति का सदा ध्यान रखना चाहिये कि, ये सभी शक्तियाँ–

१. पर रूप से ये पर शक्ति तत्त्व में अवस्थित होती हैं ।

२. मध्य दृष्टि से परापर शक्ति में विद्यमान हैं और

३. यहाँ जिस अवस्थान की बात की गयी है, यह अपर शक्ति में अवस्थान मानना चाहिये । अपर शक्ति में होते हुये भी यह ध्यातव्य है कि, यह विद्यातत्त्वक्षेत्र की ही प्रक्रिया है क्योंकि, माया मसूरकों के ऊपर विद्यातत्त्व क्षेत्र की परिधि का प्रारम्भ हो जाता है । विद्यातत्त्व में बैठा साधक अपने स्वात्म में अवस्थित शक्ति मण्डल के इस उल्लास का स्वयं साक्षी होता है ।।७१।।

विद्यातत्त्वे मानमेयमातृरूपं ज्ञानक्रियेच्छाव्याप्तिसतत्त्वं मण्डलत्रयं न्यसितुमाह–

सूर्याध्वमण्डलं पत्रे सोमं संयोज्य केसरे ।।७२।।
वह्निमण्डलकं देवि कर्णिकायां निवेशयेत् ।

अत्र हि मेयरूपस्य सोमस्य वह्निसूर्यात्मकमातृमानमध्यवर्तित्वम्, न हि मातृप्रकाशभित्तिं विना मानप्रकाशाच्छुरणं विना वा मेयप्रकाश: कश्चित् । प्रमात्रैव हि चिद्रसाश्यानीभावात्म मेयमाभास्यते, आभास्यमानं च प्रमाणप्रकाशाच्छुरितमेव भवतीत्यलमधिकेन, भविष्यत्येतत् सृष्टिसंहारपटले ।।७२।।

इस श्लोक के माध्यम से भगवान् शिव प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता की दृष्टि से उस पद्म की अवस्थिति का निर्देश कर रहे हैं । शास्त्र की दृष्टि से अग्नि तत्त्व प्रमातारूप, सूर्यतत्त्व प्रमाण रूप और सोम तत्त्व प्रमेय रूप माना जाता है ।

इस पद्म के सभी पद्म सूर्याध्व मण्डल के राशि चक्र के प्रतीक माने जाते हैं । अत: पत्रों में सूर्य तत्त्व का प्राणात्मक ध्यान करना चाहिये । केसरों में सोमतत्त्व का प्राधान्य होता है । इसलिये उनके सोम रूपी प्रमेयों के अधिष्ठाता चन्द्र का संयोजन करना चाहिये । जहाँ तक मध्यावस्थिता हेम संकाशा कर्णिका का प्रश्न है, उसी में प्रमातारूप वह्निमण्डल का निवेशन करना चाहिये ।

मेय रूप सोम, मान रूप सूर्य और माता रूप वह्नि इन तीनों के इसमें मध्यवर्त्ती अवस्थान हैं । यह सामान्यतया प्राय: सभी जानते हैं किन्तु इसमें विशेषता यह है कि, सूर्य और वह्नि के मध्य में ही सोम तत्त्व की स्थिति शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट है । इसका कारण विशेष ध्यान योग्य है । प्रकाश मुख्य रूप से प्रमाता का ही माना जाता है । उपनिषद् भी कहती है–न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् । तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति । यह तस्य भाषा प्रमाता के ही प्रकाश को व्यक्त करता है । यहाँ वह्नि यह सामान्य आग नहीं, वरन् प्रमाता अग्नि तत्त्व ही है । समस्त प्रकाशों की यह मूल भित्ति है, आधार है । सूर्य रूपी मान का प्रकाश भी प्रमाता पर ही निर्भर है । यह नियम है कि, प्रमाता के प्रकाश का आधार हो और प्रमाण के प्रकाश का प्रकाशात्मक उद्दीपन हो तभी मेय रूप सोमतत्त्व का प्रकाशन हो पाता है । इसलिये प्रमाता अग्नि और प्रमाण सूर्य के मध्य में सोमतत्त्वात्मक मेय का अवस्थान तन्त्र मानता है ।

मेय तभी अवभासित होता है, जब प्रमाता का चिद्रस आश्यान भाव को प्राप्त कर साकार हो जाता है । यह सारा विश्व मेय है और भैरव का प्रत्यक्ष विग्रह है । लिखा है कि,

एतद्धामत्रयाधिष्ठातृदेवतात्रयं निरूपयति तदधिष्ठातृविश्वान्तर्भावमत्र प्रकट-यितुं

ब्रह्मा विष्णुर्हरश्चैव मण्डलेष्वधिपाः स्मृताः ।।७३।।

परापरया व्याप्त्या एषां ध्यानमाह–

ब्रह्मा चतुर्मुखो रक्तश्चतुर्बाहुविभूषितः ।
कृष्णाजिनोत्तरीयश्च राजीवासनसंस्थितः ।।७४।।

"आश्यानं चिद्रसस्य ओघं साकारत्वमुपागतम्
जगद्रूपतया वन्दे प्रत्यक्षं भैरवं वपुः ।"

अतः यह सत्य तथ्य है कि, जगत् रूप मेय चिद्रस का आश्यान ही है, जो साकार होकर रूपायित है ।

यह भी सत्य है कि, जो भी आभास्यमान होता है, वह प्रमाण के प्रकाश से व्याप्त होता है । वस्तुतः यह सृष्टि का रहस्य है, संहार के तन्मयीभाव की विभूति है । आगे के पटलों में इस विषय पर विशिष्ट विचार किया गया है । यहाँ इतना अर्थ ही पर्याप्त है ।।७२।।

विद्यातत्त्व में माता, मान और मेय रूप , ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्तियों की व्याप्ति अनुभूति का विषय है । इन तीनों की व्याप्ति के अनुरूप ही इसमें इस मण्डलत्रय के न्यास की चर्चा कर इनके अधिष्ठाता देवताओं के विषय में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, इन अधिष्ठाता देवताओं का विश्वान्तर्भाव भी नितान्त सत्य तथ्य है ।।७३।।

सूर्य मण्डल के अधीश्वर देव रूप शक्तिमान् ब्रह्मा माने जाते हैं । केशरावस्थित विष्णु सोममण्डल के अधिपति हैं । कर्णिका में विराजमान बह्निमण्डल के अधीश्वर हर अर्थात् शङ्कर हैं । इन अधीश्वर शक्तिमन्तों का स्वरूप और उनके न्यास मय समायोजन की जानकारी साधक को होनी चाहिये । इसी उद्देश्य से भगवान् भैरव इसका पूर्ण और विशद वर्णन कर रहे हैं–

परापरा शक्ति की व्याप्ति में ही पत्र, केशर और कर्णिका पर अधिष्ठित देवों ब्रह्म, विष्णु और शङ्कर के स्वरूप और उनके ध्यान आदि पर प्रकाश डाल रहे हैं । उनके अनुसार ब्रह्मा का स्वरूप और ध्यान का सर्वप्रथम वर्णन कर रहे हैं ।

ब्रह्मा चार मुख वाले माने जाते हैं । इनका वर्ण लाल है । उनके चार बाहु हैं । काले मृगचर्म का उत्तरीय धारण करते हैं । इनका कमल का आसन हैं ।।७४।।

कमण्डलुधरो देवि दण्डहस्तस्तथैव च ।
अक्षमालाधरो देवः पद्महस्तः सुलोचनः ।।७५।।
ध्यात्वा पत्रेषु तं न्यस्येत् सर्वकिल्बिषनाशनम् ।
अतसीपुष्पसंकाशं शङ्खचक्रगदाधरम् ।।७६।।
पीताम्बरधरं देवं वनमालाविभूषितम् ।
स्फुरन्मुकुटमाणिक्यं किङ्किणीजालमण्डितम् ।।७७।।
दिव्यकुण्डलधर्तारं गरुडासनसंस्थितम् ।
ध्यात्वा विष्णुं महात्मानं केसरेषु निवेशयेत् ।।७८।।

शङ्खेन पद्ममुपलक्ष्यते । मानमेययोर्लीलीभावान्मेयात्मनि सोममण्डले सृष्टिप्रधानेऽपि स्थितिकारी विष्णुः, स्थित्यात्मनि च प्रमाणरूपे सूर्यमण्डले सृष्टिकर्ता ब्रह्माधिष्ठाता इति युज्यत एवेतत् ।।७७।।

वे कमण्डलु धारण करते हैं । उनके हाथ में दण्ड शोभित होते हैं । वे अक्ष माला धारण करते हैं । हाथों में कमल के खिले पुष्प धारण करते हैं । उनके नेत्र बड़े आकर्षक हैं । इसी लिये उन्हें सुलोचन कहते हैं ।।७५।।

इस प्रकार ध्यान कर ब्रह्मा का न्यास पत्रों पर करना चाहिये । यह ध्यान और न्यास का कार्य अत्यन्त पुण्य और पवित्र कार्य माना जाता है । इससे सारे पाप और किल्बिष नष्ट हो जाते हैं ।

इनके न्यास के बाद विष्णु के विशिष्ट ध्यान की बात कर रहे हैं । विष्णु अतसी (तीसी) के फूल के समान श्यामवर्णी माने जाते हैं । वे शङ्ख,चक्र,पद्म और गदा धारण करते हैं । ।।७६।।

पीतवस्त्र धारण करने के कारण उन्हें पीताम्बर धारी कहते हैं । ग्रीवा से गुल्फ तक लटकने वाली माला को वनमाला कहते हैं । ऐसी वनमाला ये धारण करते हैं । उससे ये अत्यन्त शोभायमान लगते हैं । मुकुट में माणिक्य की किरणें सदा स्फुरित होती रहती हैं । उसमें गोलाकार किङ्किणियाँ लटकती और हिलती हुई आकर्षक लगती हैं ।।७७।।

वे दिव्य दीप्ति वाले कुण्डल धारण करते हैं । गरुड़ के आसन पर विराजमान रहते हैं । ऐसे महात्मा विष्णु का ध्यान कर केशरों पर इनका निवेशन करना चाहिये ।

श्लोक ७६ में पद्म का उल्लेख नहीं है । आचार्य का मत है कि, शङ्ख कथन से पद्म भी उपलक्षित हो जाता है । मान और मेय ये दो तत्त्व ऐसे हैं, जिनमें

शङ्खकुन्देन्दुधवलं शूलहस्तं त्रिलोचनम् ।
दशबाहुं विशालाक्षं नागयज्ञोपवीतिनम् ।।७९।।
सिंहचर्मपरीधानं शशाङ्ककृतभूषणम् ।
नीलकण्ठं वृषारूढं रुद्रं ध्यात्वा वरानने ।।८०।।
निवेशयेत्कर्णिकायां महापातकनाशनम् ।

तदुपरि–

महाप्रेतं न्यसेत्पश्चात्प्रहसन्तं सचेतनम् ।।८१।।
रक्तवर्णं सुतेजस्कं नेत्रत्रयविभूषितम् ।

प्रकर्षेण इतः स्फुटेदन्तानिमज्जनेन अहन्ताप्रधानां स्थितिमनुप्रविष्टः, प्रकर्षेण च इतं गतं विश्वं यस्य इति व्युत्पत्त्या प्रेत इह सदाशिवः, स च महदिति पदेन अनाश्रितशिवरूपः । परमशिव एव च भगवानेकश्चिद्रूपस्तदधररूपवर्ती इत्यना-

---

स्वभावतः लोलीभाव होता है । यह महायोगी पुरुषों के अनुभव की बात है । इसलिये मेयात्मक सोम मण्डल, सृष्टि प्रधान और स्थिति प्रधान विष्णु का न्यास होता है और स्थिति प्रधान प्रमाण रूप सूर्यमण्डल में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा निविष्ट किये जाते हैं । यह निवेशन प्राकृतिक दृष्टि से गुणकारी माना जाता है ।।७८।।

उसके बाद शङ्ख,कुन्द और इन्दु के समान धवल वर्णी भगवान् शङ्कर के न्यास की चर्चा की जा रही है । भगवान् शङ्कर हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं । तीन नेत्र धारण करने के कारण इन्हें त्रिनेत्र या त्रिलोचन भी कहते हैं । इनकी दश भुजायें हैं । नेत्र अत्यन्त विशाल अतएव आकर्षण हैं । सर्प को यज्ञोपवीत की तरह धारण करते हैं ।।७९।।

सिंह चर्म के आसन पर विराजमान हैं और कृत्तिवास माने जाते हैं । चन्द्रमा भूषण की तरह इनके शिर पर विराजमान रहता है । हालाहल विषधारण करने के कारण कण्ठ नीलवर्णी हो गया है । अतएव इन्हें नीलकण्ठ कहते हैं । वृषरूप नन्दी इनकी सवारी है । ऐसे आकृतिधारक शिव साधकों द्वारा सदा ध्यातव्य हैं ।।८०।।

ऐसे भगवान् नीलकण्ठ का कर्णिका में निवेश करने के उपरान्त हास्य की मुद्रा में प्रसन्न महाप्रेत अर्थात् श्री सदाशिव का न्यास करना चाहिये । महाप्रेत शब्द महत् +प्र+इ+(क्त) त प्रत्यय से निष्पन्न शब्द है । इसका अर्थ वह शक्तिमन्त जिससे प्र अर्थात् विशेष रूप से विश्व इत हो अर्थात् जाकर शिव में अनुप्रविष्ट हो गया हो । इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फुटरूप से व्यक्त इदन्ता को सम्यक् रूप से निमज्जित कर अर्थात् समाप्त कर अहन्ता में अनुप्रविष्ट हो गया है । ऐसे शक्तिमन्त महाप्रेत सदाशिव देव ही माने जाते हैं ।

श्रितादिस्तदेकजीवितः, स्वयं तु प्रेत इव प्रेतः, अधराध्वनोऽत्र स्तिमितत्वेनावस्थानाच्च प्रेतः, स च अपरया व्याप्त्या स्थूलः सदाशिवः, मध्यमया स एव नादरूपः, परया तु अनाश्रितः इति, तदनुसारेण सिंहासनं पद्मं च योज्यम् । स च प्रेतः परमशिवोऽहन्तानुप्रवेशादेव प्रहसन् नादामर्शरूपो महाविकासमयश्च, तेनैव परमशिवेन नादात्मना सचेतनः । एवमपि तावन्मात्रेदन्तोन्मेषात्मकोपाधिरूपत्वात् विश्वानुरञ्जकत्वाच्च रक्तवर्णः, बोधप्राधान्यात् सुतेजस्कः । वक्ष्यति च –

दूसरी तरह एक और व्युत्पत्ति यह भी आती है । इणु धातु का अर्थ गति है । जिस शक्तिमन्त से प्र अर्थात् विशेषरूप से सम्बद्ध विश्व 'इत' हो गया है अर्थात् उस देव के अस्तित्व से पूरी तरह असम्बद्ध हो गया हो । इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी महाप्रेत के रूप में सदाशिवदेव ही गृहीत होते हैं । महा कहने से अनाश्रित शिव रूपता भी व्यक्त होती है । ऐसे सदाशिव देव प्रहास अट्टहास कर रहे हों । उसी प्रहर्ष के मध्य श्रीसदाशिव रुद्र की प्रतिष्ठा (न्यास) वहीं कर देनी चाहिये । उनके उस दिव्य शरीर से चैतन्य पूरित चमत्कार भी रोचिष्णु रूप से फूट रहा हो । उनका वर्ण लाल रंग का हो,परम तेजस्वी चित्स्वरूप और तीन नेत्रों से वे विभूषित हों; ऐसा ध्यान भी करना चाहिये ।

इसमें तीन प्रकार की व्याप्ति का चिन्तन भी होना चाहिये ।

१. अपरव्याप्ति रूप से तो वे स्थूलता के साकार विग्रह रूप में व्यक्त होने की शक्ति से समन्वित हैं ।

२. मध्यमा व्याप्ति के अनुसार वे नाद रूप से ध्यातव्य हैं ।

३. पराव्याप्ति के अनुसार वे अनाश्रित रूप हैं । इन तीनों दृष्टियों के अनुसार सिंहासन और पद्म इनके सन्दर्भ में ग्रहण करना चाहिये ।

ऊपर कहे गये वचनों के अनुसार यह ध्यातव्य है कि, प्रहसन्तं विशेषण के मूल में प्रतिष्ठित हास्य-वृत्ति क्यों और कैसे उत्पन्न होती है? वस्तुतः प्रेत रूप परमशिव जब स्वात्म अहन्ता में अनुप्रविष्ट होते हैं, उस समय एक संप्रीणनात्मक वृत्ति स्वतः समुद्भूत हो जाती है । यह आमर्शात्मक नाद वृत्ति का ही परिणाम है ।

यह एक तरह का महाविकास है । इस समय स्वात्मरूपतानुप्रवेश होता है । बिना आत्मविकास या स्वात्म उत्कर्ष के यह सम्भव नहीं । इस विकास का यह परिणाम होता है कि, चित् के ज्ञानात्मक या बोधात्मक चैतन्य का चमत्कार भी उदित हो जाता है । यह सचेतन विशेषण का मूल रहस्य है ।

............सूर्यकोटिसमप्रभम् ।'

इति भौवने पटले । इच्छाज्ञानक्रियाशक्त्यात्मना च एषणीयज्ञेयकार्यात्म विश्वं नयता नेत्रत्रितयेन ऊर्ध्वदृशा विशेषेण भूषितं राजमानम् । यथोक्तम्–

'तिस्रो देव्यो यदा चैनं नित्यमेवाभ्युपासते ।

त्र्यम्बकस्तु तदा ज्ञेयः.................।।' इति ।।८१।।

एवमियत्पर्यन्तम्–

प्रणवेन न्यसेत्सर्वमासनं भैरवस्य तु ।।८२।।

'ओं आसनाय नमः' इति मन्त्रेण । एतत्सर्वमासनं चिद्भैरवाभेदेन व्याप्तं 'सर्वं शिवमयम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् शक्तिरूपम्, न तु व्यतिरिक्तापररूपं प्रणवान्तर्गर्भीकारेण न्यसेत् ।

प्रश्न रक्तवर्णता के रहस्य का है । यह साचने की बात है कि, अहन्ता में अनुप्रवेश के लिये इदन्ता में उन्मेष स्वाभाविक है । यह एक प्रकार का औपाधिक स्पन्द माना जा सकता है । उपाधि हमेशा विश्वानुरञ्जक होती है । जैसे शान्त जल में उदीयमान सूर्य का प्रतिबिम्ब कितना मोहक और लोकानुरंजक होता है । लोकानुरंजन की इस गुणवत्ता के कारण उसे रक्तवर्णी विशेषण से विभूषित करना भी उचित है । इसी तरह बोध के प्रकाश रूप होने के कारण बोध के प्राधान्य में सुतेजस्कता भी स्वाभाविक रूप से रश्मियों का प्रसार करती है । इस दृष्टि से सुतेजस्क विशेषण भी चरितार्थ हो रहा है । उसके लिये तो करोड़ों सूर्यों की प्रभा से भौवन पटल भास्वर विशेषण का प्रयोग स्वयं भगवान् भैरव ने आगे किया ही है ।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्त्यात्मक होने के कारण एषणीय, ज्ञेय और कार्य रूप विश्व का संचालन तीन नेत्र से देखते हुए करने में मौलिकता ही झलक रही है । इसीलिये नेत्रत्रय विभूषित लिखा हुआ है । इसमें भी एक रहस्य की बात है । दो नेत्रों से तो सामने ही दीख पड़ता है किन्तु ऊर्ध्व नेत्र सामान्य धरातल से साधना के ऊर्ध्व फलक का स्मारक है । इसी लिये विभूषित विशेषण का प्रयोग भी स्वाभाविक है । इन्हें त्र्यम्बक भी कहते हैं । इसके विषय में कहा गया है कि, भगवान् की सेवा में तीन अम्बा देवियाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया सदा उनकी उपासना में संलग्न रहती हैं । इसी लिये उन्हें त्र्यम्बकेश्वर कहते हैं । इस उक्त रहस्यात्मक अर्थ क्रम से यह श्लोक पूरी तरह भरपूर है ।।८१।।

न्यास के इस क्रम में आसन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, भैरव देव के लिये आसन के चतुर्थ्यन्त रूप आसनाय के पहले प्रणव का प्रयोग और अन्त में नमः का प्रयोग करना चाहिये । इस तरह 'ॐ आसनाय नमः' इस मन्त्र से ही पत्र केसर और कर्णिका में न्यास करना चाहिये ।

अत्र च–

'आसनं विभजेन्मन्त्री क्रमशः पद्ममुद्रया ।'

इति श्रीरौरव उक्तत्वात् करद्वयं मुकुलीकृत्य पद्ममुद्रास्फालनीया स्थापनीया ॥८२॥

गन्धैः पुष्पैः समभ्यर्च्य ततो मूर्तिं प्रकल्पयेत् ।
कदम्बकुसुमाकारां तुषारकिरणत्विषम् ॥८३॥

प्रणवेनैव । प्रकाशाह्लादमयीमित्यर्थः ॥८३॥

अथ–

मूर्त्यूर्ध्वे भैरवं देवं सकलं परिकल्पयेत् ।
द्वात्रिंशद्वर्णकचितं स्फुरत्तडिदिवोज्ज्वलम् ॥८४॥

यह ध्यान देने की बात है कि, सभी आसन चिद्रूप भैरव में अभेद भाव से उल्लसित और व्याप्त हैं । सिद्धान्त ही है कि, 'सर्वं शिवमयम्' शिवमयता का आधार तो शक्ति ही है । इसलिये आसन शक्ति रूप होता है । इससे व्यतिरिक्त आसन का कोई स्वरूप कल्पित नहीं किया जा सका । सभी प्रणव में ही अन्तर्गर्भित है, यह सदा ध्यान रखना चाहिये । कहा गया है कि,

'मन्त्र का प्रयोक्ता आसन न्यास करते समय पद्म मुद्रा का ही प्रयोग करे और देवानुकूल आसन विभाजित करे ।'

पद्ममुद्रा अङ्गुलियों के कमलाकार प्रसार को कहते हैं । इसमें दोनों हाथों को मिलाकर पहले मुकुल बनाते हैं और अङ्गुलि प्रसार से विकसित कर देते हैं ॥८२॥

प्रणव द्वारा ही गन्ध और पुष्प आदि पूजा के उपचारों का अर्पण भी होना चाहिये । इसके बाद मूर्त्ति का प्रकल्पन करना चाहिये । मूर्त्ति कैसी हो? इस सम्बन्ध में दो विशेषण शब्दों का प्रयोग किया गया है । १. कदम्ब कुसुमाकारा और २. तुषार किरण त्विषम् । पहला विशेषण यह स्पष्ट करता है कि, जैसे सूर्य से चारों ओर वृत्ताकार आकृति से रश्मियाँ निकल रही हैं, उसी तरह उस मूर्त्ति से भी रोम रोम से रश्मियाँ निकल रही हों । कदम्ब के पुष्प में भी अङ्कुरवत् रोम-राजि चतुर्दिक् उठी होती है । दूसरा विशेषण ज्योत्स्ना की रश्मियों की आभा की याद दिला रहा है । मानो सोम की सुधाभरी किरणें आनन्द में उल्लसित हासकर रहीं है । इन्हीं दोनों प्रकल्पनाओं को आचार्य क्षेमराज ने प्रकाशाह्लादमयी मूर्त्ति के रूप में साक्षात्कार किया है ॥८३॥

मूर्त्ति के ऊर्ध्व भाग में सकल भैरव देव का परिकल्पन करना चाहिये । इस मूर्त्ति में बत्तीस वर्ण स्पष्ट सुशोभित हों । सकल भाव में बत्तीस तत्त्व मय वर्णवत्ता ही ग्राह्य है । साथ ही यह प्रकल्पन भी करना चाहिये कि, जैसे आकाश में बिजली की कौंध होते समय चारों ओर उज्ज्वलता का प्रकाश फैल जाता हो, उसी तरह मूर्त्ति भी प्रकाश का विकीर्णन कर रही हो ।

हृत्तो द्वादशान्तं मन्त्रोच्चारं कृत्वा, तत्र क्षणं विश्रम्य हृद्येव मन्त्रराजं पुर्यष्टकं भैरवीकर्तुं न्यसेदिति गुरवः । अत्र च वक्ष्यमाणब्रह्मकवाटकलावक्त्र-भङ्ग्यादि सर्वमासूत्रितमात्रं प्रभापुञ्जन्यायेन चिन्तयेत् इत्याशयेन 'स्फुरत्तडिदिवोज्ज्व-लम्' इत्युक्तम् ॥८४॥

अथ–

वक्त्राणि कल्पयेद्देवि स्वध्यानेन महेश्वरि ।
मूर्धादिचरणं यावत्प्रणवादिनमोन्ततः ॥८५॥
अष्टात्रिंशत्कलाभेदं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् ।
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च नवकं भैरवाभिधम् ॥८६॥
विद्याङ्गा लोचनं चैव क्षुरिकां च प्रकल्पयेत् ।
शक्तित्रयं ततो न्यस्येद्दक्षदिग्वामगोचरे ॥८७॥

इस प्रकल्पन के समय आचार्य क्षेमराज गुरु परम्परा की तत्कालीन पद्धति की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं–

साधना के क्रम में साधक हृदय से अर्थात् मातृकेन्द्र से द्वादशान्त पर्यन्त प्राणापानवाह का साक्षी होता है । उस समय अघोर भैरव मन्त्र का उच्चारकर वहीं क्षण भर रुककर हृदय में ही भैरवराज मन्त्र को न्यस्त करता है । इससे पुर्यष्टक भी भैरवीभाव से भावित हो जाता है । पुर्यष्टक को भैरवीभाव से भावित करने के लिये यह प्रक्रिया करनी चाहिये । यह गुरु परम्परा द्वारा प्राप्त पद्धति है ।

यहाँ ब्रह्मकवाट, कला और वक्त्र भङ्गी आदि की प्रक्रियाओं का आसूत्रण करना चाहिये । प्रभा का पुञ्ज स्वभावतः रश्मियों का विकीर्णन करता है । इसके लिये कुछ कहना या करना नहीं पड़ता । उसी न्याय के अनुसार सकल भैरव प्रकल्पन में ब्रह्मकवाट, कलाओं और वक्त्रों की भङ्गिमा का आसूत्रण स्वभावतः हो जाना ही चाहिये । तभी पूर्ण भैरव सद्भाव की प्रक्रिया पूरी हो पाती है । बिजली की कौंध की उपमा चरितार्थ हो सकती है ॥८४॥

भगवान् कहते हैं कि, देवि महेश्वरि ! वक्त्रों का प्रकल्पन यहाँ केवल ध्यान द्वारा ही होना चाहिये । मूर्धा से चरण पर्यन्त प्रणव और नमः के साथ मन्त्र का ऊहन कर यह प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । इसी तरह अध्वाशोधन के साथ ही साथ ३८ कलाओं का सभेद प्रकल्पन यहाँ करना चाहिये ।

नव, तत्त्व, त्रितत्त्व, भैरवाष्टक विद्याङ्ग लोचन, क्षुरिका, शक्तित्रय आदि का पूर्ववन्न्यास कर लेना चाहिये । तत्त्वन्यास के माध्यम से सारा सर्जन सत्त्व परमेश्वर का

एतदविस्मरणार्थं पुनरपि पठितम्, तत्त्वन्यासेन परमेश्वरसृष्टानि तच्छक्तिमयानि, भगवति तु प्रकाशानन्दघनानि, अत एव आसनासीनात्म[१] (?) विश्वं शिवमयमित्युक्तम् ॥८७॥

ध्यानमाह–

मध्यप्रदेशे देवेशि ततो रूपमनुस्मरेत् ।
त्रिपञ्चनयनं देवं जटामुकुटमण्डितम् ।।८८।।

आरुक्षून् निष्कलधाम्नि प्रवेशयितुं भगवता स्वस्वातन्त्र्याद् ईदृगाकार उन्मनाशक्तिभूमौ दर्शित: । न हि भौवने क्वापि ईदृग्देवोऽस्ति । शाक्तस्फारमयत्वादेव चायमष्टादशभुजो दुर्गादिव्यास्तथात्वात् । अस्मिंश्च प्रतिमुद्रास्थानीयाकृतिग्रन्थे चिद्भैरवव्याप्तिरखण्डितैवास्ति । तथा हि-तिसृभि: परादिशक्तिभि: स्थूलसूक्ष्मपरभेदान् मायान्तं व्याप्य स्थितानां पञ्चानां नयनं येन तं त्रिपञ्चनयनम्, जटाभिरूर्ध्वपदावस्थिताभिर्वामेश्वर्यादिशक्तिभि:, मुकुटेन च स्वातन्त्र्यास्फारेण मण्डितम्,

---

शक्ति से समन्वित हो जाता है । भगवान् के अन्तर्भूत ये सारे तत्त्व प्रकाशानन्दमय होते ही हैं । अत: इस प्रक्रिया में आसनासीन कराकर सारे विश्व को शिवमयता की अनुभूति सुधा में सराबोर कर देते हैं ।।८५-८७।।

समान्यतया यहाँ ध्यान शब्दोल्लेख पूर्वक चर्चा कर रहे हैं । प्रश्न ध्यान के आकार प्रकार का है । कहते हैं कि,

"ध्यानं या निश्चला चिन्ता निराकारा निराश्रया '
न तु ध्यानं शरीरादि-मुख-हस्तादिकल्पना ।"

किन्तु यहाँ शरीरादि मुखहस्तादि कल्पना वाला ध्यान ही निर्दिष्ट है । यहाँ सदा सावधान साधक भगवान् के प्रकाशानन्द चिद्घन स्वरूप में ही शाक्त स्फार मय ध्यान करे । भगवान् भैरव बड़े कृपालु हैं । साधना में संलग्न, स्वात्मोत्कर्ष के अभिलाषी आरुरुक्षु साधक को अपने निष्कल धाम में प्रविष्ट करने के लिये ही भगवान् ऐसा ऐश्वर्य मय रूप धारण करते हैं । भुवन अध्वा में ऐसा कोई देव नहीं है, जिसका ऐसा विराट् आकार हो । यह रूप उन्मना भूमि में ही ध्यातव्य है । इस ध्यान की परम पावन अवस्था में भगवान् के स्वातन्त्र्य के अनुचिन्तन की आवश्यकता है । ध्यान की जिस आकृतिका यहाँ वर्णन कर रहे हैं, उसमें चिद् भैरव की अखण्डता का बोध बना रहना चाहिये ।

यह ध्यान की प्रक्रिया में छिपी रहस्य की बातें हैं । इसी लिये साधक को सावधान रह कर ही ध्यान में उतरना चाहिये । अब एक एक बिन्दु के अनुसार अर्थ के निहितार्थ पर ध्यान देते हुए श्लोकार्थ को देखना है –

---

१. आसनासीनम्' इति समुचित: पाठ: ।

चन्द्रकोटिप्रतीकाशं चन्द्रार्धकृतशेखरम् ।
पञ्चवक्त्रं विशालाक्षं सर्पगोनासमण्डितम् ।।८९।।

'चन्द्रको-टिप्रतीकाशम्' प्रकाशानन्दघनम् । तदुक्तं श्रीलक्ष्मीकौलार्णवे–

'अद्वैतत्वात्सुरेशानि भैरवो गीयते भुवि ।
न तु दंष्ट्राकरालत्वात्तस्मात्सौम्यं विचिन्तयेत् ।।' इति ।

'चन्द्रार्धकृतशेखरम्' इति विश्वाप्यायकृदमाख्यामृतकलासम्बद्धम्, 'पञ्चवक्त्रम्' इति चिदानन्देच्छाँज्ञानक्रियाख्यानि पञ्च परस्वरूपाभिव्यञ्जकानि संसारत्राणरूपाणि वक्त्राणि यस्य स तम्, 'विशालाक्षम्' इति–

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।'

इत्याम्नातपरभैरवस्फारावस्थितम्, 'सर्पेत्यादिना हारेण तु विराजितम्' इत्यन्तेन बहिष्कृतमायीयकार्माणवाख्यपाशत्रयसंयोजनवियोजनक्रीडापरत्वमुक्तम्,

---

१. वे पन्द्रह नेत्र वाले हैं। पाँच मुखों में प्रतिमुख तीन नेत्र की गणना से पन्द्रह नेत्र की संख्या स्वाभाविक है। त्रिपञ्च संख्याओं से यह झलक रहा है कि, परा, परापरा और अपरा रूप के साथ पर, सूक्ष्म और स्थूलात्मक तीन दृष्टियाँ शिव में शाश्वत रूप से उल्लसित हैं। यही तीन नेत्र हैं। पाँचों मुख भी ईशान, तत्पुरुषादि तत्त्वमय हैं। यह पांचदश्य ही ध्यातव्य है।

२. वे जटा और मुकुल से माण्डित हैं। जटा क्या है। ऊर्ध्व शिरोभाग में उल्लसित भैरव का ऐश्वर्य है। वह विश्व में व्याप्त है। यह व्याप्ति ही जटा है। और मुकुट जटा में व्याप्त वामा इत्यादि शक्तियों से कौंधने वाली बिजली की चमक का चमकीला रूप है। इन दोनों से वे मण्डित हैं।

३. चन्द्रमा सोम तत्त्व का प्रतीक है। शीत प्रकाश में शैत्य और ज्योत्स्ना की श्वेतता में श्वैत्य का समन्वय जब कोटि गुना हो जाये, तब भगवान् के सौन्दर्य की कुछ कुछ झलक मिलती है। इस झलक को सौम्य संज्ञा से विभूषित करते हैं। सौम्य शब्द सोमतत्त्व की भावना का ही संकेत है। श्रीलक्ष्मी कौलार्णव तन्त्र कहता है कि,

" अद्वैत मूलक होने के कारण ही भैरव की भूमंडल में मान्यता है। दंष्ट्रा की करालता के वर्णन के कारण नहीं। इसलिये सदा सौम्य भैरवरूप का ही चिन्तन करना चाहिये।"

चन्द्रार्ध कृतशेखर विशेषण साधना के रहस्य पक्ष से ओतप्रोत है। भगवान् भैरव के शिरोभाग में चन्द्र के अर्ध भाग का स्पष्ट रूप से दर्शन होता है। उसी रूप का ध्यान यहाँ करने की बात कही गयी है। एक ओर उन्हें चन्द्र कोटि प्रतीकाश कहा गया है और दूसरी ओर चन्द्रार्ध को शिरोभाग में धारण करने वाला कहा गया है।

वस्तुतः आधा चन्द्र को भगवान् भैरव ही स्वयं अपने शिरोभाग में धारण करते हैं। चन्द्र की १६ कलाओं का आधा अष्टमी का चन्द्र होता है। उसकी पूर्णता

वृश्चिकैरग्निवर्णाभैर्हारेण तु विराजितम् ।
कपालमालाभरणं खड्गखेटकधारिणम् ।।९०।।

'कपालमालाभरणम्' इति अशेषविश्वशरीरम्' विश्वं कपालमालात्मनावय-प्रपञ्चरूपमाभरणं न तु आवरणं यस्य, चिदानन्दघनस्य भगवतस्तिस्र इच्छाज्ञानक्रिया: करणरूपा:, एकैकस्याश्च शक्तेस्त्रैरूप्यान्नवत्वम्, तत्रापि परापरभेदेन द्वैविध्यादष्टादशभुजत्वम्। तत्र 'खड्गेन' ज्ञानशक्त्यात्मना पाशच्छेदनम्, 'खेटकेन' क्रियाशक्तिरूपेण भक्तानां संसारत्रासपरिहरणम्,

---

मातृकेन्द्रात्मक पूर्णिमा को होती है । इसी तरह अमाकलात्मक बाह्य द्वदशान्त के चिति केन्द्र में शैव सद्भाव का भावन कराने के लिये जीव को अमृतत्त्व से उपवृंहित करती है । इसे ही अमृत कला भी कहते हैं ।

यहाँ एक तथ्य विचारणीय है । अष्टमी का चन्द्र ही शेखर पर विराजमान रहता है । उसी का रूप चन्द्रार्ध होता है । इसके अमृत से विश्व-शरीर का शाश्वत आप्यायन होता रहता है ।

वक्त्र मुख को कहते हैं । मुख का अर्थ पोषण का उपाय होता है । ये पाँच हैं–चिद्, आनन्द, इच्छा,ज्ञान और क्रिया । ये पाँचों पर-स्वरूप के व्यञ्जक और संसार के त्राण के कारण हैं । व्यंजक और त्राण धर्म से समन्वित वक्त्रों से संवलित भगवान् चन्द्रशेखर विश्व को व्यक्त कर उसको अमृत से सींचते उसकी रक्षा करते हैं । यह वक्त्र धर्म है । भक्त को भगवान् समझा रहे हैं कि, वत्स ! इन्ही गुणों की गूँज तुम्हारे मस्तिष्क में सदा गूँजती रहे । यही इस ध्यान का रहस्य है ।

वे कहते हैं, उस उपास्य देव की आँखें अत्यन्त विशाल हैं । इस सम्बन्ध में तन्त्र की एक उक्ति ध्यातव्य है ।

साधक सदैव सदा आन्तरिक रूप से लक्ष्य भेद करता है । इसी लिये अन्तर्लक्ष्य साधक ही श्रेष्ठ होता है । बहिर्दृष्टि का तात्पर्य है कि, बाह्य प्रसार के प्रति आँखें खोलकर रहो । मूँद कर विश्व विस्तार का प्रसरित आनन्द नहीं लिया जा सकता । इसीलिये निमेष रूप सुषुप्तिपूर्ण जड़ता और उन्मेष रूप अशुद्ध अहंभाव रूप तन्द्रिल जागरण भी साधना में उपादेय नहीं होते । खुली आँखों चेतना के इस आश्यानभाव से भरे साकार भैरव के प्रत्यक्ष शरीर को देखो । यह विशालाक्ष ध्यान का रहस्य है । यह परभैरव के स्फार में ध्यातव्य भैरव के स्वरूप का आकलन साधक को नयी दृष्टि प्रदान करता है । एक स्थान पर कहा गया है–

आश्यानं चिद्रसस्यौघं साकारत्वमुपागतम्
जगद्रूपतया वन्दे प्रत्यक्षं भैरवं वपु: ।

पाशाङ्कुशधरं देवं शरहस्तं पिनाकिनम् ।
वरदाभयहस्तं च मुण्डखट्वाङ्गधारिणम् ।।९१।।

'पाशेन' विश्वबन्धनेन स्वातन्त्र्यम्, 'अङ्कुशेन' तदाकर्षणम्, 'शरपिनाकाभ्यां' कारणग्रन्थिमालाभेदनम्, वरदाभयहस्तत्वेन भोगमोक्षप्रदत्वम्, मुण्डधारणेन अख्यात्यात्मकमायामुण्डापहर्तुत्वम्, अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य अस्थिकरङ्कस्थानीयस्य स्वचिद्भित्तिलग्नत्वं खट्वाङ्गधारणेन,

---

इसमें सारा जगत् ही पर भैरव स्फार रूप में वर्णित है । विशालाक्ष भगवान् अपनी आँखों से अपना ही विस्फार देखने में खुली आँखों से संलग्न हैं ।

सर्पों की माला से मण्डित हैं । सर्प, गोनास[1] (विषधर सर्प) और वृश्चिक इन तीनों जीव कीटों के सन्दर्भ को आध्यात्मिक अर्थ देते हुए आचार्य क्षेमराज ने मायीय, कार्म और आणव नामक तीन मलों की चर्चा की है । ये तीन मल बहिष्कृत अर्थात् साकार होकर भैरव के गले के हार बन कर भैरव की भैरवता का संवर्धन कर रहे हैं । वृश्चिक के लिये इन्होंने अग्निवर्ण की आभा से युक्त विशेषण दिया गया है । अग्नि जलाकर राख कर देने वाला तत्त्व है । आणव मल भी भगवान् के विराट् रूप को अणुरूप में ला देता है । ये सभी भगवत्-शरीर पर अपनी स्थिति में भी गतिशीलता की याद दिलाते हैं ।

कपाल माला का आभरण भैरव की विशिष्ट धार्यमाण विभूषा है । यह संसार की प्रतीक है । कपाल धारण करना व्यापिनी, समना, उन्मना भूमियों की आधार शिला को प्यार देना है । 'मय्येव प्रविलीयते' की मान्यता के अनुसार यह सारा विस्फार भगवान् के वक्षःस्थल के फलक पटल पर ही रहता है–यह दिग्दर्शित करता है । यहाँ आभरण पाठ ही उपयुक्त है । आवरण पाठ अशुद्ध है ॥८८-९०॥

श्लोक ९० की चतुर्थ पङ्क्ति से नया प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है । भगवान् भैरव के ध्यान में उनकी आकृति का वर्णन आभरण पर्यन्त पूरा होने के बाद उनकी भुजाओं में कौन और कितने हथियार हैं, यह प्रकरण यहीं से प्रारम्भ किया गया है । यह ध्यान देने की बात है कि, चिदानन्दघन परमेश्वर की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ करण रूप मानी जाती हैं । एक एक शक्ति की तीन रूपता के कारण ३×३=९ रूपता स्वाभाविक है । इसमें भी पर और अपर रूपता का गुणन कर दिया जाय तो अठारह करण भेद हो जाते हैं । इनमें प्रत्येक में आठारह शस्त्र या मुद्रायें होनी ही चाहिये । उन सबका क्रमिक वर्णन यहाँ कर रहे हैं । इनमें यह ध्यान देने की बात है कि, दो हाथों में वरद और अभय मुद्रायें हैं और तीन हाथों में वीणा, डमरु और घण्टा ये वाद्य हैं ।

---

१. अमर कोष-पातालभोगिवर्ग ८/४

वीणाडमरुहस्तं च घण्टाहस्तं त्रिशूलिनम् ।
वज्रदण्डकृताटोपं परश्वायुधहस्तकम् ।।९२।।
मुद्गरेण विचित्रेण वर्तुलेन विराजितम् ।
सिंहचर्मपरीधानं गजचर्मोत्तरीयकम् ।।९३।।
अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम् ।

वीणाडमरुघण्टाभिर्मन्द्रतारमध्यध्वनिवैचित्र्याश्रयनादावमर्शनिभालनावहितशक्तित्वम् इच्छाज्ञानक्रियायोगिस्वातन्त्र्यशक्तिदण्डेन त्रिशूलेन पाशत्रयशातनम्, वज्रेण ऊर्ध्वस्थितेच्छादिशक्तित्रयेण अधःस्थितैषणीयादित्रयेण च अशेषविश्वात्मक-निजशक्तित्वम्, 'दण्डेन' नियतिशक्त्यात्मना विश्वनियमनम्, 'परशुना' हला-कृतिना नादशक्त्यात्मना, 'मुद्गरेण' बिन्दुशक्तिरूपेण अशेषभेदविदारणचूर्णी-करणम्, इति ध्वन्यते । 'सिंहो' विद्येश्वरसदाशिवशक्तिशिवात्मकपञ्चाननश्चित्स्फारः, तस्य 'चर्म' चरितम्, 'गजस्य' च विततविततस्य मायात्मन उक्तस्वरूपसिंहनि-र्भेद्यस्य 'चर्म' चरितं विलसितं स्वस्वरूपसंलग्नत्वात्परीधानं बोधाभेदात्मकस्वस्व-रूपोपरि परिवर्तमानं यस्य, 'देवं' क्रीडादिशीलम् 'नीलकण्ठम्' अख्यात्यात्म-कमहाविषहरम्, 'सुतेजसं' चिदानन्दघनम् । एवमादि च भैरवानुकरणस्तोत्रे अस्माभिर्वितत्य दर्शितम् ॥९३॥

उन अठारह हाथों में धार्यमाण शस्त्र, मुद्रायें और वाद्य इस प्रकार हैं–

१.खड्ग, २.खेटक, ३.पाश, ४.अङ्कुश, ५.शर, ६.पिनाक, ७.वरदमुद्रा, ८.अभयमुद्रा, ९.मुण्ड, १०. खट्वाङ्ग, ११.वीण वाद्य, १२. डमरु वाद्य, १३.घण्टावाद्य, १४.त्रिशूल, १५.वज्र, १६. दण्ड, १७.परशु और १८.मुद्गर ।

इनके विशिष्ट व्यापार भी ध्यातव्य है –

१. खड्ग– यह ज्ञान शक्तिका प्रतीक है । इसके ध्यान से पाशों का छेदन हो जाना स्वाभाविक है ।

२. खेटक– क्रिया शक्ति रूप है । इसके ध्यान से भक्तों के त्रिविध ताप शान्त हो जाते हैं ।

३. पाश– विश्व को बाँध लेने में समर्थ होता है । इसके ध्यान से पारमेश्वर स्वातन्त्र्य की अनुभूति लेती है ।

४. अङ्कुश– पाशबन्ध का कर्षण करने में समर्थ है । यह परमेश्वर की आकृष्टि स्वातन्त्र्य का बोधक है ।

५-६. शर और पिनाक– कारण रूप गाँठों को काटने का काम करते हैं ।

७-८. वरद और अभय मुद्रायें परमेश्वर की भोग और मोक्ष दोनों वरदान देने की सामर्थ्य का बोध कराती हैं ।

९. मुण्ड– न मुद्रा है, न शस्त्र है और न वाद्य है । यह एक प्रतीक है । यह स्मरण कराता है कि, अख्याति रूप माया के मुण्ड को ही अपहरण कर भगवान् ने धारण कर लिया है ।

१०. खट्वाङ्ग– यह पर्यङ्क की पाटी के समान पसली की हड्डी की तरह पदार्थ है । यह शस्त्र श्रेणी में आता है । यह विश्वविस्तार की चिद्भिति के आधार की याद दिलाता है ।

११-१२-१३. वीणा, डमरू और घण्टा के ध्यान से नाद के ध्वनि वैचित्र्य के साथ विमर्श शक्ति में प्रवेश प्राप्त करने और उसे समझने की शक्ति का उल्लास होता है ।

१४. त्रिशूल– त्रिशूल में दण्ड आवश्यक अङ्ग है । भगवान् के इस त्रिशूल में इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के परस्पर संयोग से शक्तिस्वातन्त्र्य रूप दण्ड बना हुआ है । ऊपर के त्रिशूल से तीन शूलों का ही शातन हो जाता है ।

१५. वज्र– ऊर्ध्व और अधःस्थ तीनों इच्छादि शक्तियों का दृढ़ संघट्ट सर्वशक्तिमत्ता का स्मारक है ।

१६. दण्ड– नियति शक्ति का प्रतीक है । इससे विश्व का नियमन स्वाभाविक है ।

१७. परशु– हल की आकृति वाली नादशक्ति का माया नाद का विदारण होता है । और

१८. मुद्गर– शस्त्र द्वारा समस्त भेदवाद का चूर्णीकरण हो जाता है । यह बिन्दुशक्ति का प्रतीक है । बिन्दु का वर्त्तुल स्वरूप मुद्गर में व्यक्त होता है । इस प्रकार अष्टादश भुजाओं से विभूषित भगवान् भैरव की भुजाओं में ये प्रतीक पदार्थ अपना कर्त्तव्य सम्पन्न करते हैं । ध्यान के द्वारा ही ये सक्रिय हो जाते हैं । परिणामतः अपने सुफल से साधक को धन्य कर देते हैं ॥९१-९२॥

इसके बाद भगवान् भैरव के परिधान पर शिष्य का ध्यान गुरुदेव आकृष्ट कर रहे हैं । उनके अनुसार वे सिंह चर्मका परिधान धारण किये हुए हैं । सिंह साक्षात् शिव भी कहे जाते हैं । इसके पाँच मुख विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव माने जाते हैं । एक प्रकार का यह मात्र चित्स्फार ही है ।

अस्य भगवतो वक्त्रध्यानमाह–

ऊर्ध्ववक्त्रं महेशानि स्फटिकाभं विचिन्तयेत् ।।९४।।
आपीतं पूर्ववक्त्रं तु नीलोत्पलदलप्रभम् ।
दक्षिणं तु विजानीयाद्वामं चैव विचिन्तयेत् ।।९५।।

सिंहचर्म शुद्ध अध्वा के आचार रूप चरित का ही चमत्कार है । शरीर से संलग्न होने के कारण इसे परिधान मान लिया गया है । अभेद अद्वय भैरव स्वरूप के ऊपर परिवर्त्तमान तत्त्व का ही यह प्रतीक है

गजचर्म का उत्तरीय धारण करते हैं । 'गज' का शरीर सभी पशुओं से बड़ा होता है । यह सिद्ध है कि, यह सिंह से भी बलवान् होता है । सिंह इसे जल्दी मार नहीं सकता । उसी का चर्म धारण करके भगवान् यह शिक्षा दे रहे हैं कि, अद्वय भाव से ही आचरण चरितार्थ होता है ।

इन विशेषताओं से विशिष्ट भगवान् भैरव सदा ध्यातव्य हैं । ये देव पदवी से भी विभूषित किये जाते हैं । दिव् धातु के जितने अर्थ होते हैं,उन सभी अर्थों को चरितार्थ करने में भगवान् भैरव सर्वदा समर्थ हैं । साथ ही ये नीलकण्ठ भी कहलाते हैं । नीलकण्ठता इनकी हालाहल विष को भी आत्मसात् कर जगत् की रक्षा भगवान् करते हैं । उसी तरह अख्याति रूपी माया के महाविष का अपहरण नीलकण्ठ भगवान् के शुभदर्शन में ही चरितार्थ हो जाता है । अन्तिम ध्यातव्य रूप सुतेजस शब्द द्वारा कहा गया है । ऐसे सम्यक् तेजस्वी भगवान् भैरव यज्ञमण्डप में शिष्य द्वारा विधानतः ध्यातव्य हैं ।।९३।।

वक्त्रध्यान के सम्बन्ध में भगवान् शङ्कर महेशानी पार्वती को सम्बोधित करते हुए कह रहे है कि, देवि ! भगवान् भैरव का ऊर्ध्व वक्त्र स्फटिक के समान आभा में भासमान परिदृश्यमान होता है । उसका इसी रूप में चिन्तन करना चाहिये ।।९४।।

पूर्व दिशा में जो मुख पड़ता है, वह पूर्णतया पीतवर्ण का होता है । दक्षिण दिशा का मुख नील कमल के दलों की आकर्षक श्यामवर्णी शोभा से विभूषित होता है । जहाँ तक वाम अर्थात् उत्तरवक्त्र के समन्वय का प्रश्न है, वह अनार के फूलों की पाण्डुरवर्णी रक्तिम आभा से युक्त होता है । कुङ्कुम को जल में मिलाने से जिस लाली का जन्म होता है,

दाडिमीकुसुमप्रख्यं कुङ्कुमोदकसन्निभम् ।
चन्द्रार्बुदप्रतीकाशं पश्चिमं तु विचिन्तयेत् ।।९६।।

वक्त्राणां दिग्रूपवैचित्र्यं तत्तदनुग्रहादिकृत्यवैचित्र्यात् ॥९६॥

एवमीदृशम्–

स्वच्छन्दभैरवं देवं सर्वकामफलप्रदम् ।
ध्यायते यस्तु युक्तात्मा क्षिप्रं सिध्यति मानवः ।।९७।।

'युक्तात्मा' एकचित्तः 'सिद्ध्यति' भुक्तिमुक्ती लभते । यथा पूर्वं वाचकस्य सकृदुच्चारात्सर्वकिल्बिषनाशित्वमुक्तं तथा वाच्यस्यापि ध्यानमात्रात्सर्वसिद्धिप्रद-र्शित्वमुक्तम् इति महाप्रभावतास्योच्यते ॥९७॥

यह वक्त्र उसी तरह की लाली के लालित्य से ललित लगता है । पश्चिम वक्त्र की शोभा तो अवर्णनीय है । एक दो दस, सौ हजार नहीं, अर्बुद अर्थात् अरबों अरब चन्द्रमाओं को एक पर स्थान लाकर रख देने से जो शोभा हो सकती है, उतने से भी अधिक शोभमान पश्चिम का वक्त्र होता है । इस प्रकार पाँचों मुखों का चिन्तन शिष्य करे । इससे उसमें दिव्य शक्ति का संचार होता है । वक्त्रों के रूप वैचित्र्य में दिशाओं के रूप वैचित्र्य का भी सामञ्जस्य रहता है । ध्यान से इन बातों के चिन्तन करने से चमत्कार घटित होता है ॥९५-९६॥

भगवान् भैरव के इस प्रकार सर्वाङ्ग सम्पूर्ण ध्यान के सम्बन्ध में यहाँ तक बताया गया । उक्त ध्यान स्वच्छन्द भैरव के दिव्य रूपता का दिग्दर्शन कराता है । इसके चिन्तन से समस्त कामनाओं की पूर्ति होती है । इसीलिये इसे सर्व काम फल प्रद कहते हैं । भगवान् में योग युक्त भाव से सर्वात्मना समर्पित भाव से जो शिष्य ध्यान करता है, वह मानवता की दृष्टि से धन्य साधक शीघ्रातिशीघ्र सिद्धि प्राप्त कर लेता है । सिद्धि प्राप्त करने का तात्पर्य भुक्ति और मुक्ति उभय विध सिद्धि से लिया जाना चाहिये । पहले वाचक मन्त्रों के सकृत् उच्चार से भी अनन्त सिद्धियों की प्राप्ति की बात की गयी है, उसी तरह यहाँ वाच्य रूप भगवच्चिन्तन से भी सर्वसिद्धि सम्पत् समवाप्ति की बात कही गयी है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, इस देवाधिदेव के दर्शन मात्र में महाप्रभाव शक्ति का उल्लास होता है ॥९७॥

परं न्यासमाह–

ततः परमबीजेन परं परमकारणम् ।
सुशान्तं निष्कलं देवं सर्वव्यापिनिरञ्जनम् ।।९८।।
आवाहयेत्सुहृष्टात्मा तव देवि वदाम्यहम् ।

इसके बाद यहाँ न्यास के सम्बन्ध में निर्देश कर रहे हैं–

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, महादेवि ! अब मैं आपके समक्ष भगवान् के आराधन के लिये अत्यन्त श्रद्धालु को क्या करना चाहिये इस विषय में निर्देश कर रहा हूँ। ध्यानपूर्वक इसे सुनो यह तुम्हारी जिज्ञासा रूपी चित्पटली पर शास्त्र के नवावतार के सदृश है ।

तुम जानती हो । भगवान् भैरव इस विश्वोल्लास के परात्पर परम कारण हैं । सम्यक् शान्ति के वे प्रतीक हैं । इसीलिये उन्हें सुशान्त कहते हैं । वे समस्त कला जाल से रहित हैं । अतः उन्हें निष्कल कहते हैं । वे सर्वव्यापी और निरञ्जन तत्त्व हैं । ऐसे परमोपास्य परमेश्वर का आवाहन करना चाहिये ।

यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं । १–शिष्य किस स्थिति में रहकर उनका आवाहन करे ? २–किस मुद्रा से और किस मन्त्र का आश्रय लेकर आवाहन करे ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर श्लोक में निर्दिष्ट है । पहले प्रश्न का उत्तर है कि, शिष्य सुहृष्टात्मा होकर आवाहन करे । सु अर्थात् सम्यक् हर्ष आराध्य के प्रति अतिशय उत्कण्ठा और लालसा मयी उत्सुकता से होता है । इसी भावावेश में शिष्य शाम्भव समावेश निष्ठ हो जाता है । परमेश्वर की तादात्म्य दृष्टि से वह खिल उठता है और आराध्य का आवाहन करने में तल्लीन हो जाता है ।

दूसरे प्रश्न का उत्तर शास्त्र की आवाहनी मुद्रा है । आवाहनी मुद्रा के द्वारा ही आवाहन होता है । आवाहन का एक बीज मन्त्र भी है । इसे गुरु मुख से प्राप्त करना चाहिये । इसी शास्त्रकार ने संकेत से ही उसे परमबीज कहकर श्लोक की पूर्ति कर दी है और आचार्य क्षेमराज भी एक दम चुप रह गये हैं । वह परमबीज शास्त्र में यथास्थान निर्दिष्ट भी है किन्तु सुनना उसे गुरुमुख से ही चाहिये ।

एक और बात इस सन्दर्भ में ध्यान देने की है । आवाहन, वह भी किसी एक पुरुष इकाई का नहीं । वरन् निरञ्जन परम कारण और सर्वव्यापक तत्त्व का करना है । सर्वव्यापक तो सर्वत्र विद्यमान ही है । उसके इस आवाहन का स्वरूप क्या होना चाहिये । इस आवाहन का अर्थ क्या है ?

आचार्य क्षेमराज कहते हैं–यह आवाहन एक प्रकार की अवतारणा है । साधक शिवभक्तियोग सम्पन्न कोई पुरुष भी एक तरह से उस परम कारण तत्त्व में तो तल्लीन रहता ही है । वह आदर पूर्वक लयता में ही पूजा का भी अनुभव कर लेता है । यह प्रक्रिया द्वादशान्त में पूरी होती है । शरीर के किसी अन्य अङ्ग में नहीं ।

'परं' निरतिशयम्' 'सुहृष्टात्मा' इति शाम्भवपदसमावेशं प्रति उत्कण्ठातिशयात्, 'आवाहयेत्' द्वादशान्तादवतारयेत् परशक्त्यवष्टम्भेन तत्स्वरूपमुन्मज्ज्य हृत्पर्यन्तं तच्चमत्कारसारं कुर्वीतेत्यर्थः ॥९९॥

कीदृशम्–

हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यनादान्तान्तसमाश्रितम् ॥९९॥
निष्कम्पं कारणातीतम्,

'नादान्तः' शक्त्यन्तः, तस्यान्तः पर्यन्तो द्वादशान्तः, तेन हृदादिद्वादशान्तं युगपद्व्याप्नुवन्तं निष्कम्पं स्वरूपादचलितम् ।

एवम्–

आवाह्य परमेश्वरम् ।
संस्थाप्य विधिवद्देवमङ्गषट्कं ततो न्यसेत् ॥१००॥

'उत्तानौ तु करौ कृत्वा अङ्गुष्ठौ तलमध्यगौ ।
आवाहनी त्वियम् ....॥'

वहीं उसकी सर्वव्यापकता का भी अनुभव होता है । इसलिये जागतिक स्थूल विधि से बाह्य पूजा में उसकी परशक्ति के अवष्टम्भ में रहकर द्वादशान्त से उसकी सत्ता में समाकर उसे ध्यान में हृदय देश में अवतरित करना पड़ता है । यही आवाहन है । अवतरण है या चिन्तन की क्रीडा है ॥९८॥

इस प्रक्रिया में शिष्य परमचैतन्य की चमत्कारमयी शक्ति से चमत्कृत हो उठता है । एक अदृश्य अमृत का शान्त निष्कम्प समुद्र उतरता है । साधक उस समय धन्यता का सुख अनुभव करता है । यह अवतरण द्वादशान्त (उन्मना) सहस्रार,व्यापिनी शक्ति, नाद आज्ञा विशुद्ध के क्रम में अनाहत केन्द्र में होता है । नादान्त के अन्त का तात्पर्य द्वादशान्त है । वह तत्त्व वहीं समाश्रित है । वहाँ से नीचे उतरने के रास्ते में उक्त चक्रों के पड़ाव पड़ते हैं । वह निष्कम्प कारणातीत तत्त्व ही उतरता है । इसके लिये साधक को अपनी साधना को निकषायित करना पड़ता है । कोई पर्वतारोही शिखरासीन शिव को गङ्गा की उर्वरा भूमि पर उतार कर उसका अभिनन्दन करने का उपक्रम कर रहा है । इस पावन उत्सव समारोह में हम सभी साथ हैं ॥९९॥

परमेश्वर का आवाहन कर उसकी प्रतिष्ठा भी अवश्य करणीय है । आवाहन के लिये आवाहनी मुद्रा होती है । उसका लक्षण इस प्रकार है –

दोनों हाथों को उत्तान कर फैला लेना चाहिये । दोनों अंगुष्ठों को तल मध्य में ही स्थापित करना चाहिये । इसी को आवाहनी मुद्रा कहते हैं । इसी से देवों का आवाहन होता है । इसी तरह एक स्थापनी मुद्रा भी होती है । उसकी परिभाषा इस प्रकार है–

इति आवाहनमुद्रया आवाहनम् ।

'बद्धाङ्गुष्ठौ स्थितौ मुष्टी उन्मुखौ स्थापनी भवेत् ।।'

इति मुद्रया स्थापनम् ।

अथ–

पाद्यमाचमनं चार्घं स्वागतं तदनन्तरम् ।
सन्निधानं च देवेशि निष्ठुरया निरोधयेत् ।।१०१।।

कल्पयेदिति शेष: । पादार्थमुदकं पाद्यम् । सु शोभनम् अस्मदनुग्रहपरमागमनमस्त्विति स्वागतम्, योनिमुद्रया सन्निधानम् ।

एवं कृत्वा निष्ठुरा मुद्रा तया निरोधयेत् अविचलं स्थापयेत् । सा तु–

'अङ्गुष्ठगर्भगौ मुष्टी............।' इति ।

............निष्ठुरा तन्निरोधने ।' इत्युक्ता ।।१०१।।

तत:–

गन्धै: पुष्पैस्तथा धूपैर्धूपयित्वा तमर्चयेत् ।

सर्वमेतन्मानसं कुर्यात् ।

मुट्ठी बाँधते समय अंगूठों को भीतर बाँधे रहें और उन्हें अर्थात् दोनों मुट्ठियों को उत्तान रखें । यह स्थापनी मुद्रा होती है । इसी के द्वारा प्रतिष्ठा की जाती है ।।१००।।

आवाहन और प्रतिष्ठा के उपरान्त अर्चन का क्रम आता है । अर्चन पूजन में पैरों को धोने के लिये शुद्ध जल की सबसे पहले आवश्यकता पड़ती है । उसे 'पाद्य' कहत हैं । मुख शुद्धि के लिये जिस जल का प्रयोग करते हैं, उसे आचमनोदक कहते हैं । उससे मुख शुद्ध करते हैं । और भी आदर करने के लिये तथा शान्ति व शीतलता के लिये 'अर्घ्य' का उपयोग करते । 'अर्घ्य' जल और सुगन्धित कई पदार्थों के मिश्रण से तैयार किया जाता है ।

इसके बाद स्वागत के लिये स्वस्ति मन्त्र का प्रयोग करते हैं । क्योंकि यहाँ भगवान् का अवरतण और सामान्य पूजन का प्रकल्पन पूरा हो चुका है । अब उन्होंने आकर हमें धन्य बनाया है, इस आशय से स्वागत उचित है । संनिधापनी योनिमुद्रा द्वारसन्निधापन कर अंगूठों के भीतर कर बँधी हुइ मुट्ठियों की निष्ठुरा मुद्रा से उनको रोक कर प्रतिष्ठित करते हैं ।।१०१।।

अथ सन्निधानार्थं–

मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ।।१०२।।

मुदं हर्षं राति ददाति, परभैरवचैतन्यद्रविणं मुद्रयति, परावेशेन मोदयति भक्तान्, द्रावयति पाशान् इति वा निरुक्तां परस्वरूपप्रतिबिम्बरूपां मुद्रां वक्ष्यमाणाम् अष्टादशविधाम्

'एता मुद्रा महादेवि भैरवस्य प्रदर्शयेत् ।
आवाहने निरोधे च तथैव च विसर्जने ।।' (१४/१९)

इति वक्ष्यमाणत्रैकाल्यकर्मणि । त्रिधेति–

'मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा ।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता ।।'

इत्याम्नायनिर्दिष्टा ।।१०२।।

इस प्रक्रिया को पूर्ण करने के उपरान्त वहाँ का वातावरण भैरव सन्निधान से धन्य हो उठता है । निष्ठुरा से निरुद्ध भैरव की मानस पूजा का निर्देश शास्त्र करता है । यह पूजा मानसिक गन्ध द्रव्यों से, पारिजात आदि पुष्पों से और अतिशयरूप से सुरभित धूप आदि से ही करनी चाहिये । यद्यपि श्लोक में धूप को धूपित करने की बात कर यह संकेत किया गया है किन्तु धूपन क्रिया भी मानसिक रूप से की जा सकती है । यह मानसिक अर्चन की ही प्रक्रिया है क्योंकि, आवाहित देवाधिदेव वहाँ प्रत्यक्ष नहीं हैं । यों श्रद्धा के अनुसार बाह्ययाग का रूप भी दिया जा सकता है ।

मुद्राओं के प्रदर्शन का भी आचार निभाना आवश्यक होता है । मुद्रा शब्द का विग्रह वाक्य 'मुदं' राति इति मुद्रा है । आराध्य का अनुग्रह हर्ष की वर्षा करता है । उससे साधक के हर्ष का पारावार उमड़ पड़ता है । यह इस का सुपरिणाम है । परभैरव के चैतन्य का अमृतद्रव मुद्रित होकर अन्त: करण में उल्लसित हो जाता है । इस प्रकार मुद्रा परभैरव का आवेश उत्पन्न करती है और भक्तों को मुग्ध करने की प्रधान हेतु भी बनती है । यह भी कहा जा सकता है कि, पाशों को गलाकर छिन्न भिन्न कर देती है । ये सारे अर्थ नैरुक्तिक प्रक्रिया से प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि, मुद्रायें परभैरव की प्रतिबिम्ब रूप होती हैं । ये वस्तुत: १८ प्रकार की मुख्य रूप से शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं । कहा गया है कि,

"इन मुद्राओं को भगवान् कह रहे हैं कि, हे देवि परभैरव के समक्ष प्रदर्शित करना चाहिये । मुख्य रूप से आवाहन, निरोधन और विसर्जन के समय तो अनिवार्यत: प्रदर्शित करना चाहिये ।"

इसके तीन भेद होते हैं । १.मनोजा, २.वाग्भवा और ३.अङ्गविक्षेप से समुद्भूत देहोद्भवा । इनमें पहली गुरुवक्त्र स्थिता उन्हीं की कृपा से प्राप्त होती है । दूसरी समन्त्रक उच्चार से भी घटित होती है । तीसरा प्रकार तो सर्वविद्या सिद्ध माना जाता है । ये सारी बातें आम्नाय में परम्परा से ही आयी हुई हैं ।।१०२।।

विस्तरेणान्तर्यागं वक्तुमाह–

ततः स्नानादिकं कर्म कृत्वा चैव वरानने ।
परिधाप्य सुवस्त्राणि नेत्रपट्टोद्भवानि च ।।१०३।।
विलिप्यागुरुकर्पूरैर्मुकुटाद्यैर्विभूषयेत् ।

विलिप्य परिधाप्य भूषयेदिति क्रमः ।

पुष्पैर्नानाविधैः शुभ्रैरर्चयेद्भूषयेत्पुनः ।।१०४।।

यहाँ तक भैरव की प्रतिष्ठिति और मुद्रादि प्रदर्शन आदि का प्रकल्पन करने के उपरान्त अब अन्तर्याग का विशद वर्णन कर रहे हैं। भगवान् सुमुख सुन्दरी शक्ति को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं कि, देवि ! स्नानादि नित्य क्रिया पूरी करके सुन्दर वस्त्र धारण करना चाहिये। ये वस्त्र विशेष कर सूक्ष्म रेशमी वस्त्र होने चाहिये। नेत्र[1] शब्द रेशम के लिये ही प्रयुक्त है। नेत्र पट्ट अर्थात् रेशमी सूत्र से बीना हुआ वस्त्र पहनना उचित है। पूजा में प्रयोज्य यह पवित्र वस्त्र माना जाता है।

शरीर पर अगुरु और कर्पूर सदृश सुगन्धित पदार्थों से निर्मित इत्र की तरह का विलेपनीय तरल द्रव्य उन परिधानीय वस्त्रों पर विशेष रूप से लेपन करें जिससे वे जहाँ हों, वातावरण को सुगन्धि मय और सुरभित बनाते रहें या पहले से ही बनवाकर तैयार रखें। आकर्षक मुकुट आदि स्वर्ण भूषण भी धारण करना चाहिये। यह प्रक्रिया वस्त्रादि परिधापित करने के उपरान्त ही की जाती है, इसका ध्यान रखना चाहिये। तत्पश्चात् अनेक प्रकार के आकर्षक कुसुमों से जिन्हें देख कर मन में शुभ्र का जागरण हो रहा हो, उनसे स्वात्म शिव का अर्चन करना चाहिये और विविध विभूषणों से स्वात्म शिव को विभूषित करना चाहिये।

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि, यह प्रकरण अन्तर्याग का है। पहले ही यह निर्देश कर दिया गया है। अर्चयेत् और भूषयेत् ये दोनों क्रियायें स्वात्म शिव को सजाते समय बाह्य और स्थूल रूप से सम्पन्न की जाती हैं। जब अन्तर में विराजमान शिवरूप भैरव देव के अर्चन की बात आती है, तो ये क्रियायें भावनात्मक हो जाती हैं। तब यह अर्चन और विभूषणन मानसिक हो जाता है ॥१०४॥

---

१. रघुवंश महाकाव्यम् (कालिदासः) ७/३९

अर्घं दत्त्वा महेशानि पुनर्मुद्रां प्रदर्शयेत ।
प्रणम्य भैरवं देवं स्वच्छन्दं विश्वनायकम् ।।१०५।।

'अर्घं' विशेषार्घम् । 'प्रणम्य' इति समावेशेन तन्मयीभावमाश्रित्य ॥१०५॥

ततो ह्याभरणं बाह्ये विनिवेश्यं वरानने ।

परमेश्वरशक्तिरूपं तदभेदेन न्यस्तमपि वक्त्राङ्गादि पुनस्तदिच्छयैव तदाभासितत्वात् प्रभापुञ्जवत् पृथगिव आवरणतया स्थितं विनिवेश्यम् । एवं चाभिदधदेवं शिक्षयति यद्विश्वं ग्राह्यग्राहकाभिमतं शिवरूपमपि शिवेन तथाभासितत्वात् पृथगिव लक्ष्यते, न तु वास्तवमस्य पृथक्त्वं कदाचित् ।

मानसिक अर्घ्य देकर पुन: मुद्राओं का भी प्रदर्शन करना चाहिये । मानसिक रूप से भैरव देव का प्रणाम कर भैरव रूप देवाधिदेव के दिव्य स्वच्छन्द रूप का भावन होना चाहिये । यह भावना सकल के अर्थ का चिन्तन करते हुए करना चाहिये । यह इस परम्परा का पालनीय आचार है कि, भगवान् का प्रणाम शारीरिक प्रदर्शन के रूप में नहीं वरन् तन्मयीभाव के समावेश के रूप में होता है । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि, सुबुद्ध शिष्य उपर्युक्त सारे क्रम स्वयं सम्पन्न करता है । आरुरुक्षु शिष्य को प्रेरित करते हुए और करणीयता का निर्देश करते हुए आचार्य सम्पन्न कराते हैं ॥१०५॥

भगवान् भैरव ये सारे करणीय कर्मकाण्ड देवी पार्वती को ही सुनाते हैं । देवी सर्वातिशायिनी ग्राहिका शक्ति हैं, जिनके श्रुति पटल पर टकरा कर ये शिवोक्तियाँ शास्त्र रूप में साकार रूप ग्रहण कर लेती हैं । यह एक तरह से अहन्ता के विमर्श स्तर की भाषा है, जिसका स्थूल रूप ही बैखरी है । ये वरानने या सुमुखि सदृश सम्बोधन इसी रहस्य के उद्बोधक हैं ।

साधक भगवान् का आवाहन, स्थापन, संन्निधापन आदि तो अपने अन्तर में ही सम्पन्न करता है । उन्हें यदि आभूषण से विभूषित करने की आकाङ्क्षा उसे उत्पन्न हो जाये,तो उसे क्या करना चाहिये ? शास्त्रकार कहते हैं कि, आभरण बाह्य रूप से तैयार हों, यह आवश्यक है और अद्वय भैरव के तादात्म्य की अनुभूति के बादजूद भी आभरण बनवाकर बाहर रख दिया जाय । उसका विनिवेश ध्यानमय रहते हुए भी बाहर ही आवश्यकतानुसार रखा जाय । यह सारा शक्तिप्रपञ्च शक्तिमय होते हुये और तादात्म्य भाव से न्यस्त रहते हुए भी शक्ति का बाह्य आभास परमेश्वर की इच्छा शक्ति से ही होता है । इसलिये जैसे सूर्य का प्रभा-पुञ्ज सूर्य से अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्तवत् भासित प्रतीत होता है,उसी तरह यह भैरवभाव का भास्वर प्रभाजाल रूप (मेयराशि रूप) पदार्थ समूह पृथक् प्रतिभासित होता है ।

आवरणन्यासे विभागमाह–

ऐशान्यां पूर्वतो याम्यां उत्तराप्यावसानक्रम् ।।१०६।।
विन्यसेत्पञ्च वक्त्राणि पञ्चवक्त्रयुतानि च ।
बाहुभिर्दशभिश्चैव शशाङ्कमुकुटैः सह ।।१०७।।
ध्यातव्यानि स्वरूपाणि वराभयकराणि तु ।

एकैकस्याः शक्तेः पञ्चशक्तिरूपत्वात् पञ्चवक्त्ररूपत्वमेकैकस्य च शाक्तस्फारात्मकस्वरूपातो भेदेनाभासितत्वात्, तथापि च मन्त्रनाडी-सन्धानाभ्यां तदभेदसारत्वात् पृथगपि एषां पूजनमुक्तम् । स्वं स्फटिकाभत्वादि पूर्वोक्तं रूपं येषां तानि स्वरूपाणि ।

यह पृथक् प्रतिभासन एक प्रकार का आवरण है । यह आवरण भी भैरव का आभरण ही है । इन पदार्थों को उन्हें अर्पित करना भी आवरण पूजा रूप ही है । इसी लिये भगवान् कहते हैं कि, वरानने देवि ! आभरण का बाह्य विनिवेश भी परमेश्वर की व्यापकता की सर्वात्मना स्वीकृति ही मानी जा सकती है ।

इतना कहते हुए भगवान् इस प्रकार की शिक्षा से पौन: पुन्य से साधक को कृतार्थ कर रहे हैं कि, यह विश्व ग्राह्य-ग्राहक भावमय रूप में भी देखा जाता है । ऐसी स्थिति में प्रमाता में ही अवस्थित होने के कारण यह शिवरूप ही है । शिव रूप होते हुए भी शिवशक्ति के प्रपञ्चाभास के कारण मेरा (ग्राह्य) रूप में पृथक् प्रतीत होता है । यह प्रार्थक्य प्रथा का प्रथन वस्तुत: सत्य नहीं है । यह पार्थक्य अवास्तविक है । अत: सर्वथा भैरव-सद्भाव का भाव ही शाश्वतिक सत्य है ।।१०५।।

आवरण के रहस्य का उद्घाटन करने के बाद उससे सम्बन्धित न्यास आदि की चर्चा के उपरान्त दिग्विभाग व्यवस्था की स्थापना कर रहे हैं –

ईशान में ईशान वक्त्र, पूर्व में तत्पुरुष वक्त्र, दक्षिण में अघोरवक्त्र, उत्तर में वामदेव वक्त्र और आप्य अर्थात् वरुण की पश्चिम दिशा में सद्योजात वक्त्र का प्रकल्पन कर वहीं इनका विन्यास करना चाहिये । ध्यान देने की बात है कि, प्रत्येक वक्त्र के भी पाँच पाँच वक्त्र होते हैं । इनकी न्यास प्रक्रिया भी उक्त दिग्विभाजन की प्रक्रिया के अनुसार ही करनी चाहिये ।

इनकी दश भुजायें भी पञ्चवक्त्रों के अनुसार ही न्यास के योग्य हैं । सभी वक्त्रों को मुकुट से सुशोभित करें और उनपर चन्द्रों का भी समायोजन मानसिक रूप से करणीय है । वर और अभय मुद्राओं में ये विश्व को अभयदान दे रहे हैं, यह ध्यान कर उनका मानसिक अर्चन होना चाहिये ।

वराभयकरत्वं खड्गखेटकपाशाङ्कुशशरपिनाकमुण्डखट्वाङ्गोपलक्षणपरम् । मन्त्राणां परपरापरापररूपत्वात् परादीनां च प्रत्येकं त्रैविध्यान्महासामान्यरूपव्याप्तत्वाच्च दशरूपता इति तद्व्याप्तत्वाच्च दशबाहुत्वम् ॥१०७॥

वक्त्रावरणानुषक्तान्यङ्गान्याह–

अग्नीशरक्षोवायव्यचतुर्दिक्षु च तं न्यसेत् ।।१०८।।
हृच्छिरश्च शिखा वर्म अस्त्रं च प्रविभागशः ।

अग्नीशरक्षोवायव्यदिक्षु यथासंख्यं हृच्छिरःशिखावर्माणि अस्त्रं च चतुर्दिक्कम्, इति विभागः । सकलाङ्गान्येव पृथगावरणतया पूज्यानि न तु निष्कलाङ्गानि, तेषां सर्वज्ञताद्येकरूपाणां निष्कलैकरूपत्वात् ॥१०८॥

यह सिद्धान्त रूप से स्वीकृत है कि, एक एक शक्ति के भी पाँच पाँच शक्ति रूप होते हैं । इसी लिये एक एक वक्त्र का पंचवक्त्र रूपत्व स्वाभाविक माना जाता है । यह शाक्त स्फार का ही स्वरूप है । शाक्तस्फार में भेद का आभास भी स्वाभाविक रूप से होता रहता है । ऐसी अवस्था में मन्त्रसन्धान और नाडीसंधानों द्वारा वह भेदात्मकता भी अभेदात्मकता की गोद के स्पन्दन रूप में ही प्रविलापित प्रतीत होती है । फिर भेदात्मकता के आभास के कारण उसकी पृथक् पूजा भी विहित है । इनके स्वरूप के सम्बन्ध की चर्चा पहले आ चुकी है । स्फटिक[1] आदि वर्णों का सप्रसङ्ग वर्णन वहाँ किया गया है । उनके स्वरूप के वर्णन के सन्दर्भ के साथ अन्य वर्णों के भी निर्देश हैं ।

अस्त्र आदि हाथों में धार्यमाण पदार्थों के रूप में यहाँ केवल वर और अभय मुद्रा का ही निर्देश है । किन्तु यह उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् इनके साथ ही खड्ग, खेटक, पाश, अङ्कुश, शर, पिनाक, मुण्ड और खट्वाङ्ग का भी अध्याहार यहाँ कर देना चाहिये ।

मन्त्र भी पर, अपर और परापर स्वरूप वाले होते हैं । इन पर, अपर, परापर के भी प्रत्येक के तीन भेद होते ही हैं । इस तरह नौ भेद के साथ महासामान्य रूप एक और भेद की गणना के फलस्वरूप एक भेद जोड़ कर दश भेद करने की प्रक्रिया के अनुसार बाहुओं में भी दश संख्या ही प्रकल्पन करते हैं ॥१०६-१०७॥

वक्त्रावरण से अनुषक्त अङ्गों के विषय में कहते हुए प्रकरण को दूसरा रूप दे रहे हैं –

अग्नि, ईश, राक्षस अर्थात् (निर्ऋति) वायव्य इन दिशाओं में हृदय, शिर, शिखा, कवच और अस्त्र मन्त्र चतुर्दिक् जातियों के साथ न्यास किये जाते हैं । ये सभी निष्कल के अङ्ग नहीं हैं । वरन् सकल के अङ्ग हैं ॥१०८॥

---

१. स्व०त० पटल २/९४

एषां रूपमाह–

हृदयं रक्तवर्णाभं शिरो गोरोचनप्रभम् ।।१०९।।
तडिद्वलयसंकाशां शिखां देवीं विचिन्तयेत् ।
आधूम्रं कवचं विद्यात्कपिशं चास्त्रमेव च ।।११०।।

नेत्ररूपस्थाननिर्देशं वक्तुमाह–

ज्योतीरूपप्रतीकाशं नेत्रं मध्ये च संस्थितम् ।

विन्यसेदित्येव । 'मध्ये' इति कर्णिकायाम् । वक्ष्यति हि–

'नेत्रं तु कर्णिकायां वै........।' इति । (२/१०७)

एते च–

पञ्चवक्त्राः स्मृताः सर्वे दशबाह्विन्दुभूषिताः ।।१११।।
नानाभरणसंयुक्ता नानास्त्रग्गन्धलेपना ।
नानावस्त्रपरीधाना मुकुटैरुज्ज्वलैः शुभैः ।।११२।।
रत्नमालावनद्धाश्च हारकेयूरभूषिताः ।

हृदय रक्तवर्ण की आभा से भास्वर होता है । शिरोभाग की आभा गोरोचन के समान होती है । शिखा बिजली की कौंध से निकलने वाले चमकीले प्रकाश की शिखा के समान मानी जाती है । वैसा ही उसके वर्ण का चिन्तन करना चाहिये । कवच का वर्ण चारों ओर व्याप्त धूम्र राशि के समान जानना चाहिये । जहाँ तक अस्त्र का प्रश्न है, वह कपिश रंग का कहा गया है ॥१०९-११०॥

नेत्र त्रय के सम्बन्ध में अलग से कथन का तात्पर्य उसके महत्त्व का ख्यापन है । नेत्र मध्य में अवस्थित अङ्ग है, यह माना जाता है । इसी पटल के श्लोक १७१ के अनुसार यह कर्णिका में पूर्व में विद्यमान है । यह विद्यमानता न्यास के ऊपर आधृत है ।

ये हृदय से नेत्र पर्यन्त सभी अङ्ग भी पाँच मुख वाले प्रकल्पित किये जाते हैं । शिवरूप होने के कारण ये भी दश बाहुओं और शिरोभाग पर चन्द्रकला से सम्बन्धित होते हैं । नाना प्रकार के आयुधों से ये विभूषित शक्तिमन्त की तरह ही स्वीकृत किये जाते हैं । सुन्दर सुगन्धित कुसुममालिकाओं से मनोज्ञ और इत्र आदि सुगन्धित तरल सौरभोपचार से उपचारित होते हैं । साथ ही सुन्दर रेशमी वस्त्रों को धारण करते हैं । चमकीले स्वर्ण मुकुटों से शतगुणित आभा से भास्वर इनकी निराली छटा सदा स्मरणीय है । इसी रूप में इनका चिन्तन होना चाहिये ॥१११-११२॥

एते च–

द्विरष्टवर्षकाकाराः सुरूपाः स्थिरयौवनाः ।।११३।।
भैरवाद्याः स्मृता मन्त्राः पीठेशाः पीठमर्दकाः ।

भैरवाद्या अङ्गान्ता मन्त्राः 'पीठस्य' विद्यामन्त्रमण्डलमुद्रारूपस्य चतुर्विधस्य 'ईशाः' स्वामिनः स्वात्मसात्करणेन[1] मर्दकाश्च । ये तु पीठक्षेत्रसन्दोहादिपल्ली-परमेतद्व्याचक्षते तेऽस्मि[2]न्नन्तर्यागे देवतान्यासस्य मध्येऽप्येवं कल्पयन्त उपाहास्या एव ।।११३।।

अथ–

या सा पूर्वं ख्याता अघोरी शक्तिरुत्तमा ।।११४।।
भैरवं पूजयित्वा तु तस्योत्सङ्गे तु तां न्यसेत् ।

तस्या ध्यानमाह–

यादृशं भैरवं रूपं भैरव्यास्तादृगेव हि ।।११५।।

ये सभी रत्न की मालाओं से लदे रहते हैं । साथ ही मनोहारी हारों से सुशोभित रहते हैं । उनकी बाहुओं में केयूर के भूषण बड़े ही मोहक लगते हैं । ये सभी १६ वर्षीय युवा, सुन्दर रूप वाले और स्थिर यौवन से समन्वित होते हैं । इनके पृथक्-पृथक् भैरव के अङ्गान्त मन्त्र निर्दिष्ट हैं । विद्या, मन्त्र, मण्डल और मुद्रारूपी पीठों के अधीश्वर भी ये माने जाते हैं । सभी पीठों को स्वात्मसात् करने में समर्थ हैं । इसी आधार इन्हें पीठ मर्दक कहते हैं ।

इस सन्दर्भ में तत्कालीन कुछ विद्वानों ने यह कहा था अथवा टीकाओं में जो इस समय उपलब्ध नहीं हैं) यह विचार व्यक्त किया था कि, यहाँ पीठ क्षेत्र सन्दोह को पल्ली परक ही मानना चाहिये, वे विद्वान् आचार्य क्षेमराज की दृष्टि से उपहास्य हैं क्योंकि अन्तर्याग प्रकरण में देवता न्यास के प्रकल्प में यह उचित नहीं कहा जा सकता ।।११३।।

पहले एक न्यास के सन्दर्भ में पञ्च वक्त्रों से युक्त पञ्च वक्त्रों के न्यास की (श्लोक १०८-१११) चर्चा की गयी है । उसी के सन्दर्भ में मन्त्र पीठेश और पीठ मर्दकों भी चर्चा के बाद अब अघोरी नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भैरव शक्ति के सन्दर्भ में प्रकाश डाल रहे हैं–

अघोरी शक्ति के सम्बन्ध में भगवान् भैरव यहाँ कह रहे हैं कि, मैंने पहले ही अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की शक्ति, जिसे हम अघोरी संज्ञा से विभूषित करते हैं,

---

१. क. ख. पु. साक्षात्करणेनेति पाठः ।
२. क. पु. तस्मिन् इति पाठः ।

तथा च-

ईषत्करालवदनां गम्भीरविपुलस्वनाम् ।
प्रसन्नास्यां सदा ध्यायेद्भैरवीं विस्मितेक्षणाम् ।।११६।।

करालत्वं भैरवानुकारतः पाशभक्षणात्, गम्भीरविपुलस्वनत्वं विमर्शप्राधान्यात्, प्रसन्नास्यत्वं परभैरवानुरूप्येण अनुग्रहप्रवणत्वात्, अतएव भैरवमुद्रानुप्रवेशादेव विस्मितेक्षणत्वम् ॥११६॥

ततः-

द्वितीयावरणे देवि विन्यसेद्भैरवाष्टकम् ।

द्वितीयशब्देन अङ्गवक्त्राणि एकमेवावरणं समव्याप्तिकत्वाद् भगवद्देहारम्भकत्वाच्च इति दर्शयति ।

भैरव की पूजा के बाद उस देवाधिदेव महादेव के उत्सङ्ग में इस अघोरी शक्ति का न्यास कर देना चाहिये । जहाँ तक इस भैरवी शक्ति के ध्यान का प्रश्न है, पूर्व वर्णित भैरव की आकृति के समान ही इसकी आकृति मानी जानी चाहिये । एकदम उसी तरह का मिलता जुलता स्वरूप दोनों का शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट है ॥११४-११५॥

उसके एक औपचारिक रूप से आकार के विषय में निर्देश देते हुये भगवान् कहते हैं कि, ईषत् अर्थात् कुछ करालता इस शक्ति के मुख से स्पष्ट झलकती रहती है । गम्भीर मन्द्र ध्वनि कर लोगों को भयभीत कर अपने प्रभाव से भावित कर लेती है । ज्ञान होने पर भी मुख से अपार प्रसन्नता के फव्वारे छूटते हैं । आँखों में प्रापञ्चिक विश्व-प्रसार को देख कर इस देवी की आखों में विस्मय का समुद्र लहराता है । इन विशिष्ट गुणों से विभूषित इसका अटूट अनवरत ध्यान साधकों को नित्य करना चाहिये ।

भैरवी पाशों को छिन्न भिन्न करती है । इस में करालता का दर्शन स्वाभाविक हो जाता है । करालता भगवती भैरवी में भी स्वभावतः झलकती रहती है । स्वन विमर्श मूलक होता है । सोमतत्त्व मयी भैरवी के विमर्श की प्रधानता से मन्द्रस्वन का अनुभव होता है । भैरव देव सदा सदनुग्रह परायणता से संवलित होते हैं । उसी प्रकार परभैरव के समान ही अनुग्रह करने के कारण स्वयं प्रसन्नवदना दीख पड़ना स्वाभाविक है । इस तरह परम भैरव मुद्रा में इस शक्ति का अनुप्रवेश होने के कारण कारण आँखों में चमक और विस्मय भी प्राकृत गुण की तरह अवतीर्ण रहते हैं । इन तथ्यों की जानकारी साधक को अवश्य होनी चाहिये ॥११६॥

कथं न्यसेदित्याह–

कपालीशं तु पूर्वायामाग्नेय्यां शिखिवाहनम् ।।११७।।
दक्षिणे क्रोधराजं तु विकरालं तु नैर्ऋते ।
मन्मथं पश्चिमे भागे मघनादेश्वरं तथा ।।११८।।
वायव्ये देवि विन्यस्य सोमराजं तथोत्तरे ।
विद्याराजं तथैशान्यां विन्यसेत्तु सुभावितः ।।११९।।

अष्टावपि–

पञ्चवक्त्रास्त्रिनेत्राश्च दशबाह्विन्दुशेखराः ।
कपालमालाभरणाः स्फुरन्माणिक्यमण्डिताः ।।१२०।।

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि ! द्वितीय आवरण की पूजा में भैरवाष्टक न्यास करना चाहिये । यह द्वितीयावरण का न्यास है । द्वितीय शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है कि, अङ्गवक्त्र की समव्याप्ति और भगवान् के शरीर के आरम्भ के प्रतीक होने के कारण उनका एक वह पृथक् आवरण था और उसके अतिरिक्त यह द्वितीय आवरण है । इसमें इन आठ भैरवों का न्यास किस प्रकार किया जाय, यह निर्देश कर रहे हैं ।

१. कपालीश भैरव का न्यास पूर्व दिशा में करना चाहिये ।

२. शिखिवाहन भैरव का न्यास अग्नि कोण में करना चाहिये ।

३. क्रोधराज भैरव का न्यास दक्षिण में करना चाहिये ।

४. नैर्ऋत्य कोण में विकराल भैरव का न्यास करना चाहिये ।

५. मन्मथ भैरव के न्यास के लिये पश्चिम भाग निर्धारित है ।

६. वायव्य में मेघनादेश्वर का न्यास उचित है ।

७. उत्तर दिशा में सोमराज की स्थापना होनी चाहिये ।

८. ईशान कोण में विद्याराज भैरव न्यस्य हैं ।

यह न्यास की प्रक्रिया भैरव-सद्भाव भाविनी दशा में ही सम्पन्न करनी चाहिये ॥११७-११९॥

ये आठों भैरव पञ्चवक्त्र आकार के हैं। सभी त्रिनेत्र होते हैं। सबकी दस दस बाहें होती हैं । सभी शशिशेखर होते हैं । कपाल मालायें ही इनके आभरण हैं । माण्क्यिों की रश्मियों से स्फुरित होने वाले चमत्कार से ये सभी सुशोभित होते हैं ॥१२०॥

एषां दिक्क्रमेण ध्यानमाह–

पूर्वं पीतं स्मृतं देवि रक्तमाग्नेयगोचरे ।
दक्षिणे नीलमेघाभं नैर्ऋत्यां ज्वलनप्रभम् ।।१२१।।
श्यामं चापरदिग्भागे धूम्रं वायव्यगोचरे ।
चन्द्रबिम्बप्रभं सौम्ये ईशाने स्फटिकप्रभम् ।।१२२।।

अथ–

तृतीये चैव लोकेशान् सास्त्रान्संपरिकल्पयेत् ।
नामानि तेषां वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।।१२३।।
इन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणाश्च समीरणः ।
सोमराजः कुबेरश्च ईशानः परमेश्वरः ।।१२४।।

'सास्त्रान्' इति वदन्नस्त्रावरणं न पृथङ्न्यास्यम्-इति निरूपयति 'तृतीये' इत्यभिधानाच्च ।।१२४।।

दिशाओं के क्रमानुसार इनका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये । पूर्व दिशा में कपालीश भैरव पीत वर्ण के माने जाते हैं । आग्नि कोणीय शिखिवाहन लाल रंग के ध्यातव्य हैं । दक्षिणात्य क्रोधराज नीले गभुआरे मेघों के समान आकर्षक होते हैं । निर्ऋति कोण के विकराल भैरव का ध्यान ज्वलनप्रभ अग्नि के समान करना चाहिये । मन्मथ भैरव का पश्चिम में श्याम वर्णी ध्यान शास्त्र विहित है । वायव्य में रहने वाले मेघनादेश्वर धूम्रवर्णी माने जाते हैं । ये इसी रंग में ध्यातव्य हैं । उत्तर में सोमराज भैरव का न्यास होता है । ये चन्द्रबिम्ब के समान होते हैं । इसी रंग में इसका ध्यान करना चाहिये । ईशानकोण के विद्याराज स्फटिक के समान पारदर्शी श्वेतरंग के होते हैं ।।१२१-१२२।।

तृतीय आवरण की पूजा का विवरण दे रहे हैं –

इसमें लोकेशों का न्यास करते हैं । इनका परिकल्पन इनके अंकों के साथ इस प्रकार है । १.इन्द्र, २.अग्नि, ३.यम, ४. निर्ऋति, ५.वरुण, ६.समीरण, ७.सोमराज कुबेर और ८.ईशानः ! यह ध्यान रखना चाहिये कि, न्यास करते समय अस्त्रों के साथ ही इनको न्यस्त करना चाहिये । यह नियम 'सास्त्रान्' शब्द प्रयोग (श्लोक १२३) के अर्थों पर ही बनाया गया है । यह नियम तृतीय आवरण में ही लागू होता है ।।१२३-१२४।।

ते च–

भैरवाष्टकरूपेण ध्यातव्यास्तु वरानने ।

परभैरवशक्तिपुञ्जात्मकभैरवाष्टकप्रसररूपत्वात् 'पूर्वं पीतम्' इत्याद्युक्तभैरवाष्टकरूपेणैव चिन्त्याः ।

एवमेतदस्त्राण्यपि भैरवास्त्रव्याप्तिसाराणि यागरक्षापराणि नामत उद्दिशति–

वज्रं शक्तिस्तथा दण्डः खड्गः पाशस्तथैव च ।।१२५।।
ध्वजो गदा त्रिशूलं च लोकपालायुधानि वै ।

ध्यानमाह–

वज्रं चानेकवर्णाढ्यं शक्तिं हेमसमप्रभाम् ।।१२६।।
दण्डं भिन्नाञ्जनाभं च खड्गं नीलोत्पलप्रभम् ।
किंशुकाभं तथा पाशं ध्वजं शुक्लं विचिन्तयेत् ।।१२७।।
गदां तु विद्रुमाभां वै शूलं विद्युत्समप्रभम् ।

एतानि चैषां करस्थानि ध्येयानि ॥१२७॥

भगवान् शङ्कर कहते हैं कि, सुमुखि देवश्वरि ! ये सभी भैरवाष्टक रूप से ध्यातव्य हैं । वस्तुतः परभैरव देव का शक्ति पुञ्ज रूप ही इन आठों भैरवों का प्रसर कपालीश भैरव से लेकर ईशान के विद्याराज के रंगों के अनुसार ही करना चाहिये ।

इनके अस्त्र भैरव के अस्त्रों की व्याप्ति में ही अन्तर्भूत होते हैं । इनके अस्त्रों के नाम भी लोकेशों के अनुसार क्रमिक रूप से इस प्रकार जानना चाहिये –

१.वज्र, २.शक्ति, ३.दण्ड, ४.खड्ग, ५.पाश, ६.ध्वज, ७.गदा और ८.त्रिशूल । लोकपालों के सक्रम अस्त्र यही माने जाते हैं । अस्त्रों के साथ न्यास कर लेने पर अस्त्रों का ध्यान आरम्भ करना चाहिये ।

१.वज्र– अनेक वर्णे से सुशोभित होता है ।

२.शक्ति– स्वर्णवर्णी आभा से युक्त मानी जाती है ।

३.दण्ड– अञ्जन की आभा से समान्वित होता है ।

४.खड्ग– नील कमल के समान शोभित होता है ।

५.पाश– किंशुक के समान सुन्दर माना जाता है ।

६.ध्वज– श्वेत रंग की शुक्लता से युक्त होता है ।

७.गदा– विद्रुम के समान सुन्दर होती है ।

८.शूल– बिजली की कौंध के समान चमकदार होता है ।

ये सभी अस्त्र लोकपालों के हाथ में ही हैं । इसी भाव से अस्त्रसहित लोकेशों का ध्यान करना चाहिये ॥१२५-१२७॥

अथ–

सम्पूज्यावरणं सर्वं सन्धानं मन्त्रानायके ।।१२८।।

कर्तव्यमित्यनुषज्यते ॥१२८॥

कथमित्याकाङ्क्षायाम्–

अस्त्राणि लोकपालाश्च भैरवाष्टकमेव च ।
पञ्च ब्रह्मान्यथाङ्गानि एतान्यावरणानि तु ।।१२९।।

क्रमेणोच्चारयेत्सर्वं यावत्तद्गर्भमैश्वरम् ।

अस्त्राणीत्यादिस्तृतीयपटलोक्तः प्रकारोऽनुसन्धेयः । इदं चात्र पूजासतत्त्वम्–

'उल्लङ्घ्याखिलमध्वजालममलां चिन्मूर्तिमाश्रित्य ता-
मुन्मज्जद्बहुरूपमूर्तिमभितः श्रित्वा धिया वाथ ताम् ।
उद्योगादिचतुष्कलद्युतिमहातत्त्वात्मिकां तन्मयी-
भाव्याशेषमिहार्पयेत मनसा विश्वं परार्चापरः ।।' इति ॥ १२९॥

सम्पूर्ण आवरणों का इस प्रकार पूजन करने के उपरान्त मन्त्रनायक विषयक अनुसन्धान करने में प्रवृत्त होना चाहिये । स्वभावनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, यह अनुसन्धान कैसे करना चाहिये ? इसी का उत्तर दे रहे हैं –

अस्त्र लोकपालों के हाथ में ही प्रकल्पित किये जाते हैं । अलग नहीं । लोकपालों का ध्यान अस्त्रों के साथ करते हैं । भैरवाष्टक के रूप में कपालीश से विद्याराज तक परिगणित होते हैं । इनके शक्ति पुंज के प्रतीक होने के कारण लोकेश भी भैरवाष्टक प्रतीत ही माने जाते हैं । पञ्चब्रह्म पञ्चवक्त्र रूप ही हैं । ये और इनके न्यास योग्य आवरणों का क्रमिक उच्चारण तब तक करते रहना चाहिये, जब तक ऐश्वर गर्भ अर्थात् इन सबका उद्गम न आ जाय । जिस मूलगर्भ से इनका उल्लास हुआ है, इसे ही ऐश्वर गर्भात्मक अनुसन्धान या मन्त्रानुसन्धान कहते हैं ।

तीसरे पटल के एतद्विषयक अनुसन्धान प्रकरण का ही अनुसरण करना चाहिये । तृतीय पटल के श्लोक १८-१९ में मन्त्रानुसन्धान का यही प्रकार वर्णित है । पूजा विषयक इस उक्ति पर भी ध्यान देना चाहिये –

सारे के सारे इस वर्ग, पद, मन्त्र, तत्त्व, कला और भुवन नामक छः अध्वावर्ग के प्रपञ्चात्मक विस्तार का अतिक्रमण कर साधक एक अनन्य निर्मल चिन्मूर्तिका आश्रय ग्रहण करता है । यह पूजा की एक श्रेयः साधिका सरणी है । कभी कभी वह बहुत्व के आकार विग्रहरूप जगत् को अतिक्रान्त करता हुआ अपनी सदसद्विवेचन करने वाली बुद्धि के बल पर उसका आश्रय ग्रहण करता है । फिर वह अपनी साधना में संलग्न रहता हुआ उद्योग आदि चतुष्कलात्मिका चमक से भरी महातत्त्वात्मिका वृत्ति को प्राप्त कर लेता है । उद्योगादि चतुष्कलता धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यमयी स्थिति में भी होती है । अथवा जिस किसी तरह भी साधक इस तन्मयीभूत सार्वात्म्यरूप विश्व का उसमें मानसिकरूप से अर्पण कर देता है, वही साधकीय विश्वार्चा है । यही उसकी परार्चा है, मन्त्रानुसन्धानार्चा है ॥१२९॥

अनन्तरम्–

मूलमन्त्रेण कर्तव्यं नाडीसन्धानमेव च ।।१३०।।

अत्रापि–

'आत्मनो निष्कलोच्चारं कृत्वा कुम्भे निवेशयेत् ।
कलशस्थस्य वामेन रेचयेत्पूरयेत्ततः ।।
मण्डलस्थस्य सव्येन पुनर्वामेन रेचयेत् ।' (४/४६-४७)

इति चतुर्थपटलनिरूपयिष्यमाणस्थित्या निष्कलनाथमुच्चारयेत्, स्ववामेन निर्गत्य भैरवदक्षिणेन विशेत्, ततः क्रमेण वक्त्राङ्गभैरवलोकपालान्तमेवमेव च कुर्वीत-इति मूलमन्त्रेण नाडीसन्धानम् । एवं ह्युपसंहारप्रसरक्रमाभ्यां सर्वं देवताचक्रं भगवत्परभैरवमयमेव जायते । ये तु तृतीयचतुर्थपटल[1]ग्रन्थमतं मन्त्रसन्धाननाडी-सन्धाने अन्यथा चान्यथा च व्याचक्षते ते भ्रान्ता एव, 'अनागतावेक्षणं तन्त्र-युक्तिः' इति हि वाक्यविदां निश्चयः ॥१३०॥

इसके बाद मूलमन्त्र से नाडी सन्धान करना चाहिये । नाडी सन्धान के सन्दर्भ में भी निष्कल नाथ के ही उच्चार की पद्धति अपनाने पर बल दिया गया है । इस विषय में शास्त्र का विचार है कि, स्वात्म का निष्कल उच्चार कर कुम्भ में निवेशित करे (कुम्भक करे) इस कुम्भस्थ प्राण को वाम से अर्थात् इडा से रेचन करे । इसी तरह रेचन आपूरण कुम्भक पुनः रेचन के प्राणापानवाह प्रक्रिया में पारङ्गत होकर इडा और पिङ्गला को भी वश में कर स्वात्म में प्रतिष्ठित हो जाये ।

इस ४/४६-४७ की उक्ति के अनुसार प्राणायाम में पूरी तरह कुशलता से निष्कलता की व्याप्ति की प्राप्ति हो जाती है । श्वास को वाम से निकालकर दक्षिण से प्रविष्ट करने से भैरवी भाव का भावन सरलता से होता रहता है । श्वासचार की इस प्रक्रिया में भी तीनों आवरणों का पूजन व्यापार सिद्ध हो जाता है । इसे नाडीसन्धान कहते हैं । मुख्य रूप से इडा और पिङ्गला के साथ सुषुम्ना नाडियों में भैरव भाव का अमृत प्रवाहित होने लगता है । इसमें मूल मन्त्र का ही प्रयोग करते हैं ।

प्राणायाम की इस प्रक्रिया में उपसंहार और प्रसर दोनों क्रमों के अभ्यास से सारा देववर्ग भैरवमय ही हो जाता है । इस सन्दर्भ के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं । कई तत्कालीन व्याख्याकारों ने अपने मत व्यक्त किये थे । वे टीकायें आज उपलब्ध नहीं हैं फिर भी आचार्य क्षेमराज के खण्डन से उनके अस्तित्व की जानकारी होती है । 'तन्त्र में अनागत के वीक्षण की युक्ति का आश्रय किया जाता है ।' यह आगमिक रहस्यवेत्ताओं की मान्यता है ॥१३०॥

---

१. क. ख. पु. ग्रन्थमेतमिति पाठः ।

अथ–

परान्तं यावदाभाव्य नैवेद्यानि निवेदयेत् ।

'परान्तं यावदाभाव्य' इति अनेन परमीकरणं कृत्वा नैवेद्यानि निवेदयेत्-इत्यादिशति । वक्ष्यति हि तृतीये पटले इत्युक्त्वा–

'मन्त्रसन्धानमेतद्धि................।'
..................परमीकरणं शृणु ।
उच्चारयेत्ततो देवं ह्रस्वदीर्घप्लुतान्वितम् ।।
तावदुच्चारयेन्मन्त्रं यावन्निर्वाणगोचरम् ।' (३/१९)

इत्यादि यावत्–

'सर्वेष्वावरणेष्वेव देवि तद्व्यापकं न्यसेत् ।
तेनं [१]चाधिष्ठिताः सर्वे सर्वकामफलप्रदाः ।।' (३/२४)

इत्येवमीदृशेषु स्थानेषु पूर्वापरं विमृश्य अनुसन्धेयम् । अथ च 'परान्तं यावदाभाव्य' षट्त्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन ध्यात्वा 'नैवेद्यानि निवेदयेत्' ब्रह्मार्पणदृष्ट्या भगवति अर्पयेत्, निवेदयेत् शिवमयानि जानीयात् इत्यर्थः ।

इस प्रकार क्रमशः सिद्धि प्राप्त करता हुआ साधक परा उन्मनक्षेत्र का साक्षी बन जाता है । सारा सृष्टि चक्र उसकी भारती में भावित हो जाता है और पूजन अपनी चरम समर्पण की स्थिति में पहुँच जाता है । अब अपने परमोपास्य के लिये नैवेद्य का अर्पण का अवसर उसे मिलता है । परान्त साधना प्रक्रिया को तन्त्र में परमीकरण कहते हैं । तृतीय पटल के बीसवें श्लोक में इसकी चर्चा है ।

आचार्य क्षेमराज ने तृतीय पटल के उन श्लोकों को उद्धृत किया है, जिनमें यह प्रसङ्ग वर्णन का विषय बनाया गया है । श्लोक ३/२० की पहली पङ्क्ति है–'मन्त्र सन्धान मेतद्धि'–'यह मन्त्र सन्धान है ।' यहाँ से प्रारम्भ कर परमीकरण की चर्चा वहाँ भगवान् ने की है । वस्तुतः आज्ञाचक्र से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर निर्वाणयात्रा द्वादशान्त पर्यन्त होती है । इसमें आज्ञा के ॐकार बीज में वर्त्तमान 'अ' उ, म, बिन्दु और अर्धचन्द्र नाद, नादान्त कलाओं में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत के उच्चारण की विधि के अनुसार ऊपर और ऊपर उठते हुए शक्ति, व्यापिनी और समना दशाओं को अतिक्रान्त कर उन्मना क्षेत्र के द्वादशान्त बिन्दु में निर्वाण की अनुभूति से साधक धन्य हो उठता है ।

यह तृतीय पटल की उक्ति का सामान्य अर्थ है । इसका उपसंहार तृतीय पटल के २४वें श्लोक में एक सामान्य रूप से हो जाता है, जब भगवान् स्वयं कहते हैं कि, "सभी आवरणों में उसी एक निष्कल देव का न्यास ही उचित है क्योंकि अन्य सभी शक्ति पुञ्ज उसी से अधिष्ठित हैं ।"

---

१. क. ख. पु. तेऽधिष्ठिता इति पाठः ।

मानसानि नैवेद्यानि उद्दिशति–

घारिका वटकांश्चैव शष्कुलीर्मोदकांस्तथा ।।१३१।।
खण्डलड्डुशरावाणि भक्ष्याणि विविधानि च ।
शाल्योदनं मुद्गसूपमाज्याक्तं सम्प्रकल्पयेत् ।।१३२।।
कौशल्यां मण्डकापूपांस्तथा क्षौद्रशिरांसि च ।
घृताक्तांश्चिल्लकांश्चैव लवणान्यरिकल्पयेत् ।।१३३।।
अवदंशान्यनेकानि कटूनि मधुराणि च ।
रसालां च दधि क्षीरमासवं विविधं तथा ।।१३४।।

आचार्य क्षेमराज यह आशा करते हैं कि, इस शास्त्र के अध्येता इन सभी स्थानों और सन्दर्भों के पूर्वापर उक्तियों का अनुसन्धान करते हुए स्वात्म निर्णय में प्रतिष्ठित होना ही चाहिये ।

इस श्लोक की प्रथम पङ्क्ति में परान्त भावन की जो बात कही गयी है,वह छत्तीसतत्त्वान्त के भावन में ही चरितार्थ होती है । तभी नैवेद्यों का अर्पण भी ब्रह्मार्पण बन जाता है । 'सारा जगत् ही शिवमय है' इस उक्ति के अनुसार शिव में उसकी सर्वशिवता ही नैवेद्य के रूप में अर्पित होती है । यह वेदन भी निवेदन के माध्यम से होना चाहिये ।

यहाँ नैवेद्य के जिन भेदों की चर्चा की जा रही है,ये सभी भगवदर्पण के योग्य स्वादिष्ट नैवेद्य हैं और नित्य अर्पणीय हैं किन्तु यहाँ इनका मानस अर्पण ही उचित है । नैवेद्यों के नामों का परिगणन कर रहे हैं–

१.घरिका (घेवर), २.बटक, ३.शष्कुली (पूड़ी), ४.मोदक (लड्डू), ५.खण्ड (श्रीखण्ड), ६.लक्षक और इनके शराव,एवम् इनके अतिरिक्त विविध ७.भोज्य भक्ष्य खाद्य पक्वान्नों के पदार्थ,शालि, ८.धान्य का ओदन (भात), ९.मूँग की दाल, १०.घृत से छौंकयुक्त दाल रूप नैवेद्य अर्पणीय हैं ।।१३२।।

११.कौशल्या, १२.मण्डक, १३.मालपूआ, १४.मधुमिश्रित मिष्ठान्न (क्षौद्रशिर), १५.घृताक्त चिल्लक, १६.लवण भी अर्पणीय भोज्य हैं ।।१३३।।

१७.अनेक प्रकार के अवदंश (स्वादिष्ट मिष्टांश या तिउना आदि), १८.कटु पदार्थ, १९.मधुर, २०.रसाल (रसगुल्ले गुलाबजामुन आदि), २१.दही, २२.दुग्ध, २३.अनेक प्रकार के आसव भी अर्पणीय हैं ।।१३४।।

मत्स्यमांसान्यनेकानि लेह्यपेयानि यानि च ।
अग्रमापूरयेच्छंभोर्वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥१३५॥

'यद्यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि सर्वं
तत्तद्युक्त्यैवानुसन्धाय पूर्वम् ।
विश्वाभेदाद्भैरवैकात्म तस्मिन्
स्वस्मिन्सर्वं धाम्नि लीनं विदध्यात् ॥'

इति नैवेद्यरहस्यम् । 'वित्तशाठ्यविवर्जित' इति बाह्ययागे योज्यम्, नहि मानसे यागे कृपणत्वं भवति कस्यचित् ॥१३५॥

एवं कृत्वा भगवद्रूपस्य स्वात्मनः परमानन्दनिर्भरत्वमनुसन्धातुम्–

पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया ।

सुरया आनन्दहेतुत्वादेवमुक्तम् । ये तु जात्युद्धारपरभैरवरूपत्वोन्मीलकेऽप्यस्मिन् भैरवनये सुराशब्दं जलवाचिनमपि व्याचक्षते ते जातिग्रहग्रस्ताः

'मद्यं मांसं तथा मत्स्यानन्यानि च वरानने ।
साचारांश्च निराचारांल्लिङ्गिनो च जुगुप्सयेत् ॥' (५/४५)

इति भाविसमयोल्लङ्घिनः पशव एव ।

२४.मछली के बने अनेक प्रकार, २५.मांस निर्मित स्वादिष्ट खाद्य, २६.लेह्य, २७.पेय और ऐसे ही अन्य भोज्य नैवेद्य भगवान् शम्भु के समक्ष निवेदित करना चाहिये । इस नैवेद्य अर्पण प्रक्रिया में वित्त सम्बन्धी कृपणता नहीं करनी चाहिये ।

इस सम्बन्ध मे एक आगमिक उक्ति है कि,

'जो कुछ मन को प्रसन्न करने वाले और आत्मसन्तुष्टि प्रदान करने वाले पदार्थ हैं,उनका पूर्वानुसन्धान कर उन समस्त पदार्थों के विषय में दृढ़ता पूर्वक यह भावन करना चाहिये कि, ये सारे पदार्थ अभेद अद्वय दृष्टि से भैरवमय ही है । उस स्वात्म भैरवमय भगवत् धाम में इन सभी का विलापन कर निर्मुक्त हो जाना ही इस अर्पण का रहस्य है ।''

मानस याग में कृपणता की सम्भावना नहीं होती । अतः बाह्ययाग में खुले मन से खर्च करना चाहिये ॥१३५॥

एवं च कृत्वा–

मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ।।१३६।।

'त्रैकाल्यकर्मणि' इत्यनुवादः । व्याकृतं चैतत्प्राक् ॥१३६॥

प्रणिपातं ततः कृत्वा जपं पश्चात्समाचरेत् ।

वासनामात्रशेषस्यापि देहादेश्चिदात्मनि परभैरवे समावेशनं 'प्रणिपातः', अन्यथा अन्तर्बहिश्च भैरवीभावे कृते कः कुत्र प्रणिपतेत् । जपोऽत्र भूयोभूयः परभैरवस्वरूपे विमर्शः ।

कथमित्याह–

अक्षमालां तु संगृह्य गन्धैः पुष्पैः समर्चिताम् ।।१३७।।

इतनी प्रक्रिया पूरी करने के बाद साधक के स्वात्म भैरव से पर भैरव के एकात्म्य का शान्ति पूर्वक अनुसन्धान करना चाहिये । पुनः सुन्दर तथा सुरभित सुरा से भगवान् को अर्घ्य अर्पित करना चाहिये । सुरा आनन्द की उत्पादिका शक्ति की प्रतीक मानी जाती है ।

सुरा के प्रयोग में बड़ा वैमत्य है । यह भैरव नय जात्युद्धारक है । जाति के संकोच रूपपाश से मुक्त करती है । इसलिये सुरा शब्द से यहाँ जल अर्थ नहीं लेना चाहिये । ऐसा वे लोग ही करते हैं, जो जातिग्रह से ग्रस्त हैं ।

'मद्य, मांस और मत्स्य अथवा ऐसे ही अन्य आनन्द प्रद पदार्थों को साचार या निराचार किसी अवस्था में एवं लिङ्ग मतानुयायियों को निन्दित नहीं करना चाहिये ।'

इस दृष्टि से समयाचार का उल्लङ्घन करने वाले लोग पशु ही कहे जा सकते हैं ।

इतना करने के बाद मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये । त्रैकाल्य कर्म में स्वभावतः मुद्रा त्रिधा हो (१०२) जाती है । आवाहन, निरोधन और विसर्जन ये तीन काल कर्म हैं । अतः आवाहनी, निरोधनी और विसर्जनी इन तीन मुद्राओं का प्रयोग करना चाहिये ॥१३६॥

इसके बाद प्रणिपात करने की प्रक्रिया अपनायी जाती है । पुनः जप का आचरण करना चाहिये । यहाँ प्रणिपात कोई सामान्य प्रणाम नहीं, वरन् वासना मय रूप में शेष देहादि के चिदात्मा परभैरव में समावेश को ही प्रणिपात कहते हैं । अन्दर और बाहर सर्वत्र भैरवीभाव की दृढ़निष्ठा हो जाने पर कौन किसको प्रणिपात करेगा । जप भी भूयान् और भूयान् से भी अपेक्षाकृत बढ़कर परभैरवी भाव का विमर्श करना ही कहलाता है ।

वाङ्निरुद्धः सुचित्तात्मा राजीवासनसंस्थितः ।
मूलमन्त्रं समुच्चार्य नादे लीनं विचिन्तयेत् ।।१३८।।
उन्मील्याक्षाणि संचिन्त्य ततस्तु जपमारभेत् ।

'समर्चिताम्' इति 'ओं अक्षमालायै नम:' इति प्रयोगेण । 'राजीवासन-संस्थित:' इत्यनेन वक्ष्यमाणदिव्यकरणाधिरूढत्वं लक्ष्यते । अत एव पश्यन्त्या-दिरूपा 'वाक् निरुद्धा' मन्त्रामर्शमयीकृता येन, अतएव शोभनमविचालि चित्तं यस्य तादृगात्मा यस्य, 'मूलमन्त्रम्' इति सकलं निष्कलं वा, सम्यगिति 'अक्षरा-क्षरसन्तानम्' इति क्रमेण 'उच्चार्य' ऊर्ध्वं चारयित्वा 'नाद' इति–

जप के लिये अक्षमाला का प्रयोग करते हैं । अक्षमन्त्र से सर्व प्रथम माला की पूजा की आवश्यकता होती है । सुरभित सुमनों से उसकी पूजा की जाती है । इस प्रकार पूज्य माला की पूजा करने के बाद उसी से जप करने का विधान है,यह शास्त्र कहते हैं ॥१३७॥

मूलमन्त्र का उच्चारण कर यह सोचना चाहिये कि, यह नाद में लीन हो गया है । इस अवस्था के पहले वाक् तत्त्व का संतुलन करके उसको पराशक्ति की सुधा से सिक्त अनुभव कर मौन का आश्रय ग्रहण करना साधक के लिये कल्याणकारी माना जाता है । वह कमलासन मन्त्र का प्रयोग कर स्वयं राजीवासन पर ही अवस्थित होता है । उस समय उसकी दिव्यता से ओत प्रोत अवस्था में मन्त्र मानो उसमें स्वयंम् उतरने के लिये आकुल हो जाते हैं । सकल और निष्कल चाहे जिस मन्त्र का वह प्रयोग करे, कर सकता है और नाद में उसकी विलीनता का साक्षात्कार कर सकता है ।

वस्तुत: नाद वह तत्त्व जिसका उच्चारण कोई नहीं कर सकता है । शास्त्र कहता है कि, इसका कोई उच्चारयिता नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि,शाश्वत स्फुरित नित्योदित नाद तत्त्व में ही सारे मूलमन्त्र उदित होते हैं और उसी में लीन होते हैं । लीनता के साक्षात्कार के लिये प्रत्येक मन्त्राक्षर के क्रमिक उच्चारण पर साधक का ध्यान लगा रहे और विलीन होते अनुभव करता रहे । इसे ही अक्षराक्षर सन्तानक्रम का उद्भव और विलापन क्रम भी कहते हैं । विलापन में तन्मयीभूति की स्थिति बनी रहती है । साधक मन्त्र के नाद में अनुप्रवेश का साक्षी होता है ।

इस अवस्था में दो बातों पर विशेष ध्यान देना होता है । अक्ष शब्द पूरी मातृका का प्रत्याहार है । इस दृष्टि से सहस्रार के सहस्रदलों पर मातृका के ५० वर्णों का २० बार न्यास के चिन्तन की प्रक्रिया पहले ही पूरी कर लेनी चाहिये ।

'नास्योच्चारयिता कश्चित्............।'

इति वक्ष्यमाणनित्योदितस्फुरत्तात्मनि 'लीनं' तन्मयीभूतं विशेषेण तदनुप्रवेशात्मना चिन्तयेत् । कथम्? 'अक्षाणि' इन्द्रियाणि 'उन्मील्य' ऊर्ध्वं मीलितानि कृत्वा 'संचिन्त्य' मन्त्रदेवतां सम्यगात्मैक्येन चिन्तयित्वा, चिन्तयन्नेव 'जपमारभेत' भूयोभूयो मन्त्रं विमृशेत् । उक्तं च–

'भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ।।'

इति श्रीविज्ञानभैरवे (१४५श्लो.) ॥१३८॥

अत्र च–

अक्षराक्षरसन्तानं न द्रुतं न विलम्बितम् ।।१३९।।

दूसरी क्रिया अक्ष शब्द के इन्द्रिय अर्थ पर निर्भर करती है । अर्थात् इन्द्रिय रूपी अक्षों को विषयों से हटा कर नादोन्मुख कर लेना चाहिये । चिन्तन की एकाग्रता में चिन्तन विमर्शमात्र रह जाता है । ऊपर की सारी क्रियायें साधक को स्वतः सिद्ध हो जाती हैं । आसन पर बैठते ही वह अपने आप समग्र दिव्यता की प्रतिमूर्त्ति बन जाता है । मन्त्रैक्य चरितार्थ हो जाता है ।

अब इस भाव में प्रतिष्ठित होने के बाद जप का क्रम आता है । जप मन्त्रार्थ-भावन पूर्वक होता है । मन्त्रार्थ-भावन भी अक्षराक्षर सन्तान के समन्वय में वर्ण साहचर्य से उत्पन्न पदों के आधार पर होता रहता है । यह अत्यन्त सूक्ष्मदशा साधक के लिये स्वाभाविक होती है । उसके 'स्व' में इसका अपने आप भावन होने लगता है । सावधानता भी यहाँ अपेक्षित होती है । साधक मन्त्र देवता का सूक्ष्मता के स्तर पर ही चिन्तन करता है । यह सजगता नितान्त आवश्यक है । इसी के बल पर जप का आरम्भ किया जा सकता है । भूयो भूयो मन्त्र के मन्त्रार्थ के मन्त्रदेवतात्मैक्य का समन्वित विमर्श जप में स्वाभाविक रूप से सम्पन्न होता है । श्री विज्ञान भैरव शास्त्र की उक्ति है कि,

'बारम्बार अभ्यास के बलपर पर भैरव भाव में ऐसी भावना भावित की जाती है, जो परविमर्श का रूप ग्रहण कर लेती है । वही वस्तुतः जप होता है । इसे हम मन्त्रात्मा नाद कहते हैं । यह नादात्मक विमर्श ही वस्तुतः जप कहा जा सकता है ।' वि०भै० १४५ ॥१३८॥

जप का सिद्धान्त अक्षराक्षर सन्तान क्रम को अपनाता है । जप न द्रुत और न विलम्बित होना चाहिये । शीघ्रता पूर्ण जप व्यर्थ होता है क्योंकि इसमें विमर्श शून्यता आ जाती है । इसी तरह अक्षर-अक्षर में दूरी भी अर्थावबोध में व्यवधान डालती है । इस लिये जप श्वासचार में मन्त्र को समाहित करके करना चाहिये ।

जपः प्राणसमः कार्यः

अक्षरादक्षरं 'सन्तानः' प्रसरणं यत्र । तेन बीजाक्षराणां ह्रस्वदीर्घादिमात्राः, मालामन्त्राणामक्षराणि चिच्छक्त्यात्ममन्त्रदेवतास्त्रगुम्भितानि विमृशेत् । यथोक्तम्–

'मन्त्रं मणिवदालम्ब्य प्रभावन्मन्त्रदेवताम् ।

जपाध्यानादिकं कुर्यान्न ताटस्थ्येन कुत्रचित् ।।'

इति । न 'द्रुतम्' इति ग्रस्तक्रमविधिं परिहृत्येत्यर्थः । 'न विलम्बितम्' इति मध्ये मध्येऽत्यनुसन्धिशून्यमिति यावत् । 'प्राणसमः' इति मध्यवाहिना प्राणेनोल्ला[१] सप्रवेशात्मना समो मध्यवाही प्राणो यथान्तर्मान्त्रं परामर्शं सहत इत्यर्थः । तेन मालामन्त्रान् प्राणशक्तावंशांशिकात्वात्मक्रमेण क्रमात्क्रममधिकं नियोजयंस्तावदभ्य-

---

इस श्लोक में सन्तान शब्द परम्परा अर्थ में प्रयुक्त है । मन्त्र वर्णानुक्रम से पदसत्ता को प्राप्त कर स्वात्म को चरितार्थ करता है । इसी आधार पर बीजाक्षरों में ह्रस्वादि मात्राओं का प्रयोग होता है ।

जहाँ तक माला मन्त्रों का प्रश्न है,उन के अक्षर चितिशक्ति रूप मन्त्र देवता के अस्त्र से गुम्फित होते हैं । माला मन्त्र जपते समय मन्त्र देवता के इसी सामर्थ्य के साथ मन्त्रात्मक परामर्श होना चाहिये । कहा भी गया है –

मन्त्रों को मणि की तरह आश्रय बनाकर मन्त्र देवता का भावन करते हुए जप और ध्यान आदि सम्पन्न करना चाहिये । तटस्थ भाव जप और ध्यान में नहीं अपनाया जाता । तटस्थता एक दोष है । जैसे द्रुत और विलम्बित भी जप के दोष है । द्रुत से अक्षर से अक्षर सभी ग्रस्त होते रहते हैं और विलम्बित में मध्य मध्य में अत्यनुसन्धि शून्यता आ जाती है ।

इसीलिये जप प्रक्रिया के निर्वाह के लिये 'प्राणसम' शब्द का प्रयोग शास्त्र में किया गया है । प्राणसम का तात्पर्य ही प्राणपानवाह प्रक्रिया के अनुसार मध्यनाडी के साथ इडा और पिङ्गला की गतिशीलता का सामञ्जस्य मन्त्रों के बीजाक्षरों के साथ क्रमिक रूप से स्थापित करने से होता है । इसमें उल्लास और प्रवेश रूप संकोच विकोचात्मक स्पन्द की अनुभूतियों का प्राधान्य होता है । उसी में अर्थानुसन्धान की प्रक्रिया भी चलती रहती है । प्राण का आन्तर रूप से ही मान्त्रिक परामर्श करता हुआ ऊर्ध्वाधः नियमित संचार स्वाभाविक रूप से सम्पन्न हो सके, ऐसा करना चाहिये ।

---

१. क. ख. पु. उल्लालितांशप्रवेशेति पाठः ।

सेद् यावत् समस्तमालामन्त्रपरामर्शं प्राणशक्तिरन्तः क्षमते । तथा सति हि कलाग्रासात्मकसंवित्सतत्त्वासादनं भवति । चतुष्कलप्रणवादीनि तु पिण्डाक्षराणि पञ्चप्रणवाधिकारवक्ष्यमाणव्याप्त्यनुसन्धानेनैव मध्यमप्राणसाम्येन उच्चारयन् जपेत् । उक्तं च–

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत् ।' इति ॥१३९॥

जहाँ मालामन्त्रों की चर्चा में मन्त्रगुम्फित चित् शक्ति का प्रसङ्ग आया है, वहाँ भी प्राणशक्ति में अंशांश क्रम से क्रमशः अधिकाधिक अर्थसह क्षमता अत्पन्न होती अनुभव करनी चाहिये । साधक उसे अभ्यास के बलपर अधिक ग्रहणशील होता हुआ, मन्त्र सुधाभिषिक्त होता हुआ मालामन्त्र का सम्पूर्ण परामर्श प्राणशक्ति के साथ ही चलाता है । प्राणशक्ति आन्तरिक रूप से इतनी सक्षम हो सके, जिसके बल पर वह मालामन्त्रों का पूरा परामर्श कर सके । प्राणशक्ति की क्षमता साधक की साधना पर निर्भर करती है । 'प्राक् संवित् परिणता' की उक्ति के अनुसार संवित् शक्ति ही प्राण के रूप में जीव जगत् को अनुप्राणित करती है । इस सन्दर्भ की सार्थकता इस बात में है कि, क्रमशः प्राण ही वर्णात्मक कलाओं के साथ प्रमेय कलाओं का ग्रास करने लगता है और उसमें संवित्तत्त्व का अवतरण होने लगता है । कला शब्द के व्यापक अर्थ होते हैं । सारे अर्थ संकोच के प्रतीक होते हैं । इस दृष्टि से संकोच का ही ग्रास होने लगता है और विकास की परावस्था में संवित्तत्त्व का उल्लास हो जाता है । इसे ही 'संवित्तत्त्व का आसादन' कहते हैं ।

प्रणव की चतुष्कलता शास्त्र द्वारा प्रतिपादित और प्रमाणित है । वास्तविकता यह है कि, स्वयं वर्ण अपनी इकाई में ही पूर्ण सक्षम होते हैं । जब वे पिण्डाक्षर के रूप में संपृक्त होते हैं, तो उनकी शक्ति घनीभूत होकर सूर्य की तरह प्रकाश पुंज की प्रतीक बन जाती है । प्रणव भी एक ऐसा ही शक्ति-पुंजात्मक पिण्डाक्षर है । इसे शास्त्र में चतुष्कल कहते हैं । इनकी महाव्याप्ति में विश्व समाहित हो जाता है । साधना के सन्दर्भ में प्रणव प्राण साम्य ग्रहण कर लेता है । सुषुम्ना में प्राणदण्ड बन जाता है । मध्य का विकास होने लगता है । चिदानन्द की सुधा से साधक सिक्त होने लगता है । जप प्राण के स्वाभाविक उच्चार में स्वतः संपन्न होने लगता है । प्राण की चतुष्कलता के प्रकरण में इसका विशद वर्णन किया गया है । यह स्थिति संवित्तत्त्व के शाक्त स्फुरण में आती है । मन्त्र शक्ति में नियोजित हो जाते हैं । इस विषय में एक आगमिक उक्ति है–

'मन्त्र का नियोजन न तो पुरुष तत्त्व में होना चाहिये और न ही परतत्त्व में होना चाहिये । मन्त्र का नियोजन शक्ति तत्त्व में करना चाहिये ।'

इसी नियोजन प्रक्रिया से मन्त्र के माध्यम से शाक्त सामर्थ्य का प्रवाह बहने लगता है ॥१३९॥

एवमितिकर्तव्यतामुक्त्वा फलभेदं[१] निरूपयति–

दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।

हृदयाद्द्वादशान्तं प्राणवाहः दिनम्, तत्र तिष्ठति-इति निर्गर्भमपानवृत्त्या प्रविश्य मन्त्रगर्भमूर्ध्वप्राणान्ते विश्रान्तिपरो जपेदिति यावत् ।

इस प्रकार इतिकर्त्तव्यता का कथन करने के अनन्तर इसके फलभेद की चर्चा कर रहे हैं–

दिनस्थ शब्द पारिभाषिक है । श्वाससंचार में श्वास जब बाहर जाता है । यह दिन होता है । अपान पर सवार होकर प्राण अमाकला में प्रवेश करता है । अमाकला में प्राण सूर्य और अपान सोम दोनों अस्त होते हैं । अमा कला से जब प्राण भीतर प्रवेश करने लगता है, उसी समय से तिथि नित्याओं का आकलन होने लगता है । नाभि केन्द्र पूर्णिमा कला है । इसे ही हृदय कहते हैं । हृदय शब्द के विषय में बड़ी भ्रान्ति है । हृदय का अर्थ केन्द्र है । सा स्फुरता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिनः के अनुसार प्राण नाभिकेन्द्र तक पहुँचता है । वहाँ पूर्णिमा होती है । पूर्णिमा के बाद प्राण अपान के साथ बाहर अमा कला में जाता है । यही क्रम है । बच्चे श्वास लेते हैं, तो उनका पेट फूलता है । वही पूरी साँस होती है । बाहर की अमा कला बाह्य द्वादशान्त कहलाती है ।

श्वास की अलग विधि भी है । जब श्वास को बाहर जाने से साधक रोक देता है । नाभिकेन्द्र से अर्थात् मूल हृदय से साधक प्राण को विशुद्ध चक्र से नासिका से बाहर नहीं जाने देता वरन् उदान वायु के बल पर तालुरन्ध्र से आज्ञा चक्र में पहुँचा कर भी शान्त नहीं होता अपितु ॐकार के अ उ म बिन्दु अर्धचन्द्र से होते हुये निरोधिका को अतिक्रान्त कर नाद में पहुँचता है । पुनः नादान्त, शक्ति, व्यापिनी समना होते हुये ऊर्ध्व द्वादशान्त में पहुँचता है । यह भी दिन है ।

इसी प्रक्रिया में क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध स्थापन दीपन तत्समापत्ति और उन्मना में तदापत्ति के अभ्यास से साधक ऊर्ध्व द्वादशान्त में पहुँचता है । इसी क्रिया को आचार्य क्षेमराज 'हृदयाद् द्वादशान्तं' इन दो शब्दों से सङ्केतित करते हैं । यह प्राणवाह सिद्ध साधक की साधना चर्या का विषय है । इस प्रकार हृदय अर्थात् नाभि से द्वादशान्त (ऊर्ध्व) तक भी यह कालावधि 'दिन' कहलाती है । यह कालावधि संहार काल होती है । मोक्ष की आकाङ्क्षा करने वाले साधक दिन में अर्थात् प्राण रूपी प्रमाण सूर्य के प्रकाश में जप करते हैं ।

---

१. क. पु. फलदानमिति पाठः ।

संहारः स तु विज्ञेयः

समस्ताशेषसंहारात् ।

अत एव–

शिवधामफलप्रदः ।।१४०।।

इस चर्चा में आचार्य क्षेमराज ने लिखा है कि, 'अपान वृत्या प्रविश्य ।' यह महत्त्वपूर्ण साधना का संकेत है । ध्यान देने की बात है कि, जीवन तत्त्व सुधा लेकर जब प्राण नाभि में पहुँचता है तो उस सुधा का शोषण नाभि कर लेती है और चूँकि नाभि मातृकेन्द्र भी है । अत: उस सुधा को पूरे शरीर में माँ की तरह वह जीवन तत्त्व के रूप में भर देती है । अब प्राण अपान बन कर बह निकलता है । द्वादशान्त से जीवन सुधा लेने के लिये । उसी अपान चन्द्र पर प्राण सूर्य सवार होकर ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त पहुँचता है । यही अपान वृत्ति है । यह दिन होता है क्योंकि प्राण सूर्य भी बाहर जा रहा होता है । वहाँ कुम्भक भी करते हैं । ऊर्ध्व द्वादशान्त में ऊर्ध्व प्राणान्त की अवस्था में 'मन्त्र गर्भं जपेत्' इस विधि क्रिया का प्रयोग यहाँ करते हैं । इससे अशेष वृत्तियों का संहार हो जाता है । अत: इसे संहार भी कहते हैं ।

यह शिवधाम फलप्रद होता है । फल तो कह दिया । रहस्य छिपा लिया गया है । यह सभी जानते हैं कि, सारी सृष्टि शिव से और सारा संसार शिव में होता है । ऊर्ध्व या बाह्य दोनों द्वादशान्त स्थान शिवधाम होते हैं । जब श्वास का शिव में अर्थात् द्वादशान्त में प्रवेश हो जाता है, तो उस कुम्भक में प्राण अपान दोनों मिलकर संहृत हो जाते हैं । शैवतादात्म्य प्रतिफलित हो जाता है ।

साधक को यहाँ सावधान होकर उस क्षण का साक्षी बनना चाहिये, जब शरीर में आने के लिये प्राण का अङ्कुर फूटता है । वहीं से सृष्टि क्रम आरम्भ होता है । श्वास के अङ्कुर का वह क्षण कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा होती है । नाभि में आते आते सारी तिथियाँ बीत जाती हैं और पेट फूल जाता है । यह पूर्णिमा तिथि होती है । एक श्वास में ही एक कृष्ण पक्ष शरीर में आने पर और शरीर से पूर्णिमा के अङ्कुर रूप में जब श्वास बाहर निकलता है तो शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा होती है और शिवधाम रूपी अमाकला में प्रवेश पर दिन पूरा हो जाता है । ऊर्ध्व की ओर का श्वास दिन और शरीर में प्रवेश करने वाली साँस रात की होती है । यह रहस्य साधक जानता है ।।१४०।।

साधकाभिप्रायेण तु–

व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्तते ।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदब्जं यावदागतः ।।१४१।।
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया ।

'व्योम्नि' द्वादशान्ते 'नाद' इति तच्छेषीभूतो मन्त्रो 'निवर्तते' इति द्वादशान्तावस्थितिलब्धोन्मेषवशादपानक्रमेणान्तर्विशेत् । 'सृष्टिः' इतिआप्यायकरत्वात्, सर्वेषामुत्तमादिसिद्धिफलानामुदयो यस्याम् । तेनैवं साधकैर्निर्गर्भमेव प्राणवृत्त्या मुक्तिप्रत्यू-

---

इसे अपनी साँसों पर सभी घटित कर सकते हैं । कल्पना कीजिये, द्वादशान्त में आपका श्वास विश्रान्त है । मैने उसे शिवधाम कहा है । शरीर की यह विवशता है कि, विना प्राण के यह जी नहीं सकता । साधना के अभ्यास से जितने समय साधक वहाँ रोक पाता है, उतने समय चिद्घनानन्दाह्लाद में वह धन्यता का अनुभव करता है । वहाँ से साँस का पहला अङ्कुर प्रतिपदा तिथि के रूप में प्रस्फुटित हुआ । यह श्वास का द्वादशान्त से निवर्त्तन है । वह वहाँ से द्वितीयादि तिथि क्रम से नाभि के पूर्णिमा केन्द्र तक पहुँचता है । पूर्णिमा तक की यह यात्रा 'शर्वरी' कहलाती है । चन्द्र यहाँ आकर पूरा होता है । चन्द्रमा रात में ही उदित होता है । इसलिये इसे रात ही कहते हैं । एक बात यहाँ ध्यान देने की है ।

भगवान् शङ्कर ने व्योम में प्राप्त नाद के निवर्तन की बात कही है । वस्तुतः नाद क्या है ? यह स्फुरत्ता का अन्तर्विमर्श है । विमर्श सर्वदा नाद गर्भ ही माना जाता है ।[1] यह आमर्शात्मक रूप में ही मन्त्र और श्वास रूप में निवर्त्तित होता है । निवर्त्तित होकर हृदब्ज तक आता है । हृत्कमल नाभिकेन्द्र को ही माना जाना चाहिये । इसे सृष्टि कहते हैं । सृष्टि द्वादशान्त से प्रतिपदा के अंकुर से पूर्णिमा पर्यन्त ही मानी जाती है । यही यात्रा सृष्टिक्रम की यात्रा है । यह जीवन की समस्त सिद्धियों के फलों को लेकर उदित होती है । यही जीवन का रहस्य है । आधुनिक वैज्ञानिक जीवन के मूल रहस्य का उत्स अब तक नहीं जान सके हैं । यह तन्त्रशास्त्र का ही महत्त्व है, जो जीवन के रहस्य का उद्घाटन करता है ।

ऊपर मैने व्योम को द्वादशान्त कहा है और यह भी स्पष्ट किया है कि, नाम मन्त्रात्मक और श्वासरूप भी होता है । निवर्त्तन के विषय में आचार्य क्षेमराज द्वादशान्त की उर्वराभूमि से उन्मेष की बात तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसमें अपान क्रमेणान्तर्विशेत्

---

१. तन्त्रसारः (अभिनवगुप्त) सुरभारती प्रकाशनन पृष्ठ ५७ आह्निक तीन आमर्शश्चायं न सांकेतिकः अपितु चित्स्वभावतामात्रनान्तरीयकः परनादगर्भ उक्तः ।

हपरिहाराय मुण्डान्तमाश्रित्य, तत उन्मिषदपानशक्त्याश्रयेण हृत्प्राप्तिपर्यन्तं जपः कार्यः, उभयार्थिना तु उभयथापि इत्यर्थान्मन्तव्यम् । इत्थं चास्य मन्त्रस्य अशुद्धतत्त्व-संहारशुद्धतत्त्वसृष्टिकारितया मुक्तिभुक्तिप्रदमेकमेव पूर्णं वीर्यम्, आराधकाशयभे-दात्तु पृथग्विभज्य उपदिष्टम् ॥१४१॥

एवं च कुर्वता—

आत्मनो भैरवं रूपं सदा भाव्यं वरानने ॥१४२॥
तस्य विघ्ना[1] विनश्यन्ति जपश्च सफलो भवेत् ।

यह कथन सत्य नहीं है । अपान रूप सोम को तो शरीर से बाहर निकाल कर साधक द्वारा प्राण के साथ द्वादशान्त में पहुँचाया गया है । शरीर में प्राण प्रवेश करता है । यह साधना का विषय है । प्राण तत्त्व की शैव सुधा को करणेश्वरी देवियाँ भी स्वीकार करती हैं । वही अपान हो जाता है ! यह अपान तत्त्व ही बाहर जाता है । हाँ उस पर प्राण तत्त्व सवार रहता है । अत्यन्त ही सूक्ष्म अनुभूति का विषय है यह । पर यह सत्य है कि,प्राण अपान बनकर ही बाहर निकलता है और प्राणक्रम से प्रवेश होता है । वस्तुः यही सृष्टि है । शैवसुधा से यह आप्यायित होती है । यही ध्रुव सत्य है ।

इसी सृष्टि से सभी उत्तम फल उदित होते हैं । इसे ही भोगवादियों की बुभुक्षा का आयाम माना जाता है ।

किन्तु साधक सृष्टि की इस फलोदयता से कत्तई प्रभावित नहीं होता । वह निर्गर्भ प्राणवृत्ति में मोक्षदायी जप करता रहता है । इस साधना में द्वादशान्त अन्तिम पड़ाव है । मूलाधार से प्रेरित नाभिकेन्द्र भुवर्लोक का एक पड़ाव है । यहाँ से उन्मनातक की द्वादशान्त यात्रा और द्वादशान्त से नाभिकेन्द्र की यात्रा ही प्राणापानवाह क्रम कहलाता है । इसी में जप होता है । यही जप प्राणसम जप माना जाता है ।

इस सृष्टि क्रम में शैव सुधा की शुद्धता का समावेश रहता है फिर भी भोगवाद का प्राबल्य रहता है । संहार क्रम में अशुद्ध अपान शुचिता की पराकाष्ठा पर पहुँचकर द्वादशान्त में समाहित हो जाता है । यह भोग और मोक्ष की पारम्परिक दृष्टि है । इसमें बुभुक्षा मुमुक्षा का पारस्परिक वैमत्य भी समाप्त हो जाता है ॥१४१॥

भगवान् कह रहे हैं कि, शक्तिमती सुमुखि ! इस आसन क्रम में स्वात्म को कभी भी अणु पुरुष के रूप में नहीं देखना चाहिये । सदा स्वात्म को भैरव रूप में भावित करना चाहिये । यही कहना, सुनना और अनुभव भी करना चाहिये । ऐसे पुरुष के सारे विघ्न विनष्ट हो जाते है और उसका किया हुआ जप भी पूरी तरह सफल हो जाता है ।

---

१. क. पु. विघ्नाः प्रणश्यन्तीति पाठः ।

सर्वदशासु परभैरवचैतन्यरूपमात्मानं 'भावयतो' विमृशतो विशेषेण घ्नन्ति मुक्तिसिद्धिप्राप्तीः इति 'विघ्नाः' पाशाः प्रतिबन्धकाश्च नश्यन्ति, अत एव जपो भुक्तिमुक्तिभ्यां सफलो भवेदेषां यथाभिप्रायम् ॥१४२॥

जप्त्वा निवेदयेद्देवि भैरवाय वरानने ।।१४३।।

पूरकेणं प्रयोगेण त्रिस्थं च त्रितयान्वितम् ।

हृदि स्थिताय भैरवाय द्वादशान्तात् प्रवेशरूपेण पूरकप्रयोगेण मुमुक्षुस्तु फलानभिसन्धिसम्बन्धिना 'भगवन् जपमेवंसंख्याकं गृहाण' इति निवेदयेत् ॥१४३॥

कीदृशम् ?

त्रिसिद्धिसिद्धिदं देवि सरहस्यमुदाहृतम् ।।१४४।।

भैरव रूप भावन केवल पूजा के समय ही नहीं, अपितु अनवरत व्यवहार जगत् में भी यही भावन करना चाहिये। इसका फल यह होता है कि, भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति में बाधा डालने वाले विघ्न स्वयं नष्ट हो जाते हैं। जप की सफलता का भी यही रहस्य है कि, साधक भुक्ति और मुक्ति उभय प्राप्ति में सफल हो जाता है ॥१४२॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! सुमुखि पार्वति जप करने के बाद भगवान् भैरव के दक्षहस्त में निवेदित कर देना चाहिये। भैरव देव तो साधक के हस्त प्रदेश में ही विद्यमान हैं। ऊर्ध्व द्वादशान्त से हृदय केन्द्र में प्रवेश के लिये चक्र क्रम से विशुद्ध तक मानस क्रम के अनुसार आन्तर अवतरण हो जाता है। पूरक का प्रयोग यहीं से अर्थात् बाह्य द्वादशान्त से किया जाना क्रम और साधना सिद्ध उपक्रम है। इस अवसर पर मुमुक्षु का स्तर कुछ दूसरा ही होता है। वह किसी फल की आङ्क्षा नहीं करता। मात्र इतना ही आन्तर उच्चार करता हुआ कहता है कि, भगवन् इतनी संख्या में किया हुआ यह जप मैं आप को अर्पित कर रहा हूँ। आप इसे स्वीकार करें प्रभु ! यह कहकर जल के साथ भगवान् को अर्पित करे। यही शास्त्र का आदेश है ॥१४३॥

जप का शाब्दिक प्रयोग मुमुक्षु को नहीं करना चाहिये। बुभुक्षु के लिये वैखरी या उपांशु भी चलता है। कुछ पारिभाषिक शब्द यहाँ प्रयुक्त हैं, उन पर विशेष विचार अपेक्षित है–

१. त्रिस्थ– श्वास का उल्लासात्मक, प्रवेशात्मक और उभयात्मक रूप भी होता है। इसीलिये इसे त्रिस्थ कहा गया है।

'त्रिषु' उल्लासप्रवेशोभयात्मकेषु पदेषु तिष्ठति इति यः, तथा वाङ्मनः-प्राणात्मकेन 'त्रितयेनान्वितं' युक्तम्, उत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिरूपा या सिद्धिः साधकेभ्यः, तथा सिद्धिरेतद्विलक्षणा मुमुक्षोर्मुक्तिरूपा, तामुक्तवक्ष्यमाणयुक्त्या ददाति यः । त्रिसिद्धिरिति सिद्धिश्चेति योजयित्वा व्याख्येयम् ।

योजनिकायां पञ्चप्रणवाधिकारे च वक्ष्यमाणनीत्या मुमुक्षुबुभुक्षूणामूर्ध्वं द्वादशान्तमाहृतं प्रापितम्, ऊर्ध्वाच्चाहृतं हृदयान्तं प्रापितं सरहस्यं कैश्चिदेव विकसित-मध्यमार्गैर्लभ्यमित्यर्थः ॥१४४॥

---

२. **त्रितयान्वित–** श्वास के साथ ही मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये, किन्तु जब वाणी का प्रयोग करते हैं, तो मन्त्र वाक् तत्त्व से अन्वित होता है । मानस प्रयोग करते समय इसका अन्वय वाक् से नहीं अपितु मन के साथ अन्वित होता है । इसीलिये इसे त्रितयान्वित कहते हैं ।

३. **त्रिसिद्धिसिद्धिदम्–** सिद्धियाँ प्रायः बुभुक्षा को ही पूरा करती हैं । सिद्धियाँ तीन प्रकार की होती हैं । १–उत्तम सिद्धि २–मध्यम सिद्धि और ३–अधम सिद्धि । इन तीनों सिद्धियों से भी विलक्षण सिद्धि होती है । यह मुक्ति रूपा सिद्धि मानी जाती है । यह 'त्रिसिद्धि सिद्धि' रूप प्रयोग कुछ विचित्र लगता है । इसलिये त्रिसिद्धि और सिद्धि दोनों को पृथक् पृथक् अर्थप्रद मानकर ही व्याख्या उचित है ।

यह सारी उपलब्धि मन्त्र जप से सम्बद्ध है । पर इसमें प्राणसम जप में योजनिका क्रिया का महत्त्वपूर्ण स्थान है । साथ ही द्वादशान्त और हृदय इन शरीर से सम्बन्धित दो केन्द्रों (चक्रों) की यात्रा भी विचारणीय है । इसके लिये 'उदाहृतम्' शब्द की व्याख्या कर आचार्य क्षेमराज ने यह सिद्ध कर दिया है कि, यह प्रक्रिया रहस्य मयी है । गोपनीय है और 'क्वचिद् उद्घाटनीयम्' की नीति के अनुसार ऊर्ध्व की ओर उपहृत इस नैरुक्तिक व्याख्या द्वारा उसे कुछ उद्घाट्य होने का संकेत भी दिया है ।

वस्तुतः सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और आनन्द की अमृत अनुभूतियाँ परमेश्वर की इच्छा और उन्मेष शक्तियों का ही चमत्कार है । इन दोनों शक्तियों की स्फुरण शीलता से जब अन्तर्मुखी साधकों की आन्तरिकी प्रभावित होती है, तभी साधक का समुद्भव होता है । गुरु की अहैतुकी कृपा और परमेश्वर शक्तिपात से पवित्रीकृत किसी पूत आत्मा का हृदय उद्वेलित हो उठता है । वह शिखर पर आरूढ होकर विश्व का दर्शन करता है । वहाँ से नीचे भी उतरता है और घाटी को शिखर के रहस्य से परिचित करा देता है । यह परमेश्वर की लीला ही रहस्य है और यही रहस्य हमारे प्राणापानवाह में नित्य उपोद्बलित है । ऊपर जाने ऊपर से नीचे आने और नीचे को भी ऊपर की तरह धन्य बनाने वाले ये साधक धन्य हैं । ऊपर इस रहस्यार्थ क्रम के विषय में भी पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है । इसका क्रम अध्येता को अवश्य अपनाना उचित है ॥१४४॥

सिद्धिवैशिष्ट्येनास्य साधकं प्रति विशेषं वक्तुमाह–

शान्तिके मानसो जप्य उपांशुः पौष्टिके स्मृतः ।
सशब्दश्चाभिचारेऽसौ प्रागुदग्दक्षिणामुखः ।।१४५।।

एतद्व्याचष्टे–

आत्मा न शृणुते यं तु मानसोऽसौ प्रकीर्तितः ।
आत्मना [1]श्रूयते यस्तु तमुपांशुं विजानते ।।१४६।।
परे शृण्वन्ति यं देवि सशब्दः स उदाहृतः ।

भुक्ति और मुक्ति उभयविध सिद्धि प्रदायक विशिष्ट गुणों से समन्वित जप के सम्बन्ध में साधक को सावधान कर रहे हैं कि, किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किस प्रकार का जप होना चाहिये । इसका क्रम इस प्रकार है–शान्ति कर्म में सफलता के लिये मन्त्र का मानस जप करना चाहिये । पुष्टि विधायक कार्यों की दृष्टि से उपांशु जप करना चाहिये । वही अभिचार सिद्धि के लिये सशब्द अर्थात् मन्त्र का उच्चारण करते हुये जप होना चाहिये । इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, शान्ति के लिये जप पूर्वाभिमुख करना चाहिये । पौष्टिक कार्यों की सिद्धि के लिये उत्तराभिमुख होकर मन्त्र जप शीघ्र फलदायक होते है । वहीं अभिचार हेतु साधक मन्त्र दक्षिणाभिमुख होकर ही जप करे । इससे उसे अपेक्षा कृत अधिक शीघ्र लाभ होगा । प्रत्येक कार्य में इसका ध्यान आवश्यक है ।।१४५।।

मानस जप की परिभाषा–

मानस जप मन के स्तर से होता है । इसमें स्वयम् अपने आप को भी किसी प्रकार की ध्वनि श्रुतिगोचर नहीं हो पाती है । ऐसे जप को मानस जप कहते हैं ।

उपांशु जप की परिभाषा–

ऐसे ढङ्ग से किया जप उपांशु कहलाता है, जिसमें सूक्ष्म रूप से नादात्मक आन्तर मन्त्रानुसन्धान होता रहता है । यह आत्म श्रुति कहलाती है ।

जिस जप को दूसरे सुन सकते हैं, यह बैखरी के माध्यम से सम्पन्न जप सशब्द जप कहलाता है ।

मानस जप मध्यमा वाक् का विषय है । उपांशु जप सूक्ष्म बैखरी और सशब्द जप स्थूल बैखरी के विषय हैं । इन तीनों की भोग सिद्धि में स्वाभाविक हेतुमत्ता स्वीकार्य है । अन्य शास्त्र भी इस विषय में अपने विचार व्यक्त करते हैं । एक ऐसी ही उक्ति यहाँ उद्धृत है–

१. क. ख. पु. आत्मना शृणुते इति पाठः ।

मानसो मध्यमायां वाचि । उपांशुसशब्दौ तु सूक्ष्मस्थूलप्रयत्नायां वैखर्याम् । त्रयस्यास्य भोगहेतुत्वमन्यत्राप्युक्तम्–

'मध्यमो भोगमोक्षाख्य उपांशुः सिद्धिदायकः ।

वाचिको भूतविषजित्सशब्दश्चाभिचारिकः ।।' इति ।

एवं वदन् पश्यन्तीपरावाग्भ्यां मुक्तौ जीवन्मुक्तौ च जपः कार्यः–इति सूचयति । उक्तं च –

'जीवन्मुक्तौ परो ज्ञेयो मुक्तौ मुद्रितभेदकः ।' इति ॥१४६॥

जपोपयोगिनीमक्षमालां निदर्शयति–

अष्टोत्तरशतेनैव अक्षमाला समेरुका ।।१४७।।
रुद्राक्षशङ्खपद्माक्षपुत्रजीवकमौक्तिकैः ।
स्फाटिकी मणिरत्नोत्था सौवर्णी वैद्रुमी तथा ।।१४८।।

एताश्च–

दशाक्षमाला देवेशि गृहस्थानां प्रकीर्तिताः ।

अष्टाभिरुत्कृष्टेन अधिकेन शतेन । एवकारेण अधिकसंख्याया व्युदासः, सप्तविंशतिचतुष्पञ्चाशत्संख्याया अपि भावात् ।

'मध्यम जप वह है, जिसमें भोग मोक्ष की आकांक्षा छिपी रहती है । उपांशु जप भोगसिद्धि प्रदायक होता है । वाचिक और सशब्द जप क्रमशः भौतिक विषजित् और अभिचारजित होते हैं ।'

उक्त वचनों से यह निष्कर्ष निकल रहा है कि, भुक्ति व मुक्ति के उद्देश्य के लिये पश्यन्ती और पराशक्ति का प्रयोग करना चाहिये । इस विषय की एक उक्ति शास्त्र में मिलती है । उसके अनुसार 'जीवन्मुक्ति एक महत्त्व पूर्ण 'पर' कार्य है । उसी तरह मुक्ति के उद्देश्य सिद्धि के लिये मुद्रित भेदकता अर्थात् पश्यन्ती का प्रयोग करते हैं ॥१४६॥

अक्षमाला के विषय में भी स्पष्टीकरण अवश्यकर्त्तव्य है क्योंकि जप में यही सबसे अधिक उपयोगिनी होती है –

रुद्राक्ष, शङ्ख, कमलगट्टा (पद्मबीज), मौक्तिक स्फटिक, मणि, रत्न, सुवर्ण और विद्रुम इन दश गोल मनकों से अक्ष मालायें निर्मित होती हैं । ये दश प्रकार की ही मानी गयी हैं । सौभाग्य रत्नाकर पृ० ४११ में 'कुशग्रन्थि' ग्यारहवाँ द्रव्य स्वीकृत है । ४०६ में भी ७द्रव्यों की गणना है । गृहस्थ आश्रम के गार्हथ्य जीवन में रचे पचे लोग इनका प्रयोग करते हैं । यह अष्टोत्तर शत अर्थात् आठ अधिक सौ मनकों की बनायी जाती है । इससे अधिक संख्या नहीं होनी चाहिये । २७ और ५४ मनकों की मालायें सुविधा के अनुसार प्रयोग मे लाते हैं ॥१४६-१४८॥

यथाक्रमम्–

सूत्रं ध्यात्वा परां शक्तिमध्वभागांस्ततो मणीन् ।।१४९।।
व्यक्तिस्थानं शिवस्याध्वा ततस्तद्धर्मिणीं स्मरेत् ।
सप्तविंशतिभि: कुर्याद्द्विगुणैर्वा चतुर्गुणै: ।।१५०।।
समैस्तु संहतैरेकं शिवतत्त्वात्मकं मुखे ।
न तं विलङ्घयेद्विद्वान् सृष्टिसंहारकारणम् ।।१५१।।

अत्र च नवानाम् अष्टादशानां वा षट्त्रिंशतो वा तत्त्वानां तत्त्वदीक्षायामिह मृत्युञ्जयादौ गणितानां परशक्तिशिवात्मकस्थूलसूक्ष्मपरभेदत्रैविध्यादेवंसंख्याकत्वमेव भवति इति तत्र व्याप्तिरस्ति ॥१५१॥

माला निर्माण के लिये पहले सूत्र का ध्यान करना चाहिये । पराशक्ति के लिये शणसूत्र और शिव के लिये पट्ट सूत्र का प्रयोग करना चाहिये । कपास सूत्र उसी दशा में स्वीकृत करना चाहिये जब वह ब्राह्मणी का काता हुआ हो । सूत्र ध्यान, पराशक्ति, अध्व भाग, मणि, माला की अभिव्याप्ति का स्थान पुन: शिव अध्वा का ध्यान और माला धर्मिणी विद्या का ध्यान कर लेना चाहिये । इस ध्यान क्रम के बाद मुख मिला मिलाकर सत्ताइस, चौवन या २७ के चौगुने अर्थात् १०८ मणियों की माला का ग्रथन करना चाहिये ।

मणियों को पहले समरूपी लेना चाहिये । पुन: संहत मणियों को क्रमिक रूप से मुख को ऊपर कर शिव तत्त्वात्मक माला ग्रथित करनी चाहिये । इसका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । इसमें सृष्टि और संहार क्रम ही पूरा करने का विधान अन्तिम रूप से मान्य है ।

इस सम्बन्ध यह ध्यान देने की बात है कि, २७,५४,और १०८ मनकों की गणना का रहस्य क्या है ? ऊपर नवतत्त्वी की चर्चा की गयी है । इसी तरह अठारह और छत्तीस तत्त्वों की बात शास्त्र प्रसिद्ध है । वे इन नव तत्त्व के साथ पर, शक्ति और शिव रूप पर, सूक्ष्म और स्थूल भेद से गुणित करने सत्ताईस संख्या के आधार सत्ताइस मनकों की माला बनाने का आदेश शास्त्र देता है ।

अठारह से इसी त्रिक के गुणित करने पर चौवन मनकों की और छत्तीस तत्त्वात्मक संख्या में उक्त त्रिक से गुणित करने पर एक सौ आठ मनकों की माला का क्रम बैठ जाता है । इसी लिये सत्ताइस, चौवन और एक सौ आठ मनकों की माला बनाने का आदेश शास्त्रों में मिलता है ॥१४९-१५१॥

नैष्ठिकानामाह–

वीरस्थानरतानां हि वीरानां वरवर्णिनि ।
महाशङ्खाक्षसूत्रं तु सर्वकामफलप्रदम् ।।१५२।।

'वीरस्थानं' श्मशानादि, 'महाशङ्खं' नरास्थि, 'वीरा' निष्कम्पा ॥१५२॥

एतत्तु–

गृहस्थेन न कर्तव्यमुद्वेगजननं परम् ।

यत एवम्–

तस्मात्तु स्फाटिकी माला जप्तव्या साधकोत्तमैः ।।१५३।।

साधकोत्तमैर्गृहस्थैः ॥१५३॥

सा हि–

साधयेद्विविधान्कामानधमान्मध्यमोत्तमान् ।

विविधसिद्धिखगतिविद्यातत्त्वाद्याप्तिरूपान् । मुमुक्षोस्तु दशविधाक्षमाला उक्तैव ।

वीर स्थान श्मशान में साधना में निरत रहने वाले साधक वीर कहलाते हैं । वीर स्थान में अर्थात् श्मशान में साधनारत वीर साधकों के लिये भगवान् कह रहे हैं कि, सर्वाङ्ग सौन्दर्य समन्विते देवि ! महाशङ्ख अर्थात् मानवमुण्ड अथवा मानवास्थि से निर्मित अक्ष सूत्र ही श्रेयस्कर होता है । इस माला से किया जप समस्त कामनाओं की पूर्त्ति में सफल माना जाता है । श्मशान एक भयप्रद स्थान है । वहाँ बड़े से बड़े लोग भयभीत होते और काँप उठते हैं । ऐसी भीषण भयप्रद स्थानों में भी निष्कम्प रहने वाले साधकों को ही वीर संज्ञा से विभूषित करते हैं ॥१५२॥

ऐसी माला का प्रयोग गृहस्थ को नहीं करना चाहिये । वे इससे जप के अधिकारी नहीं होते । ऐसा करने पर गृहस्थ जीवन में उद्वेग की सम्भावना होती है । इसी लिये उत्तम साधन सम्पन्न साधकों को चाहिये कि, स्फटिक निर्मित स्फाटिकी माला का वे प्रयोग करें । साधकोत्तम गृहस्थ आश्रम में रहकर साधना संलग्न साधक भी साधकोत्तम कहलाते हैं ॥१५३॥

स्फटिक के मनकों से निर्मित स्फाटिकी माला अनेक प्रकार की कामनाओं की पूर्ति करती है । कामनायें अधम, मध्यम और उत्तम दृष्टि से प्रायः तीन प्रकार की होती हैं । स्फाटिकी माला से किया गया जप तीनों प्रकार की कामनाओं की पूर्त्ति करता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

उपसंहरति–

एवं हृदम्बुजावस्थो यष्टव्यो भैरवो विभुः ।।१५४।।
सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चाद्यजनमारभेत् ।

सह 'बाह्याभ्यन्तराभ्यां' देहपुर्यष्टकभैरवत्वापादनाभ्यां वर्तते यो याग एक एव, न तु करयोर्देहे अन्तश्च अन्यान्यरूपो भैरवैक्यस्यैव प्राप्यत्वेन उपदेक्ष्यमाणत्वादिति । 'सबाह्याभ्यन्तरम्' इत्यैक्येन य उपसंहृतो यागश्चिद्भैरवेऽशेषविश्वार्पणात्मा, तं कृत्वा हृद्यागप्रतिबिम्बरूपं च बाह्ययागम् अभिसन्धाय-इत्यपि च 'सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा' इत्यस्यार्थः । पश्चादिति जपानन्तरं

'महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमः चेतना स्रुचा ।।' (१४५ श्लो०)

इस प्रकार हृदयकमल रूप अनाहत में अवस्थित रहकर विभु परमेश्वर भैरव का यजन उपासन करना चाहिये ।।१५४।।

यजन साधन का ही अङ्ग है । एक उक्ति है कि, 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' अर्थात् शिव होकर ही शिव का यजन होना चाहिये । ठीक उसी तरह यहाँ यह घोषित किया गया है कि, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों को भैरवतादात्म्य के समावेशात्मक उल्लास से जब साधक समाहित हो जाता है, उसी स्थिति को सबाह्याभ्यन्तर भैरव-सद्भाव कहते हैं । इस स्थिति में समाहित होने के बाद ही यजन आरम्भ करना चाहिये । इस स्थिति में शरीर और पुर्यष्टक इन दोनों का तादात्म्यापादन हो जाता है ।

इस प्रकार का यह यजन एक स्वतन्त्र विधान है । आंगिक या शारीरिक कोई अन्य विधान नहीं । इसका एक मात्र स्वरूप भैरवैक्य है । इसी को परम प्राप्य स्वीकार करते हैं । यहाँ एक तरह से बाह्य और आभ्यन्तर भैरव सामरस्य उल्लास की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि, पहले से परिचालित क्रमिक याग का यहाँ उपसंहार कर रहे हैं । इस अवस्था में चिद्रूप भैरव में ही अशेष विश्व का अर्पण हो जाता है । यह सर्वोत्तम याग माना जाता है ।

इस याग में ही अन्तर्याग पूरा होता है । अन्तर्याग का ही प्रतिबिम्ब बाह्ययाग है । इस दृष्टि से सबाह्याभ्यन्तर का अर्थ अन्तर्याग और बाह्ययाग दोनों की सम्पन्नता भी हो सकती है ।

पश्चात् अव्यय का अन्वय अन्तर्याग के साथ ही उचित है । अन्तर्याग को परिभाषित करते हुए विज्ञान भैरव शास्त्र अपने १४५वें श्लोक के माध्यम से कहता है कि,

इति श्रीविज्ञानभैरवोक्तनीत्या द्वादशान्ते मन्त्रस्मणपूर्वकं विश्वभावार्पणरूपं होमं विधाय अन्तर्यागप्रतिबिम्बरूपं यजनमारभेत बाह्यमित्यर्थः ॥१५४॥

आत्ममन्त्रार्घपात्रमण्डलभैरवकुसुमादिद्रव्याणां कर्तृकरणापादानाधिकरणसम्प्रदानकर्मकारकरूपाणां ब्रह्मार्पणदृष्ट्या परमाद्वैतापादनरूपबाह्यपूजनाभ्यासपरिनिष्ठया सर्वव्यवहारेषु सर्वकारकाणां चिद्भैरवैक्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते इति यद्बहिर्यागसतत्त्वं तत्प्रस्तावनाय कर्तृकरणसंस्कारात्मकान्तर्यागानन्तरं कर्मादिसंस्काराधायकापादनादिसंस्कारार्थमर्घपात्रविधिं तावदाह–

तत्रार्घपात्रमादौ वै सौवर्णं राजतं तथा ।।१५५।।
शाङ्गं शाम्बूकं शौक्तं वा ताम्रं मृण्मयमेव वा ।
पद्मपत्रपलाशोत्थं गृहीत्वा क्षाल्य वारिणा ।।१५६।।

'महाशून्यालय में प्रज्वलित चिदग्नि में यह समग्र प्रमेयात्मक और प्रमाणात्मक जगत् जो पंचमहाभूतों से सम्बन्धित तथा इन्द्रियगोचर हो सकता है, यह सब कुछ मुझ साधक द्वारा मन के साथ ही स्वाहा किया जा रहा है । यह बता देना आवश्यक है कि, इस होम कर्म में मैंने चेतना रूपी स्त्रुक् को ही माध्यम बनाया था ।'

विज्ञान भैरव की यह उक्ति द्वादशान्त में विश्वात्मकता को चिदग्निसात् करने का संकेत दे रही है । मन्त्रस्मरण पूर्वक विश्वभावका अर्पण इसमें सम्पन्न होता है । इस विशिष्ट अन्तर्याग को पूराकर उसी के बाद उसके प्रतिबिम्ब रूप बाह्ययाग का आरम्भ करते हैं ॥१५४॥

इस याग में स्वयं स्वात्म, मन्त्र, अर्घपात्र, मण्डल, भैरव देव, फूल आदि सभी द्रव्यों में कर्त्ता, करण, अपादान, अधिकरण, सम्प्रदान और कर्मकारकों द्वारा अर्पण के प्रयोग से इन सभी का ब्रह्मभाव में अर्पण तथा परम अद्वैत भाव का आपादान होता है ।

इसी प्रक्रिया के प्रभाव से बाह्यपूजन में भी परिनिष्ठा का भाव उत्पन्न होता है । फलतः सारे व्यवहारों में सभी कारकों द्वारा चिद्भैरव के ऐक्यकी ही प्रत्यभिज्ञा भी उत्पन्न होती है । इसलिये बहिर्याग सतत्व यहाँ जितने कारक या द्रव्य करण हैं, उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों की भी प्रस्तावना के प्रकरण में सर्वप्रथम अन्तर्याग, तत्पश्चात् कर्त्ता या करण कारकों की सांस्कारिकता के प्रभाव से सभी कारकों की संस्कार सम्पन्नता भी सुस्थिर होती है । इसके लिये जो सक्रियता अपनायी जाती है, उसमें सर्वप्रथम अर्घपात्र की प्रक्रिया आवश्यक मानी जाती है । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर वहाँ अर्घपात्र विधि की चर्चा कर रहे हैं–

अस्त्रजप्तेन देवेशि प्रलिप्यागुरुचन्दनैः ।
मृष्टधूपेन संधूप्य वारिणापूरयेत्ततः ।।१५७।।
वस्त्रपूतेन शुद्धेन ताडयेदस्त्रमुच्चरन् ।

'अर्घपात्रं' रक्षाधाम । 'तत्र' इत्यन्तर्यागाद्भैरवीभावे जाते सति, आदाविति कुसुमादिसंस्कारार्थम् । सौवर्णादि मुमुक्षोर्यथासम्भवम् । 'शम्बूकः' सामुद्रः प्राणिवशेषः । 'पलाशो' यज्ञियस्तरुः । 'आक्षालनं' भेदशल्यापनयनम् । 'आपूरणम्' अशेषविश्वमयीभावनम् ॥१५७॥

इस प्रक्रिया में अर्घपात्र का प्राथमिक महत्त्व है । भगवान् कह रहे हैं कि, अर्घपात्र के रूप में सोने, चाँदी, शङ्ख,शाम्बूक (द्विकोणीय घोंघा या बड़ी शुक्ति के कमठ से निर्मित), शम्बूक सीपी के वृहदाकार रूप वाले पात्र, ताँम्बे के पत्र से निर्मित, मिट्टी से बना अर्घ कमलदल या पलाश पत्र इन नौ प्रकारों में से किसी पात्र को अपनाया जा सकता है । जिस पात्र को भी प्रयोग में लाया जाये, पहले मन्त्राभिमन्त्रित जल से उसे धो लेना आवश्यक माना जाता है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, अर्घपात्र एक तरह की रक्षा का प्रतीक पात्र है । श्लोक में तत्र अव्यय एक सन्दर्भ की सूचना देता प्रतीत हो रहा है । वस्तुतः पहले अन्तर्याग सम्पन्न किया गया है । इसके परिणाम स्वरूप वहाँ का पावन वातावरण भैरव भाव से भर गया है । इसी भैरव सद्भाव सन्दर्भ की सूचना तत्र अव्यय दे रहा है ।

अर्घपात्र की आदि में ही आवश्यकता होती है । इसी के जल से पूजा में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों और पदार्थों का संस्कार किया जाता है । पात्रों की नौ प्रकार की भेदवादिता में सुवर्ण सर्वप्रथम परिगणित है । पलाश,कमलदल और मृत्तिका पात्रों की भी गणना है । इसमें मुमुक्षु और बुभुक्षु, धनी और निर्धन सबका निर्वाह सम्पन्न हो जाता है । पलाश पत्र को भी कहते हैं । यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले एक वृक्ष विशेष को भी पलाश कहते हैं । पात्र को धो लेने से उसकी पवित्रता बढ़ जाती है । मिट्टी आदि के पात्र में कभी कभी शल्य रह जाते हैं । धो लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि, यह पात्र इस दृष्टि से भी पवित्र है । यह प्रक्षालन उस जल से होना चाहिये, जिसे अस्त्र मन्त्र के जप से पवित्र कर लिया गया है ।

इसके बाद उस पात्र को अगुरु और चन्दन से उपलिप्त कर लेना चाहिये । इसी प्रक्रिया को चोवा चन्दन से चर्चित करना कहते हें । सरलता से धूमराशि को उत्पन्न करने वाले ताजे धूप से उस पात्र को धूपित कर लेना भी उचित माना जाता है । इसके बाद उस पात्र को कपड़े से छने हुये जल से भर लेना चाहिये । अर्घपात्र को भरने में भी रहस्य है । जैसे यह सारा जगत् भैरवी भाव से भरा पूरा और शाक्त भाव से भावित है, उसी तरह शैव महाभाव से यह पात्र भी भावित है, भरा पूरा हो गया है । यहाँ तक वर्णन के बाद अर्घपात्र की प्रक्रिया पूरी होती है ॥१५५-१५७॥

ततः–

वर्मावगुण्ठितं कृत्वा यागं तत्रैव विन्यसेत् ।।१५८।।

अत्रानुक्तमपि अनेन मन्त्रेणाप्यायनममृतमुद्रया कार्यम् ।
इज्यते इति 'यागः' मन्त्रगणः । अनेनैव चात्र पूजनमपि सूचितम् ॥१५८॥

कथम्–

पूर्वोक्तेन विधानेन प्रोक्ष्यस्तेन समासतः ।

अन्तर्यागोक्तासनादिपूर्वं स्फुरत्तेजोरूपसकलमन्त्रैकादशिकानिष्कलतदङ्गन्यासयुक्त्येत्यर्थः । परावृत्त्यवष्टम्भेन अवलोक्येति शेषः । 'प्रोक्षणम् अत्र तेजोमयत्वापादनम् ।

ततोऽपि पुष्पादिभिः शिरसि चिद्भैरवं पूजयित्वा

यागार्थो द्रव्यसंघातः ततो यजनमारभेत् ।।१५९।।

इसे ही वर्णित कर रहे है । भगवान् का कहना है कि,

१. अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये ।

२. ताडन प्रक्रिया अपनानी चाहिये ।

३. कवच से कवचित करना चाहिये ।

४. अवगुण्ठन मुद्रा से इस पूरे कार्यक्रम को अवगुण्ठित करना चाहिये । यद्यपि यहाँ कहा नहीं गया है, फिर भी–

५. अमृत मुद्रा से उसका आप्यायन भी उचित माना जाता है ।

इसके बाद उसमें उचित और निर्धारित मन्त्रों का विन्यास करना परम्परा से प्राप्त कर्त्तव्य कर्म माना जाता है । 'इज्यते इति यागः' इस परिभाषा के आधार पर याग का अर्थ मन्त्रों के समूह द्वारा हवन किया गया है । मन्त्र विन्यास से एक तरह से पूजन की इस प्रक्रिया का प्रारम्भ ही कर दिया जाता है । यह सोचने की बात है ॥१५८॥

यह कैसे प्रारम्भ किया जाये ? इसका उत्तर भगवान् यह कहते हुए दे रहे हैं कि, पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही यह पूजन प्रक्रिया अपनानी चाहिये । अन्तर्याग के अन्दर आसन आदिके प्रथम ही भैरव के विराट् प्रकाश पुञ्ज से स्फुरित तैजस अंश रूप सकल मन्त्रों के एकादशक न्यास और निष्कल अंश न्यास की युक्ति से ही यह सम्पन्न होना चाहिये । इसके बाद अर्घपात्र के जल से सारे पदार्थों का प्रोक्षण करना चाहिये । पदार्थ का तात्पर्य याग के उद्देश्य से एकत्रित द्रव्यों का संघात ही है । प्रोक्षण का भी यही तात्पर्य है कि, समस्त द्रव्य राशि में मान्त्रिक तेजस्विता का आधान हो सके । इसके बाद पुष्प आदि से शिर में ही चिद्भैरव का अर्चन कर यजन आरम्भ कर देना चाहिये ॥१५९॥

अत्र भूमिकां रचयति–

शक्तिं न्यस्य ततश्चादौ व्योमाकारां सुजाज्वलाम् ।
सकलव्यापिकां सूक्ष्मां शिवाधारां तु सर्वगाम् ।।१६०।।
ओंकारदीपितां देवीं नमस्कारावसानिकाम् ।

शिव 'आधार:' आश्रयो यस्यास्तां प्रथमोन्मेषरूपां विन्यसनीयाशेषासनादिभित्तिभूताम्, चिन्मात्रमूर्तित्वेन 'व्योमाकाराम्' अनुपाधिज्ञत्वरूपस्फुरत्तया 'सुजाज्वलां' गर्भीकृताशेषविश्वतया 'सकलव्यापिकां' सर्वैरलक्ष्यत्वात् 'सूक्ष्माम्', आधारमासनपक्षम्

यजन के प्रारम्भ में शक्ति न्यास करना चाहिये । यह न्यास बाह्य याग के प्रारम्भ में ही करना चाहिये वरन् इसे अन्तर्याग के भी पहले करना शास्त्र सम्मत है । शक्ति के स्वरूप का विभिन्न विशेषणों के माध्यम से वर्णन कर रहे हैं–

१. **व्योमाकाराम्–** शक्ति व्योम की तरह सर्वव्यापक होती है । आकाश होते हुये भी सूक्ष्मता के कारण दीख नहीं पड़ता । अपने अन्तर अवकाश से सबको अनुगृहीत करता है । इस तरह सामान्यतया सूक्ष्मता के कारण आकाश के आकार वाली कहा गया है किन्तु इसकी अन्यतम विशेषता यह होती है कि, यह चिन्मात्र स्वरूपिणी होती है ।

२. **सुजाज्वलाम्–** अत्यन्त प्रकाशमयी दीप्तिमन्त ज्वाला से समुज्ज्वला और उपाधियों से अतीत ज्ञानमयी शाश्वत उल्लसित शक्ति है । इस रूप का वहाँ ध्यान अवश्य करना चाहिये ।

३. **सकलव्यापिकाम्–** सर्वत्र व्याप्त है । सर्वव्यापकता में ही सारा का सारा विश्व आकार ग्रहण करता है ।

४. **सूक्ष्माम्–** अपनी परमचरम सूक्ष्मता के कारण यह सबसे अदृश्य होकर भी अपने अस्तित्व से सबको आप्यायित करती है ।

५. **शिवाधाराम्–** शिव ही जिसका आधार है । वस्तुत: शिव की शैव व्याप्ति के प्रथम उन्मेष के रूप में ही शक्ति का उल्लास होता है । इस तरह भगवान् शिव इसके आधार माने जाते हैं । यह स्वयं भी शिव व्याप्ति की आधार बन जाती है । समस्त विन्यास योग्य आसन आदि की भित्ति रूप मानी जाती है । अत: कल्याण मयी आधारशक्ति भी यही है । यहाँ आधार और आधेय दोनों दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है । आधार की दृष्टि से यह आधाररूप से अवस्थित है और आधेय शिव में भी स्वयम् ही शाश्वत अवस्थित रहती है ।

आधेयं च शिवं प्राप्यावस्थितत्वात् 'सर्वगां, देवीं' विश्वक्रीडादिप्रदर्शिनीं पारमेश्वरीं शक्तिमाधाररूपां परिकल्पनीयस्य अशेषस्य तदुत्थत्वेन शिवमयत्वमनुसन्धातुम् उक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिकेन 'ओंकारेण' परभैरवरूपेणोत्तेजिताम् 'ओं आधारशक्त्यै नमः' इति प्रयोगेण न्यस्य उत्तरं विधिमारभेतेत्यर्थः। एष च शक्तिन्यासः पूर्वत्र अन्तर्यागादावपि स्मर्तव्यः ॥१६०॥

अनन्तं चैव विन्यस्य धर्मं ज्ञानं तथैव च ॥१६१॥
वैराग्यं च तथैश्वर्यमाग्नेय्यादिक्रमेण तु ।
अधर्मं च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ॥१६२॥

---

६. सर्वगाम्– सर्वत्र इसकी गतिशीलता है । इसी की गति सर्वत्र गतिशील है । सर्वग होने के कारण ही यह सर्वाधार भी मानी जाती है ।

७. देवीम्– दिव धातु के निहितार्थ को चरितार्थ करने वाली विश्वात्मक क्रीडा में संलग्न सर्वातिशायिनी विजयन्ती होने के कारण इसे देवी कहते हैं ।

८. ओंकारदीपिताम्– ओङ्कार को एकाक्षर ब्रह्म कहते हैं । परभैरव रूप से परमोल्लास मयी होने के कारण ओङ्कार से दीप्तिमयी मानी जाती है । आसन मन्त्र में सर्वप्रथम ओङ्कार का ही प्रयोग करते हैं । आसन ओङ्कार से उद्दीप्त होता है ।

९. नमस्कारावसानिकाम्– आसन को उद्दीप्त करने वाले आधार मन्त्र के अन्त में 'नमः' का प्रयोग करते हैं । 'ॐ आधार शक्त्यै नमः' इसी मन्त्र से न्यास कर उत्तर विधि अर्थात् आगे के कर्मकाण्ड की प्रक्रिया का प्रारम्भ करते हैं । शक्तिन्यास की यह भूमिका है । इसका प्रयोग पहले ही करना आवश्यक माना जाता है ॥१६०॥

शक्तिन्यास के बाद अनन्त का न्यास करना चाहिये । अनन्तेश्वर के माध्यम से ही माया शक्ति सितेतर सृष्टि का सर्जन करती है । अनन्तेश्वर की रूप रेखा वायवीय संहिता में इस प्रकार बतायी गयी है-

'नाभ्यूर्ध्वं नराकृतिमधस्वधाकृतिमेककुण्डलं सहस्त्रफणम्' एक स्थान पर और भी लिखा गया है कि,

'तत्त्वैर्धरादिविद्यान्ते द्वात्रिंशत्संख्यकैरिह ।
पीठाकारो ह्यनन्तः स्यादनन्तासनमीरितम् ॥' शा०ति० ४/५८

अनन्त के न्यास के बाद धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यो का न्यास होना चाहिये । ये चारों विचित्र आकार के हैं । धर्म वृष, ज्ञान सिंह, वैराग्य देवयोनिवत् और ऐश्वर्य हाथी की तरह की आकृति के होते हैं । इनका न्यास क्रमशः अग्नि, निर्ऋति, वायु और ईशान कोणों में करना चाहिये । इसके बाद अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की स्थापना पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में अवश्य करना चाहिये ॥१६१-१६२॥

सन्धानकीलकांश्चैव अधश्छादनमूर्ध्वगम् ।
पद्मं सकेसरं देवि कर्णिकां पुष्कराणि च ।।१६३।।
मण्डलत्रितयं देवाञ्शक्तीश्चापि शिवान्तकम् ।
मूर्तिं ब्रह्मकलाजालं नवतत्त्वं त्रितत्त्वकम् ।।१६४।।
भैरवाष्टकविद्याङ्गलोचनं क्षुरिकां तथा ।
शक्तित्रयं परं देवमङ्गषट्कसमन्वितम् ।।१६५।।
विन्यस्य भावयेद्देवि सततं विधिपूर्वकम् ।

विधिपूर्वकमिति, पूर्वोक्तध्यानादियुक्त्येत्यर्थ: । यदिहानुक्तं तत्पूर्वतोऽनुसन्धेयम्, यच्च पूर्वत्र नोक्तं तदितोऽनुसन्धेयम[1]धिकारभेदेनान्तर्बहिर्यागयो: पर्यायेण प्रकृतिविकृति-रूपत्वात्, सर्वं चैतत्पूर्वं निर्णीतम् ।।१६५।।

जिस तरह दीवाल में और दो पदार्थों को योजित करने के लिये कील की आवश्यकता पड़ती है,उसी तरह दो विच्छिन्न स्थितियों को एक करने के लिये सन्धान कीलों की आवश्यकता होती है । मण्डप में ऊर्ध्वग अधश्छादन के लिये इनकी आवश्यकता होती है । व्यवहार में तम्बू लगाने के लिये विभिन्न प्रकार के कीलों जैसे काष्ठ कीलक अथवा लौह कीलक आदि का प्रयोग करते हैं, यहाँ भी छादन के सन्दर्भ में उनकी आवश्यकता पड़ती है ।

इसी तरह केसर युक्त कमल, उसके मध्यकी कर्णिका और उनके पुष्कर (पत्र) अथवा अन्य कमलों की प्रजातियों में से किसी को भी न्यास के लिये चुनना चाहिये । मण्डल त्रितय, देवगण, शक्ति और शिव, भैरवमूर्त्ति पञ्चवक्त्रों के समस्तकलाजाल, नवतत्त्व, त्रितत्व, भैरवाष्टक, लोकपालाष्टक, विद्याङ्ग, लोचन और छुरिका, अपरा, परा और परापरा शक्तियाँ, परभैरव देव (षडङ्गसमन्वित) का पूजा स्थल पर विन्यास करना चाहिये । इसी के सन्दर्भ में सर्वभाव का भावन करने से इनकी पार्थक्य प्रथा समाप्त हो जाती है । ये सारे काम या न्यास निरन्तर शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही पूरा करना चाहिये । जो यहाँ नहीं कहे गये हैं, उन्हें भी पहली उक्तियों से लेकर करना उचित है । जो पहले नहीं उक्त हैं, उनका यहाँ अनुसन्धान कर लेना चाहिये । अन्तर्याग और बहिर्याग में अधिकार का भी दृष्टिकोण अपनाया जाता है । अत: इन दोनों की प्रकृति और विकृति रूपता विषयक सम्बन्ध का ध्यान रखकर ही निर्णय करना चाहिये । अत: सजग भाव से विधि का निर्वाह आवश्यक है ।।१६३-१६५।।

१.क. पु. अधिकभेदेनेति पाठ: ।

निर्वर्त्य तु यथान्यायं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।।१६६।।
स्वागतं चार्घ्यपाद्यं च सन्निधानं तथैव च ।
रोधं निष्ठुरया कुर्यान्मूलमन्त्रमनुस्मरन् ।।१६७।।
पूजा सुविपुला[1] कार्या गन्धधूपस्त्रगादिभिः ।
मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ।।१६८।।
तत आवरणं बाह्ये विनिवेश्यं वरानने ।
ईशपूर्वयाम्यसौम्यवरुणान्तं प्रकल्पयेत् ।।१६९।।

इन न्यास रूप कार्यों को सम्पन्न करने के बाद एक आन्तरिक आत्मिक तुष्टि का अनुभव होता है । मन इस बात को सोच सोचकर नाच उठता है कि, मैंने एक ऐसा कार्य सम्पन्न कर लिया है, जिससे यह जीवन धन्य हो उठा है । अन्तरामा विशेष हर्षातिरेक से ओतप्रोत हो जाता है ।

न्यास की प्रक्रिया क्या है? किसी को कहीं से बुलाकर कहीं प्रतिष्ठित करना ही तो न्यास है । साधक ने शक्तिन्यास का एक मङ्गल विधान पूरा किया है । यह स्वाभाविक और चर्चा के अनुकूल है कि, जिसको बुलाया गया है, उसका स्वागत अभिनन्दन किया जाय । उसके लिये अर्घ्य अर्पित किया जाय । उसके पदों के प्रक्षालन का प्रबन्ध किया जाय । सन्निधान मुद्रा से उसको सन्निध्य दिया जाय । रोधन से उसको जाने से रोका जाय । निष्ठुर से उसे बैठा लिया जाय । इन सभी प्रक्रियाओं के क्रम में मूल मन्त्र का अनुस्मण भी अनवरत होता है ॥१६६-१६७॥

विस्तार पूर्वक पूजा स्वयं श्रद्धाविश्वास पूर्वक करनी चाहिये । इसे लघु अर्थात् संकुचित और छोटे दायरे में कृपणता से नहीं करना चाहिये । वरन् विशाल वैपुल्य पूर्वक बड़े पैमाने पर करना और कराना चाहिये । इसमें गन्ध पुष्प, धूप, दीप उत्तम रूप से बनी मालायें और गजरों से अभिनव ढङ्ग से सजाकर पूजा की पूर्ण विधि पूरी करनी चाहिये । पूजा के बाद मुद्रा प्रदर्शन भी पूजा के अङ्ग के रूप में ही स्वीकृत है । मुद्रा का त्रिधा प्रदर्शन श्लोक १६७ में भी उक्त है । यह कार्य त्रिकाल रूप से पूरा करना श्रेयस्कर है ॥१६८॥

इसके बाद भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, सुमुखि सर्वेश्वरि ! बाह्य देश में आवरण का विनिवेश करना चाहिये । इसका क्रम ईशान-पूर्व दक्षिण, उत्तर और पश्चिम होना चाहिये । इन दिग्देशों में ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात वक्त्रों को क्रमिक रूप से विनिविष्ट करना चाहिये । इनके ध्यान और इनके गुणों (१/६४ का भाष्य) से समन्वित रूप का विन्यास ही शास्त्र द्वारा समर्थित है ।

---

१. ख. पु. सुविमलेति पाठः ।

वक्त्राणां पञ्चकं देवि स्वध्यानगुणसंयुतम् ।
आग्नेयैशानरक्ष:सु सामीरैन्द्रदिशोरपि ।।१७०।।
उत्तरान्तं निवेश्यं तु अङ्गानां पञ्चकं तथा ।
नेत्रं तु कर्णिकायां वै पूर्वस्यां दिशि संस्थितम् ।।१७१।।

एतदपि पूर्वमेव व्याख्यातम् । 'प्रहृष्टेनान्तरात्मना' इति भैरवाशेष(वेश)मयेनेत्यर्थ । अत्र पूर्वं श्रीमदघोरेश्वरीन्यास: स्मर्तव्य:। 'सामीरैन्द्रदिशोरपि उत्तरान्तम्' इत्यत्रेन्द्रदिश[1] उत्तरान्तं चतुर्दिक्कमन्त्रं कल्पयेदिति योज्यम् । यथोक्तं । पूर्वम्– **'अग्नीशरक्षोवायव्यचतुर्दिक्षु च तं न्यसेत् ।' (२/१०८) इत्यादि ।।१७१।।**

सर्वत्र व्यापकं विधिमाह–

स्वमन्त्रेण तु सर्वेषामर्घ्यं पाद्यं समाहित: ।

दद्यादिति शेष: ॥

समाहितत्वं स्फुटयति–

मन्त्रसंकरपुष्पाणि न कुर्यात्साधक: सदा ।।१७२।।

जहाँ तक इनके अङ्गपञ्चक का प्रश्न है । उनका विनिवेश भी बाह्य में ही होना चाहिये । इसके लिये निर्धारित दिशायें इस प्रकार हैं १. आग्नेय (अग्निकोण), २.ऐशान (ईशानदेव), ३.रक्ष: (निर्ऋतिकोण), ४.सामीर (वायव्य), ५. ऐन्द्र (पूर्व), और ६.उत्तर में विनिविष्ट करना चाहिये । नेत्र की प्रतिष्ठा कर्णिका में करना उचित है । यह पूर्व दिशा में संस्थाप्य है । विद्याङ्ग इस प्रकार हैं- १.हृत्, २.शिर, ३.शिखा, ४.कवच, ५.अस्त्र, ६.नेत्रत्रय ।

नेत्रत्रय मूल मन्त्रका त्र्यक्षर अंश रूप विद्याङ्ग से विभूषित होता है (१/६३) । इस प्रकरण में सर्वप्रथम अघोरेश्वरी का न्यास भी करना चाहिये । यद्यपि यह विषय यहाँ अनुक्त है, फिर भी अनुसन्धेय है । अस्त्र रूप अवयव का विन्यास चतुर्दिक्क होता है । इसी तथ्य को 'सामीरै: से उन्तरान्तं कल्पयेत्' पर्यन्त के १७१वें श्लोक में कहा गया है । यह सन्दर्भ २/१०८ में भी चर्चित है ॥१६९-१७१॥

सर्वत्र व्यापक विधि की चर्चा कर रहे हैं –

इनके सबके पृथक् पृथक् मन्त्र निर्धारित हैं । उन्हीं से इन्हें अर्घ्य, पाद्य, आचमनीयादि अर्पित करना चाहिये । जो कुछ भी अर्पित किया जाय, उसमें समाहित होना एक अनिवार्य शर्त्त है । समाहित होने का तात्पर्य यह है कि, जिसके लिये अर्पण किया जा रहा है, मन्त्र भी उसी देवता का है । मन्त्र का संकर होना पूरी तरह निषिद्ध है । अर्थात् दूसरे देव के लिये प्रयुक्त मन्त्र से दूसरे देव के लिये प्रयुक्त नहीं करना चाहिये । जैसे मन्त्र माँ जगदम्बा के लिये है,तो उस मन्त्र से गणेश को पुष्प अर्पित नहीं करना चाहिये । यह साधक का कर्त्तव्य है कि, वह मन्त्र सांकर्य से सदा बचे ॥१७२॥

१.क. ख. ग. पु. दिशीति पाठ: ।

न बाहु पृष्ठतो वापि मन्त्राणां परिकल्पयेत् ।
परिपाट्या तु दातव्यं न मन्त्राल्लङ्घयेत्क्वचित् ।।१७३।।

मन्त्राणां संकरो यत्र तादृंशि पुष्पाणि न कुर्यात्, नान्यमन्त्रेणान्यमर्चयेदित्यर्थः । तदित्येवं कृते सति साधकः परसिद्धिपात्रं भवतीत्यर्थः ॥१७३॥

एवं च–

स्वमुद्रामन्त्रसंयुक्तान्युगपत्परिकल्पयेत् ।

ध्यानपूजादौ स्वमुद्राभिश्च मन्त्रैश्च संयुक्तान्देवान् परिकल्पयेत् । येषां विशिष्टमुद्रा नोक्तास्तेषाम्–

'कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रदर्शयेत् ।' (स्व. १४/२०)

इति भाविनं विधिं स्मरेत् ।

'पूजा सुविपुला[१] कार्या' इत्युक्तमसम्भवद्वित्तस्तु किं कुर्यादित्याह–

अर्घ्यं पाद्यं च धूपं च नित्यं तावत्समाचरेत् ।।१७४।।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विधिरेष प्रकीर्तितः ।

मन्त्रों की मूर्त्ति परिकल्पना में बहुधा यह देखा जाता है कि, बाँहें पीछे की ओर कर देते हैं । उचित है कि, ऐसे न प्रकल्पित की जाँय । उन्हें सदा आगे रखना चाहिये । कुछ भी अर्पण करना हो,वह परम्परा के अनुसार ही अर्पित किया जाय, स्वेच्छा से नहीं, यह ध्यान देने की बात है । जप में मन्त्रों का कभी भी उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये । इन दृष्टियों से सिद्ध यही होता है कि, अन्य मन्त्र से अन्य देव पूजन सर्वथा निषिद्ध है । ऐसा करने वाला साधक अपने इष्ट की सिद्धि का पात्र न होकर परसिद्धि का अधिकारी हो जाता है ॥१७३॥

इसी प्रकार मुद्रा और मन्त्रों का भी सदुपयोग होना चाहिये अर्थात् जिस देव की मुद्रा हो,उसी के समक्ष प्रदर्शित की जाय । गायत्री की मुद्रायें विष्णु के समक्ष कभी नहीं प्रदर्शित करनी चाहिये । इसलिये देवपूजा में मन्त्र और मुद्रा का युगपत्परिकल्पन ही श्रेयस्कर है । जिन देवों के लिये किसी विशेष मुद्राओं की चर्चा न हो,शास्त्र में उनके लिये अलग निर्देश है । चौदहवें पटल के बीसवें श्लोक के अनुसार अनुक्त स्थान पर कपाल और खट्वाङ्ग मुद्राओं का प्रदर्शन होना चाहिये ।

'पूजा विशाल रूप में विपुल साधनों से समन्वित रूप में करनी चाहिये' यह शास्त्र का आदेश है । यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि, जिसके पास वित्तोपार्जन का कोई साधन न हो या इतने विपुल रूप में पूजा करने में असमर्थ हो, वह क्या करे? इसका उत्तर दे रहे हैं–

---

१. ख. पु. सुविमलेति पाठः ।

वित्तशाठ्यवर्जं नित्यं पूजयेत्, सर्वथा वित्ताभावे तूक्तशाम्बूकादिनापि वा मनसैर्वापि पूजयेदित्यर्थ: ॥१७४॥

एवमसम्भवद्वित्तविषयामर्घ्यपाद्यपूजादिसम्पाद्यां पूजां प्रसङ्गादुक्त्वा प्रकृतमनुबध्नाति–

भैरवाष्टकलोकेशान्सास्त्रान्संपरिकल्पयेत् ।।१७५।।

अथ

बाह्ये श्मशानविन्यासं प्रणवादिनमोन्तरम् ।
पूर्वादीशानपर्यन्तं कल्पयेत विधानत: ।।१७६।।
आमर्दकं च पूर्वं वै श्मशानाधिपतिं विभुम् ।
श्मशानै: सकबन्धैश्च सशूलोद्वन्ध[1] भीषणै: ।।१७७।।

ऐसा व्यक्ति अर्घ्य पात्र आदि तथा धूप दीप नैवेद्य का नित्य अर्पण करता रहे, उसके लिये इतना ही पर्याप्त है । इसे वित्त का शाठ्य नहीं माना जा सकता । उसे इस प्रकार नित्य पूजन से भी वही फल मिलता है । शास्त्र यहाँ तक आदेश देता है कि, वित्त के सर्वथा अभाव में पहले कहे गये घोंघे या सीपी के पात्र से अर्घ ही अर्पित करता रहे अथवा केवल मानस पूजा ही सम्पन्न करे । इसी से उसका कल्याण सम्भव है ॥१७४॥

प्रसङ्गवश धनाभाव में पूजा का क्या स्वरूप हो,इसकी चर्चा करने के उपरान्त भैरवाष्टक और लोकपालाष्टकों के विषय में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, इन्हें हमेशा अस्त्रयुक्त ही परिकल्पित किया जाना चाहिये । इसके साथ यह भी स्पष्ट कर रहे हैं कि, बाह्य में श्मशान का विनिवेश भी होना चाहिये । इसमें भी प्रणव का पूर्वोच्चार पुन: चतुर्थ्यन्त देवनाम और अन्त में नम: लगाकर मन्त्र बना लेना उचित है । उसी से न्यास करना चाहिये । इनको पूर्व से ईशान पर्यन्त प्रकल्पित करना चाहिये । विधि में साधारणतया कोई अन्तर नहीं आना चाहिये ॥१७५-१७६॥

श्मशान अधिपति विभु विमर्दक का विन्यास करना चाहिये । श्मशान में जल चुके और गले से शिर के अलग हुए धड़ वाले कबन्धों से युक्त हो । प्रज्वलित चिताओं की चटचटाती आग से श्मशान जगमगा रहा हो । वहाँ रात में शिवायें रोदन करती हों (भोजपुरी में सियारिनों का फेंकार पूर्ण रोदन करना या फेंकरना कहते हैं) इस तरह नितान्त भीषण वातावरण में श्मशान डरावना लग रहा हो ।

---

१. ख. पु. उद्वद्धेति पाठ: ।

चितिभिः प्रज्वलन्तीभिः शिवारावैः सुभीषणैः ।
अग्निकं दक्षिणे भागे कालाख्यं पश्चिमे तथा ।।१७८।।
एकपादं तथा आग्नेय्यां त्रिपुरान्तकम् ।
नैर्ऋत्यामग्निजिह्वं तु वायव्यां तु करालिनम् ।।१७९।।
ऐशान्यां भीमवक्त्रं तु श्मशानेशाः प्रकीर्तिताः ।

एते च श्रीकामरूपोज्जयिनीकाश्मीरकाञ्चीकरवीरदेवीकोट्टोड्डियानहिरण्यपुरवासिनः–इत्याम्नायादेतदाधारपीठादिपूजापि अर्थसिद्धैव। अत्र 'श्मशानैः सकबन्धैः' इत्यादि सर्वश्मशानसाधारणम् । इत्थंभूतलक्षणै श्चैतास्तृतीयाः ।।१७९।।

एतांश्च–

तर्पयेन्मत्स्यमांसाद्यैरासवैर्विविधैस्तथा ।।१८०।।
गन्धं पुष्पं तथा धूपं सर्वेषां तु प्रदापयेत् ।

श्मशान के दक्षिण भाग में अग्निक अर्थात् शिखिवाहन, काल को पश्चिम भाग में एकपाद को उत्तर में, त्रिपुरान्तक को अग्निकोण में, नैर्ऋत्य में अग्निजिह्व नामक भैरव को, वायव्य कोण में विकराल का विन्यास करना चाहिये, ईशान कोण में भीमवक्त्र नाम की भैरव मूर्ति का प्रकल्पन करने से पूर्णता का आवेश हो जाता है । ये सभी श्मशानेश भैरव आदि उक्त नामों से विभूषित हैं ।

ये सभी श्रीकामरूप, उज्जयिनी, काश्मीर, काञ्ची, करवीर, देवीकोट्ट, हिरण्यपुर के वासी श्मशानेश्वर भैरव माने जाते हैं । यह आम्नाय में परम्परा से मान्य तथ्य है । इसलिये इनके आधार-पीठ आदि की पूजा भी करनी चाहिये, यह बात अर्थतः अपने आप सिद्ध हो जाती है । यहाँ 'श्मशानैः सकबन्धैः' (श्लोक १७७) में बहुवचन का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि, सामान्यतया सभी श्मशानों में यह दृश्य उपलब्ध रहता है । व्याकरण के 'इत्थं भूत लक्षण' (पा.अ. २/३/२१) सिद्धान्त के अनुसार जटाओं से यह तापस लगता है । यहाँ जटाओं से यह ज्ञापित होता है कि, यह व्यक्ति तापस के लक्षणों से विशिष्ट है, तपस्वी है । इसलिये जटाशब्द का तृतीयान्त रूप ही लिया जाता है । अतः कबन्धों से ज्ञापित होने के कारण सकबन्धैः रूप प्रयुक्त है ।।१७७-१७९।।

इनका तर्पण मत्स्य, मांस आदि खाद्यों और आसवादि अनेकबिध पेयों से करना चाहिये । गन्ध, पुष्प और धूप आदि इनके लिये धूपायित करना चाहिये । इस प्रकार ये तृप्त और पुष्ट होते हैं । इस तथ्य से अवगत होना चाहिये कि, अन्तर्याग में श्मशान विन्यास प्रक्रिया को स्वीकार नहीं किया जाता । उस अवस्था में तादात्म्य के अमृत द्रव से आप्यायित शरीर का श्मशानिक अग्नि के चिन्तन से तप्त या शुष्क होना स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

श्मशानानि हृद्यागे नोक्तानि मा भूद्देहशोष–इति, एवमुग्रत्वादादौ मत्स्यादिभिस्तर्पणं तत: पूजा, एतानि यतिविषयाण्येव । अत्र च पक्षे लोकपालास्त्रावरणे पृथक्कार्ये, तथा च पञ्चावरणा पूजा भवति ॥१८०॥

अत्र च–

प्रणिपातं ततः कृत्वा जप्त्वा मन्त्रं सुभावितः ।।१८१।।
रेचकेन प्रयोगेन निवेद्य विधिपूर्वकम् ।
हुड्डुङ्कारनमस्कारान्कृत्वा चैव ततो व्रजेत् ।।१८२।।
अग्निकुण्डसमीपं तु अर्घहस्तः सुभावितः ।

बाह्य पूजा में इनको स्वभावत: स्वीकार किया जाता है । जीवन के इस एक सांहारिक सत्य की उपेक्षा कोई कर नहीं सकता । यह उग्र प्रक्रिया व्यक्ति को विवशता पूर्वक झेलनी पड़ती है । इससे बचने के लिये श्मशान के स्वामियों को तृप्त करना ही चाहिये । उनके खाने के लिये उचित मत्स्य और अन्य मांस आदि और पीने के लिये आसवादि का प्रबन्ध आवश्यक है । इसके बाद पूजा का विधान आता है । आचार्य क्षेमराज इसे यति विषयक मानते हैं । क्या यह प्रयोग कौलिक पंच मकारवादी साधुओं पर कटाक्ष तो नहीं है ।

यहाँ एक बात और भी विचारणीय है । भैरवास्त्र के साथ लोकपालास्त्र के पृथक् निर्देश के कारण आवरण पूजा में भी पार्थक्य अपेक्षित है । इस प्रकार यह पूजा पाँच आवरणों वाली मानी जाती है ॥१८०॥

इतनी प्रक्रिया पूरी करने के बाद इष्ट सद्भाव के भावित होकर प्रणिपात पूर्वक मन्त्र का जप करना चाहिये । यह मन्त्र जप मानस रूप से करना चाहिये । पूरे जप को रेचक प्रयोग से विधिपूर्वक निवेदित (भगवान् को अर्पित) करना चाहिये । यहाँ आचार्य ने सविधिक साधना की ओर संक्षेप में ही कुछ इंगित किया है ।

वस्तुत: सिद्ध साधक का सारा जप द्वादशान्त में होता है । एक तरह की यह श्वासजित् अवस्था ही होती है । ध्यान श्वास की ओर से पूरी तरह हट जाता है । केवल मानस जप में तद्भाव-भावित रहना साधक की सिद्धावस्था का द्योतक है । इस सारे जप को अब भगवान् को अर्पित करना है । इसी अर्पण की यह विधि है, जिसका संकेत यहाँ है ।

द्वादशान्त आरोह का शिखर है । शिखर से उतर कर चिति केन्द्र में व्याप्त शिव को उस जप को अर्पित करना है । इसलिये शिखर से चिति केन्द्र में आने की

मन्त्रमिति मूलमङ्गसहितम्, रेचकेन 'विधिपूर्वकम्' इति द्वादशान्तारोहत-द्विश्रान्तितदवरोहपूर्वं नासाग्रेण जप्तं मन्त्रं सपुष्पं 'भगवञ्जपं गृहाण' इति प्रयोगेणार्पयेत् । भक्तिवैवश्योन्मिषन्नादामर्शमयो ध्वनिर्मुखवाद्यापरपर्यायो हुड्डुङ्कारः ॥१८२॥

अवरोह की यात्रा भी आवश्यक है । द्वादशान्त से समना में आना, तनिक विश्रान्ति, पुनः अवरोह, फिर व्यापिनी में आना, तनिक विश्रान्ति, फिर शक्ति में अवरोह और विश्रान्ति,फिर नादान्त में उतरना और विश्रान्ति, फिर नाद में उतरना और विश्रान्ति, इसके बाद निरोधिका,अर्धचन्द्र, बिन्दु म उ अ होते हुये द्विदलपद्म आज्ञा में आना और विश्रान्ति । यहाँ से अवरोह का क्रम बदल जाता है । विशुद्ध चक्र से तालुरन्ध्र होते हुये उदान वायु के आश्रय से प्राण ऊपर आज्ञा में पहुँचा था ।

यहाँ आज्ञा से अवरोह क्रम में विशुद्ध में नहीं उतरना होता । वरन् प्राणपथ को नीचे आने से उदान ही रोकता है और श्वास में समाहित मंत्र जप के कोष को नासारन्ध्र की ओर मोड़ देता है । यही रेचक विधि है । नासिका से मध्य द्वादशान्त में जो नासिका के अग्रभाग से बारह अङ्गुल पर सभी प्राणियों के साथ रहता है, श्वास उसमें समा जाता है । इस मध्य द्वादशान्त धाम को चिति केन्द्र या अमा केन्द्र भी कहते हैं । श्वास के साथ जब जप वहाँ पहुँचता है, तो उसी समय साधक फूल के साथ भगवान् शिव को अर्पित करता है । वह कहता है 'भगवन् मया कृतं जपं गृहाण' और हाथ के फूल को जल के साथ भगवान् को अर्पित कर देता है ।

शिव भक्ति योग सम्पन्न साधक उस समय भक्ति के आवेश में रहता है । इसे आचार्य क्षेमराज भक्ति 'वैवश्य' कहते हैं । भक्ति की इस दशा में एक प्रकार के रस का उन्मेष होता है । उसे 'विमर्शनाद' कह सकते है । विमर्श भी एक प्रकार की स्फुरत्ता ही है । स्फुरत्ता शाश्वत आमर्शमयी होती है । इसे ही नादामर्शमयी ध्वनि कहते हैं । आवेश में जब यही ध्वनि मुख से बाहर निकलती है । इसी ध्वनि का पर्याय वाचक शब्द है–

'हुडुङ्कार' । यह शब्द प्रायः शिव भक्तों और साधकों के आवेशमय समर्पण के समय सुनने को मिलता रहता है । उसके साथ ही भक्त नमस्कार करता है अर्थात् सर्वात्मना समर्पित हो जाता है । यह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है । इससे साधक अग्निकार्य रूप बाह्य याग में अन्तर्यागीय अधिकार के साथ संलग्न होता है । इसीलिये अधिकार पूर्वक अर्घपात्र हाथ में लेकर अग्नि कुण्ड के समीप तद्भावभावित होकर पहुँचता है ॥१८१-१८२॥

कुण्डसंस्कारानाह–

कुण्डं तु लक्षणोपेतं प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।।१८३।।
कवचेनावगुण्ठ्यैतदस्त्रदर्भेण चोल्लिखेत् ।
उद्धृत्य प्रोक्षयेत्पश्चादस्त्रमन्त्रेण भामिनि ।।१८४।।
पूरणं तेन कर्तव्यं समीकरणमेव च ।
सेचनं कुट्टनं चैव लेपनं तेन कारयेत् ।।१८५।।
प्रोक्षणं शोषणं चैव तथास्त्रेणैव कारयेत् ।

'लक्षणोपेतं' प्रतिष्ठाशास्त्रादिनिरूपितमानस्वरूपम् । परदृगवलोकनानन्तरं प्रोक्षणं शुद्ध्यर्थमवगुण्ठनं रक्षार्थम्–इति सर्वत्रानुमन्तव्यम्, प्रोक्षणविशेषात्संताडनं तेनैव संगृहीतम् । एते च प्रोक्षणादय: शोषणान्तास्त्रयोदश कुण्डनिष्पत्त्यवसरे वा तत्र क्रियाशक्त्यात्मरपरमेश्वररूपसम्पत्तये भावनया कर्तव्या: । 'उल्लिखेत्' खनेत् । 'उद्धरणम्' अशुद्धमृदपासनं 'सम्मार्जनं' रजोनिवारणम् ॥१८५॥

यहाँ से कुण्ड संस्कार की चर्चा कर रहे हैं–

कुण्ड सभी लक्षणों से समन्वित होना चाहिये । इसे पहले तैयार कर लिया जाता है । साधक या याजक जब कुण्ड के समीप पहुँचता है, तो सर्वप्रथम वह उसे अस्त्र जल से प्रोक्षित करता है । फिर कवच से उसको अवगुण्ठित करना चाहिये । पुन: अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षित दर्भ अर्थात् कुशों से उसमें उल्लेख किया जाना चाहिये ।

कुण्ड याग की आधा प्रक्रिया का प्रतीक माना जाता है । याग के विधान का एक शास्त्र ही अलग होता है । उसे प्रतिष्ठा शास्त्र कहते हैं । उसमें कुछ ऐसे मानक निर्धारित होते हैं, जिनके अनुसार कुण्ड का निर्माण होता है । ऐसे निर्मित कुण्ड ही सभी लक्षणों से संयुक्त माने जाते हैं । ऐसे बने बनाये कुण्डों पर जब बाहरी लोगों की आँखें पड़ती हैं, तो दृष्टि दोष से दूषित हो जाते हैं । उन्हीं दोषों को दूर करने के लिये कुण्डों का या अन्य द्रव्यों का भी प्रोक्षण आवश्यक होता है ।

इसी तरह अवगुण्ठन भी द्रव्यों की रक्षा के लिये किया जाता है । प्रोक्षण विशेष प्रक्रिया में संताडन भी आता है । इस तरह १.प्रोक्षण, २. कवचन, ३.अवगुण्ठन, ४. संताडन, ५.उल्लेखन, ६.उद्धरण,७.संमार्जन, ८.पूरण, ९.समीकरण, १०.सेचन, ११.कुट्टन, १२.लेपन और १३.शोषण ये तेरह कुण्ड के संस्कार यद्यपि कुण्ड के तैयार होते समय ही कर दिये जाते हैं फिर भी याग प्रक्रिया सम्पन्न करने के पहले भावना से भी इन सबको एक बार क्रम से कर लेना चाहिये । इन तेरह संस्कारों के नाम अन्वर्थवाची हैं । विशेष रूप से उल्लेखन का अर्थ भूमि का खनन ही मानना चाहिये । इसी तरह उद्धरण का अर्थ अशुद्ध मिट्टी को निकालकर होता है । संमार्जन कुण्ड को साफ कर धूल धूसरित होने से बचाना होता है ॥१८३-१८५॥

अनन्तरं–

पूजनं गन्धपुष्पाद्यैः असिना चाभिमन्त्रणम् ।।१८६।।

'ओं क्रियाशक्त्यात्मने कुण्डाय नमः' इति प्रयोगेण ।

अथात्र वागीश्वर्यवतारयोग्यतां कर्तुमस्त्रेणाभिमन्त्रणवज्रीकरणगृहीकरणानि वक्तुमाह–

वज्रीकरणमस्त्रेण रेखाः पूर्वापरास्त्रयः ।

तदेव व्याचष्टे–

याम्यसौम्यमुखी चैका वज्रमेतत्प्रकीर्तितम् ।।१८७।।

[1]त्रय इति लिङ्गव्यत्ययात्, उल्लेखनव्यापारेणैतत्कार्यम् । यद्वा, पूर्वापरायत-दर्भत्रयमध्ये दक्षिणोत्तरायतं दर्भकाण्डमेकं [2]क्षिप्त्वा वज्रसंस्थानेन कुण्डस्य दार्ढ्यं जनयेत् ॥१८७॥

इसके बाद गन्ध और पुष्प आदि से पूजन करना चाहिये । पूजन कुण्ड का ही होता है । कुण्ड क्रिया शक्ति का प्रतीक होता है । इसके पूजन में इसको व्यक्त करने वाले मन्त्र का प्रयोग इस प्रकार करते हैं –

'ओं क्रियाशक्त्यात्मने कुण्डाय नमः'

इसी मन्त्र से पूजन द्रव्य आदि अर्पित करना शास्त्र सम्मत है ।

इस प्रक्रिया में वागीशी शक्ति का अवतरण किया जाता है । उस महती शक्ति के अवतरण की योग्यता से समन्वित स्थान का चयन करना चाहिये । यह स्थान कुण्ड ही होता है । तेरह संस्कारों के बाद अस्त्रमन्त्र से उसका अभिमन्त्रण कर उसका कुशा से ही वज्रीकरण होना चाहिये । वज्रीकरण के बाद गृहीकरण की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये ।

वज्रीकरण क्या है ? इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं –

कुण्ड में पूरब और पच्छिम दिशा वाली तीन रेखायें खींचनी चाहिये । उन तीनों के ऊपर एक रेखा दक्षिण से उत्तर की ओर खींचनी चाहिये । यह कार्य कुण्ड निर्माण के समय ही करना उचित है । यहाँ पूजन में दर्भ रखकर इन रेखाओं का निर्माण ही वज्र बन जाता है ।

इस तरह तीन रेखाओं के स्थान पूरब, पच्छिम वाले तीन दर्भ पुनः उनके ऊपर दक्षिण से उत्तर मुख वाला एक दर्भ देने से वज्र बन जाता है । इस प्रकार के वज्र संस्थान से कुण्ड की दृढ़ता वागाशी की अवतारणा के योग्य हो जाती है । यह आवश्यक होता है ॥१८६-१८७॥

---

१. ख. पु. तिस्र इति वक्तव्ये त्रय इति पाठः ।

२. क. ख. पु. दण्डकाण्डमेकं गृहीत्वेति पाठः ।

किञ्च,

असिनैवाग्निकुण्डं तद्दर्भैः पूर्वाग्रसंस्तरैः ।
सबाह्याभ्यन्तरं छाद्यं गृहहेत्वर्थमीश्वरि ।।१८८।।

निर्विघ्नं गृहं सम्पादयितुम् ॥१८८॥

अथ वागीश्या [१]महत्तरकस्यासनं निरूपयति–

कुण्डस्य दक्षिणे भागे शुष्कगोमयमासनम् ।
दर्भेण विष्टरं पुष्पं प्रणवेन प्रकल्पयेत् ।।१८९।।

कुण्डान्तर्दक्षिणे गोमयासनोपरि दार्भं विष्टरं तदुपरि पुष्पं 'ओं ब्रह्मासनाय नमः' इति दद्यात् ॥१८९॥

एतदुपरि महत्तरमाह–

स्वनामपदसंयुक्तं स्वध्यानेन नमोऽन्तगम् ।
आमन्त्रणपदेनैव ब्रह्माणं स्थाप्य पूजयेत् ।।१९०।।

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, सर्वेश्वरि देवि ! कुण्ड एक प्रकार का अग्निदेव का घर ही कहा जाता है । और किसी का घर चाहे जैसा बनाया जा सकता है किन्तु अग्निदेव का घर कुशों से ही बनता है । इसी लिये कुण्ड के बाहर और भीतर कुण्ड के चारों ओर पूर्वाग्र संस्तार प्रसार की दृष्टि से कुशों से छादित कर देना चाहिये ॥१८८॥

वागीशी का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अतः इतनी महत्त्वपूर्ण देवी के महत्तरक (स्वामी) के लिये कुण्ड के दक्षिण भाग में पहले सूखे गोमय का आसन लगाना चाहिये । उसके ऊपर पूर्वाग्र संस्तर अस्त्राभिमन्त्रित दर्भ रखना चाहिये । उस पर प्रतिष्ठित करने के लिये पुष्प रखे । इस आसन को प्रणव मन्त्र से वागीशी के स्वामी ब्रह्मा के लिये 'ओं ब्रह्मासनाय नमः' मन्त्र से अर्पित करना चाहिये ॥१८९॥

इसी आसन पर ब्रह्मा विराजमान होते हैं । ब्रह्मा वागीशी के महत्तर माने जाते हैं । महत्तर शब्द पति या स्वामी के लिये प्रयुक्त होता है । अतः ब्रह्मा के स्वनाम और उनके पद के साथ नमः लगे मन्त्र से आमन्त्रण पूर्वक ध्यान कर प्रतिष्ठित करना चाहिये । इसके बाद पूजा करनी चाहिये । ऊहका मन्त्र इस प्रकार बनाना चाहिये–

''ओं वागीश्या महत्तराय ब्रह्मणे नमः ब्रह्माणमावाहयामि
स्थापयामि पूजयामि च ओं ब्रह्मणे नमः ।''

इस मन्त्र से उनकी प्रतिष्ठिाकर पूजा करनी चाहिये । पूजा में सुन्दर फूलों, मालाओं, धूप और गन्ध, दीप, नैवेद्य आदि का यथाक्रम प्रयोग करना चाहिये । अन्त में प्रणाम करना चाहिये ॥१९०॥

---

१. महत्तरः स्वामी तस्यासनमिति ।

पुष्पादिभिः सुधूपाद्यैर्ध्रुवेण तु यथाक्रमम् ।

अत्र च 'ओं ब्रह्मन्संनिहितो भव नमस्ते' इति प्रयोगः ॥१९०॥

अत्र गृहमध्यलाभार्थमाह–

चतुष्पथं कुण्डमध्ये दर्भाभ्यां प्रणवेन तु ॥१९१॥
पूर्वसौम्याग्रभागाभ्यां विष्टरं तस्य चोपरि ।
पुष्पं तस्योपरिष्टात्तु हृदयेनैव पूजयेत् ॥१९२॥
वागीशीं च समाहूय प्रणवादिनमोऽन्तगाम् ।

'हृदयेन' नैष्कलेन वागीशस्येयं 'वागीशी' पराशक्तिः । आह्वानामन्त्रण-विभक्त्या पश्चात् 'नमस्ते' इति सर्वत्र प्रयोगः ॥१९२॥

अस्या ध्यानपूर्वां पूजामाह–

नीलोत्पलदलश्यामामृतुमच्चारुलोचनाम् ॥१९३॥

घर बना । ब्रह्मा वहाँ प्रतिष्ठित हो गये । घर के आगे चतुष्पथ भी आवश्यक होता है । चौराहा हो सड़क हो, और पार्क हो तो घर की शोभा बढ़ जाती है । कुण्ड के भीतर ब्रह्मा के आसन के उत्तर अर्थात् मध्य में ही एक पूर्ण अग्र भाग वाला उसके ऊपर उत्तर अग्र भाग वाला कुश रख दे । यही चतुष्पथ का प्रतीक है । इस चतुष्पथ के ऊपर पुनः कुशों का विष्टर रखे । यह क्रिया प्रणवोच्चार पूर्वक करनी चाहिये । उसके ऊपर पुष्प रखकर 'हृदय' अर्थात् निष्कल भैरव मन्त्र से उसकी पूजा करनी चाहिये । उसी पुष्प पर वागीशी का आवाहन, स्थापन और प्रणवमन्त्र से पूजन होना चाहिये । ऊह मन्त्र इस प्रकार बनाना चाहिये –

"ओं वागीश्यै नमः आवाहयामि पूजयामि च मातः संन्निहिता भव ! तुभ्यं नमः ।" इस तरह वागीशी और वागीश की पूजा कुण्ड के मध्य में ही सामान्य रूप से होती है ॥१९१-१९२॥

विशेषतः ध्यान पूर्वक पूजा के सम्बन्ध में आगे और भी प्रक्रिया को विस्तार दे रहे हैं । देवी का ध्यान इस प्रकार करना चाहिये –

वह देवी नील उत्पल (कमल) के सुकुमार पत्रों में जैसी श्यामता होती है, उसी के समान श्याम आकर्षक आभा वाली है । कितना आकर्षक होता है, वह नील उत्पल ? उसी तरह के स्वाभाविक सौन्दर्य भरे आकर्षण से वह सम्पन्न है । दिव्यतादि दैवी गुणों से समन्वित होने के कारण यह देवी कहलाती है । उसकी द्युति से यह विश्व भी विद्योतित है ।

सर्वलक्षणसम्पूर्णां सर्वावयवभूषिताम् ।
ध्यात्वा चैवंविधां देवीं स्थापयेत्कुण्डमध्यतः ।।१९४।।
ऋतुकाल इवोत्तानां शिरसैशानसंस्थिताम् ।
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्भवमन्त्रमनुस्मरन् ।।१९५।।

किञ्च,

ततो मुद्रां दर्शयेत संनिधानाय मन्त्रवित् ।

'देवीं' द्योतमानां वाक्शक्तिं 'कुण्डस्य' क्रियाशक्त्यात्मनो मध्ये 'स्थापयेत्' अवस्थितिं बन्धयेत् । 'उत्तानाम्' ऊर्ध्वधाम्नि प्रसरात्मकतननरूपाम्, अत एव चारु 'लोचनं' प्रकाशो यस्याः । नीलोत्पलश्यामलत्वं तु मायीरूपापेक्षमस्याः । 'ऋतुकालः' शुद्धविद्यात्मवह्न्यादिजननौन्मुख्यं 'शिरसा' परारूपेण 'ऐशाने' स्वातन्त्र्य-भट्टारके 'संस्थितां' नित्यसंबद्धामीशानदिशि निष्ठशिरसं च । किं कुर्वन् भवति तेन तेन सकलब्रह्मभङ्ग्यादिरूपेण 'भवो' निष्कलभट्टारकस्तस्य 'मन्त्रमनुस्मरन्' तत्सत्तासमाविष्टः ॥१९५॥

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, कुण्ड क्रिया शक्ति की प्रतीक होती है । क्रिया शक्ति के मूल में ब्रह्मा और वाक् शक्ति का अधिष्ठान विचारणीय है । ऐसी वाक् शक्ति के आन्तर सौन्दर्य से भावित भक्त साधक मातृत्व भरे उस वत्सल आकर्षण से अभिभूत है । उसकी आँखों की अनिर्वचनीय आभा में सारी ऋतुओं का उल्लास भी अनुभूत हो रहा है ।

समग्र सुन्दर लक्षणों की विलक्षणता वहाँ शश्वत् परिलक्षित हो रही है । सर्वाङ्ग सौन्दर्य से वह विभूषित है । ऐसी महिमामयी मातृशक्ति की प्रतिष्ठा इसी संध्यान के साथ कुण्ड मध्य में करनी चाहिये । ध्यान की दिव्यता से दिव्य साधक अभी तृप्त नहीं हुआ है । वह देख रहा है–माँ उसी प्रकार के उल्लास से उल्लसित हैं, जैसी शुद्धविद्या के बोध प्रकाश का प्रसार साधना में प्रसरित अनुभूत होता है । इससे भी ऊपर समना उन्मना की शीर्ष भूमि पर पराशक्ति ईशान रूप स्वातन्त्र्य भट्टारक के उत्सङ्ग में प्रतिष्ठित होती हुई अनुभूत होती है । ऐसी दिव्य ईशानशीर्षण्या आराध्या की पूजा गन्ध और पुष्प आदि से विधि पूर्वक करनी चाहिये । पूजा मन्त्र के सम्बन्ध में भगवान् भव के मन्त्र की चर्चा यहाँ की गयी है । भव निष्कल भट्टारक की ही एक मात्र संज्ञा है । उसी निष्कल भट्टारक मन्त्र से उभय की पूजा तद्गत भाव से की जानी चाहिये ॥१९३-१९५॥

'मुद्रां' योन्याख्याम् ।

ततोऽग्निपात्रमादाय शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत् ।।१९६।।

कवचेनावगुण्ठ्यापि प्रणवेनैव पूजयेत् ।

अरण्यादिसमुद्भूतं लोकाग्न्यन्तं विधानतः ।।१९७।।

अग्निमित्युत्तरस्थं काकाक्षिवदिहापि सम्बन्ध्यम् ।।१९७।।

अथ–

अग्निं तु शुक्रवद्ध्यात्वा चैतन्यं प्रणवेन तु ।

कल्पयेदस्येति शेषः । नासापथेनाग्निं प्रवेश्य स्वचैतन्यैकीकारं नीत्वा रेचयेदिति गुरवः ।

ततोऽपि–

षडङ्गेनैव सम्पूज्य अमृतत्वं ध्रुवेण तु ।।१९८।।

'ध्रुवेण' इति परचैतन्यमन्त्रेण श्रीनिष्कलेन षडङ्गेनैव परामृतापादनरूपं पूजनमस्य कुर्यादित्यर्थः ।।१९८।।

इसके बाद मुद्रा का प्रदर्शन भी करना आवश्यक माना जाता है । सर्वप्रथम संनिधान के लिये संनिधापनी और योनि मुद्रा का प्रदर्शन आवश्यक माना जाता है । इसके बाद अग्नि कार्य का प्रारम्भ होता है । अग्नि मँगाकर शिवाम्बु से अस्त्र मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित सुरा से उसे प्रोक्षित करना चाहिये ।।१९६।।

अग्नि भरसक अरणि मन्थन से समुद्भूत होना चाहिये अथवा अग्निहोत्री से गृहीत होनी चाहिये । कवच से उसका अवगुण्ठन कर प्रणव मन्त्र से अग्नि का पूजन करना शास्त्र सम्मत है । काकाक्षि न्याय से शिवाम्भ से पूजन में अग्नि का अध्याहार ध्यातव्य है ।।१९७।।

अग्नि तैजस पदार्थ है । यह शिव शुक्र रूप में भी प्रख्यात है । अग्नि प्रमाता भी माना जाता है । प्रमाता अग्नि के साथ चैतन्य का अविनाभाव संबन्ध है । अग्नि के प्रकरण में सावधान आचार्य और साधक को इस प्रकार के शैव परामर्श के साथ इसे क्रिया रूप भी दिया जाना चाहिये । यह गुरु परम्परा है । नासापथ से अग्नि का प्रवेश कर ऊर्ध्व द्वादशान्त तक ले जाकर चैतन्य के एकीकार में समाहित हो जाना और रेचन से स्वात्मस्थ होने की क्रिया यहाँ की जानी चाहिये ।

अग्नि स्थापन के सन्दर्भ को इस चेतनात्मक तादात्म्य भाव और उसके अनुसन्धान से वहाँ का वातावरण अत्यन्त दिव्य बन जाता है । साधना की धन्यता ध्रुव मन्त्र की मनोज्ञता से खिल उठती है । ध्रुव मन्त्र परचैतन्य महामन्त्र निष्कल भट्टारक का ही मन्त्र है । इसी मन्त्र से षडङ्ग पूजन होना चाहिये । इससे परामृतत्व का आपादन हो जाता है । पूजन का यह रहस्यात्मक पक्ष है ।।१९८।।

अथ–

आत्मानं भैरवं ध्यात्वा अग्निं ध्यात्वा तु बीजवत् ।
ध्रुवेण कुण्डबाह्ये तु त्रिधा भ्राम्यावतारयेत् ।।१९९।।
योनौ तु बीजवत्क्षिप्त्वा भैरवेण शिवाम्भसा ।
अस्त्रमुच्चार्य सम्प्रोक्ष्य योनिं प्रच्छादयेद्बुधः ।।२००।।
दर्भेण ध्रुवमन्त्रेण

'त्रिधाभ्राम्य' इति योन्याकारसम्पुटगृहीतं पात्रं सव्यापसव्यक्रमेण त्रिधा योनिक्षोभार्थमाभ्राम्य 'अवतारयेत्' योनिं प्रापयेत् । 'भैरवेण' तु श्रीनिष्कलेन । 'ध्रुवमन्त्रेण' इति प्रणवेन तदुच्चमेखलासंस्थैः प्रागग्रैरुदगग्रैर्हुतभुग्वेश्मनो दर्भैरक्ष-वाटं प्रकल्पयेत् । श्रीमन्त्रराजे[१] 'इत्थमूर्ध्वमुखैः' इति चोपकल्पितमुपेक्ष्यम् । 'बुधः' शिवसमावेशैकशाली । आत्मनो हेतुकर्तृत्यं शिवस्य तु मुख्यकर्तृत्वम्– इत्यादिव्याख्यानमसत्,शिवीभूतस्यैव शिवयोगेऽधिकृतत्वात् कैवात्र पशुभावशङ्का पशुत्वे वा कथं मोचकता,

---

इस अवसर पर आचार्य और याजक दोनों अपने को भैरव रूप से ही भावित करें । इस तरह अग्नि भैरव बीज बन जाता है । उसी परचैतन्यात्मक निष्कल मन्त्र से कुण्ड के बाहर तीन बार उस बीजरूप अग्नि का भ्रामण होना चाहिये । चर्या क्रम में भी बीज के अवतारण के समय यही भाव रहना चाहिये ।

वास्तव में जिस पात्र में अग्नि रखा हुआ है, वह भी योनि के आकार का सम्पुटित पात्र होता है । उसको सव्य और अपसव्य क्रम से तीन बार बाहर भ्रामण एक प्रकार से योनि को क्षुब्ध करने के समान है । क्षुब्ध योनि में ही बीजारोपण स्वाभाविक है । इस तरह अग्नि यज्ञ कुण्ड रूप योनि मे स्थापित कर दिया जाता है ॥१९९॥

यह महत्त्वपूर्ण याज्ञिक रहस्य प्रक्रिया है । योनि में बीज की तरह कुण्ड में स्थापित कर शिवाम्भस् से अस्त्र मन्त्र द्वारा जो अभिमन्त्रित है, उससे प्रोक्षित करना चाहिये । श्लोक में प्रयुक्त भैरव शब्द निष्कल नाथ अर्थ में ही लेना चाहिये । इसी तरह ध्रुवमन्त्र प्रणव को मानकर प्रणव पूर्वक मन्त्रोच्चार करना चाहिये । योनि का दर्भों से प्रच्छादन मेखला में अवस्थित दर्भों से ही करना चाहिये । बुध विशेषण भी शिवबोध समावेश सिद्ध याजक के लिये ही प्रयुक्त है । यहाँ आचार्य क्षेमराज किसी व्याख्याकार द्वारा इस श्लोक के अर्थ का खण्डन कर रहे हैं । इससे यह अनुमित होता है कि,

---

१. ख. पु. तन्त्रराज इति पाठः ।

'मन्त्राः करणभूतास्तु पशुकार्यस्य साधने ।
आचार्यः करणं प्रोक्तः शिवरूपो[1]यतः स्मृतः ।।' (स्व. ३/१६०)

इत्यादिना च वक्ष्यमाणेन का संगतिरित्यास्तामेतत् । अयं त्वत्र रहस्यार्थोऽद्याप्यनुन्मुद्रितोऽस्मद्गुरुवक्त्रपारम्पर्यायातः प्रकाश्यते ।

'परावाङ्माहेशी जगदजनयत्स्वाप्रथनतो
विशुद्धान्तर्धामा विकृतिकलनाग्रस्तविभवम् ।
श्रितज्येष्ठस्फारात्ततनितनुरेषा तदुचितं
शिशुं दृष्ट्या[2] रौद्र्या प्रथयति शिवाभेदसरसम् ।।'

स्वच्छन्द तन्त्र के क्षेमराज के अतिरिक्त किसी व्याख्याकार ने जो टीका लिखी थी, वह आज उपलब्ध नहीं है ।

प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि, जब भगवान् श्लोक १९९ के अनुसार यह आदेश देते हैं कि, आत्म को भैरव रूप में ही ध्यान करना चाहिये । इस तरह याजक जो कुछ करेगा, उसके कर्त्तृत्व को भैरवकर्त्तृत्व माना जाय या नहीं ? पहला व्याख्याकार अपने में हेतु कर्त्तृत्व और भैरव में मुख्य कर्त्तृत्व मानता है । आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि,

'शिवोभूत्वा शिवं यजेत्' नियम के अनुसार यहाँ आत्मकर्त्तृत्व का प्रश्न ही नहीं उठता । हेतु कर्त्तृत्व में पशु भाव का अध्याहार हो जाता है और उक्त नियम का विरोध भी उपस्थित होता है । अतः पूर्व व्याख्याकार की व्याख्या स्वीकार नहीं होनी चाहिये ।

यहाँ मान्यता और परम्परा का ध्यान रखना भी आवश्यक है । स्वच्छन्द शास्त्र (३/१६०) ही कहता है कि, 'मन्त्र पशु कार्यों को सिद्ध करने में करण का काम करते है । आचार्य भी करण माने जाते हैं । आचार्य स्वयं शिवरूप होते हैं । अतः वस्तुतः करण वहीं हैं । इस श्लोक द्वारा पशुभाव के साधन में मन्त्र करण बनते हैं । अतः पशुभाव की सोच यहाँ स्तरीय नहीं है ।

आचार्य क्षेमराज अपने गुरुदेव द्वारा परम्परा से प्राप्त और उनके समय तक अप्रकाशित रहस्य का यहाँ उद्घाटन कर रहे हैं–

"परावाक् माहेश्वरी शक्ति है । जब तक परावाक् के स्वात्म का परप्रथन रहता है, वह स्व स्वरूप में अवस्थित रहती है । उसके अप्रथन क्षण में ही जगत् का जन्म हो जाता है । इस अप्रथन कालिक प्रजनन में भी कर्त्तृत्व उसी का माना जाता है ।

---

१. क. ख. पु. रूपे व्यवस्थित इति पाठः ।
२. ख. पु. स्पृष्ट्वेति पाठः ।

अतः पूर्णाहन्तामृतरससमास्वादसुहितः
शिवावेशाद्वाचं शिवरसपरौन्मुख्यसुभगाम् ।
स्ववीर्येणाक्रम्य प्रवरगुरुरग्न्यादि निखिलं
शिवैकात्मस्वात्मद्युतिमयमयं संजनयति ।।' इति ॥२००॥

किञ्च,

अक्षवाटं ततो न्यसेत् ।
अस्त्रेणैव चतुर्दिक्षु दर्भैरेव प्रकल्पयेत् ।। २०१।।

देव्या गुप्त्यर्थमक्षवाटं जवनिकास्थानीयं रक्षार्थमूर्ध्वमुखैर्दर्भैर्न्यसेत् ॥२०१॥

आन्तर विशुद्धि का धाम होते हुए भी इसका सारा विभव विकृति की कलना से ग्रस्त है। यह इसका साकार रूप उसी के तनन से तनु बन गया है। यह ज्येष्ठा शक्ति का ही स्फार है। यह उचित ही है कि, वह अणु रूप पुद्गल जीव को रौद्री दृष्टि से देखते हुए भी शिवाभेदसामरस्य का ही प्रथन करती है।''

"इस तरह पूर्णाहन्ता की परानुभूति में भरा अमृत द्रवरूप रस के समास्वाद में शाश्वत संलग्न सौहित्य सिद्धसाधक शैव समावेश में ही समाविष्ट रहता है। वह शैवमहाभाव के चिद्रस की चैतन्यमयी पराचेतना के औन्मुख्य से सुभग परैश्वर्यमयी परावाक् को स्वात्म शैव समावेश साधना से आक्रान्त कर लेता है। उस अवस्था में वह शिवैकात्म्यमयी स्वात्मद्युति से विद्योतित हो जाता है।उसके लिये परमेष्ठि, परम और प्रवर दीक्षा गुरु, अग्नि, प्रमाता आदि और इस निखिलात्म को वह स्वात्म द्युति से द्युतिमन्त कर देता है। उस समय उसमें शिव ही सर्वात्मना प्रतिष्ठित और उसी में वह स्वयम् उल्लसित हो जाता है।''

इन श्लोकों द्वारा आचार्य क्षेमराज ने शैवसाधना के रहस्यात्मक पक्ष को उजागर कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि, शिव कर्तृत्व ही सर्वतोभावेन सबके द्वारा स्वीकार्य होना चाहिये ॥२००॥

अक्षवाट जवनिका की तरह गोपनीयता का एक हेतु माना जाता है। वात्सल्यमयी वाग्देवी की रहस्यात्मकता की रक्षा हमारी सांस्कृतिक निष्ठा और मर्यादा का आधार है। यहाँ ऊपर मुख वाले दर्भों से अक्षवाट की रचना और न्यास आवश्यक यज्ञाङ्ग की तरह करणीय है। चारों ओर अस्त्र मन्त्रों से प्रोक्षित कर दर्भ प्रयोग करना चाहिये ॥२०१॥

अथान्तर्वत्न्या देव्याः

सप्तवारास्त्रमन्त्रेण दर्भेणैव तु कङ्कणम् ।
दक्षहस्ते तु बध्नीयादस्त्रमन्त्रमनुसरन् ।।२०२।।
रक्षार्थमग्निगर्भस्य

'ओं कङ्कणं बध्नामि नमः' इत्यूहमन्त्रोऽत्र । एवं सर्वत्र कर्मौचित्येनोह–मन्त्राः कर्तव्याः । दक्षहस्ते पुंगर्भार्थं कङ्कणबन्धः ॥२०२॥

एवं प्रोक्षणावगुण्ठनोल्लेखनोद्धरणप्रोक्षणादिशोषणान्तैस्त्रयोदशभिः संस्कारैः कुण्डं संस्कृत्यं सम्पूज्य, अस्त्राभिमन्त्रणवज्रीकरणकुण्डाच्छादनात्मसंस्कारत्रयं गृहहेत्वर्थं कृत्वा, ब्रह्मण आसनावाहनपूजनानि विधाय, गृहमध्यलाभाय चतुष्पथं कृत्वा वागीश्यावाहनासनपूजनशुक्रध्यानचैतन्यापादन-(अमृती) करणविशेषध्यान-त्रिराभ्रमणयोनिप्रक्षेपान् नव संस्कारान् प्रकल्प्य, पुनर्वागीश्याः प्रोक्षणयोनिप्रच्छा-दनाक्षवाटकल्पकङ्कणबन्धांश्चतुःसंस्कारान्विधाय, अग्नेर्दीक्षादिकर्मसम्पत्तिसमर्थं मान्त्रं देहं सम्पादयितुं वक्त्राङ्गक्रमाद् ग्रर्भाधानादिसंस्कारानाह–

मानव साधक कितना भी साधना के उच्चस्तर पहुँचता है, उसकी पशुता उसका साथ नहीं छोड़ती । वह सभी कामों में चर्या की बात सोचने के लिये लाचार है । इसलिये यहाँ से पटल के अन्त तक अपनी सांस्कारिक सक्रियता का और सामाजिक कार्य कलाप का यज्ञ के साथ ही प्रकल्पन किया गया है । अन्तर्याग की दृष्टि से यह अकार्य है पर बाह्य याग में व्यवहरणीय है ।

मानवी जब गर्भ धारण करती है, तो उस गर्भ के पुरुषत्व के लिये गर्भिणी के दाहिने हाथ में कङ्कण बाँधने की प्रथा का पालन किया जाता है । बहिर्याग का आचार्य यह कल्पना करता है कि, वाग्देवी अन्तर्वत्नी हो गयी हैं । इसके लिये वह आचार्य सात बार अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कर कुश का कङ्कण बाँधता है । वह दाहिने हाथ में ही बाँधता है । बाँधते समय अस्त्र मन्त्र का अनुस्मरण भी करता रहता है । यह प्रक्रिया अग्निकार्य की रक्षा के लिये ही अपनायी जाती है ॥२०२॥

कङ्कण बन्धन का मन्त्र 'ओं कङ्कणं बध्नामि नमः' माना जाता है । इसे आचार्य क्षेमराज भी ऊह मन्त्र ही कहते है । यह निर्धारित मन्त्र नहीं है । अस्त्र मन्त्र है । मूल श्लोकों में मन्त्र के स्वरूप कथन न होने के कारण सर्वत्र कार्य के औचित्य को ध्यान में रखकर ऊह मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये । नमः के साथ चतुर्थ्यन्त शब्द प्रयुक्त होता है । अतः ओं कङ्कणं बध्नामि वाग्देव्यै नमः' यह मन्त्र होना चाहिये ॥२०२॥

गर्भाधानमतो भवेत् ।
अपरास्य त्रिराहुत्या पूजनं हृदयेन तु ।।२०३।।
हृदा त्रिराहुतिं दत्त्वा गर्भाधानं कृतं भवेत् ।

प्रणवपूर्वं पश्चिमवक्त्रबीजं लकारमुच्चार्य 'गर्भाधानं करोमि स्वाहा' इति त्रि: कृत्वा 'हृदयेन' नैष्कलेन 'गर्भाधानं संपद्यतां स्वाहा' इति त्रिर्जुहुयात् । एवमुत्तरत्रानुसन्धेयम् । अत्र 'पूजनं हृदयेन तु' इति मध्यग्रन्थ: पूर्वं योज्य:; तेनादावङ्गमन्त्रेण 'अग्निगर्भाय नम:' इत्यर्चनं ततो वक्त्रमन्त्रेणाहुतित्रयं ततस्तेनैवाङ्गमन्त्रेणाहुतित्रयम्, उत्तरत्र ईदृश एव क्रमस्य भावात् ।।२०३।।

इस तरह प्रोक्षण, अवगुण्ठन,उल्लेखन, उद्धरण, पूरण समीकरणादि शोषणान्त तेरह संस्कारों से कुण्ड का सर्वप्रथम संस्कार किया गया । पुन: पूजा की गयी । पुन: अस्त्र से अभिमन्त्रण पूर्वक वज्रीकरण और उसके आच्छादन और आत्म संस्कार से यह संस्कार पूरा किया गया । ब्रह्मा का आसन, आवाहन, स्थापन और पूजन हुआ । गृहमध्य में चतुष्पथ बना कर वागीशी रूप वाग्देवी आवाहन, आसन, पूजन, शुक्रध्यान, चैतन्य का आपादन अमृतीकरण, विशेष ध्यान, अग्नि को तीन बार भ्रमण और योनि प्रक्षेप रूप नौ संस्कार पूरे किये गये ।

इसके बाद वाग्देवी का प्रोक्षण, योनि प्रच्छादन, अक्षवाट प्रकल्पन, अन्तर्वत्नी ध्यान और कङ्कण बन्धन रूप संस्कार सम्पन्न किये गये । इसके बाद अब अग्नि की दीक्षा आदि कर्मसम्पत्ति में समर्थ मान्त्र देह का सम्पादन करने के लिये वक्त्राङ्गक्रम से गर्भाधान आदि संस्कारों का वर्णन करने जा रहे हैं । वही कह रहे हैं –

इसके बाद गर्भाधान संस्कार सम्पन्न होता है । गर्भाधान संस्कार के लिये पहले प्रणव का उच्चारण कर पश्चिम वक्त्र का बीज 'ल'कार का उच्चारण करे । उसके बाद गर्भाधान संस्कार सम्पन्न कर रहा हूँ– यह कहे । पूरा वाक्य बनेगा 'ओं लं गर्भाधानं करोमि स्वाहा' । यह अपर आस्य अर्थात् पश्चिम वक्त्र बीज के द्वारा पूरा किया जाता है । इसमें तीन आहुतियों का अर्पण किया जाता है । हृदय मन्त्र पूजन करना चाहिये । हृदय निष्कल मन्त्र को ही कहते हैं । 'ओं गर्भाधानं सम्पद्यतां स्वाहा' इसी मन्त्र से गर्भाधान सम्पन्न कराना चाहिये । इसी मन्त्र से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ।

इसके क्रम के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमराज एक निर्देश कर रहे हैं । उनके अनुसार हृदय मन्त्र से पूजन की बात बीच श्लोक में कही गयी है किन्तु इसे पहले सम्पन्न करना चाहिये । पुन: अग्निमन्त्र से अग्निगर्भाय नम: से पूजन और वक्त्रमन्त्र से ही तीनों आहुतियाँ भी देनी चाहिये । यही क्रम आगे भी अपनाया गया है ।।२०३।।

पुंसवनमाह–

हृदा वै जलबिन्दुं तु दर्भाग्रेणात्र पातयेत् ।।२०४।।
गन्धपुष्पादिभिः पूजां शिखया कारयेत्ततः ।
त्रिराहुतिं चोत्तरेण शिखया च त्रिराहुतिम् ।।२०५।।
पुंसः कल्पनमेवं हि न स्त्री गर्भे तु जन्यते ।

'जलबिन्दुं' पुर्यष्टकरूपं जीवमभिसन्धातुं 'पुमान्भव नमः' इत्यन्तेन प्रयोगेण अत्रेत्याहिते गर्भे क्षिपेत् । शिखया नैष्कल्या, उत्तरेणेति वकारेण । पुंस्त्वमुपचयः कार्ये शक्तत्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम् ॥२०५॥

अथ

सीमन्तं दक्षिणास्येन दर्भाग्रेण प्रकल्पयेत् ।।२०६।।
ग्रीवामंसौ कटिं चैव बाहू जङ्घे प्रकल्पयेत् ।
प्रत्यङ्गानि च संकल्प्य सीमन्तोन्नयनं भवेत् ।।२०७।।

पुर्यष्टकोपरि स्थूलदेहप्रविभागमात्रमिह सीमन्तः । 'दक्षिणास्यम्' अघोरवक्त्र-मन्त्रः 'प्रत्यङ्गनि' करोदरचरणाङ्गुल्यादीनि ॥२०७॥

गर्भाधान संस्कार के बाद पुंसवन संस्कार की चर्चा कर रहे हैं–

हृदय मन्त्र से ही कुशा के अग्रभाग से जलबिन्दु का निपात करना चाहिये । गन्धपुष्प आदि से सामान्य पूजन करना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, जलबिन्दु निपात से पुर्यष्टक रूप जीव भाव का अनुसन्धान होता है । वहाँ 'ओं पुमान् भव तुम्यं नमः' इस मन्त्र का उच्चारण भी आवश्यक है ।

शिखा मन्त्र से और वं बीज से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । शिखा से भी तीन आहुतियाँ अर्पित करते हैं । पुंस्त्व का प्रकल्पन कर गर्भाधान में भी करना चाहिये । पुंस्त्व के प्रकल्पन से गर्भ में स्त्री का प्रवेश नहीं हो पाता । उपचय में पुंस्त्व दृष्टि का अनुसन्धान और अपचय में स्त्रीत्व का अनुसंधान स्वाभाविक रूप से होता है । उपचय का अर्थ कार्य की क्षमता में वृद्धि होता है ॥२०५॥

सीमन्त–सीमन्त दक्षवक्त्र से सम्बन्धित होता है । यह दर्भ के अग्रभाग द्वारा ही सम्पन्न होता है । सीमन्त का तात्पर्य पुर्यष्टक की सूक्ष्मता को स्थूल देह का आकार प्रदान करना है । दक्षिणात्य अघोरवक्त्र होता है । इसका बीज 'रं' है । इसके साथ ही इसके मन्त्र का उच्चारण होना चाहिये । स्थूल देह का आकार ग्रीवास्कन्ध कटि प्रदेश, हाथ पाँव के प्रकल्पन से पूरा होता है । प्रत्यङ्ग में कर चरण अङ्गुल्यादि सारे अध्यवगृहीत होते हैं । इसे ही सीमन्तोन्नयन संस्कार कहते हैं ॥२०७॥

अत्र च–

गन्धपुष्पादिभिः पूजा शिरसा चाहुतित्रयात् ।
पूर्वमध्यापरान्वह्नौ त्रीन्भागान्परिकल्पयेत् ।।२०८।।
मुखहृत्पाददेशांस्तु होमात्तच्च त्रितत्त्वकम् ।

पूजेति कार्या, शिरसेति काकाक्षिवत् । आहुतित्रयाद्धोमादित्येकवाक्यता । तच्चैतद्भागत्रयं शिवविद्यानराख्यतत्त्वत्रयरूपम् । मुखेन मूर्धा पादाभ्यां गुह्यमाक्षिप्त-मित्येषैवात्र दण्डभङ्गि ॥२०८॥

'प्रत्यङ्गानि' इति यदुक्तं तद्विभक्तुं कवाटवक्त्रादि न्यसितुं कवाटन्यासं तावदाह–

शिरांसि पञ्चाहुत्यैव ऊर्ध्वास्येन त्रिभिस्त्रिभिः ।।२०९।।

कल्पयेदिति शेषः । 'शिरांसि' कवाटानि 'ऊर्ध्वास्येन' क्षकारेण । अत्र च सुतारिण्याद्याः प्राग्वत्कला अनुसन्धेयाः ॥२०९॥

इसके बाद गन्ध पुष्पादि से पूजा की जाती है । शिरस् भाग ईशान वक्त्र को कहते हैं । उनका बीज 'क्षं' है । इस ऊर्ध्ववक्त्र मन्त्र से तीन आहुतियाँ भी देते हैं । आगे कहते हैं कि, यहाँ तक अग्नि के तीन पूर्व, मध्य और अपर भागों का आकार मिल जाता है । तीन तत्त्वमय विश्व के प्रकल्पन में भी पूर्व भाग शिव, मध्य भाग विद्या और अपर भाग नर रूप होता है । यहाँ अग्नि को भी यह दिव्य आकार मिल जाने का अनुसन्धान करते हैं । मुख, हृदय, गुह्य और पैर आदि भी इसी त्रितत्त्वात्मकता में अन्तर्मूत होते हैं, यह ध्यान देने की बात है । यह कार्य अनुसन्धान के प्रकल्पन से पूर्ण होता है ॥२०८॥

कवाट भङ्गी आदि टीकाकारों की अपनी अपनी अनुसंधित्सा के आधार पर की गयी परिकल्पना मात्र है । स्वभावत: पाँच वक्त्र हैं, तो पाँच शिर भी स्वभावत: गृहीत होते हैं । ऊर्ध्वास्य के ऊर्ध्वशिर की तरह अन्य वक्त्रों में भी आहुतियाँ दी जानी चाहिये । यहाँ यह अनुसन्धेय है कि, पाँचों वक्त्रों के शिर ऊर्ध्व बीज 'क्षं' के साथ ही आहुति से आकार ग्रहण करेंगे । इसी लिये ऊर्ध्वास्य के द्वारा तीन तीन बार आहुतियों का विधान यहाँ पूर्ववत् स्वीकार है । इस अवसर पर पूर्वोक्त सुतारिणी आदि कलाओं का भी अनुसन्धान होना चाहिये ॥२०९॥

अथैतदनूद्य वक्त्रकलाभिर्वक्त्रकल्पनामाह–

पञ्चवक्त्रं तु संकल्प्य मध्यप्राग्याम्यसौम्यकम् ।
अपरं चाप्याहुतिभिः पूर्वास्येन त्रिसंख्यया ।।२१०।।
वक्त्राणां निष्कृतिं तद्वदाहुतीनां त्रिसंख्यया ।

'पञ्चमं यद्भवेद्वक्त्रं क्षकारः ।' (स्व. १/४९)

इति पूर्वमुक्तत्वाद् आदौ मध्यममूर्ध्ववक्त्रं क्षकारेण शान्त्यतीतानुसन्धानेन प्रकल्प्य, पश्चात् 'पूर्वास्येन' यकारेण वक्त्रचतुष्टयं शान्त्यादिकलानुसन्धिना प्रत्येकं तिसृभिराहुतिभिः कल्प्यम्, मध्येत्यादावुक्तत्वाद् आदौ मध्यमवक्त्रन्यासः । एतच्च पू (स)र्वत्रानुसन्धेयम् ।।२१०।।

किञ्च,

नेत्रं नेत्रेण संकल्प्य मुखेष्वेवं त्रयं त्रयम् ।।२११।।
आहुतित्रितयेनैव

'नेत्रेण' सकलनेत्रमन्त्रेण ।।२११।।

एतच्च

तिलैः सर्वं तु कारयेत् ।

सर्वमित्यग्निसंस्कारंजातम्, आज्यं तु निष्पन्नस्य शिवाग्नेस्तर्पणाय, निष्पत्तिश्चास्य भैरवरूपस्यैवेति ।

इस तरह मध्य (ऊर्ध्व) पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम वक्त्रों के रूप में पञ्चवक्त्रत्व का प्रकल्पन करना पड़ता है । जहाँ तक ऊर्ध्वास्य का प्रश्न है श्लोक २०९ में उसकी आहुति का विधान क्षं बीज से कर दिया गया है । यहाँ पूर्ववक्त्र से यं शान्तायै नमः तत्पुरुषवक्त्राय च नमः, यं विद्यायै अघोरवक्त्राय नमः, यं प्रतिष्ठायै वामदेववक्त्राय नमः और यं निवृत्यै सद्योजातमूर्त्तये नमः मन्त्रों से प्रत्येक को तीन तीन आहुतियाँ दी जानी चाहिये । यहाँ सभी वक्त्रों का प्रकल्पन कलाओं के साथ करके आहुतियाँ अर्पित की जाने की पुष्टि की गयी है ।

पहले क्षं बीज से ऊर्ध्व पाँचों वक्त्रों में पाँचों का प्रकल्पन कर आहुति पुनः यं बीज से कलाओं के साथ वक्त्रों का प्रकल्पन पुनः इसी तरह रं बीज से तीन (दक्षिण,उत्तर और पश्चिम का प्रकल्प, पुनः वं बीज से उत्तर और पश्चिम, पुनः लं बीज से पश्चिम वक्त्र के प्रकल्पन का नियम अपनाना चाहिये । पाँचों वक्त्रों के एक एक वक्त्र के साथ यह क्रम चलता है । पाँचों वक्त्रों में एक एक में पुनः पञ्चवक्त्रता के प्रकल्प में यह क्रम नहीं चल सकेगा ।।२१०।।

ततः कलासमूहं च पञ्च चाथ चतुष्टयम् ।।२१२।।

सीमन्तोन्नयनमध्य एव तद्वक्त्रकलादिन्यासस्तन्त्रान्तरवैलक्षण्येनेहोक्त: ।।२१२।।

एवमीशानपुरुषकलाभि: प्रत्यङ्गन्यासमुक्त्वा अघोरकलाभिराह–

अष्टाङ्गानि तथा त्रीणि दश चाष्टावनुक्रमात् ।
शेषास्यैः संप्रकल्प्यैवं कलामूर्तिस्ततो भवेत् ।।२१३।।

अङ्गानि 'हृदि ग्रीवा' (१/५०) इत्यादिप्रागुक्तानि । एवमिति प्रत्यङ्गं तत्तत्कलानुसन्धिनाहुतित्रयेण । कला मूर्तिर्यस्येति बहुव्रीहि: ।।२१३।।

अथात्रैव

अङ्गानि विन्यसेत्पश्चाद् हृदाद्यानि यथाक्रमम् ।

नेत्रस्योक्तत्वात् तद्वर्जितानि सकलाङ्गानि तन्मन्त्रैर्न्यसेत् । एवं 'प्रत्यङ्गानि संकल्प्य' इति यदुक्तं तदेव पूर्वमध्येत्यादिना श्लोकषट्केन विभक्तम् ।

एवमेतत्सर्वं कृत्वा

त्रिराहुतिं दक्षिणेन

दक्षिणवक्त्रमन्त्रेण 'सीमन्तोन्नयनं करोमि' इत्यन्तेन दद्यात् ।

अथ

शिरसा चाहुतित्रयम् ।।२१४।।

नेत्र को नेत्र मन्त्र से संकल्पित कर मुखों में इस तरह तीन तीन आहुति देकर इस प्रक्रिया का उपसंहार करते हैं । पुन: सारे अग्नि कार्य तिल से ही सम्पन्न होते हैं । घी का प्रयोग उत्पन्न अग्नि को तृप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है । इस तरह भैरव रूप की निष्पत्ति होती है । सीमन्त संस्कार के इस सन्दर्भ में ही वक्त्र कलाओं का पाँच ईशान कलाओं और पाँच तत्पुरुष कलाओं का न्यास भी यहाँ न्यायोचित मानकर करना चाहिये ।।२११-२१२।।

आठ, तीन, दश और आठ कलाओं को शेषवक्त्रों के साथ प्रकल्पित करने से कला मूर्त्ति भगवान् भैरव का प्रादुर्भाव हो जाता है । आठ अघोर की कलायें पहले कही गयी है (१/५०) तीन और दश अर्थात् तेरह कलायें (१/५१) वामदेव की और आठ कलायें सद्योजात की कलायें सबके साथ सम्यक् रूप से प्रकल्पित करने से और प्रत्यङ्ग उन उन कलाओं की अनुसंधि से परभैरव की इस कलामूर्त्ति का स्वरूप निर्धारित हो जाता है ।।२१३।।

इसी सन्दर्भ में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि, इन कलाओं को जिन जिन अङ्गों में प्रतिष्ठित करते हैं, उनका न्यास भी हृदयादि विभिन्न स्थानों पर करना

चकारोऽनेनैवादौ पूजां कुर्यात्–इति प्रस्तावपूरणं[१] ध्वनति । यत्तु

'गन्धपुष्पादिभिः पूजा शिरसा चाहुतित्रयात् ।' (२/२०८)

इति पूर्वोक्तं तद्भागत्रयकल्पनया त्रितत्त्वकल्पनार्थम् ॥२१४॥

उपसंहरति–

सीमन्तोन्नयनं ह्येवं

एवं विभक्तावयवस्याग्नेः

जातकर्म त्वथोच्यते ।

अस्त्रेण वीजयेदग्निमस्त्रेणैव तु पूजयेत् ॥२१५॥

त्रिराहुतिं तु पूर्वेण अस्त्रेणैवाहुतित्रयम् ।

एवं मन्त्रद्वयेनैव जातकर्म कृतं भवेत् ॥२१६॥

वीजनं प्रसवाभिमुखीकरणं पूर्वेण यकारेण ॥२१६॥

चाहिये । नेत्रत्रय की पृथक् व्यवस्था है । अतः नेत्रत्रय को छोड़कर उन्हीं आङ्गिक मन्त्रों से उनका न्यास अपेक्षित है । दक्षिण वक्त्रक्रम से इनकी न्यास प्रक्रिया अपनायी जाती है । शिरस् मन्त्र से भी तीन आहुतियों का अर्पण करना चाहिये । २/२०८ में यह स्पष्ट निर्देश है कि, 'गन्ध पुष्पादि से पूजा कर शिरस्मन्त्र से तीन आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं ।' यह तीन भागों की पूजा का प्रकल्पन तीन तत्त्ववाद की ओर संकेतित करता है ॥२१४॥

यह सीमन्तोन्नयन संस्कार से सम्बन्धित वर्णन है । इसमें अग्नि के अवयव और कलामूर्त्ति का प्रकल्पन किया गया है । यहाँ से जातकर्म संस्कार की चर्चा कर रहे हैं–

अस्त्र मन्त्र से अग्नि को व्यजन कर उसको संवर्द्धित करते हैं । वायु अग्नि का मित्र माना जाता है । व्यजन से वह प्रसन्न होता है । अस्त्र मन्त्र से ही इसकी पूजा भी की जाती है । अस्त्र मन्त्र पाँचवाँ मन्त्र है । ३३अक्षर का भगवान् भैरव का मन्त्रमय शरीर है । इसके पाँच अवयव और पाँचों के पाँच अवयवमन्त्र प्रसिद्ध हैं । जैसे– १.'हृत्'मन्त्र–ओं अघोरेभ्यो नमः, २.शिरस् मन्त्र–अथ घोरेभ्यो नमः । ३.शिखामन्त्र–घोर घोरतरेभ्यो नमः । ४.कवच मन्त्र–सर्वतःशर्व सर्वेभ्यः नमः । ५.अस्त्र मन्त्र–नमस्ते रुद्र रूपेभ्यः । जहाँ तक नेत्र मन्त्र का प्रश्न है, यह 'ओं जुंसः' रूप होता है ।

---

१. ख. पु. प्रस्तावापूरणम्, ग. पु. प्रस्तारेति पाठः ।

एवं गर्भाधानसीमन्तोन्नयनजातकर्माणि कृत्वा

अस्त्रेण प्रोक्षयेत्कुण्डं सद्यः सूतकशुद्धये ।

आपादितशिवभावोऽपि दीक्षादिसम्पत्त्यर्थं यतोऽग्निः शरीरं ग्राहितस्ततश्चिदात्मनो देहग्रहः सूतकरूपः सर्वाशुद्धिप्रथमाङ्कुरः शोध्य एव ।

जातस्याग्नेः

वक्त्राण्युद्घाटयेत्पश्चाद्वक्त्रेणैवाहुतित्रयात् ।

'उद्घाटनं' विकासः ।

यथा

वक्त्राणि शोध्यान्यसिना आहुतित्रययोगतः ।।२१७।।

प्रतिवक्त्रं स्वमन्त्रेण परामृश्य 'शोधयामि' इत्यूहान्तेऽस्त्रमुच्चार्य त्रिर्जुहुयात् ॥२१७॥

इसमें ॐऊर्ध्व नेत्र जुं वाम नेत्र और सः दक्षिण नेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं । अग्निबीज रं है । इसके पूर्व का वायु बीज 'यं' है । अतः अग्नि को 'यं' बीज से ही वीजन करना चाहिये । पुनः अस्त्र नामक पाँचवें मन्त्र से तीन आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । यहाँ वीजन का अर्थ करते हुए आचार्य प्रसवाभिमुखी करण कहते हैं । प्रसव का तात्पर्य अग्नि के प्रज्वलन से आहुतियों के अर्पण के बाद उनके फल रूप प्रसव करने का तात्पर्य ही माना जाना चाहिये । इस प्रकार दो मन्त्रों से जातकर्म संस्कार सम्पन्न होता है । ये दो मन्त्र कवच और अस्त्र मन्त्र ही हैं । ॥२१५-२१६॥

इस प्रकार गर्भाधान सीमन्तोन्नयन और जातकर्म संस्कारों से सम्पन्न कुण्ड को तत्काल अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षित करना चाहिये । इस प्रोक्षण से कुण्ड का शुद्धिकरण हो जाता है । सूतक दोष विनिवृत्त हो जाता है । अस्त्रमन्त्र के प्रयोग से तत्काल सूतक दोष नष्ट हो जाता है और कुण्ड शुद्ध हो जाता है ।

अग्नि स्वयं शिव रूप ही होता है । यहाँ दीक्षा रूप संपत्तिसिद्ध्यर्थ अग्नि को शरीरधारी मानकर इतने संस्कारों से उसे संस्कृत किया गया है । चिदात्मक देहग्रह सूतक का हेतु मानकर समस्त अशुद्धि के उन्मेष का शोधन आवश्यक होता है ।

सूतक के शोधन के उपरान्त आचार्य उसके वक्त्रों का उद्घाटन करे अर्थात् विकसित करे । इसके लिये उसे वक्त्र मन्त्रों से ही तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । यह नियम है कि, विकसित वक्त्र भी आहुतियों द्वारा शोधनीय होते हैं । प्रतिवक्त्र के अपने बीज मन्त्र निर्धारित हैं[1] इन्हीं से प्रतिवक्त्र का परामर्श करते हुए क्षं ईशानवक्त्रं शोधयामि कह कर अस्त्र मन्त्र से ही तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । इस तरह अग्नि का पूर्ण विकसित रूप परामृष्ट हो जाता है ॥२१७॥

---

१. स्व. तं. १/४५-४६

तथा

वक्त्राभिघारो वक्त्रैस्तु वक्त्रे वक्त्रे त्रयं त्रयम् ।

वक्त्रेष्वभिघारो दीप्तिः । त्रयं आहुतीनां दद्यादिति शेषः । वह्नेः संरक्षणार्थं दिक्षु देवतान्यासं प्रस्तोतुमाह–

प्रोक्षयेत्कुण्डपार्श्वानि सास्त्रेणैव शिवाम्भसा ।।२१८।।
दर्भानास्तीर्य पूर्वाग्रान्दक्षिणोत्तरसंस्थितान् ।
सौम्याग्रान्पूर्ववारुण्योः परिधीन्विष्टरांस्तथा ।।२१९।।

हस्तमात्राः शाखाः परिधयः । समध्यग्रन्थि दार्भमासनं विष्टरः ॥२१९॥

एवं क्रमात्क्रममन्तर्दर्भपरिधिविष्टराः

अस्त्रमन्त्रेण ते सर्वे

न्यसनीयाः । तत्र

ब्रह्माणं पूर्वविष्टरे ।
रुद्रं च दक्षिणे स्थाप्य विष्णुं पश्चिमविष्टरे ।।२२०।।

प्रतिवक्त्र अभिघार की प्रथा परम्परा से प्राप्त है । यह घी की आहुतियाँ होती हैं । इन्हें वक्त्रमन्त्रों से ही अर्पित करते है । प्रतिवक्त्र तीन तीन आहुतियाँ देने का नियम है । वक्त्रों में अभिघार ही दीप्तिका हेतु होता है ।

इस प्रकार बह्नि का विकास हो गया है । अब उसे संरक्षण की आवश्यकता होती है । इसके लिये दिशा-दिशा में देवता का न्यास करना चाहिये । इसके लिये आचार्य कुण्ड का चतु:पार्श्व प्रोक्षित करे । यह भी अस्त्रमन्त्र से शिवाम्भस् रूप सुरा से ही सम्पन्न करना चाहिये ॥२१८॥

कुण्ड के चारों ओर कुशाओं को बिछाकर परिधियों को आच्छादित करें । इसमें यह ध्यान देना चाहिये कि, उनका अग्रभाग पूर्व की ओर हो । इस तरह कुण्ड के दक्षिण और उत्तर भाग में कुशों को बिछावें । पूर्व और पश्चिम की कुशाओं को इस तरह रखा जाय कि, उनका अग्र भाग उत्तर की ओर पड़े । पूरी परिधि इस तरह दर्भ से आच्छादित हो जाती है । विष्टर में भी यही नियम अपनाया जाये, जिसमें पूर्वाग्र और सौभ्याग्र दर्भ ग्रन्थि से एक एक में ग्रथित कर दिये गये हैं । इस तरह कुण्ड की पावनता का विस्तार हो जाता है ॥२१९॥

इस तरह परिधियों को दर्भ से और कुशनिर्मित विष्टरों से सुसमन्वित करने के लिये अस्त्रमन्त्रों का ही प्रयोग आचार्य करे और उनको न्यस्त कर दे । इसके बाद ब्रह्मा को पूर्व विष्टर पर, रुद्र को दक्षिण विष्टर पर न्यस्त करे । विष्णु को पश्चिम विष्टर पर न्यस्त करे । सदाशिव को उत्तर विष्टर पर स्थापित करे । उन-उन विष्टरों पर स्थापित इन देवों के नाम और पद का चिह्न व्यक्त करने में सौविध्य रहता है ।

सदाशिवं चोत्तरेऽथ स्वनामपदचिह्नितम् ।
आदौ ध्रुवं स्मरेद्देवि नमश्चान्ते प्रकल्पयेत् ।।२२१।।
गन्धपुष्पादिभिः पूज्याः स्वरूपं तेष्वनुस्मरेत् ।

स्पष्टम् ॥२२१॥

ततोऽप्यन्तः

मेखलोपरि लोकेशान्पूजयेत्प्रणवेन तु ।।२२२।।

एवं च

रक्षार्थं जातबालस्य ब्रह्माद्याः पूजितास्तु ये ।
ततः कङ्कणकं मुक्त्वा दक्षहस्तव्यवस्थितम् ।।२२३।।
पुष्पं संगृह्य देवेन शिवाग्नेर्नाम कल्पयेत् ।

गर्भस्य जातत्वाद्रक्षान्तरस्य च विहितत्वाद् गर्भरक्षाया अधिकारो निवृत्तः- इति कङ्कणमोक्षः । 'देवेन' मूलमन्त्रेण सप्रणवेन[1] 'शिवाग्निर्भव नमः' इति नामकल्पनम् ॥२२३॥

अथ

कवचेनोपचारं तु गन्धपुष्पादिधूपकैः ।।२२४।।

कवचेन नैष्कलेन शिवाग्नये नम इत्यन्तेन 'उपचारं' पूजां कुर्यात् ॥२२४॥

मन्त्र के विषय में कह रहे हैं कि, पहले ध्रुव अर्थात् ओङ्कार का उच्चारण करे । अन्त में अव्यय का प्रयोग करे और इनके नाम के चतुर्थ्यन्त पद से बने मन्त्र से इन चारों की पूजा करनी चाहिये । पूजा में गन्ध और पुष्प आदि प्रयोग परम्परा के अनुसार करना चाहिये । इसके साथ ही पूजा में उनके स्वरूपों का अनुसन्धान भी करना आवश्यक होता है ॥२२०-२२१॥

मेखलाओं पर लेकेशों (आठों) को प्रणव मन्त्र से ही स्थापित कर पूजा करनी चाहिये । इस प्रकार अग्नि रूप जातक की रक्षा के लिये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सदाशिव और लोकपालों की यहाँ प्रतिष्ठा कर दी गयी है । कङ्कणबन्ध किया गया था । अब उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती । अतः उस बन्ध का अब मोक्षण कर देना चाहिये । शास्त्रकार कह रहे हैं कि, अब दक्षहस्त व्यवस्थित कङ्कण को धोकर नामकरण संस्कार पूरा करना चाहिये । प्रणव के साथ मूल मन्त्र का उच्चारण कर इस अग्नि का नाम रख देना चाहिये । इसके लिये मूल मन्त्र के बाद 'शिवाग्निर्भव नमः' यह ऊह मन्त्र बोलना ही चाहिये । इस तरह नामकरण संस्कार पूरा होता है । इस अग्नि की पूजा गन्ध पुष्प आदि से कवच मन्त्र से करना चाहिये । इसमें कवच मन्त्र के साथ 'शिवाग्नये नमः' कहकर उपचार पूरा करना चाहिये । उपचार शब्द भी पूजा अर्थ में ही प्रयुक्त है ॥२२२-२२४॥

---

१. क. ख. पु. सप्रणामेनेति पाठः ।

अथ

ऊर्ध्वास्येनाहुतीस्तिस्रः कवचेन त्रयं पुनः ।

प्राग्वदूहमन्त्रेण दद्यात् । एवं सूतकशुद्धिवक्त्रोद्घाटनवक्त्रशुद्धिवक्त्राभिघारविष्टरादिन्यासदेवतास्थापनतदर्चनकङ्कणमोक्षणान्यष्टौ अवान्तरसंस्कारान् कृत्वा नामकरणाख्यः पश्चिमः संस्कारः कृतः ।

अथ

शिवनामाङ्कितं वह्निं जनयित्वा सुरांस्ततः ।।२२५।।
विसर्जयेत्तु स्वस्थानं सावित्रीं प्रणवेन तु ।
पुष्पादिभिः समभ्यर्च्य होमैरेव त्रिभिस्त्रिभिः ।।२२६।।

तुश्चार्थे भिन्नक्रमः । तेन सुरान् ब्रह्मादीन् सरस्वतीं च प्रणवादिस्वनामभिरभ्यर्च्य प्रत्येकमाहुतित्रयेण सन्तर्प्य 'क्षम्यताम्' इत्युक्त्वा विसर्जयेत् ॥२२६॥

अथ

धाम्नैवेध्मास्तु होतव्या हस्तमात्रप्रमाणतः ।
चतुर्विंशतिसंख्याताः शिवाग्नेस्तर्पणाय तु ।।२२७।।

'धाम्ना' निष्कलेन । 'इध्माः' अस्फुटिता ऋज्व्यः सत्वचः शाखाः ॥२२७॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सदाशिव, सावित्री और लोकेश सबका प्रणव मन्त्र से नामोच्चार पूर्वक गन्धपुष्प आदि से सोपचार पूजन कर और तीन तीन आहुतियाँ देकर प्रसन्नता पूर्वक विदा करना चाहिये । विसर्जन में क्षमा याचना भी आवश्यक अंग है ॥२२५-२२६॥

शिवाग्नि के संतर्पण के लिये एक नया प्रयोग कर रहे हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, जब कोई पौधा विकसित होता है, तो उसके तने और अवान्तर लघुतम शाखायें निकलती हैं । उनमें भी उनकी छाल होती है । छोटे छोटे पत्ते होते हैं । उसी तरह शिवाग्नि जातक विकसित हुआ । उससे चौबीस शाखायें लघुशाखायें स्फुलिङ्ग या लम्बी एक हाथ तक की किरणात्मक लघुशाखायें निकलीं । इन चौबीसों को यहाँ 'इध्म' की संज्ञा से विभूषित किया गया है । 'इध्माः सत्वचः शाखाः' कहकर आचार्य ने तीन विशेषण और दिये हैं । १.ऋज्व्यः अर्थात् वे किरणें सरल हैं । सीधी निकल रही हैं । २. वे अभी उतनी स्फुटित नहीं हैं । अब धीरे-धीरे विकसित होंगी । ३.उन्हें चौबीस कहा गया है । यही २४अक्षरों में विकसित सावित्री मन्त्र है । निष्कल मूल मन्त्र से ही हवन कर इनको पुष्ट करना चाहिये ॥२२७॥

एवं तिलै: संस्कारानुक्त्वा आज्यकार्यान्संस्कारान् प्रस्तोतुमाज्यप्रक्षेपकरण-स्रुक्स्रुवसंस्कारार्थमाह–

स्रक्स्रुवौ सम्प्रताप्याग्नौ शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत् ।
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ शिवाग्नौ भ्रामयेत्त्रिधा ।।२२८।।
अस्त्रेण मार्जयेदद्भिर्दर्भाग्रेणाथ संस्पृशेत् ।
पुनरग्नौ परिभ्राम्य प्रोक्षयेत्तौ शिवाम्भसा ।।२२९।।
दर्भमध्येन संस्पृश्य भूयोऽग्नौ भ्राम्य तापयेत् ।
शिवाम्भसा मार्जयित्वा दर्भमूलेन संस्पृशेत् ।।२३०।।
स्रुक्स्रुवाभ्यां ततो मूलं स्थापयेत्तावधोमुखौ ।
दर्भाणां पृष्ठत: पूज्यौ दक्षिणेऽग्ने: सदा बुधै: ।।२३१।।

मार्जनं प्रोक्षणमेव, तापनं काष्ठादिभावनिवारणाय । यथोक्तम्–

.........................तापयेत्तेजसि त्रिधा ।
संजातौ तेन संतप्तौ काष्ठाभावपराङ्मुखौ ।।'

ऊपर के संस्कार तिल से सम्पन्न किये गये थे । यहाँ से आज्य द्वारा सम्पन्न होने वाले संस्कारों के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे । अत: आज्य प्रक्षेप हेतु बनाये गये स्रुक् और स्रुव नामक उपकरणों के संस्कार के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं ।

स्रुक् और स्रुव को अग्नि में तपा कर शिवाम्भस् से उन दोनों को प्रोक्षित करना चाहिये । कवच से अवगुण्ठन कर शिवाग्नि पर तीन बार भ्रामित करना चाहिये ॥२२८॥

जल से अस्त्र मन्त्र से उन्हें मार्जित करना चाहिये । पुन: कुशों के अग्रभाग से उनका स्पर्श कराना चाहिये । फिर अग्नि में तपा कर शिवाम्भस् से दोनों को प्रोक्षित करना चाहिये ॥२२९॥

वर्गों के मध्य से उन्हें उनका संस्पर्श कर पुन: अग्नि में घुमाकर उनका तापन करना चाहिये । शिवाम्भस् से मार्जन कर दर्भ मूल से उनका संस्पर्श करने का विधान है ॥२३०॥

स्रुक् स्रुव इन दोनों से दर्भ मूल का संस्पर्श करावे । पुन: स्रुक् और स्रुव इन दोनों को अधोमुख स्थापित कर देना चाहिये । पुन: दर्भों के पृष्ठ भाग से और अग्नि के दक्षिण में स्रुक् और स्रुव को आदर पूर्वक रखना उचित है ।

इति । सृष्टिक्रमेणात्र दर्भस्याग्रमध्यमूलैस्तदग्रमध्यमूलस्पर्शेन त्रिर्भ्रामणेन च इच्छादिशक्तित्रयमयत्वमनयोर्जायते । स्रुक्स्रुवाभ्यामिति स्रुक्स्रुवयोरित्यर्थः । संस्कारद्वादशकानन्तरं पूज्यावधोमुखाविति सृष्ट्युन्मुखत्वाभिप्रायेण । अग्नेर्दक्षिणे होतुर्वामे-इति दीप्त्याप्यायनाभ्यामनयोर्युगपत्सम्बन्धेनाग्नीषोममयत्वापत्तिः ॥२३१॥

अथ

आज्यसंस्करणं कुर्यादाज्याधिश्रयणादिकम् ।

'अधिश्रयणं' सम्प्रोक्षिते पात्रे प्रस्नुतस्य स्थापनम् । क्वचिदधिस्रवणमिति पाठः । तत्राधिकरणभाण्डे [1]तापनमित्ययमर्थः ।

आदिशब्दसूचितान् संस्कारानाह–

आज्यं सम्प्रोक्ष्य चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ।।२३२।।
शिवाग्नौ ताप्यमस्त्रेण उद्वास्यं कवचेन तु ।
कुण्डस्य परितो देवि त्रिधा भ्राम्य तु स्थापयेत्[2] ।।२३३।।

सृष्टि का यह क्रम सर्वदा ध्यातव्य है । सृष्टि क्रम में अग्र, मध्य और मूल तथा संहार क्रम में मूल, मध्य और अग्र शीर्ष भाग की ही जीवंत यात्रा उल्लसित और पुलकित होती है । इसी तरह तीन भ्रमि का तात्पर्य भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का सम्पर्क और उनका एकी भाव ही है । स्रुक् और स्रुव ये दोनों ऐसे उपकरण हैं, जो बारहवें संस्कार के बाद पूज्य भाव से अधोमुख स्थापित किये जाते हैं । अधोमुखता सृष्टि क्रमता के मूल के साथ समाहित करने का ही भाव है । अग्नि के दक्षिण और होता के वाम में रखने का भी तात्पर्य अग्नि की दीप्ति से दीप्त करना और होता के वाम का तात्पर्य सोमतत्त्व से आप्यायित होने से है । एक अन्य ध्यातव्य तथ्य यह है कि, इन दोनों का युगपत्संबन्ध अग्नि सोमात्मक स्वीकार कर लिया गया है ॥२३१॥

यहाँ से आज्य संस्कार की चर्चा कर रहे हैं । सर्वप्रथम अधिश्रयण क्रिया का आदेश है । अधिश्रयण संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है । संप्रोक्षित पात्र में प्रस्नुत आज्य का स्थापन करना ही अधिश्रयण कहलाता है । कहीं अधिश्रयण के स्थान पर अधिस्रवण पाठ है । इस पाठ में भी अर्थ का लक्ष्य एक है । अर्थात् स्रवित का अधिष्ठान करना । जिस पात्र में चुआ हुआ घी रखते हैं, उस पात्र को अधिकरण भाण्ड कहते हैं । उस पात्र में स्थापन करना ही अधिस्रवण व्यापार माना जाता है ।

---

१. क. पु. स्थापनमिति पाठः ।
२. क. ग. पु. तापयेदिति पाठः ।

योनिसंस्थं चाज्यपात्रं

तापनं दीप्त्यर्थमाग्नेय्यां दिशि । उद्वासनमग्नेरूर्ध्वधारणं दीप्तेः स्फुटतार्थम् ॥२३३॥

किञ्च,

उत्प्लवं संप्लवं ततः ।

तस्याज्यस्योत्प्लवं च कुर्यादिति शेषः ।

केनेत्याह–

दर्भाग्रद्वयमादाय प्रादेशं मध्यग्रन्थितम् ।।२३४।।
पवित्रमेतद्विहितमुत्प्लवं तेन संप्लवम् ।

प्रसारिताङ्गुष्ठतर्जनीमानं प्रादेशः ॥२३४॥

कथमित्याह–

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु गृहीत्वैतत्पवित्रकम् ।।२३५।।
पराङ्मुखं तु त्रीन्वारान्सम्मुखं त्रींस्तथैव च ।
अस्त्रेणैव तु मन्त्रेण

असारभागापनयनायोत्प्लवम्, साराहरणाय संप्लवम् ।

किञ्च,

अवद्योतः शिवाग्निना ।।२३६।।

अस्त्रेणेत्येव कार्य इति शेषः ॥२३६॥

अधिश्रयण शब्द के साथ आदि का प्रयोग किया गया है । आदि शब्द से आज्य का संप्रोक्षण अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रण, कवच मन्त्र से अवगुण्ठन अस्त्र से शिवाग्नि में संतापन कर अग्नि कोण में स्थापन, अस्त्र मन्त्र से उद्वासन अर्थात् योनि में अवस्थित आज्य पत्र को ऊपर लाना और कुण्ड के चारों ओर तीन बार घुमा कर स्थापित करना इसी आदि शब्द द्वारा सूचित किये गये व्यापार हें ॥२३२-२३३॥

इन व्यापारों के अतिरिक्त अन्य व्यापार जो इस यज्ञ में करने हैं, उनका उल्लेख कर रहे हैं–

इसके बाद उत्प्लव और संप्लव दो व्यापारों की चर्चा कर रहे हैं । आज्य संस्कार के ही अन्तर्गत ये दोनों आते हैं । दर्भों के दो अग्रभाग जो मध्य में ग्रथित किये गये हों और जिनकी लम्बाई फैलाये हुए अंगूठे से तर्जनी पर्यन्त हो । इसे पवित्र कहते है । इसी से आज्य को उठाना उत्प्लव कहलाता है । उत्प्लव और संप्लव की क्रियायें उसी से होती हैं ॥२३४॥

अङ्गुष्ठ अनामिका से इस पवित्रक को पकड़कर पराङ्मुख भाव से तीन बार और तीन बार सम्मुख की ओर एक तरह की कुश सम्बन्धी क्रिया द्वारा करते हैं । पराङ्मुख कुश प्रदर्शन को उत्प्लव तथा साम्मुखीन कुशके आदर्श रूप तत्वसारभाग के आहरण को सम्प्लव कहते हैं । शिवाग्नि से ही अस्त्र मन्त्र के आधार पर पवित्रक द्वारा ये क्रियायें सम्पन्न होती हैं । इस प्रक्रिया को अवद्योत कहते हैं ॥२३५-२३६॥

तं व्याचष्टे–

दर्भोल्मुकं तु संगृह्य आज्यपात्रं निरीक्षयेत् ।

तेन प्रकाशयेत् । अत्र चावसरे स्वनेत्रतेजोनिरीक्षणेन परतेजोमयं चाज्यं कुर्यादित्यर्थः ।

नीराजनं ततः कुर्यात्

निःशेषेण राजनं च ज्वलितेन दर्भेण सर्वतो भ्रामितेन दीपनमस्त्रेणैव ।

पर्यग्निकरणं ततः ।।२३७।।

कथं

धाम्नास्त्रमन्त्रमुच्चार्य तमग्नावुल्मुकं क्षिपेत् ।

'धाम्ना' मूलेन सह परितः समन्तादग्निकरणं तेजोमयत्वापत्तिः।

ततः

धाम्नैव विधिना मन्त्री प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।।२३८।।

'विधिः' शिवाभेदाभिसन्धिः ॥२३८॥

दर्भ के उल्मुक (अग्रभागीय झुलसा और जला भाग) को गह कर आज्य पात्र का निरीक्षण करते हैं । इस कार्य का तात्पर्य वहाँ प्रकाश का विस्तार करना है । प्रकाश से ही सबका प्रकाशन होता है । इस प्रकाश के सन्दर्भ में अपने नेत्रों के तेज से वहाँ के अन्य पदार्थों के साथ उस आज्य को जो स्वयं तैजस पदार्थ माना जाता है, उसे और भी तेजोमय तथा परभैरव तेज से भी समन्वित करना है । यह अत्यन्त आवश्यक कार्य माना जाता है । इसके बाद नीराजन करने की विधि अपनायी जाती है । नीराजन दीपन मन्त्र से करना चाहिये । नीराजन शब्द का निहितार्थ भी यही है कि, जलते हुए कुशाग्र प्रकाश से वहाँ के सामान्य वातावरण को भैरव के प्रकाश से भर दिया जाय ! उसे रंजित कर दिया जाय । इसके बाद जिस क्रिया को पूरा करने के लिये तत्पर होते हैं । उसे 'पर्यग्निकरण' कहते हैं ॥२३७॥

पर्यग्निकरण की विधि का उल्लेख कर रहे हैं –

परम धाम मय तेजोमय मूलमन्त्र के साथ अस्त्र मन्त्र का उच्चारण कर उस उल्मुक को उस अग्नि में ही प्रक्षिप्त कर देना चाहिये । पर्यग्निकरण शब्द में परिउपसर्ग के आधार पर यह अनुसन्धान करना चाहिये कि, उल्मुक को चारों ओर कुण्ड के घुमाकर तब अग्नि में प्रक्षिप्त करना चाहिये ।

इस धाममय तेजोमय मूल मन्त्र का जप करने वाला मन्त्री प्रसन्नता का अनुभव करता है और स्वयम् तेजस्वी बन जाता है । धाममन्त्र की विधि का स्पष्ट निर्देश यह सिद्ध करता है कि, मन्त्रार्थ की भावानुसन्धि भी आवश्यक है । तदर्थ भावन से मन्त्रात्मक तेजस्विता का आधान मन्त्री में हो सकता है,अन्यथा नहीं ॥२३८॥

किञ्च,

अभिमन्त्र्य षडङ्गेन अमृतत्वं शिवेन तु ।

निष्कलेन साङ्गेनाभिमन्त्रणमेवममृतत्वममृतमुद्रया ।

एवमाज्यप्रोक्षणावगुण्ठनतापनोद्वासनभ्रामणोत्प्लवसंप्लवावद्योतननीराजनपर्यग्निकरणप्रोक्षणामृताख्यसंस्कारान् द्वादश कृत्वा

सकृदुच्चारयोगेन पूजयेद्भैरवेण तु ।।२३९।।

निष्कलेन ॥२३९॥

एवं कर्त्रपादानकरणाधिकरणकर्मणां यष्ट्रर्घपात्रस्रुगादिस्थण्डिलाग्न्याज्यादीनां संस्कारैः सम्प्रदानात्मकभैरवदेवतैक्यापादनं कृत्वा तदेव द्रढयितुमग्निवक्त्राणां भैरववक्त्रमन्त्रैरभिसन्धिमाह–

वक्त्रसंधानकं वक्त्रैराहुतित्रितयेन तु ।

एतद्व्याचष्टे–

अपरास्येन तद्वक्त्रसंधानं तु समाचरेत् ।।२४०।।

इसके बाद षडङ्ग निष्कल शिव मन्त्र से अभिमन्त्रण करना चाहिये । 'अमृतत्व' का उन्मेष भी उसके साथ हो जाता है । अमृतीकरण के लिये अमृत मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये । इस तरह आज्य प्रोक्षण, अवगुण्ठन, तापन, उद्वासन, भ्रमण, उत्प्लवन, संप्लवन, अवद्योतन, नीराजन, पर्यग्निकरण, प्रोक्षण और अमृतीकरण नामक अवान्तर संस्कारों की विधि यहाँ तक पूरी की गयी है । ये कुल बारह संस्कार होते हैं । इस संस्कारों को पूर्ण कर पूर्ण संस्कार निष्ठ होकर अघोर मन्त्र (निष्कल भैरव) उच्चारण करते हुए उसी से पूजा पूरी करनी चाहिये ॥२३९॥

इस तरह कर्त्ता, अपादान, करण, अधिकरण और कर्म ये सभी कारक क्रमशः यष्टा (यज्ञ कर्त्ता) में, अपादान अर्घपात्र में, करण स्रुक् आदि में, अधिकरण स्थण्डिल में, कर्म अग्नि एवं घी के संस्कारों में प्रयुक्त किये गये हैं । इनके अतिरिक्त सम्प्रदान कारक भैरव देव के लिये अर्पण के प्रसङ्ग में पूर्णार्थता की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त हैं । इन व्यापारों के माध्यम से याज्ञिक प्रक्रिया के रहस्यात्मक पक्ष ही उजागर किये गये हैं ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, अग्नि के मुखों में ही हम आहुति देते हैं । भैरव वक्त्रों की बात भी हम जानते हैं । वे भी पाँच ही होते हैं । प्रश्न यहाँ विचारणीय है कि, क्या इन मुखों में भी कोई अभिसंधि हैं ? तथ्य यही है कि, यह शास्त्र इस रहस्य को स्वीकार करता है । इसी अभिसन्धि के सम्बन्ध में शास्त्रकार कह रहे हैं –

एवं सौम्यस्य वक्त्रस्य संधानं तु कृतं भवेत् ।
त्रिराहुतिप्रयोगेण दक्षिणस्याप्ययं विधिः ।।२४१।।

अपरास्येनेति तन्मन्त्रेण, तद्वक्त्रसन्धानमिति तेनैवापरवक्त्रेण सन्धानमित्यर्था-दुत्तरवक्त्रबीजनामभ्यां विस्पष्टस्य उत्तरस्य । यदाह 'एवं सौम्यस्य वक्त्रस्य

अग्नि के पाँच वक्त्रों का अनुसन्धान भैरव के पञ्चवक्त्रों के साथ करने के उद्देश्य से तीन आहुतियाँ सबसे पहले देनी चाहिये । यह अनुसन्धान वस्तुतः है क्या ? इसे वक्त्र सन्धि कहते हैं । इसका तात्पर्य क्या है ? निहितार्थ क्या है ? इसे समझे विना यह अनुसन्धि की बात ही निरर्थक हो जायेगी ।

सबसे पहली बात वक्त्र शब्द के वच् को जानने की है । वक्त्र इस रहस्य को व्यक्त करते हैं । अग्नि के मुख में हम आहुति देते हैं ? इससे यह व्यक्त होता है कि, यह सारी पदार्थ सृष्टि अग्नि प्रमाता में संहृत हो रही हैं । सृष्टि का सत्य संहार है । भैरव में तादात्म्य भाव से समाहित होने में ही चरितार्थ है । यह अग्निवक्त्र का महत्त्व है ।

भैरव का पंच वक्त्र भाव उसके बीज रूपों में समाने के समान हमारे विमर्श को रसान्वित करता है । भैरव का ऊर्ध्व वक्त्र ईशान कहलाता है । यह परम व्योम का प्रतीक है । शून्य में संहार का निदर्शन है । इसका बीज 'क्षं' है । क्षं कुछ नहीं है, पर सब कुछ है । चक्रेश्वर है । क से स तक चलने वाली मातृका में यह नहीं है, पर पूरी मातृका इसमें समायी हुई है ।

अपरास्य का अर्थ होता है–दूसरा भैरव मुख । इसका प्रकरण प्रथम पटल के श्लोक ४७में आया हुआ है । वहाँ स्पष्ट निर्देश है कि, अपरं मुखं कल्प्यम् । कैसे कल्पन करना है ? इसका उत्तर भी वहाँ है । पुनश्चोर्ध्वं प्राग्दक्षिणमथोत्तरम् । अर्थात् ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम मुख क्रम से ।

यहाँ वही रहस्य पुनः चर्चित है । अपर का एक अर्थ पश्चिम भी होता है । यहाँ दोनों का समन्वय इस प्रकार करना है । क्षं बीज सम्पन्न पर भैरव भट्टारक के स्थान पर कवाटभङ्गी से जिस अपर कलात्मक शाक्त विस्फारमय आस्य का न्यास किया गया था, उसका संधान करना चाहिये । इस तरह पश्चिम वक्त्र रूप वामदेव वक्त्र से सौम्यवक्त्र सद्योजात की अनुसन्धि होगी । प्रयोग के जो मन्त्र आचार्य क्षेमराज ने दिये हैं, इनके अपर भैरववक्त्रों की अनुसन्धि ही व्यक्त है । इन्ही वक्त्रों के साथ अग्निवक्त्रों की अनुसन्धि के लिये तीन तिल (श्लोक २४०) आहुतियाँ दी जा चुकी हैं । इसी तरह जैसे उत्तर की पश्चिम वक्त्र से अनुसन्धि हुई है, उसी तरह पश्चिम की दक्षिण वक्त्र अघोर से, दक्षिण वक्त्र की पूर्ण वक्त्र से और पूर्व की अनुसन्धि ऊर्ध्व में की जाती है । पूरा वक्त्रानुन्धान ईशान में विश्रान्त हो जाता है । इसे शास्त्र शिवान्वित विधि की संज्ञा से विभूषित करता है । इस तरह पाँचों वक्त्रसन्धियों के अवसर पर तीन तीन तिलों की आहुतियाँ भी देनी चाहिये ।

पूर्ववक्त्रेऽप्यथैवं स्यादूर्ध्ववक्त्रं शिवान्वितम् ।
त्रिराहुतिप्रयोगेण वक्त्रसन्धिः प्रकीर्तितः ।।२४२।।

सन्धानं तु कृतं भवेत् ।' इत्यतश्च 'ओं लं सद्योजातवक्त्रेण ओं वं वामदेववक्त्रमनुसंदधे स्वाहा' इति प्रयोग: । एवम् 'ओं वं वामदेववक्त्रेण ओं रं अघोरवक्त्रमनुसंदधे स्वाहा' इति प्रयोग: । एवमन्यत् । शिवान्वितमिति ईशानविश्रान्तिसारम् । अत्र प्रतिवक्त्रानुसन्धिं त्रिस्तिलैर्जुहुयात्, न तु आज्येन तत्संस्काराणामसमाप्तत्वात् । पश्चिमप्रमुखमूर्ध्वे विश्रान्ति: कार्या ॥२४२॥

आचार्य क्षेमराज ने भी अपरास्य का अर्थ तन्मन्त्रेण किया है । यह कवाट भङ्गी वाला ही अपरास्य है । यहाँ मेरी दृष्टि से जो विषय चल रहा था उसमें से अग्निवक्त्र की उपेक्षा कर दी गयी है । श्लोक २४० के ऊपर आचार्य ने श्लोकार्थ प्रवर्त्तन की एक भूमिका दी है । उसकी अंतिम पंक्ति में वे लिखते हैं – अग्निवक्त्राणां भैरववक्त्रमन्त्रैरभिसन्धिमाह लिखकर फिर कहते हैं –'एतद् व्याचष्टे ।' और जब अग्निमन्त्रों से भैरववक्त्रमन्त्रों का अनुसन्धान करने की बात करनी थी, तो उसका नाम ही छूट गया ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, अग्निवक्त्र भी प्राग्दक्षिणोत्तर पश्चिम दिग्विभाग में ही प्रकल्पित होंगे । कहना यह चाहिये कि, आहुति देते समय विद्वान् याजक के सामने तीन मुख हैं । परभैरवमुख, भैरववक्त्र मन्त्ररूप और अग्निवक्त्र । आहुति अग्निमुख में देनी है । यह तीनों के एक साथ अनुसन्धान से होगी । अनुसन्धान भी एक प्रकार का आन्तर हवन ही है ।

पहली आहुति ॐलं सद्योजातवक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा से अग्नि के उत्तर मुख में तीन बार दी जायेगी । दूसरी आहुति अगले वक्त्र में विश्रान्ति के लिये उत्तर वक्त्र को साथ लेकर होगी । वहीं ओं लं सद्योजातवक्त्रेण वं वामदेववक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा इस प्रयोग से वामदेव मुख में विश्रान्ति हो गयी । तीसरी आहुति वं वामदेववक्त्रेण रं अघोरवक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा से अग्नि के दक्षिण मुख में होगी । चौथी आहुति पूर्वस्थ अग्नि मुख में अघोर और तत्पुरुष के साथ होगी । प्रयोग होगा-ओं रं अघोरवक्त्रेण सह ओं यं तत्पुरुषवक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा से पूरी विश्रान्ति तत्पुरुष वक्त्र में हो गयी और अग्नि के तत्पुरुष वक्त्र में आहुतियाँ पड़ गयीं । अब सबकी विश्रान्ति ऊर्ध्ववक्त्र रूप ईशान में होती है । इसी ईशान अग्निवक्त्र में आहुति देनी है । अत: ओं यं तत्पुरुषवक्त्रेण ओं क्षं ईशानवक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा इस मन्त्र से अग्नि के ऊर्ध्व मुख में पाँच आहुतियाँ पड़ीं । यह हवन के माध्यम से शैवानुसन्धान पूर्वक पूर्ण ऐशान व्याप्ति सम्पन्न होती है । तन्त्र का यही लक्षण है कि, समस्त उत्तर पश्चिम दक्ष पूर्व विस्फार रूप भेदभाव का ईशान के अद्वैत में विश्रान्ति हो जाय । इसी में जीवन का साफल्य है ॥२४०-२४२॥

मुमुक्षून्प्रति अस्यैव प्राधान्यादित्याह–

मुख्यमूर्ध्वं स्मृतं वक्त्रं गुणत्वमितरेषु तु ।

अथ कर्मौचित्यानुगुण्येन यन्मुख्यं वक्त्रं तदूर्ध्वं स्मर्तव्यम्–इत्यत्राप्यर्थेऽनुसन्धिमुक्त्वा प्रसङ्गाद्वक्त्रभेदेन होममाह–

मुक्तिकामस्य दीक्षायामूर्ध्ववक्त्रस्य मुख्यता ।।२४३।।

एतन्नैमित्तिकविषये ॥२४३॥

काम्ये तु विभागेनाह–

पादलेपाञ्जनाद्या वै सिद्धीस्तु विविधाश्च याः ।
सदाशिवान्तगाः सर्वाः पूर्ववक्त्रे तु होमयेत् ॥२४४॥

'विविधा' इति उत्तममध्यमाधमाः । होमयेदिति होमेन साधयेत् ॥२४४॥

मुमुक्षु का यही लक्ष्य है । उसके जीवन और व्यवहार जगत् में प्रधानतया ऊर्ध्व विश्रान्ति को ही मुख्यता रहती है । इस तथ्य को सामान्य दृष्टि से भी अवगम कर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, ऊर्ध्व वक्त्र ही मुख्य रूप से आत्मविश्रान्ति का आधार है । अतएव वही मुख्य है । इसके समक्ष इतर वक्त्र गौण माने जाते हैं । इसमें कर्म के औचित्य की आनुगुण्य मयी दृष्टि ही निर्णायक मानी जाती है । वक्त्रानुसन्धि की प्रक्रिया में भी ऊर्ध्ववक्त्र को ही सर्व विश्रान्ति धाम के रूप में स्वीकार किया गया है ।

अन्तिम निर्णयात्मक स्तर पर यह तथ्य घोषित किया जा सकता है कि, जो साधक मुक्ति की आकांक्षा से मुक्ति के निमित्त अपने जीवन को नयी दिशा देना चाहता है, तथा यह स्वीकार करता है कि, यह भौतिक जीवन एक वैवश्य भरा जीवन है । इससे मुक्ति अनिवार्यतः मिलनी ही चाहिये, उसे ऊर्ध्ववक्त्र दीक्षा को ही महत्त्व देना चाहिये ॥२४३॥

काम्य कर्म की दृष्टि से इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं –

अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों की पूर्त्ति में और उसकी सिद्धि में लोग लगे रहते हैं । इससे वे पादलेप व अञ्जन सिद्धियों द्वारा नाम और पैसा कमाना भी चाहते हैं । सिद्धियों के प्रदर्शन से लोगों को तत्काल विश्वास पैदा होता है । यही कारण है कि लोग पेशेवर बनकर यश और पैसा कमाने में जीवन खपा देते हैं । उन्हें मुक्ति नहीं मात्र भुक्ति चाहिये । उन जैसे लोगों के लिये सदा शिवान्त (पर्यन्त) सारी प्रवृत्तियों को पूर्ववक्त्र में होम करते हैं । इससे सिद्धियों में सौविध्य हो जाता है । सिद्धियाँ विविध प्रकार की होती है । जैसे १.उत्तम प्रसिद्धियाँ, २.मध्यम और ३. अधम सिद्धियाँ भी होती हैं । हवन से इनकी सिद्धि होती है । यह निश्चय है ॥२४४॥

मारणोच्चाटनादौ तु विद्वेषे स्तम्भने तथा ।
दक्षिणे चैव वक्त्रे तु होमात्सिद्धिः परा भवेत् ।।२४५।।
शान्तिकं पौष्टिकं चैव सौभाग्याकर्षणानि च ।
सौभाग्यारोहसिद्धिं तु उत्तरे होमयेत्सदा ।।२४६।।

आकर्षणं परचित्तादेः ॥२४६॥

नित्यविषयमप्याह–

पश्चिमे नित्यकर्माणि

सर्वैः कार्याणि तस्य विधिपूर्वकत्वात् ।

स एष

विनियोगः प्रकीर्तितः ।

एवं च यो यत्र वक्त्रे कर्म कर्तुं वाञ्छति स तदूर्ध्वे न्यसेत्, ऊर्ध्वं तु तत्स्थाने । यद्वक्ष्यति–

'.........येन यत्कर्म वाञ्छितम् ।
तन्मुख्यवक्त्रं संकल्प्य..........।।' इति॥(स्व. २/२६४॥

सन्दर्भवश कुछ सांसारिक व्यवहार पक्ष में काम आने वाले षट्कर्मों के विषय में कुछ जानकारी दे रहे हैं । शास्त्रकार कह रहे हैं कि, मारण, उच्चारण आदि तथा विद्वेष एवं स्तम्भन में भी दक्षिण वक्त्र में हवन करना चाहिये । इससे परासिद्धि की सम्भावना होती है ॥२४५॥

शान्ति कार्य, पौष्टिक कार्य, सौभाग्य संवर्द्धन के कार्य तथा आकर्षण अर्थात् दूसरे लोगों के चित्त को अपनी ओर खींचकर अपने अनुकूल कार्य करने का उपाय और सौभाग्य की ओर चढने की सिद्धि रूप कार्य को सफल बनाने के लिये उत्तर वक्त्र (सद्योजात वक्त्र स्थानीय वक्त्र) में हवन करना चाहिये ॥२४६॥

नित्य कर्म की सिद्धि के लिये वामदेव वक्त्र स्थानीय पश्चिम अग्निवक्त्र में हवन करना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, सभी कार्य उसकी अपनी स्वतन्त्र विधि के अनुसार ही होते हैं । इसलिये सब लोगों द्वारा विधि का ध्यान रखना चाहिये । इसके लिये सबसे पहले विनियोग करना चाहिये । विनियोग का अर्थ कार्य की सिद्धि के उद्देश्य से अमुकवक्त्र में होम करने का निश्चय होता है । हवन कर्त्ता कहता है कि, अमुकस्य पुरुषस्य चित्ताकर्षणाय जपे उत्तरवक्त्रे हवन कर्मणि च विनियोगः । इतना कहकर जल गिराकर जप शुरू करना चाहिये ।

एव प्रस्तुते नित्यकर्मणि

आज्यभागो हि होतव्य ऊर्ध्ववक्त्रे तु पश्चिमे ।।२४७।।

पश्चिमे सद्योजाते 'ऊर्ध्ववक्त्रे' ऊर्ध्ववक्त्रस्थाने प्रापित इत्यर्थः ।।२४७।।

एवमस्य भैरवापत्तिपर्यन्तान् संस्कारान् कृत्वा वह्नेर्भैरववक्त्रानुसन्धिना भैरवेणैकतां सम्पूर्य, इदानीमाज्यवह्न्योः क्रमेण त्रिधामत्वापादनार्थमाह–

आज्यपात्रस्य मध्ये तु दर्भौ वै भैरवेण तु ।
न्यसितव्यो वरारोहे ततो वै वर्त्मकल्पना ।।२४८।।

'तत' इति मध्यस्थदर्भद्वयदानाद्वर्त्मनां त्रयाणां मार्गाणां कल्पना कार्या । दर्भ इति जातावेकवचनम् ।।२४८।।

और अन्त में निश्चित वक्त्र में हवन करना चाहिये । इस तरह जिस अग्निवक्त्र में हवन करना चाहे, जिस कार्य की सिद्धि चाहे, वह उसे करे । आचार्य क्षेमराज ने 'तदूर्ध्वे न्यसेत्' रूप अनावश्यक बात लिखी है । वस्तुतः तत्स्थाने ही लिखना चाहिये । 'ऊर्ध्व' शब्द वक्त्र प्रकरण में ईशान वक्त्र में रूढ है । यहाँ ऊर्ध्व प्रयोग ऊपर अर्थ परक हो गया है । इस सम्बन्ध में आगे २४६वें श्लोक में मुख्य वक्त्र का अर्थ चौथी पंक्ति में ऊर्ध्व वक्त्र लिखा हुआ है ।

इस तरह मुख्य कार्य के उद्देश्य से उसी मुख्य वक्त्र में हवन करना चाहिये । मुख्यता के कारण कहने को तो शास्त्रकार ने ऊर्ध्व शब्द का प्रयोग कर दिया है किन्तु इस सन्दर्भ में यह भ्रामक हो गया है । हाँ पश्चिमे लिख देने से यह भ्रम टूट भी जाता है ।।२४७।।

यहाँ तक भैरवापत्ति पर्यन्त के जितने संस्कारों का वर्णन करके अग्नि में भी अग्निवक्त्र के रूप में भैरव वक्त्र से अनुसन्धि के बाद भैरव में पूर्ण विश्रान्ति रूप भैरव एकता का प्रतिपादन कर इस समय आज्य और अग्नि की क्रमशः त्रिधामत्वापत्ति का वर्णन कर रहे हैं–

आज्य पात्र के मध्य में दर्भ भैरव मन्त्र से न्यस्त करना चाहिये । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि पार्वति ! इस के बाद ही वर्त्मकल्पन सम्पन्न होता है । मध्य में दो दर्भ रखने से तीन वर्त्मों (रास्तों) की कल्पना की जाती है । वृत्त में दो दर्भ मध्य में रखने पर वह तीन भाग में बँट जाता है । एक भाग ही वर्त्म है ।

भैरव मन्त्र का उच्चारण कर पात्र में आज्य का सम्पात और इसके बाद दो दर्भों के रखने से तीन मार्ग बनते हैं। उन्हें नाड़ी मार्ग कहते हैं । इस प्रकार पात्र में तीन भाग हो जाते हैं । इसे ही नाड़ीत्रय वर्त्म कहते हैं ।

कथमित्याह–

उच्चार्य भैरवं पात्रे सम्पातं पात्य वर्त्मना ।
नाडीत्रयेण युगपत्पात्रे भागत्रयं न्यसेत् ।।२४९।।

नाडीत्रयरूपेण वर्त्मना मार्गत्रयेण भैरवं निष्कलमुच्चार्य आज्यगतभागत्रये त्रिष्ठया प्राणशक्त्या इच्छाज्ञानक्रियात्मना समं पातं विश्रान्तिं कृत्वा वह्निसोम-सूर्यात्मकधामत्रयमयं भागत्रयं 'न्यसेत्' अनुसन्दधीत ॥२४९॥

अत्र विभागः

सुषुम्नां मध्यमार्गस्थां दक्षे पिङ्गां प्रकल्पयेत् ।
इडाभागे तु यत्तेजो वामे सौम्यं प्रकल्पयेत् ।।२५०।

एवमाज्यं त्रिधाममयीकृत्य तद्धोमाद्वह्निमपि तन्मयीकर्तुमाह–

एवं त्रिभागं संकल्प्य स्रुवमापूर्य होमयेत् ।
भैरवेणैव मन्त्रेणाग्नये स्वाहान्तमेव च ।।२५१।।
अग्निभागात्तु संगृह्य

मध्यनाडिस्थं प्रकाशानन्दसारमग्नीषोमात्मकं धाम पृथक्त्वमाभासयद् वामे सोमतां श्रयति दक्षिणे तु वह्निताम्, तत्र सोमात्मनो हविषोऽन्तर्वर्तिनः प्रज्वालकस्या-

---

तीन नाडियों के कारण तीन बार निष्कल भैरव मन्त्र का उच्चारण स्वाभाविक हो जाता है । इस तरह आज्य पात्र में भी आज्य के तीन भाग स्पष्ट दीख पड़ते हैं । यह त्रिष्ठ प्राण शक्ति का प्रतीक बन जाता है । यही इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपी शक्तियों का आधार कहलाने योग्य हो जाता है । याजक को इस का अनुसन्धान करना चाहिये । इसी में प्रमाता वह्नि, प्रमाण सूर्य और प्रमेय सोम का त्रिधामत्व भी प्रतिफलित होने लगता है । ये सारी बातें अनुसन्धान की विषय हैं ॥२४९॥

इसी में मध्य नाडी मार्ग में सुषुम्ना (वह्नि) दाहिने मार्ग में पिङ्गला (सूर्य) और वाममार्ग में इडा भाग रूप सोमका प्रकल्पन सरलता से किया जा सकता है ॥२५०॥

इस प्रकार पात्र का आज्य त्रिधाममय हो जाता है । इस आज्य का हवन करना है । यह स्वाभाविक है कि, वह्नि में भी त्रिधामत्व का अनुसन्धान हो । समान धाम में समान आज्य की आहुतियों से सिद्धियों का चमत्कार घटित हो जाता है ।

इस प्रकार त्रिभागमयता का व्यापक अनुसन्धान याग के महत्त्व को सर्वातिशायी रूप प्रदान करता है । अब स्रुव के उस पात्र को आज्य से भरकर भैरव मन्त्र से 'अग्नये स्वाहा' बोल कर हवन करना चाहिये ॥२५१॥

भावाद् न मध्यवद्भेददाहकात्मत्वम् इति तत्प्रकाशकत्वमात्रात् सूर्यरूपताप्युच्यते, उपादानौचित्यात्तु अग्नितापीत्यग्निभागोऽत्र दक्षिणः, अत एवेह पिङ्गलेत्यग्निनाम्ना दक्षनाडी व्यवहिता[१] । तृतीयपटले तु–

'पिङ्गलामध्यमार्गेण [२]वर्णोच्चारक्रमेण तु ।' इति । (स्व. ३/२२)

'पिङ्गला मध्यमा नाडी' (स्व. ३/१४९)

यह ध्यान रखना चाहिये कि, जिस अग्निभाग से आज्य लिया जाय, उसी भैरव वक्त्र का ध्यान करते हुए हवन करना उचित होता है । मध्य नाडीस्थ आज्य सुषुम्ना धाम का है । यहाँ एक परम्परा क्रम से प्राप्त रहस्य की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं ।

पहले मध्यनाडी को सुषुम्ना मार्ग की संज्ञा से विभूषित किया है । इसी शास्त्र के तीसरे पटल के श्लोक २२ और १४९ में मध्यनाडी मार्ग को पिङ्गला मार्ग से अभिहित किया है । यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि, इस दोहरी उक्ति का क्या तात्पर्य है । इसे ही स्पष्ट कर रहे हैं –

मध्यनाडी को अग्निसोमात्मक मानते हैं । अग्नि प्रकाश का प्रतीक है । आनन्द का प्रतीक सोम है । अग्निसोमात्मक कहने से प्रकाश और आनन्द का सामरस्य सार वहाँ उल्लसित है, इसका अनुसन्धान होता है । इसके वाम भाग में सोम तत्त्व का और दक्ष भाग में वह्नि भाव आश्रय ग्रहण करता है । यह स्वभावत: प्रतीत होता है । ऐसी अवस्था में इस बात की अनुभूति तुरत होने लगेगी कि, जहाँ सोमता स्फुरित है, वहाँ क्या हविष्य को अग्निसात् करने की शक्ति काम करेगी ? नहीं । सोम में दाहकत्व नहीं होता । मध्य की तरह भेद का दाहकत्व नहीं होता । हाँ प्रकाश मात्रता तो रहती ही है । प्रकाश मात्रता में सूर्य का आधान भी होता है । सोम भी सूर्य का ही भर्ग भाग माना जाता है ।

ऐसी स्थिति में हवन का स्वरूप क्या हो ? यह मुख्य विचारणीय वस्तु है । उपादान की दृष्टि से यहाँ विचार करना उचित है । याग में अग्नि आज्य और होता सभी उपादान माने जा सकते हैं । अग्नि की अग्निता दक्ष भाग में रहती है । इसी आधार पर पिङ्गला को दक्षनाडी के रूप में स्वीकार करते हैं ।

एक और दृष्टि यहाँ विचारणीय है । पिङ्गला मध्यमार्ग है (३/२२) । उससे वर्णोच्चार क्रम से चक्र भेदन करते हुए ऊपर द्वादशान्त तक की यात्रा पूरी की जाती है । इस कथन में पिङ्गला को मध्यमार्ग कहा गया है । दूसरी उक्ति ३/१४९ की है । वहाँ तो यह स्पष्ट कहा गया है कि, मध्यमा नाडी ही पिङ्गला है ।

---

१. ग. पु. व्यवस्थितेति पाठः ।

२. क. पु. वक्त्रोच्चारेति पाठः, ख. पु. वर्गोच्चारेति पाठः ।

इति च मध्यनाड्युक्तेति युज्यत एव इति न कश्चित्पूर्वापरव्याघातोऽस्ति । ततो विभागोऽत्र दक्षिणकृतनाडीसम्पातानुसारं स्वदक्षिणस्ततो होमोऽग्नेर्दक्षिणे भागे । एवं वामेऽपि ज्ञेयम् ॥२५१॥

अथ

स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् ।
सोमभागस्तु सोमाय स्वाहेत्यन्ते समुच्चरन् ।।२५२।।

सप्रणवं निष्कलपूर्वोऽत्र मन्त्र: इत्यादिकमादिशन् पूर्वोक्तमनुवदति–

धामादिप्रणवाद्यं च स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् ।

क्रियाविशेषणमेतत् । ततोऽपि

अग्नीषोमेति संज्ञे द्वे स्वाहान्ते धाम चादित: ।।२५३।।
प्रणवाद्याज्यमध्यात्तु स्रुवमापूर्य होमयेत् ।
शुक्लपक्षे विधिर्ह्येष कृष्णपक्षेऽन्यथा भवेत् ।।२५४।।

अग्नीषोमेत्यत्र अग्नीषोमाभ्यामिति प्रयोग: । अयं शुक्लपक्षे विधि: ।

दीक्षा के सन्दर्भ में शिष्य के नाडी सन्धान का ही सन्दर्भ है । जो भी हो, इसमें अग्नि-सोमात्मकता का ध्यान रखना आवश्यक है । इसलिये सुषुम्ना के मध्य मार्ग के प्रसङ्ग में पिङ्गला नाडी का सङ्गीत किस वीणा की झंकृति से निष्पन्न है, यह रहस्य हमेशा ध्यातव्य है । इसमें पूर्वापर व्याघात नहीं हुआ है ।

इसलिये यहाँ जो विभाग प्रस्तुत है,वह दक्षनाडी की अग्निता की दृष्टि से ही प्रतिपादित है । जहाँ अग्निता या सूर्य की प्रकाश शीलता है,वह दक्षभाग है । दक्षनाडी पिङ्गल ही हो सकती है । इसलिये हवन की आहुति अग्नि के दक्षिण भाग मे ही देनी चाहिये । सोम भागीय आहुति अग्नि वामभाग में ही पड़नी चाहिये । यह निर्णीत सिद्धान्त है । इसके अनुसार ही होम कर्म का सम्पादन करना चाहिये ॥२५१॥

ये आहुतियाँ स्रुवा से क्षिप्त अर्थात् अग्नि को अर्पित की जाती हैं । सोम भाग सोमतत्त्व के वामभाग में अर्पणीय है । स्वाहा का प्रयोग तो अनिवार्यत: किया ही जाता है ॥२५२॥

अग्नीषोम में अग्नि और सोम दोनों के लिये अर्पितव्य आहुतियों के लिये अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा इस प्रकार मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । इसमें ओं का प्रयोग भी आवश्यक है । आज्य पात्र के मध्य से स्रुवा से घी निकाल कर होम करना चाहिये । यह विधि शुक्ल पक्ष की मानी जाती है । इसमें सोम की पूर्णता के कारण सोम के लिये आहुति दी जाती है । शुक्ल के अतिरिक्त कृष्ण पक्ष में इन्दु के क्षीण हो जाने के कारण सूर्य के द्वारा अन्विति हो जाती है । अत: सूर्याय स्वाहा से आहुति अर्पित करनी चाहिये । इसी को कृष्णपक्षेऽन्यथा भवेत् द्वारा व्यक्त किया गया है ॥२५४॥

तमाह

सोमभागे भवेत्सूर्यो ह्यग्निसंज्ञा तु पूर्ववत् ।
अग्नेः सूर्यस्य मध्याद्वै आहुतिं प्रतिपादयेत् ।।२५५।।
यतः सूर्यस्य मध्ये वे अमावस्यां विशेच्छशी ।

शुक्लपक्षे सोमस्य पूर्णत्वात् सोमायेत्याहुतिः । कृष्णपक्षे तु क्षीणस्येन्दोः सूर्यमण्डलाक्रमणात् सूर्यायेत्याहुतिः । मध्ये तु अग्नि सूर्याभ्यामिति । अन्यत्तु पूर्ववत् ॥२५५॥

एवमग्नेरपि त्रिधाममयत्वं सम्पाद्य

प्राशनार्थमतो होमो वक्त्राणां भैरवेण तु ।।२५६।।

कार्य इति शेषः । अत एव त्रिधाममयीकारादनन्तरं तेन प्रणवं निष्कलं वक्त्रमन्त्रं चोच्चार्य 'अग्नेः प्राशनं करोमि स्वाहा' इत्यन्तोऽत्र प्रयोगः । प्राशनं च भाविपाशभक्षणाद्यौचित्याधानम् ।

अन्यानपि संस्कारानेकप्रघट्टकेन शिवाग्नेः पुष्कलतासम्पत्तिसतत्त्वानाह–

चूडाद्या ये तु संस्कारा अग्नेर्बालान्तसंस्थिताः ।
प्रापणार्थाय सर्वेषां पूर्णामेकां प्रदापयेत् ।।२५७।।

सोम भाग में सूर्य का प्राधान्य होने के कारण सूर्य के लिये आहुतियाँ अर्पित करते हैं । अग्नि संज्ञा तो पहले से ही सुरक्षित है । सूर्य को आहुति प्रकाश के प्राधान्य से दी जाती है । अग्नि और सूर्य को आहुति देते समय अग्निसूर्याभ्यां मन्त्र से आहुति देनी चाहिये । सूर्य के मध्य में सोम का प्रवेश अमाकला में हो जाता है । वस्तुतः अमा में सूर्य तथा सोम दोनों साथ ही अस्त रहते हैं किन्तु प्रकाश के प्राधान्य के कारण आहुति सूर्य को अर्पित करते हैं ॥२५५॥

अग्नि का त्रिधामत्त्व पहले ही निर्णीत किया जा चुका है । इसलिये अग्नि के प्राशन के लिये भैरव मन्त्र से ही आहुति अर्पित करते हैं । इसके आधार पर प्रणव के साथ भैरव वक्त्र मन्त्रों के साथ अग्नि को प्राशन दे रहा हूँ, इतना कहकर स्वाहा का उच्चारण करना चाहिये । अत्र प्राशन संस्कार का तात्पर्य भविष्यत् कालीन पाशभक्षण प्रक्रिया की सक्रियता से लिया गया है । अतः इसका औचित्य सिद्ध हो जाता है ॥२५६॥

इस प्रकार विभिन्न संस्कारों का प्रयोग अग्नि के विभिन्न अवसरों पर उसके अस्तित्व को पुलकित करने के उद्देश्य से किया गया है । शिवाग्नि की शक्ति में पुष्कलता का उल्लास ही इसका लक्ष्य माना जाता है । इसके बाद चूडा-करण आदि सभी ऐसे संस्कार हैं, जिनसे अग्निका बाल भाव समाप्त हो जाता है ।

भैरवं तु समुच्चार्य

आदिशब्दादुपनयनादयो बालस्य ब्रह्मचारिणोऽन्ते ये संस्थिता उद्वाहादयः । अत्र च 'अग्नेः चूडाद्याः सर्वे संस्काराः सन्तु स्वाहा' इत्यन्तः प्रयोगः । पूर्णायामितिकर्तव्यता भविष्यति ॥२५७॥

एवं कृते सति प्रवृद्धः

शिवाग्निः सर्वसिद्धिदः

सर्वेषां समय्यादीनां सर्वाः सिद्धिर्ददातीति तन्त्रेणेत्यर्थः । एवं संस्कृताच्छिवाग्नेश्चर्वर्थं पुनःसंस्कारं विना नित्यकर्मार्थं च

'श्राप्याश्चरुपुरोडाशाः पञ्चसंस्कारसंस्कृते ।
अनाहूते शिवे वह्नौ........................ ।।'

इत्यन्यत्र उक्तत्वादनाहूतपरमेश्वर एव ।

अग्निं तु प्रोद्धरेत्पश्चात्पात्रे संस्थाप्य रक्षयेत् ।। २५८।।

कवचावगुण्ठितं रक्षितं कुर्यात् ॥२५८॥

गार्हस्थ्य तक की सिद्धि के लिये अर्थात् ब्रह्मचर्य की पूर्ति और विवाह तक की सम्पन्नता के लिये अब मात्र एक मन्त्र का ही प्रयोग कर अग्निशैवमहाभावसिद्ध कर देना चाहिये ।

वह मन्त्र इस प्रकार बनाया जाना चाहिये । 'ओं अग्नेश्चूडाद्या उद्वाहान्ताः सर्वे संस्कारा सन्तु स्वाहा' । इस मन्त्र से भी तीन आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं । इस प्रक्रिया से पूर्णता की इति कर्त्तव्यता मान ली जाती है ॥२५७॥

अब अग्नि पूर्ण शिवाग्नि रूप प्रौढ गृहस्थ पुरुष बन गया है । इसमें किसी उद्देश्य से होम किया जाय, उसकी पूरी सिद्धि प्रदान करने वाला होता है । सारे समयी आदि आचारों की पूर्णता के लिये आहुति देने पर तन्त्रात्मक सारी सिद्धियाँ निश्चित रूप से सिद्ध होती हैं । अब संस्कृत अग्नि में चरु साधन का अवसर आता है । इसके लिये एक आगमिक उक्ति का उद्धरण आहृत कर रहे हैं–

'चरु और पुरोडाश आदि पदार्थ उक्त पंच संस्कारों से सम्पन्न शिव अग्नि में अनाहूत अवस्था में भी परिपक्व किये (पकाये) जा सकते हैं ।' इस उक्ति के अनुसार चरु और पुरोडाश को सिद्ध करना चाहिये ।

इसके बाद अग्नि को उद्धृत करना चाहिये । फिर इसके बाद किसी सुरक्षित पात्र में उसे पुनः स्थापित कर लेना चाहिये । सुरक्षा के लिये उसे कवच मन्त्र से अवगुण्ठित करके ही अच्छी तरह देख रेख में रखना चाहिये ॥२५८॥

अथ

कुण्डस्य चोत्तरे भागे विष्टरस्य च बाह्यतः ।
प्रणीतं कल्पयेत्तत्र

विष्टरस्येति रुद्राश्रयस्य ।

प्रणीतं व्यचष्टे

चमसं वारिपूरितम् ।।२५९।।

'चमसं' दारुपात्रम् ।।२५९।।

तत्र च यज्ञध्वंसनाशिनो विष्णोरासनार्थम्–

पुष्पाक्षततिलैर्युक्तं पवित्रं तत्र विन्यसेत् ।

तस्मिंश्च

प्रणवादि समावाह्य विष्णुनाम ततो नमः ।।२६०।।
आमन्त्रणपदेनैव विष्णुं संस्थाप्य पूजयेत् ।
स्वागतासनपाद्यार्घैः

अत्र प्राग्वत्प्रयोगतः

ततो विज्ञापयेत्तु तम् ।।१६१।।

कुण्ड के उत्तर भाग में विष्टर के बाहर प्रणीता का प्रकल्पन करना चाहिये । परिपूरित अर्थात् जल से भरा हुआ चमस ही प्रणीता कहलाता है । यह ध्यान देने की बात है कि, चमस भी काष्ठ निर्मित यज्ञ पात्र माना जाता है । कुण्ड में विष्टर का जहाँ तक प्रश्न है, वह रुद्र का आश्रय स्थल ही माना जाता है ।।२५९।।

यज्ञ एक शुभ कार्य है । शुभकार्यों में बहुत सारे विघ्न भी आया करते हैं । विघ्नों को दूर करने दो देवता ही प्रसिद्ध है । १. विष्णु और २.गणेश । यहाँ विष्णु को यज्ञध्वंसनाशी कहा गया है । सर्वप्रथम अन्हें आसन देना चाहिये । आसन में फूल अक्षत और तिल का प्रयोग करते हैं । पवित्रक के ऊपर इन वस्तुओं को रखकर 'विष्णवे नमः आसनं परिकल्पयामि नमः' कहकर आसन रखकर आवाहयामि विष्णवेनमः कहकर आवाहनी मुद्रा दिखलानी चाहिये । विष्णु का इस प्रकार आवाहन कर संस्थापन और पूजन करना चाहिये । स्वागत आसन अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय आदि का अर्पण कर विष्णु को प्रसन्नकर लेना चाहिये ।।२५९-२६१।।

पश्वर्थं यज्ञ आरब्ध आत्मार्थं वाथ साधकैः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन यागे निश्छिद्रतास्तु नः ।।२६२।।

पश्वर्थं नैमित्तिके, दीक्षाविधानार्थं नित्ये, भगवन् काम्ये इति योज्यम् । एवमितिकर्तव्यतां कृत्वा

ततोऽग्नौ यजनं कृत्वा भैरवं तु प्रपूजयेत् ।

कथमित्याह–

स्थण्डिलोक्तविधानेन अनन्तादीन्प्रकल्पयेत् ।।२६३।।

अत्र विभागं तावदुक्त्वा कर्मौचित्येनाग्निवक्त्रजिह्वाकल्पनं कर्तुमाह–

ध्यात्वा वक्त्राणि पञ्चादौ येन यत्कर्म वाञ्छितम् ।
तन्मुख्यवक्त्रं संकल्प्य मुखं कुण्डप्रमाणतः ।।२६४।।
भावयेन्नव जिह्वास्तुवक्त्रे वक्त्रे प्रतिष्ठिताः ।

वक्त्राणां गुणमुख्यताकल्पनं पूर्वमेव सुविभक्तम् । मुखमित्यास्यम् ॥२६४॥

'भगवन् यह यज्ञ अमुक निमित्त से किया जा रहा है । इसमें जो भी निमित्त हो, उसका कथन अवश्य करना चाहिये । देव से अपना मन्तव्य छिपाना नहीं चाहिये वरन् स्पष्ट निवेदित कर देना चाहिये । भगवन् इसमें आप की कृपा अपेक्षित है । इसके लिये हमारी प्रार्थना है कि, इस यज्ञ में किसी प्रकार का छिद्र न रह जाय । वरन् विष्णु देव ! इसमें पूरी तरह निश्छिद्रता हो । यज्ञ के उद्देश्य के रूप में यह ज्ञातव्य है कि, पशु की यजमान की समृद्धि नित्यकर्म रूप यज्ञ सम्पन्न होता है और ऐश्वर्य समृद्धि के लिये कामनापूर्त्ति हेतु काम्य याग होता है ॥२६२॥

यह याग की इतिकर्त्तव्यता मानी जाती है । इसे पूरा करने के बाद ही यजन आरम्भ करना चाहिये । भैरव की विशिष्ट पूजा करनी चाहिये । स्थण्डिल विधान से अर्थात् वेदिका निर्माण कर यथा विधि पूजा होनी चाहिये । वेदिका में विधिवत् भैरव भट्टारक के साथ अनन्त आदि देवों का प्रकल्पन पर पूजा करने का विधान पूरा करनी चाहिये ॥२६३॥

इसके बाद उनसे अपने हृदय के भावों का निवेदन करना चाहिये । उन्हें यह विज्ञापित करना चाहिये कि,

इस प्रकार याग के पात्र, कुण्ड, विघ्ननिरसन आदि सभी यज्ञयागादि भागों के बाद यह सोचना आवश्यक है कि, आहुतियाँ अग्नि मुख में डाली जाने पर अग्निदेव उसके रस का आस्वादन कैसे करेंगे ? अग्निवक्त्रों की चर्चा पहले की जा चुकी है । यहाँ अग्नि जिह्वा प्रकल्पन का उपक्रम कर रहे हैं–

जिह्वानां दिग्विभागमाह

प्रागाद्यष्टौ मध्य एका

प्रागादि कृत्वा च ऐशान्तमष्टौ । तासां च

काम्यार्थे दिग्गतास्तु याः ।।२६५।।

याः प्रागादिदिगष्टस्थास्ताः काम्ये कर्मणि इत्यर्थः ॥२६५॥

ताः कर्मचोदितैर्नामभिरुद्दिशति

राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुकारिका ।
वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका ।।२६६।।

नवम्याः कर्मोचितं नामाह–

सर्वसिद्धिप्रदा मध्ये

यत एवं

तस्मान्मध्ये तु होमयेत् ।

सर्वप्रथम अग्नि के ऊर्ध्व, पूर्व, दक्ष, उत्तर और पश्चिम वक्त्रों का ध्यान करना चाहिये । जिस वक्त्र से जिस लक्ष्य कार्य की पूर्त्ति होती है, वही मुख्य वक्त्र होता है । उसे ऊर्ध्व भी कहते हैं । उसका ध्यान भी कर लेना चाहिये । अब उसके मुख्य वक्त्र का प्रकल्पन उसी कुण्ड के मान के बराबर मानकर उनकी नव[१] जिह्वाओं का भावन करना चाहिये । ये सभी प्रतिवक्त्र में प्रतिष्ठित रहती हैं ॥२६४॥

जिह्वाओं का वर्णन उनके दिग्विभाग अर्थात् किस दिशा में कौन जीभ है, इसका वर्णन भी कर रहे हैं –

पूर्व से लेकर ईशान तक आठ दिशाओं में आठ जीभें और एक जीभ मध्य में होने के कारण ये नौ मानी जाती हैं । सभी दिशाओं में रहने वाली जीभें काम्य कर्मों को सिद्ध करने में योगदान करती हैं ॥२६५॥

उनके नामों का उल्लेख उनकी अन्वर्थता के अनुसार कर रहे हैं । १.राज्यार्था, २.दाहजननी, ३.मृत्युदा, ४.शत्रुकारिका, ५.वशीकर्त्री, ६.उच्चाटनी, ७.अर्थदा, ८.मुक्तिदायिका, ९.सर्वसिद्धिप्रदा । इनके जैसे नाम हैं, उनके अर्थ के अनुसार ही फल प्रदान करने वाली मानी जाती हैं ॥२६६॥

नवीं सर्व सिद्धिप्रदा सर्वोत्कृष्ट अर्थात् सबसे अच्छी होती है । इसमें हवन करने से सारी सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त होने लगती हैं । यही मध्य में प्रतिष्ठित रहती हैं । इसलिये मध्य में हवन करते समय आहुति अर्पित करनी चाहिये । जो कुछ भी हो पूरी सिद्धि तो भैरव मन्त्र से ही प्राप्त होती है । इन जिह्वाओं का प्रकल्पन भी याग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । अतः सावधान रहकर आचार्य इसकी व्यवस्था करे ।

---

१. नव जिह्वाओं का उल्लेख यहाँ है । अमरकोष 'सप्तार्चि' मानता है । एक श्लोक धूमव्यापी सप्तजिह्वः धनुर्धर इति शारदातिलक ५/२९ का है । इस पटल में सात जिह्वाओं का प्रतिपादन है । ५/२०-२८ । वहीं अग्नि को सहस्रार्चि भी कहा गया है । ५/२९ सं०।

एवमुद्दिष्टानां

पूर्णा तु भैरवेणैव जिह्वानां कल्पनाय च ।।२६७।।
पुनः पूर्णाहुतिं चैव भैरवेण प्रदापयेत् ।

एकत्र मूलमन्त्रपूर्वम् 'अग्निजिह्वाः कल्पयामि' इति प्रयोगः । अन्यत्र 'जिह्वासन्निधिरस्तु स्वाहा' इति ॥२६७॥

अथ वह्नेः परमसंस्कारकरणपूर्वमनन्तादीन्प्रकल्पयेदिति यदुपक्षिप्तं तन्निर्वाहयति–

ज्वालाग्रं तु हृदागृह्य वह्निचैतन्यकल्पितम् ।।२६८।।
आत्महृत्स्थं तु संकल्प्य योगपीठं तु कल्पयेत् ।
मध्यजिह्वानुसारेण अग्निनाभौ तु कन्दकम् ।।२६९।।
नालं हृदवधि ध्यात्वा पद्मं तत्र विचिन्तयेत् ।

वह्निचैतन्यरूपतया 'कल्पितम्' भावितं ज्वालाग्रं 'हृदा' हृन्मन्त्रेण 'आगृह्य' नासापथेन[१] स्वीकृत्य हृद्गतचैतन्यानलैकीभावेन भैरवीकृत्य बाह्यवह्नेः सूक्ष्मदेहस्यापि भैरवतां कर्तुं

इसके बाद पूर्णाहुति का क्रम आता है। पूर्णाहुति हमेशा भैरव मन्त्र से दी जानी चाहिये। आहुतियों के पहले यह प्रयोग कर लेना चाहिये कि, मैं अग्नि की इन सभी जिह्वाओं का प्रकल्पन कर रहा हूँ। इतना कह कर जल छोड़ देना चाहिये। पुनः हवन करते समय कहना चाहिये कि, इन सभी जिह्वाओं का सान्निध्य हवन पर्यन्त रहे। इन विधियों को सजगता से निर्वाह देना चाहिये ॥२६७॥

अब अग्नि के परम संस्कार करण के पश्चात् अनन्त आदि देववर्ग के प्रकल्पन की आवश्यकता और विधि की चर्चा कर रहे हैं–

कुण्ड से निकलने वाली लपटों के शिखर भाग का ग्रहण हृदय में हृदय मन्त्र से करना चाहिये। इससे स्वात्म चेतना के उल्लास में संस्कार सम्पन्न अग्नि के माध्यम से भैरव महाभाव की भव्यता याजक को और भी दीप्तिमन्त बना देती है। वह ज्वाला का शिखर भाग वस्तुतः वह्निका भावित चैतन्य ही है। स्वात्म के हृदय केन्द्र में इसके चिन्तन से एक अद्भुत चेतना यहाँ उत्पन्न हो जाती है। आत्म चैतन्य, आग्नेय चैतन्य और भैरव देव का दिव्य चैतन्य एक साथ चमक उठते हैं। चेतना की त्रिवेणी के प्रवाह से अस्तित्व का अभिषेक हो जाता है। यह एक चेतना योग पीठ के रूप में प्रकल्पित किया जा सकता है।

---

१. ख. पु. नासापार्श्वेनेति पाठः ।

'योगोऽस्य शक्तय: स्वाक्या विस्फूर्जन्ति समन्तत:' । (१/५/५)

इति मतङ्गोक्तनीत्या 'योगपीठं' अनन्तादिसदाशिवान्तं शक्तिरूपमासनमस्य कल्पयेत् ॥२६९॥

पत्राष्टकसमोपेतं सितवर्णं सुतेजसम् ॥२७०॥
अनन्तं कल्पयेत्तत्र धर्मादिचरणान्तिकम् ।
ओंकारेण शिवान्तं च

गतार्थमेतत् ॥२७०॥

तत:

अग्निमूर्तिं प्रकल्पयेत् ॥२७१॥

प्राग्वत् हंसाक्षरेणैव ॥२७१॥

इसका एक दूसरा पक्ष भी विचारणीय है । अपने हृद्गत चैतन्य के आग्नेय चैतन्य के साथ ऐक्य का प्रकल्पन एवं उस परभैरव चैतन्य का अभिषेचन कितना महत्त्वपूर्ण हो जाता है । इस तरह कुण्ड में प्रतिष्ठित बाह्य वह्नि में एक सूक्ष्म चेतना के दर्शन होते हैं । इसके साथ ही अग्नि का बाह्य अस्तित्व भैरवभाव से भर जाता है । इसे भैरवीय योग कह सकते हैं । मतङ्ग शास्त्र के १।५।५ के अनुसार–'यह योग क्या है ? वस्तुत: इस भैरव देव की शक्तियों का समन्त भाव से परस्पर विस्फूर्जन ही है' भैरवीय योग की परिभाषा ही कही गयी है । यही 'योगपीठं' शब्द का भाव है । योगपीठ के रूप में एक अभिनव प्रकल्प भी सामने आता है । अनन्त से लेकर सदाशिव पर्यन्त सब के शक्ति रूप आसन भी योग पीठ कहे जा सकते हैं । इस ऐसे योग पीठ का प्रकल्पन करना चाहिये ॥२६९॥

आसन प्रकल्पन का प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, एक ऐसे कमल की रचना करनी चाहिये, जिसमें आठ पत्र हों । एकदम श्वेत वर्णी ! इतने दीप्तिमन्त जिनसे तेजस्विता से भरपूर किरणें फूट रही हों । यही आसन योग पीठ कहा जायेगा । इसके आठ पत्रों में प्रथम पत्र पर धर्म, द्वितीय पत्र पर ज्ञान, तृतीय पत्र पर वैराग्य और चतुर्थ पत्र पर ऐश्वर्य का उल्लास हो । इसी तरह पञ्चम पत्र पर अधर्म, षष्ठ पर अज्ञान, सप्तम पर अवैराग्य और अष्टम पत्र पर अनैश्वर्य भी धन पक्ष के साथ ऋण पक्ष को स्फुरित करते हों, ऐसे प्रकल्पन करना चाहिये । इसी तरह ॐकार से शिवान्त यह आसन प्रक्रिया पूरी होती है । इसी के समान अग्निमूर्त्ति का भी प्रकल्पन किया जाता है । यह प्रकल्पन हं बीजाक्षर के द्वारा ही होना चाहिये । हं बीजाक्षर गुरुमुख से ज्ञात करना चाहिये ॥२७०-२७१॥

ततोऽपि

शिखा हृदि स्थिता या तु ध्रुवेणोत्कीलयेत्पुनः ।
रेचकेण क्षिपेद्वह्नौ सा मूर्तिर्भैरवात्मिका ।।२७२।।

'ध्रुवेण' निष्कलेन 'उत्कीलयेत्' स्वचैतन्यभैरवेणैकीकृतामुद्धरेत्, ततो दक्षनासापथेन बाह्यवह्निमूर्तौ क्षिपेत्, एवमेषा मूर्तिर्भैरवात्मिका भवति ॥२७२॥

अथ

मूर्तिभूतं[१] प्रकल्प्यैवमष्टात्रिंशत्कलायुतम् ।
शोध्याध्वानं तु विन्यस्येद्दीक्षाकाले वरानने ।।२७३।।

अष्टात्रिंशत्कलाः पूर्वोक्ता वक्त्रभङ्ग्याद्युपलक्षणपराः । शोध्याध्वानमिति येनाध्वना गुरुर्दीक्षां चिकीर्षति ॥२७३॥

एवं कृत्वा

भैरवं पूजयित्वा तु शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
वक्त्रसन्धिश्च वक्त्राभ्यां शिववक्त्राग्निवक्त्रयोः ।।२७४।।

हृदय में आत्मचैतन्य की शिखा शाश्वत प्रज्वलित है । उसकी शिखा हृदय में ही प्रज्वलित रहती है । उस शिखा का उद्धार साधक को करना चाहिये । इसके उद्धार के लिये 'ध्रुव' अर्थात् निष्कल भैरव मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । इसकी विधि यह है कि, सबसे पहले स्वात्मचैतन्य भैरव और परभैरव चैतन्य में समरस भाव का ऐक्य स्थापित कर उसी शक्ति रश्मि को अग्नि शिखा के ऊपर क्षिप्त करना चाहिये । साधक इसमें दाहिनी पिङ्गला नाडी प्रवाह का आश्रय लेता है और रेचक द्वारा वह्नि पर प्रक्षेप करता है । वही अग्नि मूर्त्ति इस तरह भैरवात्मिका मूर्त्ति बन जाती है ॥२७२॥

इस प्रकार का प्रकल्पन करना शास्त्रीय रहस्य का प्रायोगिक स्वरूप है । इस मूर्त्ति में ३८ कलाओं का उद्भावन करना चाहिये । जिस अध्वा की दीक्षा लेनी है, गुरु देव से इस पर विचार विमर्श कर उसका शोधन कर लेना चाहिये । दीक्षा लेने के पहले इन बातों का पूर्ण निर्णय करने के बाद ही दीक्षा लेनी चाहिये ॥२७३॥

इतनी प्रक्रिया पूरी करने के उपरान्त शास्त्र प्रतिपादित कर्म विधान के अनुसार भैरव की पूजा करनी चाहिये । इस पूजन क्रम में वक्त्रों से वक्त्र सन्धि का अनुसन्धान तथा शिववक्त्र और अग्निवक्त्र इन दोनों का भी अनुसन्धान करना अत्यन्त आवश्यक होता है ।

---

१. क. पु. मूर्तिभेदेनेति, ख. पु. मूर्तिभूतेन कल्पयेति पाठः ।

शास्त्रदृष्टेनेति यथोक्तावरणान्तं मानसेनार्घादिक्रमेण । वक्त्राभ्यामिति बह्वर्थं द्विवचनम्, तेन वक्त्रमन्त्रैरित्यर्थः । शिववक्त्रे भैरववक्त्रम्, अत्र च 'ओं' लं सद्योजाताख्यभैरववक्त्रं शिवाग्निवक्त्रेऽनुसदन्धे स्वाहा इत्यादिक्रमेण[१] वक्त्रसन्धिश्च पूर्वोक्तवक्त्रसन्धिविलक्षणः कर्तव्यः ॥२७४॥

किञ्च,

सन्धाय चैवं जिह्वाभ्यां

अन्तर्बहिर्वह्निवक्त्राणां परमेशवक्त्रैर्मन्त्रपूर्वं जिह्वानुसन्धानं[२] कृत्वा

नाडीसन्धिरतो भवेत् ।

तदाह–

मूलमन्त्रं समुच्चार्य अग्निनासाविनिर्गतम् ।।२७५।।
स्थण्डिलस्थशिवालीनमेकार्थं चैव सन्धयेत् ।

अग्निहृदयाद्भावनया मूलमन्त्रमुच्चार्य तद्दक्षिणेन निर्गत्य स्थण्डिलेशस्य वामेन प्रविश्य दक्षिणेन निर्यायात्-इति क्रमेण सर्वावरणमन्त्रेष्वनुसन्धाय अग्नेर्वामेन विशेत् । एकार्थमित्यभिन्नं स्वच्छन्दभैरवात्मकं वाच्यदेवतारूपमित्यर्थ ॥२७५॥

इसके मन्त्र के रूप में उत्तर से सद्योजात वक्त्र से उसके बीज का प्रयोग कर भैरव वक्त्र में और पुनः इन दोनों का अग्नि वक्त्र में अनुसन्धि मय प्रयोग होता है । जैसे–ओं लं सद्योजातवक्त्रभैरववक्त्रानुसन्धि शिवाग्निवक्त्रे अनुसन्दधे स्वाहा । यहाँ श्लोक के अनुसार तीनों वक्त्रों की तीनों अनुसन्धियों में मेलन को सम्पन्न करना चाहिये । यही विलक्षण वक्त्रानुसन्धान है । इसके पूजन से भैरव के प्रत्यक्ष अनुग्रह की अनुभूति होती है ॥२७४॥

इसके बाद अन्तर और बाह्य दोनों वक्त्रों की जीभों से नाडी सन्धि करते हैं । इसके लिये सर्वप्रथम अग्नि हृदय से भावनात्मक मूल मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये । अग्निनासाछिद्र अर्थात् पिङ्गला से बाहर रेचक करना चाहिये । इसके पहले वाम से प्रवेश करना होता है । इसके बाद स्थडिलस्थ शिव-शिवा में लीनकर सार्वात्म्यैक्य का अनुसन्धान करने पर ही इसकी पूर्णता होती है । सब कुछ स्वच्छन्द भैरवात्मक रूप में स्फुरित होने लगता है ॥२७५॥

---

१. ख. पु. प्रयोगेणेति पाठः ।

२. ख. गः पु. संघट्टनमिति पाठः ।

एवमनुसन्धाय

शुद्धाज्येनाहुतिशतमष्टोत्कृष्टं वरानने ।।२७६।।
भैरवस्य तु होतव्यं वक्त्राङ्गानां दशांशकम् ।
भैरवाष्टकलोकेशान्दशमांशेन होमयेत् ।।२७७।।

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्थूलसूक्ष्मपरभेदादष्टोत्तरशतमिति (व्याप्त्या) द्वादश (२३९)-(अधिश्रयणादि श्लोक० २३२) संस्कारैरापादिताशेषविश्वमयत्वेन आज्येन अष्टोत्तरशतस्रुवहोमाद्भैरवमन्त्रदेवतां तर्पयेत्, अनुग्रहाभिमुखीकुर्यादित्यर्थः । वक्त्रादीनां दशांशत्वेऽभिप्रायो जपप्रकरणे निर्णीतोऽङ्गवद्देव्या देववदित्यन्ये ।।२७७।।

अथ

मूलमन्त्रं समुच्चार्य पूर्णामिकां प्रपातयेत्[1] ।

सर्वमन्त्रचक्रतर्पणाय ।

ततोऽपि प्रधानभूतमूलमन्त्रतृप्त्यर्थं द्वितीयां पूर्णां दद्यादित्याह–

भैरवाप्यायनार्थाय तथा पूर्णां प्रपातयेत् ।।२७८।।

इतने अनुसन्धान के बाद शुद्ध आज्य से १०८ आहुतियाँ देनी चाहिये । भगवान् कह रहे हैं कि, भगवति ! ये सभी भैरव भट्टारक के लिये ही अर्पित होनी चाहिये । अन्य सभी वक्त्राङ्गों को दशांश हवन करने का विधान है । इसी के साथ भैरवाष्टकों लोकेशों सभी को दशमांश हवन करना चाहिये । १०८ हवन करने का रहस्य यह है कि, सभी तत्त्व छत्तीस होते हैं । स्थूल, सूक्ष्म और पर भेद से इनका त्रिगुण एक सौ आठ ही होता है । इसी आधार पर विश्वात्मकता को तृप्त करने के उद्देश्य से इतनी आहुतियाँ दी जाती हैं । यहाँ सारा का सारा हव्य और आज्य आदि द्रव्य वर्ग द्वादश श्लो० २३९ संस्कार सम्पन्न कर लिया गया है । इनके हवन से समग्र भैरव तत्त्व तृप्त हो उठता है ।

ये आहुतियाँ आज्य की होती हैं और स्रुक् स्रुवा से दी जानी चाहिये । इससे सांम्मुख्य प्राप्त भैरव देव तुरत अनुग्रहार्थ तत्पर हो जातें हैं । दशांश हवन के सम्बन्ध में जप प्रकरण में निर्णीत तथ्य आधृत है । देवी द्वारा देव के समान सम्बन्धों की चर्चा को ही कुछ लोग कारण मानते हैं ।।२७७।।

इसके बाद सर्वमन्त्र चक्र को तृप्त करने के उद्देश्य से मूल मन्त्र का उच्चारण कर एक पूर्णाहुति प्रदान करनी चाहिये । इसके साथ ही प्रधान भूत मूल मन्त्र की तृप्ति के लिये दूसरी पूर्णाहुति तुरत देनी चाहिये । इससे भैरव देव का ही आप्यायन होता है । इसलिये इसका प्रयोग करना आवश्यक माना जाता है ।।२७८।।

---

१. ख. पु. प्रदापयेदिति पाठः ।

ततोऽपि

पुनर्न्यूनातिरिक्तार्थं निश्छिद्रकरणाय च ।

मूलेन पूर्णां पातयेदिति शेषः । न्यूनातिरिक्तनिवृत्त्यर्थमेव निश्छिद्रकरणम् ।

एवं नित्यहोमविधिं निर्वर्त्य

पश्चाद्धोमः यथेच्छं तु वरानने ।।२७९।।

यथेच्छमिति नैमित्तिकः काम्यो वा ॥२७९॥

यथैवं होमद्रव्यविभागं तत्तत्साधनाभिप्रायतो निर्दिशति-

सर्वकामप्रदो होमस्तिलैः शस्तो घृतान्वितैः ।

पृथक् तु

धान्यैर्धनार्थसिद्ध्यर्थं

आज्याक्तैरिति सर्वत्रानुषङ्गः । धनमजादिकम्, अर्थो हिरण्यादिकम् ।

घृतगुग्गुलहोमतः ।।२८०।।

जायते विपुला सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा ।

इसके बाद भी एक अन्य आहुति देते हैं । इसे भी पूर्णाहुति कह सकते हैं । इसे क्यों करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हें कि, यह स्वाभाविक है कि, किसी प्रक्रिया में न्यूनाधिकादि सम्पादन रूप दोष होते ही रहते हैं । इसलिये इन दोषों को दूर कर निश्छिद्रता और निर्विघ्नता हेतु इसे भी अवश्य देना चाहिये । इतनी विधि पूरी करने के बाद भी नैमित्तिक या काम्य कर्म फल प्राप्त्यर्थ इच्छा के अनुसार जितनी चाहें आहुतियाँ दे सकते हैं ॥२७९॥

काम्यादि कर्म सम्पत्ति को समृद्ध बनाने हेतु यह जानना आवश्यक होता है कि, जिन द्रव्यों को द्रव्य मानकर हवन करते हैं, वे कैसे हों ? क्या हों ? इनमें उत्तमोत्तमता का स्वरूप क्या हो ? यही कह रहे हैं–

समस्त कामनाओं की पूर्ति तिल के हवन से होती है अर्थात् तिल सर्वकामप्रद हविष्य माना जाता है । ये तिल घृत से समन्वित हों तो क्या पूछना । तिल में घी मिला भाव पूर्व हवन करना अत्यन्त उत्तम फलप्रद माना जाता है । धान्य के हविष्य से धन आदि समृद्धि रूप संवर्धन होता है । यह ध्यान रखना चाहिये कि, कोई भी हविष्य हो घृताक्त होना ही चाहिये । धन और अर्थ की जो परिभाषा यहाँ दी गयी है, यह तत्कालीन परिभाषा है । आज की परिभाषा में बड़ा परिवर्तन हो गया है । अर्थ राष्ट्रिय स्तर की समृद्धि की द्योतक है । धन से सभी धनी होते हैं और अजादिक समृद्धि सम्पदा के अन्तर्गत आ सकती है । इसी सन्दर्भ में यह बता देना भी आवश्यक है कि, घी में गुग्गुल मिलाकर बनाये गये हविष्य से विपुल सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यह निश्चित सत्य है । अधम, मध्यम और उत्तम कोटि की सिद्धियों के लिये यह हविष्य आवश्यक है ॥२८०॥

तथा

श्वेतारविन्दैराज्याक्तैः

होम: कार्य: ।

बिल्वैश्च श्रियमाप्नुयात् ।।२८१।।

क्षीराक्ततिलहोमेन शान्तिकर्म वरानने ।

प्रायश्च द्रव्याणि जातभेदेन चतुर्धा स्थितानीति तैर्होमार्हैः ।

सितरक्तपीतकृष्णैः शमनाकृष्टिपौष्टिकम् ।।२८२।।

मारणं च वरारोहे क्रमेण परिकल्पयेत् ।

किञ्च,

कुन्दपुष्पैः सुतार्थाय

होमो भवति ।

अशोकैः प्रियसंगमः ।।२८३।।

श्वेत कमलों को घी में डुबो-डुबोकर की गयी आहुति अनन्त फल प्रदान करती है । इससे भगवान् भैरव के साथ विष्णु भी प्रसन्न होते हैं । यह ध्यातव्य है कि, श्री समृद्धि की आकांक्षा करने वालों को बिल्व फल की आहुति अनिवार्यत: आवश्यक मानी जाती है ।

दूध से पके तण्डुल के व्यञ्जन को खीर कहते हैं । इसमें तिल मिलाकर हवन करने से शान्ति सद्भाव का महाफल प्राप्त होता है ॥२८१॥

जन्म से पदार्थों के स्वाभाविक रंग भी दीख पड़ते हैं । ये स्वभावत: चार प्रकार के होते हैं । १. सित (श्वेत रंग), २. रक्त (लाल रंग), ३. पीत (पीला रंग) और ४. कृष्ण (श्याम या काला रंग) । इन द्रव्यों से हवन करने पर क्रमश: १–पहले से शान्ति, २–दूसरे अर्थाद् रक्त द्रव्य से आकर्षण, ३. तीसरे अर्थात् पीत द्रव्य से हवन करने पर पुष्टि और ४. कृष्ण द्रव्य से आहुति करने पर मारण कार्य सिद्ध होते हैं । इनके ये क्रमिक फल अनिवार्यत: होते ही हैं ॥२८२॥

इस क्रमिकता में कभी-कभी अपवाद भी दीख पड़ता है । जैसे नमक श्वेत होता है किन्तु श्वेत नमक से कलह और कृष्ण नमक से मारण होता है । किसी प्राय: ये द्रव्य क्रमिक फल प्रद होते हैं । जिसे पुत्र की कामना हो उसे घृताक्त कुन्द फूल का हवन करना चाहिये । इसी तरह अशोक से हवन करने पर प्रिय मित्रों का मिलन अवश्यम्भावी है ॥२८३॥

जातिकुड्मलकैः कन्या गान्धर्वी बकुलोद्भवैः ।
नागैस्तु नागकन्या वै सिद्धार्थैः सिद्धकन्यका ।।२८४।।
चणयकैश्चाप्यप्सरसो नरेन्द्रः फल्गुषेण तु ।
घृताक्तेन वरारोहे समन्त्री सपुरोहितः ।।२८५।।
राज्ञी पुत्रसमोपेता वशं याति वरानने ।
यक्षिणी वशमायाति पुष्पैश्चैव कदम्बजैः[१] ।।२८६।।

सर्वेष्व[२]भिमतेषु तैरित्यनुषङ्गः कार्यः । नागैरिति पुंनागैः, सिद्धार्थैः पुष्पविशेषैः । यत्र यैः पुष्पैर्होमस्तत्र तैरेवार्चनं कार्यम्, फल्गुषमिति नृमांसम् ॥२८६॥

जाति चमेली के फूल को कहते हैं । इसके कुड्मल (कुट्मल) अर्थात् खिलने को तैयार अनखिली कलियों से किये गये हवन से कन्या उत्पन्न होती है । यह ध्यातव्य है कि,खिले फूल को भी कुड्मल कहते हैं (रघुवंश १८/३७) बकुल के कुड्मलों से हवन करने पर गान्धर्वी अर्थात् नृत्य गायनादि में निपुण गन्धर्व सती के समान पुत्री होती है । नाग (पुंन्नाग) के हवन से नाग कन्या होती है । सिद्धार्थ श्वेत सर्षप को कहते हैं । सफेद सरसों के पुष्पों से हवन करने से सिद्धकन्यका उत्पन्न होती ॥२८४॥

चणक चने के पुष्प या फलों से हवन करने पर अप्सरा सदृश कन्या उत्पन्न होती हैं । फल्गुष काकोदुम्बरी पौधे को कहते हैं । मनुष्य के मांस को भी फल्गुष कहते हैं । प्रकरण पौधों का ही है । इसके हवन करने से राजपुत्र पुरुष श्रेष्ठ होने वाला पुत्र उत्पन्न होता है । यदि इसे घी में चभोरकर हवन किया जाय, तो ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है, जो बड़े होने पर राजा बन जाता है । उसके अनेक मन्त्री होते है । उसके श्रेष्ठ वशिष्ठ सदृश पुरोहित भी होते हैं ॥२८५॥

इसी तरह कदम्ब के घृताक्त पुष्प से हवन करने पर भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, सुमुखि पार्वति ! उस देश की रानी अपने वश में हो जाती है । पुत्र के समान याजक को प्यार करने लगती है । उसके वश में यक्षिणी भी हो जाती है । इसलिये इन कार्यों की सिद्धि के लिये ऐसे हवनीय पुष्पों से हवन करना चाहिये । यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि, जिन फूलों से हवन करना है, उनसे ही देवार्चन भी करना चाहिये । फल्गुष मनुष्य के मांस को भी कहते हैं । यहाँ प्रकरण पौधों का है । अतः काकोदुम्बरी फल जिसे कौवे बहुत खाते हैं, उसे ही लेना चाहिये । यों नरेन्द्र सदृश उद्देश्य के लिये क्रूर हृदय लोग मनुष्य मांस का भी प्रयोग कर सकते है । इसका यहाँ निषेध भी नहीं है ॥२८६॥

---

१. ग. पु. कदम्बकैरिति पाठः ।

२. ख. पु. सर्वेष्वत्रेति पाठः ।

तथा

विद्याधरी कुय्यकैश्च साधयेन्नात्र संशय: ।

कुय्यकानि कुटकाख्यानि । 'नात्र संशय' इत्यनेन निश्चितप्रतिपत्ते: कर्म फलदं भवति इत्याह, अत एव शिष्यलक्षणे 'दृढव्रत' इत्येतत्साधकविषये योजितम् ।

होमे हस्तसंस्थानमाह–

मृगीं बद्धवा तिलैर्होम:

प्रसृततर्जनीकनिष्ठाङ्गुलिरङ्गुष्ठमध्यमानामासंदंशात्मा मृगीबन्ध: ।

पद्मबिल्वैरधिष्ठितम् ।।२८७।।

अखण्डितै: कृत्वा जुहुयादिति शेष: ।।२८७।।

भक्ष्यैर्ग्रासप्रमाणैस्तु धान्यै: प्रसृतिसंमितै: ।

अत्र च हस्तसंनिवेशो यथोचितमनुमन्तव्य: ।

उपसंहरति-

एवं होमानुसारेण साधको विधिसंस्थित: ।।२८८।।

कुय्यक कुटक को कहते हैं । इसके फूलों के हवन से विद्याधरी पुत्री उत्पन्न होती है । इस फल को यह हवन अवश्य सिद्ध करता है । इसमें संशय नहीं । नात्र संशय: शब्द निश्चित प्राप्ति को प्रमाणित करने वाला वाक्य है । साधक भी दृढव्रत होना चाहिये । यह शिष्य लक्षण के सन्दर्भ में व्यक्त है । निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि, दृढव्रती साधक वह निश्चित कर लेता है । भावना में दृढता चाहिये ।

होम करते समय मृगीबन्ध मुद्रा का प्रयोग अंगुलियों से करना चाहिये । मृगीबन्ध में कनिष्ठा और तर्जनी को फैला देते हैं । मध्यमा और अनामिका मिलाकर अंगूठे को ऊपर से रखकर आहुति की मुद्रा बनाते हैं । इन्हीं तीन अंगुलियों से हवन करते हैं । हवन तिल से करे । यहाँ घृताक्त का निर्देश नहीं है । यह निर्देश है कि, उस पर कमल या बिल्व से 'अधिष्ठितम् कृत्वा' होम करना चाहिये । यहाँ आचार्य अखण्डित अर्थ करते हैं । इसका अर्थ होगा कि, अत्यन्त छोटे जंगली बिल्वों से ही खड़े और पूरे बिल्व से हवन करना चाहिये । बिल्व के बड़े होने पर तो उन्हें खण्डित करने पर ही हवन सम्भव है ।।२८७।।

हवन की मुद्रा में तिल सदृश हविष्य के लिये मृगीबन्ध मुद्रा की बात कर चुके हैं । यहाँ ग्रास प्रमाण भक्ष्य की बात करते हैं । धान्य के हविष्य में ग्रास प्रमाण हविष्य हो ग्रास की ही अंगुलियों की मुद्रा भी हो । प्रसृति फैलाव को कहते है । इसके सम्मित अर्थात् मिलते जुलते माप का हो । सुविधानुसार इसे अपनाना चाहिये । होम की ये विधियाँ शास्त्रीय हैं । होम के अनुसार साधक विधिपूर्वक इसे सम्पन्न करे, यही उचित है ।।२८८।।

पूजाहोमरतो नित्यं यान्यान्कामान्समीहते ।
तांस्तान्स साधयत्येव भैरवस्य वचो यथा ।।२८९।।

'विधौ' शास्त्रनियन्त्रिते कर्मणि सम्यक् स्थितः 'कामान्' काम्यमानानि फलानि, यथा भैरवस्याज्ञा स ह्याग[1]मात्माज्ञामात्रेणैव सर्वं सम्पादयति । अथ च यथा येन सत्याभिसन्धिरूपेण भैरवस्य सर्वशक्तेः, न तु परिमितस्य कस्यचिदिदं वचः, तथा तेन प्रकारेण आश्वस्तानामेष विधिरनुष्ठीयमानः साधयत्येवाभीष्टमिति शिवम् ॥२८९॥

गुरुचरणसरोजामोदमत्तं मनो मे
यदिह किमपि तत्त्वं व्याकरोच्छैवशास्त्रे ।
विविधविधिरहस्यं स्यात्तदासेव्यमानं
भवहरहरधामावेशि सद्भक्तिभाजाम् ।।

इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य–व्याख्योपेतेऽर्चाधिकारो नाम द्वितीयः पटलः ।।२।।

श्रीमत्साम्बशिवार्पणं भूयात्

●

निष्कर्ष यह है कि, पूजा और होम में सतत संलग्न रहने वाला जिन जिन मनोरथों की पूर्त्ति चाहता है, उन्हें वह अवश्य ही साध लेता है । 'एव' अव्यय यहाँ निर्धारण अर्थ में प्रयुक्त है । इसमें संदेह के लिये अवकाश नहीं है । शास्त्रकार इसे और प्रमाणित करने के लिये कह बैठते है–भैरवस्य वचो यथा । अर्थात् सर्वशक्तिमान् भैरव की यह उक्तियाँ है । यथावत् इनका अनुपालन ही सर्व सिद्धिप्रद होता है ।

श्लोक २८८में प्रयुक्त विधि संस्थित शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य कह रहे हैं कि, शास्त्र से नियन्त्रित कर्म ही विधि कहलाते हैं । इनके सम्पादन में सम्यक् रूप से संलग्न रहना ही साधक का धर्म है ।

श्लोक २८९ में कामान् का अर्थ काम्य के अनुसार फल होता है ।

भैरवस्य वचः के विषय में वचः का तात्पर्य उनकी आज्ञा है । स अर्थात् वे भैरव भट्टारक आगमात्मा परम तत्त्व हैं । आज्ञा मात्र से सब कुछ सम्पादित करने में समर्थ हैं । इसलिये सत्याभिसन्धि में संलग्न कोई भी साधक यथावत् या जिस रूप में भी सर्वशक्तिमान् भैरव की आज्ञा की पूर्त्ति में रत रहता है,उसी प्रकार से वह आश्वस्त भी होता है । ऐसे लोगों के लिये ही यह विधि अनुष्ठित करने पर अभीष्ट सिद्धि प्रदान करती है, यह ध्रुव सत्य है ॥२८९॥

---

१. प. पु. अभ्युपगमेति ।

आचार्यवर्य श्री क्षेमराजकृत श्लोक का पद्यानुवाद–

गुरु पद-पद्मामोद से
मत्त यथा शिव शास्त्र-
की व्याख्या की, यह बने
जनहितकृत् ब्रह्मास्त्र ।।
गुरु चरणों का चञ्चरीक हूँ,
मेरे गुंजन में यह शास्त्र ।
भैरव तत्त्ववाद बन गुंजित,
पशुताका है पाशुपतास्त्र ।।
इसके विविध रहस्यों का है,
मेरी व्याख्या में उन्मेष ।
शिव भक्तों के लिये अमृत यह,
करे सतत भैरव-आवेश ।।

××× ××× ××× ×××

प्रवहति हृदये शैव सुधायाः सततं मधुमयधारा ।
आवर्त्तेषु निनर्त्तिषया निपतन्ति नियतसंस्कारा : ।
परिचिनोमि काँश्चित् नहि काँश्चित् वृत्तिर्भवति विवारा ।
तत्र निमज्जनोन्मज्जननादे स्फुरति परा चित्सारा- ।।
प्रतिभा तस्यां सदा श्रूयते सृष्टिसृजनसीत्कारः ।
नीरक्षीर विवेके स्फुरतात् सदा स एव विचारः ।
स्वच्छन्देऽस्मिन् द्वितये पटले निष्कल कला प्रसारः ।
मुदा कीर्त्यते मया स्मर्यते गुरु पदपद्मविहारः ।।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीक्षेमराजकृत उद्योतनामक विवरणसहित
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्यविभूषित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्रका
'अर्चाधिकार' नामक द्वितीयपटल परिपूर्ण ।।२।।
शुभं भूयात्

अथ

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

अथ तृतीयः पटलः

यत्र गलत्युन्मिषितेऽशेषा संसारवासनाविस्त्रा ।
अधिवासोऽसौ सर्वो जयति परानन्दनिःष्यन्दी ।।

एवं प्रासङ्गिकान्तरप्रमेयगर्भमवश्यानुष्ठेयं नित्यकर्मोक्त्वा प्राप्तनिरूपणावसरं नैमित्तिकप्रथमभूतमधिवासं निर्णेतुं भैरव उवाच–

अधिवासं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजकृतोद्योताख्यव्याख्योपेतः
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेकभाषाभाष्यसंवलितः

तृतीयः पटलः

[३]

जिसके नव उन्मेष से,
गलती भव-दुर्गन्ध ।
परानन्द-निष्यन्द जय,
जय अधिवासस्कन्ध ।।

इस पटल के आरम्भ का जीवन की जागरूकता और उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने के लिये अप्रतिम महत्त्व है । मङ्गल श्लोक में यह स्पष्ट लिखा गया है कि, इससे भव दुर्गन्ध विगलित हो जाती है । इस पटल का नाम ही अधिवास पटल रखा गया है । अधिवास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नैमित्तिक कार्य है ।

इसके कथन का और इसके निरूपण का अवसर स्वयं प्राप्त हो गया था क्योंकि इसके पहले प्रासङ्गिक रूप से नित्यकर्म पर प्रकाश डाला गया था । उसके अनुसार प्रमेय गर्भ नित्यकर्म नित्य अनुष्ठेय माने जाते हैं । इसलिये उसे नित्य प्रासङ्गिक भी मानते हैं । उसके बाद अर्थात् नित्यकर्म के अनन्तर नैमित्तिक कर्म का वर्णन होना ही चाहिये । नैमित्तिक कर्मों में सबसे श्रेष्ठ काम अधिवास माना जाता है । अत: इस अधिवास पटल का ही प्रारम्भ कर रहे हैं । आचार्य क्षेमराज इसे परानन्द निष्यन्दी मानते हैं । इस सम्बन्ध में भगवान् भैरव निर्णायक उपदेश करने जा रहे हैं । भगवान् कह रहे हैं कि,

देवगुरुशिष्यद्रव्याणां भाविदीक्षोचितयोग्यतात्मकसंस्कारपरिग्रहो यागगृहाधिकरणवसनं चाधिवासः, स च गुरुणा कार्यः, इति तत्संस्कारोपक्रममेव तमाह–

वारिणा सुविशुद्धात्मा कृतकृत्यः प्रसन्नधीः ।।१।।
भस्मोद्धूलितदेहस्तु मुद्रालङ्कारभूषितः ।
जिह्मजेनोपवीतेन सवासा वा दिगम्बरः ।।२।।

यहाँ मैं अधिवास विषय पर प्रकाश डालने जा रहा हूँ । यह वास्तविक रूप में जैसा होता है, उसी तरह यथावत् वर्णन करूँगा और आनुपूर्वी अर्थात् पारम्परिक रूप से क्रमबद्ध ढङ्ग से सिलसिलेवार उसे व्यक्त करूँगा ।

अधिवास की परिभाषा क्या है ? इसका उत्तर आचार्य क्षेमराज ने दिया है । उनके अनुसार उपास्य देव, गुरुदेव, शिष्य एवं प्रयोज्य द्रव्यों में दीक्षोचित योग्यतात्मक संकार पूर्ण परिग्रह और याग गृह में अधिवसन ही अधिवास है । इसमें देव, गुरु, विशेषकर शिष्य और प्रयोज्य द्रव्यों के महत्त्व को समझना चाहिये । भविष्यत् में सम्पन्न होने वाली दीक्षोचित योग्यतात्मक संस्कार की सम्पन्नता में उक्त तीनों का अपना अलग महत्त्व है । इसके लिये याग गृह का निर्माण और उसको आधार मानकर वहाँ अधिवसन ही 'अधिवास' माना जाता है । विनम्रता पूर्वक मैं यह कहना चाहता हूँ कि, इस परिभाषा से देव और गुरु शब्दों को अलग कर देना चाहिये । उपास्य की योग्यता का प्रकल्पन नितान्त हास्यापद है । गुरुदेव के महत्त्व को पहले ही निर्धारित किये बिना अधिवास की चर्चा भी अप्रासङ्गिक है । प्रथम पटल में गुरु के महत्त्व को पहले ही निर्धारित किया जा चुका है ।

एक अन्य कारण गुरु के महत्त्व का यह भी है कि, इस आवास अधिवास का पूरा उत्तरदायित्त्व उसी गुरु पर होता है । वही इसे कराता है । वही इसका प्रेरक भी होता है । इस अवसर पर गुरु की दीक्षोचित योग्यता की बात सोची भी नहीं जा सकती । इसलिये इस परिभाषा में प्रथमतः प्रयुक्त देव और गुरु शब्दों को यहाँ रखना दोनों के अपमान के सदृश है ।

अधिवास केवल गुरु द्वारा संचालित वह कार्य है, जिसमें दी जाने वाली दीक्षा की योग्यता शिष्य में आ जाय । याग गृह के अधिकृत स्थान पर रह कर उसमें योग्यता का परिग्रह सम्पन्न हो जाय । अतः केवल शिष्य का याग गृह में अधिकार प्राप्ति के लिये वास ही अधिवास है ।

सुगन्धिगन्धलिप्ताङ्गः पुष्पस्त्रग्दामभूषितः[१] ।
दिव्याभरणसम्पन्नः सुप्रसन्नः सुभावितः ।।३।।
सुधूपितः सुताम्बूलश्चन्दनागुरुचर्चितः ।

'आत्मा' शरीरं मनश्च । 'कृत्यं' संध्यावन्दनादि; अथ च कृतकृत्यः परभैरवैक्यपरिपूर्णः, तत एव 'प्रसन्ना' त्यक्तबाह्याभिलाषा 'धीः' यस्य । 'मुद्रा-लङ्कारभूषितः' शिखाकर्णप्रकोष्ठप्रतिष्ठापितपञ्चमुद्रः । 'जिह्मः' शवः 'तज्जेन' तत्केशजेन । एतच्च यथायोगं गृहस्थनैष्ठिकाचार्यविषयं व्याख्येयम् ।

इसमें द्रव्य शब्द का परिग्रह भी आवश्यक है । द्रव्य तो अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कर तत्काल शुद्ध कर लिये जाते हैं, उनका शोध नही किया जाता है । यह भी गुरुदेव पर ही निर्भर है । इसको स्वीकार कर आचार्य ठीक ही लिखते हैं–'स च गुरुणा कार्यः' । गुरुदेव ही सब सम्पन्न करते हैं । यह उन्हीं का चमत्कार है । अब यहाँ से अधिवास के लिये आवश्यक संस्कारों का उपक्रम कर रहे हैं–

यहाँ चार श्लोकों में शिष्य के लिये प्रयुक्त विशेषण शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं । इन विशेषणों में उसकी योग्यता का अभिव्यञ्जन हो जाता है । क्या क्या करते हुए याग गृह में प्रवेश करे और प्रवेश करने पर क्या करे, इसी का उपक्रम यहाँ कर रहे हैं–

१. वारिणा सुविशुद्धात्मा–'आत्मा' स्वयं शुद्ध, बुद्ध और स्वप्रकाश होता है । यहाँ 'आत्मा' शब्द से शरीर और मन का ग्रहण होता है । मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल से शरीर और मन दोनों शुद्ध हो जाते हैं । यह शिष्य की पहली विशेषता प्रधानतया अपेक्षित है ।

२. कृतकृत्यः–सन्ध्यावन्दन आदि कृत्य ही नित्य कृत्य हैं । इन कार्यों को वह कर चुका हो । परभैरवतादात्म्यपरिपूर्ण अर्थ यहाँ गलत है । पहला अर्थ ही पर्याप्त है । परिपूर्ण होने पर अधिवास अनावश्यक हो जाता है ।

३. प्रसन्नधीः–शिष्य के मन में आगे बढ़ने की प्रसन्नता हो । बाह्य अभिलाष अभी छूटता नहीं है–भोगेच्छा तथा मुमुक्षा का विमर्श शेष रहता है ।

४. भस्मोद्धूलितदेहः–दीक्षा गुरु द्वारा सम्पन्न करने के कारण उनकी आज्ञा से आवश्यक मान कर भस्म स्नान किया हो ।

---

१. ख. ग. पु. धामशोभित इति पाठः ।

'सुगन्धि' इत्यादिना इदमाह-यस्य स्वभावेन शिवभावनापरत्वं नास्ति स बाह्योपचारेणापि चेतः प्रसाद्य 'सुभावितः' शिवावेशोन्मेषमयः स्यात् । यतः

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति ।

मन्त्रदानव्रतादेश[1] शिष्यध्रुङ्नारकी भवेत् ।।'

इत्याम्नातम् ।

---

५. मुद्रालङ्कार भूषितः–मुद्राओं और अलङ्कारों से भूषित हो । भस्म से उद्धूलित (धूसरित) देह की अवस्था में अलङ्कार ग्रहण की बात बैठती नहीं । इसलिये सभी विशेषण प्राकरणिक हैं–यह मानना चाहिये । गुरु जिस दीक्षा से उसे अनुगृहीत करना चाहता है–वही वेष उसका होना चाहिये ।

६. जिह्मजेनोपवीतेन सवासा वा दिगम्बरः–जिह्म शव को कहते हैं । शवों से उत्पन्न बालों के द्वारा निर्मित उपवीत पहना हो । यह अर्थ भी अप्रासङ्गिक है । जिह्म शहतूत के कीड़े के उबले और मृत शरीर को कहते हैं । उससे रेशम निकलता है । रेशम के सूत्र से निर्मित रेशमी यज्ञोपवीत धारण किये हो । इसके साथ वह वस्त्र धारण करे या भस्म धारण कर दिगम्बर ही हो । गुरु की व्यवस्था के अनुसार हो ।

७. सुगन्धिगन्धलिप्ताङ्गः–उसके सारे अङ्ग सुगन्धित पदार्थों की सुगन्ध से सुरभित हो रहे हों ।

८. पुष्पस्रग्दामभूषितः–कुसुमावली और कुसुममालिकाओं के लालित्य से ललित लग रहा हो ।

९. दिव्याभरणसम्पन्नः–दिव्य का अर्थ सर्वातिशायी सौन्दर्य का आकर्षण होता है । ऐसे आकर्षक आभूषणों को धारण कर वहाँ उपस्थित हो ।

१०. सुप्रसन्नः–प्रसन्नधीः का प्रयोग पहले किया जा चुका है । सु उपसर्ग उसकी प्रसन्नता में चार चाँद लगा रहा है ।

११. सुभावितः–भोगेच्छा हो, तो बाह्य उपचारों से भावित हो या मुमुक्षा में भैरवतादात्म्य भावित हो ।

१२. सुधूपितः–धूपन की प्रक्रिया उस समय चलती थी । सौन्दर्य प्रसाधन गृहों में अब भी चलता है । शिष्य भी सुधूपित हो ।

१३. सुताम्बूलः–जायफल, घनसार, सुधा, मधुरिमा (कत्था) से पके पत्तों वाले पान के बीड़े का आनन्द ले रहा हो ।

---

१. ख. ग. पु. व्रतादेशि इति पाठः ।

किं कुर्यादित्याह–

मखद्वारप्रदेशे तु स्थित्वा प्रागिव भावितः ।।४।।
द्वाराध्यक्षान्पूजयित्वा पुष्पप्रक्षेपणं ततः ।
हुंफट्कारप्रयोगेण तालशब्दं विधाय च ।।५।।
पार्ष्ण्यधोहस्तसंयोगाद्विघ्नप्रोच्चाटनाय वै ।
पार्ष्ण्या भूमिगतान्हन्यात्तालया चान्तरिक्षगान् ।।६।।
मन्त्रैर्दिव्यान्विशोध्यैवं यागहर्म्यं विशेत्ततः ।

---

१४. चन्दनागुरुचर्चितः–चन्दन अगुरु ये दोनों सुरभित पदार्थ हैं । इनके प्रयोग से समन्वित हो ।

इन चौदह विशेषणों से विशिष्ट शिष्य शिव की शक्ति के आवेश के उन्मेष से समन्वित हो, इनका यही निष्कर्ष है । इस विषय में एक आगमिक उक्ति है–

"क्रिया के सम्पन्न करने के अवसर पर संसार से उद्धार की ही भावना से भावित रहना चाहिये । इसमें अवज्ञा या प्रमाद नहीं होने चाहिये । मन्त्र दान की दीक्षा प्रक्रिया, इसके लिये किये जाने वाले व्रतादेश, इस प्रक्रिया में तत्पर शिष्य इन सबका द्रोह या विरोध करने वाला नरक का भागी होता है ।"

अतः शास्त्र का आदेश ही सर्वोपरि है, यह धारणा दृढ़ता पूर्वक धारण कर प्रक्रिया को भावित भाव से सम्पन्न करना चाहिये ॥१-३॥

यहाँ तक शिष्य को तैयार कर लिया गया है । गुरु के आदेशानुसार सज धज कर वह यागगृह के दरवाजे पर उपस्थित हो गया है । वह पूर्ववत् पूरी तरह भैरव भाव भावित है । उसका पहला कर्त्तव्य यह है कि, वह द्वार के अध्यक्षों की पूजा करे । गणेशादि देवता द्वार देश के स्वामी माने जाते हैं । अतः उनकी पूजा करनी चाहिये । इसके बाद वह हाथ में फूल लेकर चतुर्दिक् प्राक्षिप्त करे ।

'हूँ फट्'इस अस्त्र प्रयोग के बाद ताल शब्द से स्थान शब्दायमान करे । दोनों हाथों से बजाने को, दीवाल पर थपथपाने को या सबल पदचाप से निःसृत ध्वनि को ताल कहते हैं । इसे शिष्य करे । पार्ष्णि (एडी) के प्रबल प्रहार और नीचे किये हुये हाथों के संयोग से भी ताल ध्वनि का स्फोट होता है । इसके करने से विघ्नों का पूरी तरह विनाश हो जाता है । वस्तुतः विघ्नविनिवारण के लिये ही ताला ध्वनि उत्पन्न की जाती है ।

पुष्पप्रक्षेपणं तालाशब्दं विघ्नप्रोच्चाटनाय पार्ष्ण्या अधोभूमिसंयोगाद् हस्तसंयोगाच्च विधायेति विदधद्विशेदिति योजना । 'अन्तरिक्षं' भुवोलोक: । स्पष्टमन्यत् ।।६।।

अथ

रक्षां पूर्ववदस्त्रेण परित: परिकल्पयेत् ।।७।।
वर्मणा मायारूपेणाच्छाद्यैव तु मखालयम् ।
ततो दक्षिणदिग्भागे उपविश्य वरानने ।।८।।
करन्यासं यथापूर्णं दहनोत्पूयने तथा ।
प्लावनाप्यायने चैव सकलीकरणं तथा ।।९।।
पूर्ववन्मानसं यागमन्तर्देहे समाचरेत्[1] ।

'पारित' इति अस्त्रप्राकाररूपाम्, 'मायारूपेण' इति माया हि कलातत्त्वान्ताशेषाच्छादिका दुर्भेदा चेति तद्रूपेण । शिष्टं निर्णीतपूर्वम् ।।९।।

अन्तर्यागे प्रागुक्तं विधिं स्मारयति–

शक्त्याधारमनन्तं च धर्मादिचरणावधि ।।१०।।
गात्रकाणि त्वधर्माद्यास्तथा सन्धानकीलकान् ।
अधश्छादनमूर्ध्वं च पद्मकेसरकर्णिका: ।।११।।

इसका दूसरा प्रकार यह है कि, पार्ष्णि से भूमिगत विघ्नों का विनिवारण करना चाहिये । ताली ध्वनि जो मात्र हाथों से या चुटकी से उत्पन्न की जाती है इससे अन्तरिक्ष गत विघ्न विनष्ट करना चाहिये । शिष्य वहाँ यह प्रक्रिया भी अपनाये । इतनी क्रिया पूरी कर विघ्नों का निवारण कर तथा मन्त्रों से शोधन करने के उपरान्त याग गृह में प्रवेश करना चाहिये ।।४-६।।

पहले की तरह अस्त्र मन्त्र से चारों ओर कवचित कर रक्षा का प्रबन्ध कर लेना चाहिये । पूरे मखालय अर्थात् याग वेश्म को वर्म से वेष्टित कर लेना चाहिये । इसके बाद दक्षिण दिशा के बैठने के स्थान पर उपवेशन करना चाहिये ।।७-८।।

इसके बाद करन्यास, प्राणसाधना द्वारा दोष का दहन पुन: उत्पूयन व्यापार भी पूरा कर लेना चाहिये प्लावन, आप्यायन, सरलीकरण और पूर्ववत् आन्तरयाग की प्रक्रिया पूरी कर लेनी चाहिये ।।९।।

अन्तर्याग की विधि[2] का स्मरण दिला रहे हैं–

---

१. ख. पु. समारभेदिति पाठ: ।

२. स्व. त. पटल २/१६१-१६५ ।

पुष्कराणि च शक्तींश्च मण्डलान्मण्डलाधिपान् ।
[1]शिवान्तमासनं दद्यात्पूर्वरूपं ध्रुवेण तु ।।१२।।
मूर्तिब्रह्मकलाव्यूहं नवतत्त्वं त्रितत्त्वकम् ।
द्वात्रिंशदक्षरं देवं भैरवाष्टकमेव च ।।१३।।
विद्याङ्गानि तथा देवीं क्षुरिकां लोचनत्रयम् ।
शक्तित्रयं परं देवमङ्गषट्कसमन्वितम् ।।१४।।

निर्णीतं चैतत् । नैमित्तिकेऽपि सर्वमेतत् कार्यमिति पुनः पाठेऽभिप्रायः ॥१४॥

अपि च–

मुद्रामन्त्रांश्च द्रव्याणि यथास्थानं प्रकल्पयेत् ।

आवाहनस्थापनसन्निधाननिरोधनादिरूपा 'मुद्राः' आसनतो भैरवान्तान् मन्त्रान्, पाद्याचमनीयार्घादीनि द्रव्याणि । यथास्थानमिति पूर्वोक्तया नीत्या ।

तदेतत्सर्वं

संकल्प्य च यथान्यायं यथायोगं प्रकल्पयेत् ।।१५।।

यथायोगं यथाक्रमं यो यो 'न्यायो' निरूपितव्याप्त्यनुसरणं तदनतिक्रमेणेत्यर्थः ॥१५॥

शक्ति का आधार अनन्त, धर्मादि (श्लोक २/१६१) चरण पर्यन्त, गात्रक (२/६४) रूप अधर्मादि (२/१६२), संधान कीलक, अधश्छादन, ऊर्ध्व प्रकल्पन, पद्म, केसर, कर्णिका, पुष्कर, शक्तियाँ, मण्डल मण्डलाधिप, शिवान्त के आसन, मूर्त्ति ब्रह्म, कलाजाल, नव तत्त्व त्रितत्त्व बत्तीस अक्षरी भैरव मन्त्र, भैरवाष्टक, विद्याङ्ग, क्षुरिका, लोचनत्रय, शक्तित्रय अङ्ग वक्त्र समन्वित परमदेव इन सभी का पूर्ववत् नैमित्तिक प्रसङ्गों में भी अनुयजन होना ही चाहिये ॥१०-१४॥

इसके अतिरिक्त यहाँ प्रयोज्य मुद्राओं, मन्त्रों, द्रव्यों को यथास्थान प्रकल्पित करना भी आवश्यक है । मुद्राओं के विषय में पहले भी कहा जा चुका है । यहाँ भी स्पष्ट कर रहे हैं कि, आवाहन, स्थापन, संनिधापन, तिरोधानादिरूप मुद्रायें होती हैं । आसन से भैरव पर्यन्त प्रयुक्त मन्त्र निर्णीत हैं । पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, धूप दीपादि नैवेद्यादि द्रव्य हैं । इनको यथा स्थान प्रकल्पित कर लेना चाहिये । इनका संकल्प पूर्वक विधिवत् योग्यतानुसार प्रयोग होना चाहिये । इसमें प्रयुक्त न्याय शब्द का तात्पर्य केवल विधि का ही अनुसरण है ॥१५॥

---

१. ख. ग. पु. शवेति पाठः ।

अथावरणन्यासमपि स्मारयति–

सद्योजातं च वामं च अघोरं च यदुक्तवान् ।
पुरुषेशौ च देवस्य दलस्थांश्चोपकल्पयेत् ।।१६।।
हृदयादींस्ततः पञ्च दिशासु विदिशासु च ।

उक्तवानहमित्यर्थः । दिशास्वित्यादिरैशः पाठः ॥१६॥

किञ्च,

पूर्वतो यावदीशान्तं भैरवावरणं बहिः ।।१७।।
लोकपालांस्तदस्त्राणि पूर्वादीशान्तकावधि ।

परिकल्पयेदित्यनुषज्यते ॥१७॥

मन्त्रसन्धानमाह–

अस्त्राणि लोकपालांश्च भैरवाष्टकमेव च ।।१८।।
पञ्चब्रह्माण्यथाङ्गानि एतान्यावरणानि हि ।
क्रमेणोच्चारयेत्सर्वान्यावत्तद् गर्भमैश्वरम् ।।१९।।
मन्त्रसन्धानमेतद्धि परमीकरणं शृणु ।

'शूलहस्तायेशानाय नमः' इति प्रातिलोम्यक्रमेण सकलान्तमुत्तरोत्तरलीनताक्रमेणोच्चारणं 'मन्त्रसन्धानम्' 'पञ्चब्रह्माण्यथाङ्गानि' इति प्रातिलोम्यक्रमेऽप्यानुलोम्येन पाठो वक्त्राङ्गानामेकावरणहेतुतया इति त्र्यावरणोऽयं क्रमः ॥१९॥

इसी तरह आवरण न्यास का भी स्मरण[1] दिला रहे हैं–

सद्योजात,. वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान के साथ ही हृदय आदि न्यास, इनकी दिशायें और विदिशायें पूर्व से लेकर ईशान कोण तक भैरव के बाह्य आवरण आदि का ध्यान कर लेना चाहिये ॥१६-१७॥

लोकपालों के अस्त्र, लोकपाल, भैरवाष्टक, पञ्च ब्रह्म[2] (आठ दिशाओं के रक्षक आठ लोकपाल भी भैरव रूप ही हैं) और उनके अङ्ग रूप इन सभी को आवरण आदि क्रम से उच्चारित करने चाहिये । यह सब मन्त्र सन्धान के ही अन्तर्गत है । वस्तुतः मन्त्र सन्धान 'शूलहस्ताय ईशानाय नमः' इस मन्त्र से प्रतिलोम भाव से आरम्भ कर प्रतिलोम क्रम से सकल पर्यन्त एक में लीन करते हुये उच्चारण करना माना जाता है । ईशान का अस्त्र शूल है । अस्त्रों के साथ सभी का स्मरण आवश्यक होता है । श्लोक १७ में पूर्व से ईशान्त के आनुलोम्य और यहाँ से ईशान से पूर्व के प्रातिलोम्य पर ध्यान देना चाहिये ॥१८-१९॥

---

१. स्व० त०२/१७० ।
२. एतदेव–२/१२९ ।

अथ

उच्चारयेत्ततो देवं ह्रस्वदीर्घप्लुतान्वितम् ।।२०।।
तावदुच्चारयेन्मन्त्रं यावन्निर्वाणगोचरम् ।

'देवं' द्योतनादिसतत्त्वं श्रीनिष्कलम् । ह्रस्वेत्यादि,

'ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम्' (६/४)

इति पञ्चप्रणवाधिकारे वक्ष्यमाणस्थित्या अकारोकारमकारबिन्दुनादवर्णकलासु ह्रस्वादिमात्रारूपासु वक्ष्यमाणव्याप्त्यनुसारेण विश्रम्य 'निर्वाणगोचरं' द्वादशान्तं यावन्मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः ॥२०॥

परमीकरण एक प्रयोग है । इसके विषय में बता रहे हैं–परमीकरण एक प्रक्रिया है, जिसमें हृदय से ऊर्ध्व द्वादशान्त और ऊर्ध्व द्वादशान्त से हृदय पर्यन्त संहार-सृष्टि क्रमों को अपनाकर तन्मयतापूर्वक परम भाव प्राप्त होता है । इस क्रिया में जो कुछ किया जाता है, उसी का क्रम पूर्वक निर्देश कर रहे हैं–

मन्त्र सन्धान के बाद यह प्रक्रिया अपनायी जाती है । इसमें भैरव देव के निष्कल मन्त्र (१/६९) का उच्चारण करना चाहिये । उच्चारण का क्रम ह्रस्व दीर्घ और प्लुतस्वर क्रम से अन्वित होना चाहिये । मन्त्र को तब तक उच्चारित करना चाहिये, जब तक निर्वाण गोचर पद का आन्तर स्पर्श न हो जाय ।

इस पद में भैरव के लिये 'देव' विशेषण का प्रयोग किया गया है । दिव् धातु के जितने अर्थ होते हैं, उन सबसे परिपूर्ण देव होता है । वह द्योतन धर्म के साथ विश्वविजेता होता है । वही निष्कल तत्त्व मय देव है । उसी का उच्चारण होता है । इस उच्चारण का क्रम ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के पर्यवसान तक होना चाहिये ।

यह उच्चारण बड़े भावपूर्वक होना चाहिये । बोलते-बोलते उसमें इतना रम जाय कि, साधना क्षेत्र के अन्तिम बिन्दु तक पहुँच जाय अर्थात् निर्वाण बिन्दु गोचर हो जाय अर्थात् उसमें रमकर खो जाय । ह्रस्व दीर्घ आदि का वर्णन पटल ६ श्लोक ४ में कहा गया है कि,

'ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के क्रम से परशिव तादात्म्य उपलब्ध हो जाता है ।'

यह तथ्य पञ्चप्रणवाधिकार प्रकरण में कही गयी है । इस उक्ति के अनुसार अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नादात्मक वर्ग कलाओं में ह्रस्वादि रूपों के एक अनिर्वचनीय शैव-भाव की व्याप्ति की अनुभूति होती है । इन बिन्दुओं पर लघु विश्राम करते हुए निर्वाण गोचर स्थान अर्थात् द्वादशान्त पर्यन्त निष्कल मन्त्र उच्चारित करना चाहिये ॥२०॥

अत्रैवेतिकर्तव्यतां [1]पूरयति–

अधःशक्तेर्यावदूर्ध्वं सोमसूर्यपथान्तरा ।।२१।।
पिङ्गलामध्यमार्गेण वर्णोच्चारक्रमेण तु ।
देवतापञ्चकं शक्तिं व्यापिनीं समनोन्मने ।।२२।।
भेदयित्वा क्रमात्सर्वं यावद्वैनिधनान्तिकम् ।
निस्तरङ्गं निरध्वाख्यं सकलव्यापि चोन्मनम् ।।२३।।

यहाँ और क्या करना चाहिये, इस विषय की इतिकर्त्तव्यता का वर्णन कर रहे हैं–

अधः शक्ति से अर्थात् मूलाधार से ऊर्ध्व पर्यन्त प्राणापानवाह की विभिन्न सक्रियता से साधक परिचित होता है । यह प्राण सूर्य और अपान चन्द्र का संचरण-पथ है । इसमें मध्य मार्ग पिङ्गला (सुषुम्ना) और पिङ्गला (दक्ष नाडी) मार्ग से ही वर्णोच्चार होता है । इसी क्रम से ब्रह्मा से सदाशिव पर्यन्त पाँच देववर्ग के चक्रों का भेदन करते हैं ।

यहाँ इस क्रम पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । ब्रह्म पञ्चक के तत्काल बाद शक्ति का क्रम नहीं आता । किन्तु यहाँ तुरत बाद शक्ति का उल्लेख है । यह रहस्य को छिपाकर कहीं का कहीं रहस्य को उद्घाटित करने के सदृश है । ब्रह्म पञ्चक के बाद श्लोक २० का क्रम अपनाना चाहिये ।

वस्तुतः सदाशिव का चक्र विशुद्ध चक्र है । इसका क्रम इस प्रकार है–

१. मूलाधार चक्र	बीजमन्त्र लं	देवता ब्रह्मा
२. स्वाधिष्ठान चक्र	बीजमन्त्र वं	देवता विष्णु
३. मणिपूर चक्र	बीजमन्त्र रं	देवता रुद्र
४. अनाहत चक्र	बीजमन्त्र यं	देवता ईश्वर
५. विशुद्ध चक्र	बीजमन्त्र हं	देवता सदाशिव

छठाँ चक्र आज्ञा है । विशुद्ध से आज्ञा में प्रवेश में उदान वायु का आश्रय लेकर ही तालु रन्ध्र से आज्ञाचक्र में पहुँचते हैं । यही क्रम है । आज्ञा चक्र का बीज ही (ॐ) ओङ्कार है । ओङ्कार की ही अ, उ, म, बिन्दु, और चन्द्र विन्दु रूप नादात्मक वर्ण कलायें हैं । निरोधिका को तोड़कर नाद और नादान्त पर्यन्त यही विकसित होती हैं ।

१. क. पु. सूचयतीति पाठः ।

वक्ष्यमाणदिव्यकरणक्रमेण 'अध' इति कन्दात् प्राणशक्तिं हृदयं प्रापय्य वामदक्षिणवाहमध्ये पूर्वनिर्णीतदिशा पिङ्गलानाम्ना मध्यमार्गेणा[1] कारोकारादीन् नादपर्यन्तं ह्रस्वादिरूपवर्णोच्चारक्रमेण ब्रह्मादिसदाशिवान्तं देवतापञ्चकं तदुपरितनसुसूक्ष्मतममन्त्रांशैश्च शक्त्याद्युन्मनान्तं भेदयित्वा, ग्रन्थिरूपताविदारणयुक्त्या परावाग्रूपमन्त्रपरामर्शं शेषं कुर्वन् 'निधनान्तिकं' सर्वोपशान्तिपदं द्वादशान्तं

श्लोक २२ में शक्ति व्यापिनी, समना और उन्मना का यह क्रमिक पथ है किन्तु ब्रह्म पञ्चक के तुरत बाद शक्ति का क्रम नही है । ब्रह्म पञ्चक और शक्ति के बीच में श्लोक २० का क्रम स्वीकार करना चाहिये । इसमें तालु रन्ध्र और उदान वायु की कारणता ही मुख्य है । यह याद रखने की बात है ।

यह भी स्मर्त्तव्य है कि, ओङ्कार की अ, उ, म आदि कलाओं के माध्यम से ही ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश मिलता है । नादनादान्त क्रम से ही उन्मना पर्यन्त छ पदविषयों को भेदकर द्वादशान्त में पहुँचते हैं । इसी ब्रह्मरन्ध्र साधना पथ की यह उक्ति है–

'षट्त्यागात् सप्तमे लयः ।'

इस प्रकार 'भेदयित्वा' क्रिया चरितार्थ होती है । यह भेदन क्रम पूर्वक होता है । इसीलिये 'सर्वं क्रमात्' भेदयित्वा लिखा है । इसके बाद ही 'निधनान्तिक' पद परमशान्तिप्रद द्वादशान्तपद प्राप्त होता है । वहाँ तक मन्त्रोच्चार होना चाहिये ।

निधनान्तिक पद के कई विशेषण शब्द दिये गये हैं । वे विचारणीय हैं–

१. निस्तरङ्ग–तारङ्गिकता एक तरह की क्षुभितावस्था है । क्षोभ का पूर्ण राहित्य शान्ता कला की अवस्था है । वहाँ पहुँचने पर साधक परम शान्ति का अनुभव करता है ।

२. निरध्वाख्यम्–अध्वा शब्द का मूलार्थ मार्ग होता है । शैव दर्शन षडध्व दर्शन कहलाता है । वर्ण, पद और मन्त्र का एक भाग तथा कला, तत्त्व और भुवन का दूसरा भाग माना जाता है । दोनों मिलकर छः अध्वा माने जाते हैं । इसीलिये शिवतादात्म्य पोषक इसको षडध्व दर्शन कहते हैं । निधनान्तिक अवस्था में अध्व भाव अस्त हो जाते हैं ।

३. सकलव्यापि–सकल अर्थात् निखिल विश्व में व्यापक तत्त्व के रूप में व्याप्त । यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि, क्या कोई एक तत्त्व इन सभी विशेषताओं से समन्वित हो सकता है ? इसी प्रश्न को ध्यान में रखकर चौथा विशेषण दिया गया है ।

---

१. क. ख. ग. पु हकाराकारादीनिति पाठः ।

यावत् मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः । कीदृशं निधनान्तिकम् ? 'तरङ्गेभ्यो' भेदकल्लोलेभ्यो निष्क्रान्तम्, निष्क्रान्ता उल्लसिता वर्णमन्त्राद्यध्वनामाख्याः प्रथा यतस्तादृशम्, तथा सकलस्याशेषस्य व्यापकम् । ईदृशं कथमेकं वस्तु भवतीत्याह 'उन्मनं' मननं सर्वं संकुचितं संवेदनमुत्क्रम्य स्थितं स्वतन्त्रमित्यर्थः ॥२३॥

अथ तन्निष्कलं तत्त्वं गाढावष्टम्भेन किञ्चित्कालं समाविश्य

तदध्यास्य आनुलोम्येन हृत्पद्मे विनिवेशयेत् ।

द्वादशान्तात् प्रभृति तत्त्वं च

'समना उन्मना चैव' (स्व. ११/२८)

इत्यादिवक्ष्यमाणदृष्ट्या मन्त्रप्रमेयसृष्टिक्रमेणावरुह्य हृत्पद्मप्रतिष्ठापितसकल-भट्टारकव्यापकत्वेन भावयेत् ।

किञ्च,

सर्वेष्वावरणेष्वेवं देवि तद्व्यापकं न्यसेत् ।।२४।।

एवमिति एकेनैव प्रयत्नेन ॥२४॥

---

४. उन्मनम्–मन मनन करता है । यह मनन भी पूर्ण संकुचित होता है । समस्त संकोच ग्रस्त संवेदन का अतिक्रमण कर असंवेद्य शिव के स्वातन्त्र्य से भावित अर्थात् स्वतन्त्र वह तत्त्व है । अत: उसे उन्मन कहते हैं । ऐसे ही उन्मन तत्त्व में साधक का पूर्णावस्थान अपेक्षित होता है ॥२१-२३॥

वही वस्तुत: निष्कल तत्त्व है । सौभाग्यशाली साधकों को यह प्राप्त होता है । यहाँ याजक से भी आचार्य यह अपेक्षा करता है कि, वह इस दशा में अधिष्ठित हो । इस निष्कल तत्त्व में अधिष्ठित होने पर इसकी आनन्दवादिता को स्थायी रूप देने के लिये जैसे गाढालिङ्गनबद्ध चरम आनन्द की उत्तेजना में डूब जाता है, उसी तरह निष्कलता में स्वात्म की गाढावष्टम्भता में समाविष्ट हो जाय ।

साधक फिर सृष्टि का अनुलोम क्रम अपनाये । वहाँ उस सर्वातिशायी अवस्थान से सर्जन की सम्मुखता में अवारोह प्राप्त करे । द्वादशान्त से हृदय पद्म में आने की प्रक्रिया का श्रीगणेश करे । जैसे एक सोपान पार करते हुए सोपान परम्परा को अतिक्रान्त कर निष्कल में प्रवेश किया था, उसी क्रम से उन्हीं सोपानों से वह नीचे क्रमिक रूप में उतर आये ।

इस क्रम की चर्चा ग्यारहवें पटल में भी पूर्णतया की गयी है । प्रमेय सृष्टि के फलक पर बने इस जगत् रूप भैरव के प्रत्यक्ष शरीर का अनुदर्शन करे । इस तरह हृदय पद्म में अवस्थित होकर सकल भट्टारक की व्यापकता का अनुभव करे ।

तेन चाधिष्ठिताः सर्वे सर्वकामफलप्रदाः ।

तद्रश्मिपुञ्जात्मकत्वात् सकलादिमन्त्राणाम्, चो ह्यर्थे ।

अत्र पूर्वोक्तं ध्यानादि स्मारयति–

यथा स्वरूपसंस्थानवर्णा ये कथिता मया ।।२५।।

तथा ते विनियोक्तव्या मानसे मानसेन तु ।

'स्वरूपं' मूलं ब्रह्माङ्गादिरूपम्, 'संस्थानम्' आकृतिः, 'वर्णः' सितादिः, 'कथिताः' इति द्वितीये पटले । 'मानस इति' यागे, 'मानसेन' चित्तेन ॥२५॥

अभी तक तो वह निष्कल व्यापकता के गाढावष्टम्भ का आनन्द ले रहा था । अब सकल भट्टारक की व्याप्ति का साक्षी बन कर तटस्थ भावन करे पर इसकी उपेक्षा न करे क्योंकि सकल भट्टारक की यह लीलास्थली है ।

सभी आवरणों में भगवान् कह रहे हैं कि, हे देवि ! उसी व्यापकत्व को न्यास करने का निष्कल आनन्द ले । यह प्रक्रिया यत्न साध्य प्रक्रिया है । यत्न द्वारा अव्यक्त की अयत्न स्पन्दनात्मिका संविद् के सदानन्द का संवेदन करे ॥२४॥

यहाँ यह ध्यातव्य है कि, निष्कल से सारा का सारा सकल, सारा प्रमेय वर्ग अधिष्ठित हो जाता है । एक तरह से भक्त के घर भगवान् उतर आते है । अभाव को भगवान् भैरव का महाभाव भर देता है । तरङ्ग भी महासागर के अमर लहराव से भर जाती है ।

निष्कल की भास्वरता से सकल में रश्मि पुञ्ज का उजास खिल उठता है । मन्त्रों के वर्ण वर्ण में अमर तेजस्विता का उद्वलन हो जाता है और सारे मन्त्र सारे फल देने को उद्यत हो जाते है । मनोरथ हुआ नहीं कि, पूर्ति उसका आलिङ्गन कर कृतार्थ हो जाती है । जीवन में चमत्कार घटित हो जाता है ।

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! स्व अर्थात् मूलतः भैरव के स्वात्म रूप संस्थान ये सभी वर्ण हैं । ये सभी ब्रह्म के अङ्ग रूप ही हैं । इसीलिये इन्हें मातृका वर्ण कहते हैं । उनकी आकृति में भी भगवान् के स्पन्दन ही का साक्षात्कार होता है । उनके सित आदि रंग भी उन्हीं की चमत्कार शक्ति के उल्लास हैं । वे जैसे हैं, उसी रूप में मानस याग करते हुए अपने चिन्तन या विमर्श द्वारा यथा स्थान ही विनिवेश्य हैं । उचित स्थान पर अन्तर्याग की आन्तरिक प्रक्रिया द्वारा इसे पूरा करना चाहिये ॥२४-२५॥

ततश्च

कर्णिकायां तु संस्थाप्य[1] द्विधावस्थं च भैरवम् ।।२६।।
शुद्धस्फटिकसंकाशं सर्वमन्त्रैरलंकृतम् ।

'द्विधा' सकलनिष्कलभावेन 'अवस्था' अनुग्राह्यानुग्रहाय स्वस्वातन्त्र्येणावस्थितिर्यस्य, सकलं सिताकारं निष्कलं तु प्रकाशमात्रतत्त्वम् 'अलंकृतम्' इति रश्मिपरिवृतम् । एवं द्वात्रिंशदक्षरापेक्षया यद्यपि मूलमन्त्रस्य निष्कलत्वं तथापि अकारादिकलोच्चारे सति सकलत्वमप्यस्तीति ॥२६॥

यत्सत्यतो निष्कलं तत्त्वं तन्निर्दिशति–

तत्रापि परतो ज्ञेयमनिर्देश्यमनामयम् ।।२७।।

कर्णिका में भैरव की स्थापना करनी चाहिये । भैरव के द्विधावस्थान से साधक प्रायः परिचित होते हैं । सकल और निष्कल उनके दो रूप होते हैं । अवस्था का तात्पर्य भी उनकी कृपालुता से ही सम्बन्धित है । अनुग्राह्य भक्तों पर स्वजनों पर अनुग्रह करने के लिये अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण ये दोनों अनवरत तत्पर रहते हैं ।

स्फटिक पारदर्शी सफेदी का प्रतीक माना जाता है । सकल स्वयं सित माने जाने के कारण शुद्ध स्फटिक की तरह होते हैं । वहीं निष्कल भैरव भी प्रकाश मात्र स्वभाव के कारण पारदर्शी की तरह चमकते रहते हैं, ऐसा ही सोचना चाहिये । इसके साथ ही ये दोनों मन्त्रों से भी अलङ्कृत रहते हैं । अलङ्कृत का तात्पर्य मन्त्रों में रहने वाली वैद्युतिक ऊर्जा की रश्मियों से ये सुशोभित होते हैं । इस वास्तविकता के सन्दर्भ में यह स्पष्ट रूप से जानना चाहिये कि, ३२ अक्षरों वाले महामन्त्र की अपेक्षा मूलमन्त्र का निष्कल रूप पृथक् निर्धारित है, फिर भी अकारादि कलाओं के उच्चारण के साथ स्वतः निष्कल और सकल के स्पर्श में निष्कलत्व का प्रकाशन सूक्ष्म रूप से होता है । इस ऊहापोह को धारणा में ध्रुव रूप से अधिष्ठित कर सजगता पूर्वक इस रहस्य का साक्षात्कार करना चाहिये । यह हृदय की कर्णिका की वरेण्यता है ॥२६॥

सत्य निष्कल तत्त्व की सत्यता का स्वरूप क्या है ? यह जिज्ञासा सभी के मन में उठती है । उसी का समाधान कर रहे हैं–

---

१. ग. पु. संप्राप्येति पाठः ।

तत्र तयोः सकलनिष्कलयोरुपरि 'परतः' परं परिपूर्णेन रूपेण भैरवस्वरूपं 'ज्ञेयं' स्वतः प्रकाशमानं प्रत्यभिज्ञेयमित्यर्थः । यतस्तद् 'अनिर्देश्यम्' इदन्ताया न विषयः, 'अनामयं' सूक्ष्मतमेनापि आमयेनाख्यात्यात्मकमहामायास्पर्शेन शून्यम् ॥२७॥

तथा च

यत्र नास्ति द्विधाभावः

निष्कलसकलाद्यशेषसामरस्यात्मकत्वात् ।

न मन्त्रादिप्रकल्पना ।

ओंकारबिन्दुनादानां विलयं तं विनिर्दिशेत् ।।२८।।

सर्वमन्त्रप्रमेयविश्रान्तिपदं तज्जानीयादित्यर्थः । यद्वक्ष्यति–

'यावदुच्चार्यते वाचा यावल्लेख्येऽपि तिष्ठति ।

तावत्स सकलो ज्ञेयः ।' (स्व. ७/२३७)

इति ।

वह तत्त्व वस्तुतः अनिर्वचनीय अत एव अनिर्देश्य होता है । उसका शब्दों से निर्देश नहीं किया जा सकता । वह परतः ज्ञेय है अर्थात् सकल और निष्कल दोनों तत्त्वों से अतिक्रान्त तत्त्व है । वस्तुतः वही परिपूर्ण भैरव तत्त्व है । परतः ज्ञेय का तात्पर्य प्रत्यभिज्ञेय है । माया से पराङ्मुख रहकर परिपूर्णतया भैरव भाव के साम्मुख्य की स्थिति में ही जानने योग्य वह अनामय ! तत्त्व है । आमय अख्याति रूप महामाया के प्रभाव को कहते हैं । इस प्रभाव के स्पर्श से भी वह शून्य है अर्थात् महामाया को अतिक्रान्त कर अवस्थित रहने वाला वह परम तत्त्व है । दूसरे शब्दों में यदि हम उसकी परिभाषा करें तो कह सकते हैं कि, वह इदन्ता के किसी उपकरण से पहचाना नहीं जा सकता तथा उसकी शुद्ध अहन्ता में अणुता की तनुता के लिये तनिक भी अवकाश नहीं है ॥२७॥

सकल और निष्कल रूप से हम जिसे पहचानने का प्रयत्न करते हैं, इस प्रक्रिया में द्विधा भाव से ही होकर हम गुजरते हें, वहाँ उस अनामय अनिर्देश्य परमेश्वर में इस द्विधा भाव का स्पर्श भी नहीं है क्योंकि वह पूर्णतया सामरस्य रूप है । उसके इस महाभाव में मन्त्रादि की प्रकल्पना नहीं की जा सकती । उस परम पद में ओङ्कार, बिन्दु और नाद सब का विलय हो गया है अर्थात् वह सबका विश्रान्ति स्थान है, यही उसके विषय में निर्देश किया जा सकता है अर्थात् इसी रूप में उसे जाना जा सकता है ।

तथा

'अक्षरेषु कुतो मोक्षः परं तत्त्वमनक्षरम् ।' (स्व. ७/२३६)

इति ॥२८॥

अतश्च

तत्स्थानं दुर्लभं [१]मत्वा सम्भवेन्न कदाचन ।
यस्य नाग्रं च मूलं च न दिशो विदिशस्तथा ॥२९॥
न शब्दो नापि चाकाशं ध्यात्वा तत्तु विमुच्यते ।

तिष्ठत्यस्मिन्सर्वमिति 'स्थानम्' आकृतिशून्यत्वाद् मूलाग्राद्यभावः, वर्णात्मक-मन्त्ररूपशून्यत्वान्न शब्द इत्युक्तम् । एवमपि न तच्छून्यमित्याशयेनोक्तं नाकाश-

---

इस सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के सातवें पटल के श्लोक २३६ और दो सौ सैंतिस में यह स्पष्ट परिभाषित है कि, 'वाणी से जब तक वह उच्चार्यमाण है, तब तक वह लेख्य में भी उल्लसित रहेगा ही । वहीं अक्षर से मुक्त अवस्था में सर्वविमुक्त तत्त्व ही अनक्षर तत्त्व कहा जा सकता है ।'

इन उक्तियों पर विचार करने पर उस अनक्षर तत्त्व के रहस्य का साक्षात्कार हो जाता है ॥२८॥

उस सर्वातिशायी परम तत्त्व के स्थान को शास्त्रकार दुर्लभ कह रहे हैं । अलभ्य नहीं मानते हैं । किसी स्थान पर ही यात्रा समाप्त होती है । स्थान की व्याख्या है–तिष्ठति अस्मिन् इति स्थानम् । जिस जगह वह रहे । ऐसा कोई स्थान वस्तुतः है ही नहीं । न इस प्रकार की स्थान की कोई प्रकल्पना ही की जा सकती है ।

किसी स्थूल आकार का ही कोई मूल माना जा सकता है, या उसका कोई शिखर भाग प्रकल्पित किया जा सकता है । उस आकार रहित निराकार तत्त्व का न मूल है न आदि कोई अगला भाग ही है । वह शब्द की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता । उसमें वर्ण, पद और मन्त्र रूप अध्वा का सर्वथा अभाव है । शब्द आकाश का गुण है । जब वह शब्द ही नहीं है, तो आकाश का प्रकल्पन भी उसके विषय में नहीं किया जा सकता । ऐसे परम तत्त्व का ध्यान मात्र किया जा सकता है । कहा जाता है–

'ध्यानं या निश्चला चिन्ता निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीरादि मुखहस्तादि कल्पना ॥

---

१. ग. पु. ज्ञात्वेति पाठः ।

मिति । 'ध्यात्वा' इति अकृतकाहंविमर्शविश्रान्त्या समाविश्य 'विमुच्यते' जीवन्मुक्तिराप्यते ॥२९॥

तदित्थम्

प्रथमं मानसं यागं पश्चाद्द्रव्यसमन्वितम् ॥३०॥
य एवं सततं कुर्याद्दैशिको यागतत्परः ।
स्वहस्ते स्थण्डिले लिङ्गे मण्डले चरुके तथा ॥३१॥
जले चाग्नौ च सम्पूज्य सम्यग्दीक्षाफलं लभेत् ।

मानसस्य प्राथम्यं शिवीभावं विना शिवयागेऽधिकाराभावादित्युक्तत्वात्, 'दैशिक' उपदेशप्रयोजन आचार्यः । सततमिति नित्यार्चारतत्वात् । 'स्वहस्ते' इति शिवहस्त[1]दानावसरे, 'स्थण्डिल' इत्यधिवासमये, 'लिङ्गे' इति

इसलिये इस प्रकार का निराकार निराश्रय निश्चल चिन्तन रूप आवेश अवस्था मय ध्यान करने से निश्चित है कि, ऐसा साधक जीवन्मुक्त हो जाता है । शुद्ध अहमात्मक विमर्श की विश्रान्ति ही वास्तविक विमुक्ति है, यह ध्रुव सत्य है ॥२९॥

इसलिये सर्वप्रथम मानस याग करना चाहिये । इसके बाद ही बाह्य याग की आज्ञा शास्त्र देता है । इस विधि का पालन जो दैशिक करता है और निरन्तरयाग-प्रक्रिया को पूर्ण करने में सतत संलग्न रहता है, वह दीक्षा का सुफल सदा सम्यक् रूप से प्राप्त करता है । इस प्रक्रिया में उपदेश देने का सक्षम अधिकारी आचार्य ही होता है । वह यह जानता है कि, विना अन्तर्याग के बाह्य याग का अधिकार ही नहीं होता ।

इससे सम्बन्धित जितने भी अवसर हैं, सबमें वह जागरूक रहता है ।

१. शिवहस्तविधि तन्त्र शास्त्र की प्रसिद्ध विधि है । उस अवसर पर अपने हाथ पर ही वह अन्तर्बाह्य विधियों को पूरा कर लेता है ।

२. अधिवास के समय वेदिका पर ही वह इसे सम्पन्न करता है ।

३. लिङ्ग पूजन के सम्बन्ध में यह उक्ति सदा याद की जाती है–

"लिङ्ग शब्द से विद्वान् लोग सृष्टि और संहार के परम कारण भगवान् की पूजा करते हैं ।"

इस आधार पर अन्तर्याग के अवसर पर शिष्य के चैतन्य को प्रमाण मानते हैं तथा बाह्य याग में बाणादि लिङ्गों का आश्रय लेते हैं ।

---

१. क. पु. हस्तापादनेति पाठः ।

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।'

इत्यादिनिरुक्तेः प्रस्तावोचितशिष्यचैतन्ये बाह्येऽपि वा बाणादिरूपे भाक्ते, 'मण्डले' इति वक्ष्यमाणरूपे, 'चरुके' हविर्विशेषात्मनि, 'जले' कलशस्थे, 'वह्नौ' पाशदाहके । दीक्षायाः 'फलं' शिष्याणां भैरवात्मकस्वरूपप्रत्यभिज्ञानं 'लभेत्' तत्र हेतुकर्तृकत्वसामर्थ्यमासादयत्येव । एवं च सर्वथा शिवीभावात्मकमानसयागपूर्वं बाह्ययागं निर्वर्तयेत् ॥३१॥

अन्यथा

अकृत्वा मानसं यागं योऽन्यं यागं समारभेत् ॥ ३२ ॥
अशिवः स तु विज्ञेयो न मोक्षाय विधीयते ।

'अशिव' इति मानसयागकार्यशिवीभावाभावात्, तथाभूतश्च पशुर्मोक्षाय न 'विधीयते' तदर्थमधिक्रियत इत्यर्थः ॥३२॥

---

४. मण्डल में मण्डलात्मक सर्वात्मा और दीक्षा स्थान के रूप में दोनों को सम्पन्न करते हैं ।

५. चरुक का आन्तरिक और बाह्य स्वरूप होना चाहिये, इसका निर्धारण वह स्वयं करता है ।

६. कलश में अवस्थित जल में आन्तर बाह्य प्रक्रियाओं का वह पूरा आश्रय ग्रहण करता है ।

७. अग्नि तो स्वयं परप्रमाता स्थानीय है । वह सभी रूपों में पाश दाहक ही सिद्ध होता है ।

इस तरह पूरी प्रक्रिया को सम्पन्न कर शिष्यों को उस भैरवात्मक परम धाम में गुरु ला बिठाता है, जिसके लिये उन्हे दीक्षा लेनी पड़ती है । वस्तुतः दीक्षा का यही महाफल है । बाह्य याग द्वारा भी दीक्षा विधि का फल सरलता से सुलभ कराता है । इस तरह वह शिष्य के उत्कर्ष का स्वयं हेतु है, यह सिद्ध हो जाता है । साथ ही साथ याग सम्पादित करने के कारण वह कर्तृत्व से भी अलङ्कृत होता है । इस प्रकार बाह्य याग के पहले ही अन्तर्याग याग द्वारा शैव महाभाव का वरेण्य वातावरण उत्पन्न कर देता है । जिससे शिवीभाव सरल हो जाय ॥३०-३१॥

शास्त्रकार यह घोषणा करते हैं कि, विना मानस याग (अन्तर्याग) सम्पन्न किये जो बाह्य याग का आरम्भ करता है, वह अशिव का ही सम्पादन करता है, इसे अच्छी तरह जान लेना चाहिये । इस अधूरी क्रिया द्वारा शिष्य किसी मूल्य पर शिवीभाव नियोजित होने का अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता । शिवीभाव से समन्वय तो मात्र अन्तर्याग से ही किया जा सकता है । बाह्य याग में उसका अभाव रहता है । इसलिये मोक्षाधिकार के लिये अन्तर्याग का पहले सम्पादन करके ही बाह्य याग करने में प्रवृत्त होना चाहिये ॥३२॥

यत:

आत्मयागे कृते चैव देहशुद्धिः प्रजायते ।।३३।।

चो ह्यर्थे । एवशब्दो जायतेशब्दादनन्तरं योज्य: । तेन यस्माद्यागादनन्तरं बाह्यान्तरोभयरूपस्य देहस्य शिवीभावावेशात्मा शुद्धिर्जायत एव तस्मादसाववश्यकार्य इत्यर्थ: ॥३३॥

तथा हि सति

अधिष्ठितं शिवेनैव तमाचार्यं विनिर्दिशेत् ।

शिवेन सहचारित्वादाचार्य इति हि वक्ष्यति ।

किञ्च,

आत्मनिर्दहनं चैव मानसं च यदुक्तवान् ।।३४।।

अहमित्यर्थ: । 'आत्मा' इह द्विविधो देह: ॥३४॥

आत्मयाग करने के फलस्वरूप देह शुद्धि होती ही है । यहाँ एव अव्यय क्रिया की अनिवार्य सिद्धि का ही अवधारण करता है । जिस याग के सम्पन्न करने के बाद बाह्य और आभ्यन्तर उंभय शरीरों का शिवीभाव में आवेश होने के कारण शुचिता भी सम्पन्न हो जाती ही है, ऐसा याग अवश्य ही करना चाहिये । यह निष्कर्षात्मक आदेश है ॥३३॥

यह सिद्धान्तित सत्य माना जाता है कि, आचार्य वही कहा जा सकता है, जो शिव भाव में ही अधिष्ठित होता है । इसे दूसरी तरह इस रूप में भी कह सकते हैं कि, शिव भाव में ही अधिष्ठित दैशिक को आचार्य रूप में निर्दिष्ट किया जा सकता है । इसका विग्रह वाक्य इस प्रकार बनता है-'शिवेन सहचारित्वादाचार्य' शिव के साथ अपने समस्त आचार का सम्पादन करता है । एक प्रकार का वह सहचर ही हो गया है । सहचर एक रूप ही हो जाते है । इसलिये इस प्रकार की विशेषता से विशिष्ट विद्वान् आचार्य कहलाता है ।

ऐसे पुरुष का आत्मयाग पूर्णतया शोधक होता है । यहाँ निर्दहन शब्द का प्रयोग याग अर्थ में ही है । आत्म याग ऐसा याग है, जिससे बाह्याभ्यन्तरोभय रूप देह में शिवीभावावेश सिद्ध हो जाय । इसमें मानस की ही प्राथमिकता होती है । इसे करने के बाद ही बाह्य याग किया जा सकता है ॥३४॥

विदित्वा सम्यगाचार्यः पाशहा स शिवः स्मृतः ।

सम्यग्वेदनं देहाद्यहन्ताप्रशमनेन शिवाहंभावावेशः ।

यागस्यास्य प्रभावमाह–

यत्र यत्र स्थितो देशे यश्चैवं तु विधिं यजेत् ।।३५।।
ब्रह्महापि स मुच्येत किं पुनः शिवतत्परः ।

विहितमहापातकोऽपि भगवदिच्छाप्रयोजनाद् यो विधिमिममभिसन्धाय 'यजेत्' भगवन्तमर्चयेत् सोऽपि मुच्यते ॥३५॥

किञ्च,

सर्वावस्थागतश्चैव विषयैरनुरञ्जितः ।।३६।।
सकृत्सम्पूज्य मुच्येत किं पुनर्यो दिने दिने ।

आचार्य संवेदन के स्तर पर सभ्यग्भाव का सिद्ध साधक होता है । उसमें ज्ञानशक्ति का उल्लास रहता है । इसी आधार पर 'सम्यक् विदित्वा' शब्द का प्रयोग किया गया है । संवेदन सम्यक् होना ही चाहिये । जगत् असम्यक् संवेदन में जीता है । आचार्य अपने संवेदन का स्वयं साक्षी होता है । इस स्तर पर वह पाशों को ध्वस्त करने में समर्थ हो जाता है । इसीलिये उसे पाशहा कहते हैं । जब देह में अशुद्ध अहन्ता का प्रशमन होकर शिवाहंभाव समावेश में जीवन जीवन्त हो उठता है, उस समय पाश का प्रकल्पन भी असम्भव हो जाता है । उसके समीप यदि कोई पाशबद्ध पुरुष बैठ भी जाय, तो उसके पाश भी ध्वस्त हो जाते हैं । ऐसा महापुरुष शिवभाव में ही जीवित रहता है ।

इस समावेश में समाविष्ट सिद्ध शैवसाधक देश में जहाँ जहाँ चला जाता है, जहाँ जहाँ रुकता है, जिन जिन कामों को पूरा करता है, इसमें जो विधियाँ अपनाता है, जिस तरह आत्म याग में युक्त रहता है, उस तरह की विधि यदि कोई ब्रह्म हत्या सदृश महान् पाप करने वाला कोई ब्रह्म हत्यारा भी करे, तो मुक्त हो सकता है । शैव महाभाव से भावित यदि ऐसा करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है, तो इसके विषय में तो कुछ कहना ही उचित नहीं । हाँ यह सोचने की बात है कि, ऐसे अद्भुत कार्य विना भगवदिच्छा के नहीं हो सकते । इसी इच्छा के वशीभूत होकर जो इस विधि से यजन आराधना शुरू कर देता है, भगवान् का अर्चन करता है, निश्चित सत्य है कि, वह भी मुक्त हो जाता है ॥३५॥

सर्वावस्थागत शब्द अपनी व्यापकता में सबको समाहित करता है । इसमें किसी एक की कलना नहीं, सर्व का ही समन्वय है । किसी दोष गुण का अब प्रश्न ही नहीं रहा । जैसा भी हो, जैसे भी हो, विषयों से अनुरंजित भी हो,

'सर्वावस्थागतः' इत्यादिना समयपालनासमर्थो भोगभुगपि सकृन्निर्बीज-दीक्षायामर्चनान्मुच्यते, तस्मात्सततमेतदर्चनं पुत्रकाद्यैर्विधेयमित्येवंपरमेतत् ॥३६॥

अस्या अर्चादिक्रियाया महत्तां प्रथयति-

एतत्तन्त्रोक्तविधिना यदुक्तं विधिपूर्वकम् ॥३७॥
इज्यादि चान्यतन्त्रेऽपि तद्वैतत्कामिकं भवेत् ।

समानासमानस्रोतस्यन्यत्रापि पारमेश्वरे तन्त्रे 'यदिज्यादि' दीक्षादिविधि-पूर्वकमुक्तं तदेतत्तन्त्रोक्तेन सम्पूर्णेतिकर्तव्यताकेन विधिना तत् 'कामिकम्' इति तत्तत्काम्यमानभोगमोक्षप्रयोजनं स्यात् । एतदुक्त्या दीक्षादावितिकर्तव्यतान्यत्रा-श्रीयमाणाभिलषितं पूरयत्येव सम्पूर्णत्वादित्यर्थः । तद्वै इत्यत्र तस्येति पाठे तस्य कर्तुमिति व्याख्येयम् ॥३७॥

अत एवान्यत्राप्याश्रीयमाणमेतत्

नानासिद्धिगुणैर्युक्तं

अधिकानपि क्रियापादोक्तान् सिद्धिरूपान् गुणान् करोति ।

बस मात्र एक बार ही निर्बीज दीक्षा में दीक्षित भाव से अर्चन कर ले, तो भगवान् घोषणा कर रहे हैं –'सकृत् सम्पूज्य मुच्येत' इसे एक बार करके देखे, मुक्ति हस्तामलकवत्, मुट्ठी में बन्द ! यो प्रतिदिन इसे सम्पन्न करता है, इसके विषय में तो बस पूछिये ही मत ! ऐसे महत्त्वपूर्ण पूजन के सम्बन्ध में अन्तिम रूप से यह कहा जा सकता है कि, इसे सर्वदा सम्पन्न करना चाहिये ॥३६॥

इस प्रकार की अर्चन प्रक्रिया की महत्ता का ही प्रथन कर रहे हैं–

इस तन्त्रोक्त विधि से जो कुछ भी ऊपर विधि बतायी गयी है, उसके अनुसार इसे सम्पन्न करना इस परम्परा में दीक्षित के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है । शास्त्रकार इससे भी आगे बढ़कर यह घोषणा करते हैं कि, इस परम्परा के समान या असमान कोई भी स्रोत हो, सम्प्रदाय हो, या पारमेश्वर तन्त्र की कोई भी विधा हो, उस तन्त्र की ही विधा के अनुसार सारी इति कर्त्तव्यता का निर्वाह करते हुए करना चाहिये । इसे 'कामिक' प्रक्रिया कहते हैं । भोग मोक्ष की किसी कामना से किया जाय, उसकी विधि के अनुसार पूरा निर्वाह करने से सारी कामनाओं की पूर्त्ति होती ही है । 'तद्वै' की जगह 'तस्य' पाठ में भी अर्थ बोध में कोई बाधा नहीं । लक्ष्य पूर्ति होती ही है ॥३७॥

उक्त 'कामिक' एक वरदान रूप से विधिपूर्वक करणीय है । यह नाना प्रकार की सिद्धियों के गुणों से युक्त है अर्थात् इसके करने से अनेक प्रकार की सिद्धियों से

तथा

नानाकामफलप्रदम् ।।३८।।

चर्यापादोक्तमप्यविलम्बितं फलं सम्पादयति ॥३८॥

योगपादोक्तमपि घटयतीत्याह–

योगसिद्धिश्च जायेत

विद्यापादोक्तमपि इतः पराद्वयस्पर्शिनो विधेरनुष्ठानाच्च साधयत्येवानुष्ठातृजन इत्यप्याह–

मुक्तिं च लभते ध्रुवम् ।

अपि चैतदिज्यानुष्ठातृपूजनम्,

सदाशिवोऽपि जानाति देवाश्चैवासुरादयः ।।३९।।

परभैरवभक्तिशालिने महाप्रभावा अपि स्पृहयन्तीति यावत् ॥३९॥

लोग कृतकृत्य हो जाते हैं। यह इस प्रकार की गुणवत्ता से सम्पन्न है। क्रिया पाद में कही गयी सारी बातें एक स्वर में यही कहती हैं कि, यह प्रक्रिया अत्यन्त गुणप्रद है।

इसके अतिरिक्त शास्त्रकार कह रहे हैं कि, नाना प्रकार की कामनाओं को पूरा करने वाला कर्त्तव्य कार्य है। यह बात चर्या पाद में कही गयी है। नाना शब्द भी अपार प्रकारों को अपने में समेट कर अपनी व्यापकता व्यक्त कर रहा है। उससे तुरत फलों की प्राप्ति होती है ॥३८॥

योगपाद में में इस प्रकार की चर्चा है। उसके सम्बन्ध में स्पष्ट कर रहे हैं कि, इससे योग सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। विद्यापाद में भी यह कहा गया है कि, पराद्वय भाव का स्पर्श करने वाली यह विधि महत्त्वपूर्ण है। इसके करने से अनुष्ठाता की सारी कामनायें पूरी हो जाती हैं और यह ध्रुव सत्य है कि, अन्त में इससे अवश्य मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात कह रहे हैं कि, इस तथ्य को भगवान् सदाशिव भी जानते है। इस प्रक्रिया की प्रामणिकता का यह महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। इसके अतिरिक्त इसको देव और असुर जाति के लोग भी अच्छी तरह जानते हैं। यह सही बात है कि, परभैरव देव की भक्ति से भरे लागों को महाप्रभावशाली लोग प्रभावित करते हैं। ऐसे उक्त श्रेणी के लोगों को भी ये प्रक्रियायें प्रभावित करती हैं इसमें सन्देह नहीं ॥३९॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह–

एवं तु मानसं यागं कृत्वा बाह्यं समाचरेत् ।

तत्र प्रथमम्

परां वृत्तिमनुध्यायन्द्रव्याण्यादौ विलोकयेत् ।।४०।।

'पराम्' अन्तर्यागनिष्पन्नभैरवावेशमयीं 'वृत्तिं' स्फुरत्तामवलम्बमानो यागद्रव्याणि प्रोक्षणादिकल्पितसंस्कारेभ्य: पूर्वं पराद्वयज्ञानापादितैक्यात्ममहाशुद्धीनि कुर्यादित्यर्थ: ।।४०।।

तान्युद्दिशति–

सितचन्दनकर्पूरं सुधूपं सितवाससी ।
पुष्पाणि दिव्यगन्धीनि तिलव्रीहिघृतादिकम् ।।४१।।

इस प्रकार प्रसङ्गत: प्राप्त विषयों का उपसंहार कर प्रकृत विषय के वर्णन का उपक्रम कर रहे हैं–

इस प्रकार मानस याग का सम्पादन कर बाह्य याग का समारम्भ करना आवश्यक माना गया है । अत: वही करे । इस प्रसङ्ग में सबसे पहले क्या करे, इसे व्यक्त कर रहे हैं–परा अर्थात् अन्तर्याग सम्पन्न करने से सर्वश्रेष्ठ वृत्ति भैरवावेशमयी सर्वातिशायी वृत्ति मानी जाती है । सर्वप्रथम इसी वृत्ति का अनुध्यान करना चाहिये । इस वृत्ति को स्फुरत्ता वृत्ति कहते हैं । इस स्फुरत्ता का ध्यान करने से एक प्रकार की वैद्युतिक ऊर्जा शरीर में भर जाती है ।

इतना कर लेने के बाद साधक याजक यज्ञ द्रव्यों की ओर अवलोकन करे । यह स्पष्ट रूप से सोचने की बात है कि, भैरवावेशमयी भावना से ओत प्रोत साधक की दृष्टि भी चेतना की चैतसिकता से ओत प्रोत ही होगी । पदार्थों पर वह दृष्टि पड़ते ही उनमें एक याग लहरी ललक उठेगी । इसके साथ ही याग का बाह्य भी अन्तदृष्टि से पावन हो उठता है । यह क्रिया अस्त्र मन्त्रों से प्रयोग के पूर्व ही होनी चाहिये ।।४०।।

इसके साथ अन्य इति कर्त्तव्यताओं का उपदेश यहाँ कर रहे हैं–

१. श्वेत चन्दन घिस कर चढ़ाने योग्य, कर्पूर धूप श्वेत वस्त्र उत्तरीय और धौत

२. दिव्य गन्धी पुष्प

३. तिल, धान्य और घृत आदि

४. आम्र के पल्लव, कुश, सिद्धार्थ पदार्थ, खटिका आदि

चूतपल्लवदर्भांस्तु सिद्धार्थान्खटिकां तथा ।
करणीं कर्तरीं चैव पाशबन्धनसूत्रकम् ।।४२।।
वार्धानीं शिवकुम्भं च तथेध्मान्परिधीनपि ।
समिधो दन्तकाष्ठं च चरुस्थालीं स्रुचं स्रुवम् ।।४३।।
तण्डुलांश्च तथा क्षीरमेवमादीन्यनेकशः ।

दीक्षाया: शिवत्वापादनात्मन: शुद्धे: कार्यत्वात्तदौचित्येन सितगुणस्य प्रधानत्वम् । सितवाससी चूतपल्लवाश्च कलशवार्धान्यर्थम्, व्रीहयो विकिरार्थम्, सिद्धार्था: शय्याद्यवसरे रक्षार्थम्, खटिकाकरण्यौ मण्डलार्थम्, कर्तरी पाशसूत्रच्छेदाय, वार्धान्यस्त्रयागाय, इध्मा: प्रागुक्ता हस्तमात्राश्चतुर्विंशति: समिद्धस्याग्नेस्तृप्त्यर्थम्, परिधयो हस्तप्रमाणा: सपत्रा: शाखाश्चतस्र: कुण्डबाह्ये दिक्षु विघ्नप्रवेशरक्षार्थम्,

---

५. करणी, कर्त्तरी, पाशबन्धन सूत्र

६. वार्धानी, शिवकुम्भ (कलश) इघ्म और परिधियाँ

७. समिधायें, दन्तकाष्ठ चरुस्थाली, स्रुक, सुच्

८. तण्डुल, दूध और अन्य आवश्यक पदार्थ ।

ये सभी द्रव्य बाह्य याग में अपेक्षित होते हैं । इनमें कुछ ऐसे पदार्थ हैं, जिनकी उपयोगिता पर भी आचार्य ने प्रकाश प्रक्षिप्त किया है । जैसे–१. सितचन्दन ही क्यों ? इस पर कह रहे हैं कि, दीक्षा में शिवत्वापादन ही लक्ष्य होता है । आत्मा की शुद्धि के उद्देश्य से शिवत्ववर्णी श्वैत्य ही प्रसङ्गोचित है । अत: श्वेत चन्दन का ही लेप तैयार कर लेना चाहिये । २. श्वेत वस्त्र और आम के पल्लव कलश एवं वार्धानी के लिये तैयार रखना चाहिये । ३. विकिरा में प्रयोग करने के लिये धान्य ४. शय्या पर रखने के लिये सिद्धार्थ, ५. खटिका और करनी मण्डल के उपयोग के लिये, ६. पाश सूत्र को काटने के लिये कैंची, ७. अस्त्र याग के लिये वार्धानी, ८. इघ्म: एक हाथ लम्बी चौबीस आम्रादि की घृताक्त सूखी शाखायें, जो प्रज्वलित अग्नि को तृप्त करती हैं, इध्म कहलाती हैं । ९. परिधियाँ–इस समय इसका प्रचलन नहीं है । तत्कालीन वर्त्तमान में विघ्नों के निवारण के उद्देश्य से इनका प्रयोग होता था । ये पत्र युक्त एक हाथ लम्बी शाखायें होती हैं । चार कुण्ड के बाहर की ओर दिशा में रखी जाती हैं । कहा गया है–

"यज्ञ वृक्षों से छाल युक्त, छिद्रों से रहित और सुन्दर ढङ्ग से पल्लवित प्रादेश मात्र लम्बी और कनिष्ठा जितनी मोटी समिधायें ग्रहण योग्य होती हैं ।"

'समिधो यज्ञवृक्षोत्थाः सत्वचो निर्व्रणाः शुभाः ।
प्रादेशमात्राः स्थौल्येन कनिष्ठाभ्यधिकाश्च याः ।।'

इत्युक्तास्तश्चाग्नेर्दीप्त्युत्पादनाय, दन्तकाष्ठं शिष्यार्थम्, तण्डुलक्षीरचरुर्देवगुर्वर्थमपि । स्पष्टमन्यत् । एवमादीनि आदिशब्दान्मण्डलार्थं रजांसि, शिष्यार्थं पञ्चगव्यनेत्रपट्टाद्यपीति ।।४३।।

एवं द्रव्याण्यवलोक्य

ततोऽर्घपात्रमादाय क्षालयेदस्त्रवारिणा ।।४४।।
कवचेनावगुण्ठ्यैव प्रणवेन तु पूजयेत् ।
उदकादिभिरष्टाङ्गैःपूरयेत्तु[1] वरानने ।।४५।।
उदकं क्षीरकुसुमं कुशसर्षपतण्डुलाः ।

सयवघृता अष्टौ । इहाष्टमूर्तेरर्घ्यं पुर्यष्टकाकूतम् ।।४५।।

ये समिधायें दीप्ति को और भी उद्दीप्त कर अग्नि के तेज का संवर्धन करती हैं । वहीं परिधि आख्यायें विघ्न को प्रविष्ट होने का अवसर भी नहीं आने देतीं ।

दन्त काष्ठ शिष्य के आचार को शुचिता प्रदान करता है । याग द्रव्यों में तण्डुलों (चावलों) का प्रयोग अनेक उद्देश्यों की पूर्त्ति करता है । मुख्यतः खीर बनाने के काम आता है । चावलों से ही चरु का निर्माण होता है । देवता के लिये अक्षत का अर्पण आवश्यक यज्ञाङ्ग माना जाता है । गुरु देव को सिद्धान्त्र प्रदान करने में चावलों का विशेष प्रयोग होता है । ये मुख्य द्रव्याङ्ग हैं । आदि शब्द के प्रयोग मण्डल के लिये लाल पीले हरे आदि के रज, शिष्य शोधन के लिये पञ्च गव्य, आँखों की पट्टिका आदि द्रव्य परिगणित होते हैं ।।४१-४३।।

इन द्रव्यों का अवलोकन कर लेने से शिष्य अपनी तैयारी के प्रति सन्तुष्ट हो लेता है तथा किसी वस्तु के अभाव के प्रति भी जागरूक हो जाता है । उनको मँगाने का प्रबन्ध कर लेता है । इसके बाद सर्वप्रथम चूँकि अर्घ प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । अतः अर्घपात्र को लेकर उसका अच्छी तरह प्रक्षालन करता है । यह प्रक्षालन अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित जल से होता है ।।४४।।

कवच से उसका अवगुण्ठन कर प्रणव से उसकी पूजा करते हैं । भगवान् कहते हैं कि, सुमुखि देवि ! अर्घपात्र को जल से परिपूर्ण करते हैं । यह जल आठ द्रव्याङ्गों से समन्वित होता है । इन्हीं आठ द्रव्यों से परिपूरित करने में पुर्यष्टक के आकलन का विधान शास्त्र द्वारा समर्थित है ।।४५।।

---

१. ख. पु. तद्वरानन इति पाठः ।

अथ

प्रणवेनासनं सर्वं ततो मूर्तिं न्यसेत्प्रिये ।।४६।।
भैरवावरणैर्युक्तां पूजयेत्तां यथाक्रमम् ।
गन्धैः पुष्पैस्तथा धूपैर्मन्त्रसन्धानपूर्वकम् ।।४७।।

भैरवेणावरणैश्च युक्तां न्यसेत्, मन्त्रसन्धानपूर्वकं पूजयेत् ॥४७॥

किञ्च,

मन्तव्यं[1] परमं तत्त्वं ततश्चैवामृतीभवेत् ।

'परमं तत्त्वं' निष्कलं पूर्वोक्तयुक्त्या जपन्नमृतमुद्राप्रदर्शनेनामृतीकुर्यादित्यर्थः ।

वे द्रव्य कौन-कौन से हैं ? यह जिज्ञासा स्वभावत: उठती है । उसको ध्यान में रखकर भगवान् कहते हैं कि, प्रधान द्रव्य तो उदक ही है । इसमें दूध, पुष्प, कुश, सर्षप, तण्डुल, जौ और घी मिला देने से कुल आठ हो जाते हैं । इन आठ द्रव्यों में अष्टमूर्त्ति भगवान् शिव की दृष्टि या पुर्यष्टक रूप स्वात्म स्वरूप की तुष्टि का आकलन ही निहित है ॥४६॥

इसके बाद आसन शुद्धि की प्रक्रिया आती है । आसन केवल प्रणव द्वारा परिशोधित हो जाता है । प्रथम पटल में यथा क्रम नियोग के सन्दर्भ में (श्लोक ३७) आसन मूर्त्ति मन्त्र की क्रमिकता का वर्णन है । तदनुसार मन्त्रपरक देवताओं का अनुसन्धान भी हो जाता है । आसन और मूर्त्ति का न्यास यहाँ करना ही विवक्षित है ॥४६॥

मूर्त्ति न्यास के सम्बन्ध में भगवान् की यह प्रेरणा है कि, मूर्त्ति का न्यास आवरणों के साथ ही होना चाहिये । यथाक्रम शब्द का प्रयोग इसकी क्रमिकता में कोई अन्तर न पड़े, इस पर बल प्रदान कर रहा है । गन्ध पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि का अर्पण होना ही चाहिये । इन पूजा द्रव्यों के प्रयोग के साथ इनमें प्रयोग में लाये जाने वाले मन्त्रों का अनुसन्धान करते रहना चाहिये ॥४७॥

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक पूजा निष्कल भैरव की पूजा हो जाती है । भैरव का निष्कल स्वरूप ही वस्तुत: परम तत्त्व माना जाता है । इसके सम्बन्ध में पहले चर्चा की जा चुकी है । निष्कल मन्त्र का जप करते हुए अन्त में अमृत मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये । इस मुद्रा के प्रदर्शन से अमृतीकरण पूरा हो जाता है ।

---

१. ग. पु. स्मर्तव्यमिति पाठः ।

अर्घपात्रार्थं च

पात्राणां त्रितयं कल्प्यं निरोधार्थे[1] विधौ तथा ।।४८।।

पश्वर्घे च

विध्यर्घपात्रं पूजार्थम्, निरोधार्घपात्रं तु निरोधविसर्जनाद्यवसरोपयोगि सुरया कर्तव्यम् । यदवोचत्–

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया' (स्व. २/१३६)

इति । पशोस्तु प्रोक्षणाद्यर्थं पश्वर्घपात्रम् ।।४८।।

तदेतत्त्रयं

प्रकल्प्यैवं शिवहस्तं प्रकल्पयेत् ।

इह लौकिके दीक्षाकर्मणि शिक्षा[वा]त्मनाचार्येण प्रस्तूयमानेऽविशिष्टेन करेण कथं करणम्–इत्यस्य नित्यकर्मन्याससंस्कृतस्यापि सातिशयपाशक्षपणशिवत्व-

---

एक बात की ओर यहाँ ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । वह यह कि, अर्घपात्र तीन बनाना चाहिये । पहले का प्रयोग, विधि के लिये, दूसरे का प्रयोग निरोध के लिये और तीसरे का प्रयोग प्रोक्षण आदि के लिये करना चाहिये । इसी ग्रन्थ के पटल २/१३६ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

'अर्घ को अर्पित करना अन्त में भी आवश्यक है । यह सुरा से होना चाहिये । यह सुरा भी पूर्णतया सुगन्धित होनी चाहिये । 'पशोतु प्रोक्षणार्थ पश्वर्घपात्रम्' इस निर्देश द्वारा तीसरी प्रक्रिया पूरी की जाती है ।।४८।।

इन तीनों का प्रकल्पन पूरा करने के उपरान्त शिव हस्त की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । शिवहस्तविधि तन्त्र प्रक्रिया में गुरुजनों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली एक महत्त्वपूर्ण विधि मानी जाती है । इस लौकिक दीक्षा के कार्य को दिव्यता प्रदान करने के लिये एवं शिष्य में शिवत्व का आपादन करने के लिये साक्षात् शिवरूप आचार्य द्वारा शिष्य की शिक्षा को पूर्ण करने के लिये आचार्य इसे सम्पन्न करता है ।

आचार्य स्वयं शिवरूप होने के साथ ही साथ शिक्षक भी होता है । उसे ऐसा वैशिष्ट्य प्राप्त होना चाहिये, जिससे शिष्य के शिर पर हाथ रखते ही उसमें जीवन्त प्रभा का संचार हो जाय । एक वैद्युतिक प्रवाह में शिष्य सराबोर हो जाय ।

इसलिये शिवहस्त प्रयोग के पहले गुरु या आचार्य को अपने हाथ को एक विशिष्ट रूप देना पड़ता है । उसमें साधकतम भाव भरना पड़ता है ।

---

१. ग. पु. निरोधार्थं विधौ तथा पश्वर्घेणेति पाठः ।

दानात्मकनैमित्तिककर्मविशेषविशिष्टां साधकतमतामाधातुं दीप्तमन्त्रचक्रन्यासतत्स्वात्मैक्यानुसन्ध्यध्यासितशिवात्मककर्तृवीर्यावष्टम्भसारा शिवहस्तता प्रथममवश्यमेव विधातव्या । यत्तु

'शिवहस्ते विभुं ध्यात्वा मन्त्रग्रामं सुजाज्वलम् ।' (स्व. ३/१४२)

इतीहैव वक्ष्यति तदनुग्राह्यैकविषयम् ।

मन्त्रसन्धानकं प्राग्वन्नाडीसन्धानमेव च ।।४९।।

कर्तव्यमिति शेष: ।।४९।।

'कर' की करण कारकता के लिये कुछ प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । यद्यपि आचार्य का हाथ नित्य कर्म के नियमित पूरा करने से संस्कार सम्पन्न रहता है, फिर भी शिष्य की पाश राशि को जला कर राख कर देने के लिये और पाशबन्ध मुक्त को शिवत्व सम्पन्न करने के लिये इतनी ऊर्जा उसमें जगा लेनी चाहिये कि, नित्य के साथ ही साथ नैमित्तिक कार्यों को सुसम्पन्न करने में वह समर्थ हो जाय । इस विशेषता को पाने के लिये और साधकतमत्व का अपने हाथ में आधान करने के लिये दीप्त मन्त्र चक्र का न्यास करना आवश्यक होता है ।

ऐसे हाथ को शिष्य के शिर पर रखते ही शिष्य शिव आचार्य और स्वात्म तीनों के ऐक्य का तत्काल केवल अनुसन्धान ही नहीं करता अपितु वह अपने ऊपर मायात्मक असत्य अध्यारोपों को ध्वस्त कर शैवमहाभाव से भावित हो उठता है । यह आचार्य के हाथों में आयी शैवकर्तृत्व रूप सामर्थ्य शक्ति का चमत्कार ही कहा जा सकता है । उन हाथों में शैव वीर्य का मानो अवष्टम्भ ही हो जाता है । इस शक्ति को आचार्य की शिवहस्तता ही कहा जा सकता है । यह आचार्य द्वारा अपनायी जाने वाली सर्वातिशायिनी प्रक्रिया पहले ही अपनायी जानी चाहिये । इससे शिष्य का परम कल्याण सिद्ध हो जाता है । इसी पटल के श्लोक १४२ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

"शिवहस्त में विभु रूप भगवान् भैरव का ध्यान कर और साथ साथ सुजाजवल अर्थात् समुद्दीप्त मन्त्रों के वर्चस्व का ध्यान कर मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए शिष्य के मस्तक पर हाथ रखना चाहिये ।"

इस प्रकार आचार्य अपने हाथ में सर्वप्रथम मन्त्र सन्धान करे । इससे मन्त्राधान सम्पन्न हाथ की ऊर्जा और भी ऊर्जस्वल हो उठती है । उसके बाद नाड़ी सन्धान भी कर लेना चाहिये । नाडी सन्धान से शिवैक्य सम्पादन में सौविध्य आ जाता है ।।४९।।

मन्त्रसन्धाने मुख्यप्रकारमाह–

मूलमन्त्रमनुस्मृत्य हृत्कण्ठतालुमध्यगम् ।
भ्रूमध्यं शब्दकूटं तत्तुर्यस्थानं विभेदयेत् ।।५०।।
वामदक्षिणमध्ये[1] तु विषुवत्स्थेन भेदयेत् ।
द्वादशान्तं परं नीत्वा करस्थो मन्त्रविग्रहः ।।५१।।

मन्त्र सन्धान के प्रकार के सम्बन्ध में प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे हैं–

सर्वप्रथम मूल मन्त्र (अघोर भैरव सकल मन्त्र १/४१-४३) का अनुस्मरण करना चाहिये । इसमें पहले हृदय में फिर कण्ठ में फिर तालुरन्ध्र में, फिर भ्रूमध्य में ध्यान करना चाहिये । इससे अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र उद्दीप्त हो उठते हैं । भ्रूमध्य के शब्द कूट में बीज अक्षर हैं, जो ॐकार के मूल में उल्लासित रहते हैं ।

ये भी शब्दकूट हैं और इस चक्र में अवस्थित मूल 'धाम' मन्त्र के बीज भी शब्द कूट माने जाते हैं । यह निष्कल भैरव बीज कहलाते हैं । इस शब्द कूट से तुर्य स्थान अर्थात् निवृत्तिकला और विद्या के क्षेत्र की ऊपरी भूमि का भेदन हो जाता है ।।५०।।

वाम और दक्षिण अर्थात् इडा और पिङ्गला के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी का अवस्थान है । आचार्य शिष्य की इस स्थिति से पूर्णतया अवगत होता है । शिष्य को इस दिशा में अग्रसर करने के लिये वह संकेत करता है और शिष्य उन उन बिन्दुओं का भेदन कर ऊपर की ओर बढ़ता है ।

वस्तुतः मन्त्र सन्धान साधना से सिद्ध होता है । सभी साधक इस तथ्य से परिचित होते हैं कि, श्वास निःश्वास, प्राण और अपान चन्द्र की बाहर और भीतर आने जाने की प्रक्रिया पर निर्भर है । प्राण चार ३६ अंगुल का और अपान चार भी ३६ अंगुल का होता है । ७२अंगुल के प्राणपानवाह में ६-६अंगुल पर राशियाँ बदलती हैं । माघ से मकरराशि शुरू होती है । माघ में मकर, फाल्गुन कुम्भ, चैत्र मीन, वैशाख मेष, जेष्ठ वृष और आषाढ़ मिथुन राशि चक्र में आते है । इन छः राशियों के छः,छः अंगुल के क्रम से ३६अंगुल की एक श्वास उत्तरायण हुई और पुनः श्रावण कर्क, भाद्रपद सिंह, कुआर कन्या, कार्त्तिक तुला, अगहन वृश्चिक तथा पौष धन राशि के दक्षिणायण क्रम में आते हैं । इन सभी राशियों में सूर्य के प्रवेश होने पर सूर्य संक्रान्तियाँ होती हैं । इनमें मेष और तुला में विषुवत् संक्रान्ति होती है ।

---

१. पं. ख. पु. मध्येनेति पाठः ।

अनुसन्धेय इति शेषः । परं मूलमन्त्रं 'शब्दकूटम्' अशेषवाचकशब्दात्मकमन्त्रराशिरूपमन्तः स्वीकृतमन्त्रग्रामम्, शब्दनरूपं च कूटं परनादात्मकनित्यस्वरूपमनुस्मृत्य वक्ष्यमाणकरणबन्धमात्रार्थानुसन्धिमान् [1]स्वेच्छयाचार्यो हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यात्मकं तुर्यस्थानं च भेदयेत् । कथमित्याह वामेत्यादिना । मध्यमार्गेण भ्रूमध्यं यावत्करणक्रमेण भ्रूमध्यदत्तचित्तः सव्येतरनासापुटसम[2] स्फारणयुक्तिलब्धमध्यप्राणतीक्ष्णसूच्यग्रेण बिन्दुग्रन्थिं भित्त्वा[3] अनायासेन नादादिग्रन्थीनपि भिन्द्यादित्यर्थः । भविष्यति चैतत् । ततो द्वादशान्तं मन्त्रं नीत्वा करस्थो मन्त्रविग्रहः शुद्ध्याप्त्यैवानुसन्धेयो यथा करणस्य कर्तृवीर्यसारता भवति ॥५१॥

भूगोल में विषुवत् रेखा पर दिन रात बराबर होते हैं, यह पढ़ाया जाता है । ज्योतिष और भूगोल की तरह यह देह का भूगोल है ।

३६ अंगुल में सूर्य प्राण और ३६अंगुल में सोम अपान के निःश्वास क्रमशः आते जाते रहते हैं । इनमें भी उत्तरायण माघ के मकर रूप श्वास के बाहर की ओर निकलने से प्रारम्भ होता है । १८अंगुल में मकर कुम्भ और मीन १९ से २४अंगुल तक मेष में विषुवत् संक्रान्ति होती है । यह वैशाख का महीना श्वास क्रम में होता है । श्रावण कर्क से श्वास भीतर की ओर चलता है । यह दक्षिणायन होता है । कर्क सिंह कन्या तक अर्थात् कुआर तक तीन राशियों के बाद कार्त्तिक तुला में पुनः विषुवत् संक्रान्ति होती है । यह एक साँस के आने जाने का समयचक्र है ।

श्लोक ५१ में वाम उत्तरायण और दक्षिण से दक्षिणायन का अर्थ लेकर एक श्वास में इन क्रियाओं को साधना से सिद्ध किया जाता है । इस तरह एक साँस के बाहर भी जाने आने में १ वर्ष के दो अयनो का तथा २४ पक्षों का और बारह महीनों का कालचक्र पूरा होता है ।

जब साधना के माध्यम से श्वास को जीत लेने पर तालु से उदान वायु के द्वारा प्राण को बाहर नहीं जाने देते और तालु रन्ध्र से आज्ञाचक्र की ओर भुवर्लोक से स्वर्लोक की ओर बढ़ते हैं, तो ऊर्ध्व द्वादशान्त रूप उन्मना तक जाने और वहाँ से मूलाधार तक आने में ही मन्त्रानुसन्धान पूरा होता है । श्वास की क्रिया नहीं होती । होती भी है, तो साधक की इच्छा पर होती है ।

उदानवायु द्वारा आज्ञा-निरोधिका, नाद-नादान्त को भेदते हुए शक्तिचक्र रूप विषुवत् में साधक स्थित हो जाता है । विषुवत् से फिर वेधद्वारा उन्मना की यात्रा

---

१. पं. ख. पु. स्वेनाचार्य इति पाठः ।
२. पं. ख. पु. संस्फारणेति पाठः ।
३. पं. क. पु. कृत्त्वेति पाठः ।

नाडीसन्धानमप्याह–

तस्याप्यनेन न्यायेन विलोमेन विशेद्धृदि ।
आत्मनो रेचकेनैव पूरेकेण विशेद्धृदि ।।५२।।
नाडीसन्धानमेतद्धि शिवेन परिकीर्तितम् ।

आत्मन ऊर्ध्वरेचकेन गत्वा, 'तस्यापि' इति करस्थस्य भगवतो 'विलोमेन' इति द्वादशान्ताद्धृदि विशेत्पुनस्तत उल्लास्य तद्द्वादशान्तं प्राप्य तेनैव पूरकेण हृदि स्वस्मिन्विशेत्–इत्येतन्नाडीसन्धानं पूर्वोद्दिष्टनासाक्रमनाडीसन्धान-विलक्षणं 'शिवेन परिकीर्तितम्' इत्यनेनास्याभेदव्याप्तिप्रदर्शकस्योपादेय-त्वमिति ध्वनति ।।५२।।

में मन्त्रानुसन्धान चालू रहता है । यह द्वादशान्त का 'पर' क्षेत्र है । उस अवस्था में मन्त्र विग्रह भैरव करस्थ हो जाता है अर्थात् अब तक साधना में करण द्वारा क्रिया होती थी । अब पूर्ण क्रियावान् कर्त्ता मन्त्र रूप भैरव भाव में आ जाता है । मन्त्र विग्रह करस्थ हो जाता है और शिवहस्त विधि पूरी हो जाती है ।

यह सारी प्रक्रिया श्वास साधना के अन्तर्गत आती है । इसे गुरु द्वारा जानने समझने और अभ्यास द्वारा सिद्ध कर लेने से जीवन धन्य हो जाता है । यह पूरी प्रक्रिया स्वच्छन्दतन्त्र के सातवें पटल में और श्रीतन्त्रालोक के छठें आह्निक में विस्तार पूर्वक समझायी गयी है । इस प्रक्रिया से गुरु के हाथ में ही मन्त्रात्मक भैरव आ जाते हैं । करस्थ मन्त्र विग्रह का यही अर्थ है । जिसके शिर पर ऐसे लोग हाथ रख देते हैं, उसके शरीर में भैरवीय ऊर्जा भर जाती है । सन्त साधना के अन्तर्गत यह पूरी प्रक्रिया आती है । बहुत सारे सन्तों के सम्पर्क में रहने पर इसका अनुभव हुआ । केवल गुरु द्वारा ही यह प्रक्रिया जानी जा सकती है, शास्त्रत: या स्वत: यह नहीं आ सकती । अत: इन पन्थों और शताधिक सन्त सम्प्रदायों में गुरु को महत्त्व दिया जाता है ।।४९-५१।।

इस विधि को अपना कर द्वादशान्त में पहुँच कर साधक मन्त्रविग्रहवान् बन चुका है । अब शिवहस्त विधि को वह सिद्ध कर चुका है । उसे विलोम प्रक्रिया अपना कर हृदय केन्द्र में लौटना है । गुरु इसमें सिद्ध है । शिष्य को अब विलोम प्रक्रिया द्वारा 'विशेत्'क्रिया के माध्यम से हृदय केन्द्र में लौटने को प्रेरित करता है ।

एवं नाडीसन्धानेन स्वहृदयं प्रविश्य

व्यापकं तु शिवं ध्यायेन्मन्त्रमूर्तिमधिष्ठितम् ।।५३।।

अन्तर्बाह्ये शिवहस्ते च स्थितां सर्वां मन्त्रचक्रमूर्तिमधिष्ठाय स्थितं शिवं निष्कलनाथं व्यापकं ध्यायेत् ॥५३॥

अथैवं शिवहस्ते महाव्याप्तिमनुसन्धाय शिष्याद्युपयोगिपञ्चगव्यसंस्कारमाह–

दर्भं संगृह्य चास्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम् ।
पञ्चगव्याय पात्रं तु शोधयेत्तु शिवाम्भसा ।।५४।।

वहाँ से लौटना एक प्रकार का रेचक व्यापार है । यह स्वात्म का ऊर्ध्व अर्थात् द्वादशान्त से नीचे हृदय की ओर उतरना है । हृदय की ओर आने में रिक्त केन्द्रों को पूरा करना ही पूरक है । इस तरह हृदय केन्द्र में आना और इनमें प्रवेश करके हृदयस्थ होना साधना के विषय हैं ।

यह ध्यान रखना चाहिये कि, मातृकेन्द्र रूप नाभि से चितिकेन्द्र रूप आमावस्य बिन्दु की श्वास प्रश्वास यात्रा से यह विलक्षण है । पहला नासा क्रम का नाडी सन्धान कहलाता है । यह क्रम शिवात्मक नाडी सन्धान है । स्वयं शिव ने ही परिकल्पित कर इसे प्रवर्त्तित किया है । इसमें अभेद व्याप्ति की उपादेयता स्वयं सिद्ध रूप से समझ में आ जाती है ॥५२॥

यह कर्त्ता साधक अपने हृदय में प्रवेश प्राप्त कर चुका है । अब उसका यह कर्त्तव्य है कि, वह विश्व में परिव्याप्त शिव की व्याप्ति का अनुसन्धान करते हुए सर्वत्र शिव की परानुभूति से भर जाय ! वह सर्वव्यापक शिव यद्यपि मन्त्रमूर्त्ति रूप में उसके हृदय और हाथों में ही उल्लसित हैं फिर भी सकलमन्त्र से आगे बढ़कर निष्कल में प्रवेश कर निष्कल की सूक्ष्म व्याप्ति का ध्यानात्मक अनुसन्धान करे ॥५३॥

शिष्य के आध्यात्मिक उत्कर्ष के महत्त्वपूर्ण क्षण होते हैं, जिस समय शिवहस्त विधि से मन्त्र विग्रह भैरव को करस्थ कर विराजमान होता है । फिर निष्कल की महाव्याप्ति का अनुसन्धान करता है । उस समय वह भौतिक दृष्टि से जन जन में भक्ति और श्रद्धाभाव भरने के लिये पञ्चगव्य का प्रयोग करता है । पञ्चगव्य संस्कार के विषय में भगवान् कह रहे हैं कि,

अस्त्रमन्त्रों से सातबार दर्भों का अभिमन्त्रण करे । पुन: ऐसे दर्भों का संग्रह करे । इन्हीं दर्भों से पञ्चगव्य के लिये निर्धारित पात्र का शोधन करे । यह पात्र शोधन कारण द्रव्य रूप शिवरस से किया जाना चाहिये ।

'पवित्राः पावना गावः सर्वदैवतविग्रहाः ।

गोमूत्रे स्वःसरिन्मुख्या तटस्था मृच्च गोमयम् ।।

अमृतं तत्पयो दिव्यं तद्विकारो दधि स्थितम् ।

तद्घृतं तद्गतः सारस्तत्सदामरतर्पणम् ।।'

इति श्रीमत्पराख्यसंहितोक्तातिशयानि पञ्चगव्यानि समाह्रियन्ते यस्मिंस्तत् 'पञ्चगव्यं' कुशोदकं 'शोधयेत्' क्षालयेदित्यर्थः ॥५४॥

तस्य च

अस्त्रेण क्षालयेत्तच्च कवचेनावगुण्ठयेत् ।

दर्भासनं ध्रुवेणैव मण्डलं तु प्रकल्पयेत् ।।५५।।

वर्तुलं स्वस्तिकं वा ॥५५॥

पञ्चगव्य के महत्त्व को प्रमाणित करने के लिये परासंहिता नामक ग्रन्थ के कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं–

"गाय का शरीर साक्षात् देवविग्रह होता है । उसमें सभी देवताओं का आवास और आधान मानते हैं । गायें इसीलिये अत्यन्त पवित्र होती हैं और वे विश्व को पावन बनाती हैं । गोमूत्र में आकाश गङ्गा की ऊर्जा का उल्लास होता है । गोमय आकाश-गङ्गा की तटीय भूमि की मृत्तिका है । गाय का दूध दिव्य सुधा ही है । इसी दिव्य सुधा का एक कृत्रिम रूप दही होता है । गाय का घी, दही और दूध का सारतत्त्व होता है । इन पाँचों द्रव्यों से पृथक् पृथक् भी और एक में मिलाकर पञ्चगव्य रूप से सेवन करने पर भी देवताओं को तृप्ति प्राप्त होती है । ये द्रव्य देवतर्पक द्रव्य माने जाते हैं । इनसे देवतर्पण होता है ।"

यह सर्वातिशायिनी उक्ति है, जिससे गाय और पञ्चगव्य का महत्त्व सिद्ध होता है । पञ्चगव्य का भाव ही यह है कि, इस पञ्चगव्य में गाय के गोरस के तीन और गोमयमूत्र पाँचों पदार्थों दूध, दही, घी, गोमूत्र और गोमय का एक में ही समाहार हो जाता है । इसी पञ्चगव्य से कुशोदक से पात्र शोधन किया जाता है ॥५४॥

अस्त्रमन्त्र से प्रक्षालित करना और उसके बाद कवच से अवगुण्ठित करना इस कर्म काण्ड के मुख्य अङ्ग है । इसके साथ ही कुश का ही आसन प्रयोग में लाना आवश्यक है । इस आसन को ध्रुव धाम मन्त्र से अभिमन्त्रित कर मण्डल प्रकल्पित करना चाहिये । मण्डल का आकार या तो वर्त्तुलाकार या स्वस्तिक की तरह का होना चाहिये ॥५५॥

तस्योपरि न्यसेत्पात्रं गोमयादीनि चाहरेत् ।
पृथक्पात्रस्थितान्येव प्रोक्ष्यास्त्रेण शिवाम्भसा ।।५६।।

अथ

गोमयं तु हृदामन्त्र्य गोमूत्रं शिरसा दधि ।
शिखया वर्मणा क्षीरमस्त्रेणाज्यं कुशोदकम् ।।५७।।

तथा

धाम्ना च मन्त्रयेत्पश्चाद्गोमयादीनि योजयेत् ।
पूर्वसंस्कृतपात्रे तु स्वमन्त्रैः

स्वमन्त्रैर्यैरेव पृथक्पात्रेषु मन्त्रितानि तैरेवाभिमन्त्रयेत् ।

तथा

गोमयादिकम् ।।५८।।

संयोज्य मन्त्रयेत्पश्चात्तैरेव हृदयादिभिः ।

सर्वैरेव युगपत् ।

मण्डल वेदी पर पात्र को न्यस्त करना चाहिये । गोमय से उस पात्र को सजाने की भी प्रथा है । इसके साथ ही अलग अलग पात्रों में रखें हुए पाँचों गव्य रूप द्रव्यों का भी अस्त्रमन्त्र से सम्प्रोक्षण कर देना चाहिये । यह प्रोक्षण कारण द्रव्य से ही होना चाहिये ।।५६।।

गोमय को हृदय मन्त्र से अभिमन्त्रित करे । गोमूत्र को शिरस् मन्त्र से अभिमन्त्रित करे । दही को शिखा मन्त्र से दूध को कवच मन्त्र से और आज्य को अस्त्र मन्त्र से और कुशोदक को धाम मन्त्र (सकल मन्त्र) से प्रोक्षित करना चाहिये । इस प्रक्रिया को पूरी करने के बाद गोमूत्र, गोमय, दूध, दही और घी इन पाँचों का एक में समायोजन करना चाहिये । पहले से साफ-सुथरा कर तैयार रखे पात्र में उनके अपने अपने मन्त्रों से अर्थात् हृदय, शिरस्, शिखा, कवच और अस्त्र मन्त्रों से उनको परस्पर एक-एक को लेकर मिलाते जाना चाहिये । यह पञ्चगव्य बनाने की प्रक्रिया है । इस तरह पञ्चगव्य तैयार हो जाता है । इनमें कोई द्रव्य छूटना नहीं चाहिये ।।५७-५८ ।।

एवं [१]संस्कृतस्यास्यात्र विशेषसंस्कारार्थमासनपूर्वं मन्त्रन्यासमाह–

प्रणवेन तु संकल्प्य अनन्तं मूर्तिविग्रहम् ।।५९।।
धामाङ्गानि चा बाह्ये तु सम्पूज्यावरणस्थितिम् ।
मन्त्रसन्धानकं कृत्वा अमृतीकरणं तथा ।।६०।।
शिवामृतं तत्संचिन्त्यसम्पूज्य स्थापयेत्ततः ।

'मूर्तिः' चिद्रूपा 'विग्रहः' सकलभट्टारकः, 'धाम' मूलमन्त्रः ॥६०॥

अथ यागभूमिं संस्कृर्तुं

अस्त्राभिमन्त्रितं दर्भं गृहीत्वोल्लेखनं कुरु ।।६१।।
यावद्भूमौ समन्तात्तु सौम्यास्यो दक्षिणे स्थितः ।
ततश्चैवोद्धरेच्छल्यमाजलान्तं व्यवस्थितम् ।।६२।।

सम्मिश्रित कर देने के बाद भी इस मिले मिश्रण को उन्हीं हृदयादि मन्त्रों से उनका पूरी तरह अभिमन्त्रण कर देना चाहिये । इसके बाद इस पदार्थ का विशेष संस्कार किया जाता है । इसके लिये सर्वप्रथम आसन का प्रणवपूर्वक संकल्प आवश्यक अंग होता है । तत्पश्चात् उसमें चिद्रूपा मूर्त्ति का प्रकल्पन करना चाहिये ।

मूर्त्ति के साथ विग्रह अर्थाद् शरीर का सन्धान करके धाम रूप मूल मन्त्र के सभी निष्कल सकल, मायात्रितय, काल, नियति, राग, प्रधान, बुद्धि, विद्या और पार्थिव अङ्गों का प्रकल्पन उस पञ्चगव्य पात्र में करना चाहिये । उस पात्र के बाहर आवरणों की स्थिति का प्रकल्पन कर मन्त्र सन्धान (पूर्ववत्) करके अमृतीकरण प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये ।

इस तरह सर्व संस्कार सम्पन्न वह पञ्चगव्य शिवामृत बन जाता है । शिवामृत रूप से उसका भावन कर उसकी पूजा कर आसन पर उसे प्रतिष्ठित कर देना चाहिये ॥५९-६०॥

याग-भूमि का संस्कार भी इस क्रम में आवश्यक होता है । इसके लिये अस्त्र मन्त्रों से अभिमन्त्रित दर्भ को लेकर उससे उल्लेखन क्रिया की जाती है । भूमि में सब ओर करते हुए दक्षिण ओर दक्षिणाभिमुख स्थित होने तक उल्लेखन करने के बाद शल्योद्धार करना चाहिये । शल्योद्धार की ज्योतिषशास्त्र की अपनी अलग प्रक्रिया है । यहाँ मात्र भावना कर भूमि के जलीय भाग पर्यन्त नीचे या बीच में कहीं भी अवस्थित शल्य को निकालकर फेंक देना चाहिये ।

---

१. पं. ख. ग. पु. संस्कृतेऽप्यत्रेति पाठः ।

रेचितं भावयेच्छुद्धं मौक्तिकाद्यैः प्रपूरयेत् ।
समीकरणमस्त्रेण कवचेन तु सेचनम् ।।६३।।
आकोटनमथास्त्रेण ततो मार्जनलेपने ।

एतान्संस्कारान्निष्पन्नकुण्डवद्भावनया कृत्वा

अस्त्रेण पञ्चगव्येन गन्धतोयेन चोपरि ।।६४।।

पञ्चगव्येन लेपनं ततोऽपि गन्धतोयेनेत्यर्थः ॥६४॥

अथ

शिवाम्भसास्त्रयुक्तेन विकिराण्यभिमन्त्रयेत् ।
सप्तकृत्वोऽस्त्रमन्त्रेण स्थित्वा मन्त्रे तु प्राग्दिशः ।।६५।।

शिवाम्भसा सम्प्रोक्ष्य, विकीर्यन्त इति 'विकिराणि' तिलादीनि । यथोक्तं श्रीमन्मतङ्गतन्त्रे–

'तिला लाजा यवाश्चैव दूर्वाः सिद्धार्थकाः शुभा ।
कुसुमानि च शुक्लानि सुसुगन्धीनि भूरिशः ।
ईषच्चन्दनपङ्केन[१] मिश्रोऽयं विकिरः शुभः ।' (२/४/० श्लो.)

भूमि के ऐसे भाग से जहाँ से शल्य सदृश कुद्रव्य को हटाने से खात बन गया है, उसे मौक्तिक आदि मूल्यवान् मणियों से प्रपूरित करना चाहिये । अस्त्रमन्त्र से भूमि का समतलीकरण कर देना चाहिये । कवच मन्त्र से सेचन अस्त्र से आकोटन कर पूरी भूमि को पवित्र कर्म यागस्थली के रूप में परिवर्त्तित कर लेना चाहिये । यह सब भावित करने के अनन्तर मार्जन और लेपन करना चाहिये । पञ्चगव्य से अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित कर गन्ध युक्त जल का ऊपर छिड़काव करना चाहिये ॥६१-६४॥

विकिर का अभिमन्त्रण भी यज्ञ ही एक अङ्ग है । विकिर का अर्थ जो चारों ओर पवित्रता की दृष्टि से विकीर्ण कर दिये जाते हों–यही होता है । ये मतङ्ग तन्त्र के अनुसार निम्नवत् हैं–

१.तिल, २.लावा, ३.यव, ४.दूर्वा, ५.सिद्धार्थक (सर्षप) ६.अनेक प्रकार के पुष्प, श्वेत पुष्प, सुगन्धित पुष्प, इन सभी को घिसे हुए पतले चन्दन पङ्क में मिला लेने से बनने वाला द्रव्य 'विकिर' कहलाता है । इसी विकिर द्रव्य को अभिमन्त्रित करते हैं । यह अभिमन्त्रण कम से कम सातबार होना चाहिये ।

---

१. पं. ख. ग. पु. एष चन्दनेति पाठः ।

इति एतानि विकिराण्यभिमन्त्रयेत् ।

ततः

ऊर्ध्वाधो विकिरेद्धान्यान्यस्त्रभूतानि[1] चिन्तयेत् ।

शिववदाचार्यस्य मध्ये स्थितिः ॥६५॥

एतानि च

चामरेण सुशुभ्रेण अस्त्रमन्त्रेण संहरेत् ।।६६।।
ऐशान्यभिमुखान्येव नैर्ऋत्या यावदैश्वरम् ।

कुतः किमवधि? इत्याह–

पञ्चगव्येन सम्प्रोक्ष्य गन्धाम्भोभिः शिवाम्भसा ।।६७।।

अथ यागक्षेत्रमध्य[2] क्रमेण

ध्रुवेण श्रियमावाह्य पद्महस्तां सुलोचनाम् ।
शुक्लपुष्पाणि मुञ्चन्तीं सर्वलक्षणसंयुताम् ।।६८।।

इसके बाद मन्त्र में स्वयं तादात्म्य भाव से अवस्थित होकर पूर्वदिग्भाग में ऊर्ध्व और अधः दोनों ओर विकिरों को विकीरित कर लेना चाहिये । इन धान्य रूप अनाजों को अस्त्र मन्त्र से भावित करना चाहिये । आचार्य का आसन मध्ययाग भूमि में उसी तरह स्थापित करना चाहिये, मानों स्वयम् साक्षात् भगवान् भैरव ही विराजमान हों ॥६५॥

विकीर्यमाण धान्यों और आचार्य के आसन की प्रतिष्ठा पर्यन्त भूमि सज्जा और मण्डप आदि के कार्यों का उपसंहार करना भी आवश्यक होता है । इसके लिये सुन्दर शुभ्रवर्णी चामर की व्यवस्था कर अस्त्रमन्त्र से चामर का प्रयोग कर आचार्य और मण्डप सम्बन्धीं कार्य पूर्ण और उपसंहृत हो जाते हैं ॥६६॥

ये विकिर पदार्थ स्वयं अस्त्ररूप में ही प्रयुक्त थे । ईशान के आभिमुख्य में ऊर्ध्व विकिर प्रयुक्त हुए थे और अधः रूप में भी निर्ऋति से ईशानाभिमुख ही उप संहार भी होता है ।

अब यागक्षेत्र का मध्यभाग बचता है । इसको पंचगव्य से सम्प्रोक्षित कर सुगन्धित जल और शिवाम्बु से भी सुप्रोक्षित करना चाहिये ॥६७॥

ध्रुव मन्त्र अर्थात् पूर्ण सकल भैरव मूलमन्त्र से ही लक्ष्मी का आवाहन करना चाहिये । लक्ष्मी के ध्यान के लिये उसकी विशेषता का कथन करते हुए कह रहे हैं कि, लक्ष्मी के हाथ में खिला हुआ कमल का फूल हो, उस के नेत्रों में अनिर्वचनीय आकर्षण होना चाहिये । अपने हाथों से श्वेत पुष्प की वर्षा कर रही हो एवं देवत्व के समस्त सुन्दर और कल्याणकारी लक्षणों से वह समन्वित हो ॥६८॥

---

१. पं. क. ख. पु. न्यन्तर्भूतानि इति पाठः ।
२. ग. पु. मध्यमिति पाठः ।

नीलोत्पलदलश्यामां यागहर्म्यावलोकिनीम् ।
ब्रह्मस्थानोपविष्टां तु द्वाराभिमुखभद्रदाम् ।।६९।।
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य शिवकुम्भं प्रकल्पयेत् ।

द्वाराभिमुखस्य यागधाम प्रविशतः शिष्यादेः कल्याणकारिणीं मोक्षलक्ष्मीं सम्पूज्य शिवकुम्भं कुर्यात् ॥६९॥

कथमित्याह–

ऐशानीं दिशमाश्रित्य पञ्चगव्येन मण्डलम् ।।७०।।
गन्धोदकेन संलिप्य शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत् ।
अनन्ताद्यासनं दत्त्वा ध्रुवेणामण्डलावधि ।।७१।।
सर्वदोषविनिर्मुक्तं कुम्भं चन्दनलेपितम् ।
स्वस्तिकाद्यैश्चर्चयित्वा यवसिद्धार्थदूर्वभिः ।।७२।।

उसकी आकृति श्यामवर्णी नीलउत्पल के समान आकर्षक हो, समस्त याग भूमि को अपनी दृष्टि से दिव्यता प्रदान कर रही हो, जहाँ ब्रह्मा का अधिष्ठान याग मण्डप में होता है, वहीं इनकी स्थापना भी की गयी हो, द्वाराभिमुख रूप से प्रविष्ट शिष्य आदि की कल्याणकारी फलवत्ता प्रदान करने में तत्पर हो । इस प्रकार की ध्यातव्य रूप लक्ष्मी की पूजा संक्षिप्त रूप से करने के बाद शिव कुम्भ की स्थापना का प्रकल्प पूरा करना चाहिये । यह साकार होते हुए भी मोक्ष लक्ष्मी मानी जाती है । इससे भोग मोक्ष उभय फलवत्ता की प्राप्ति होती है । इसकी पूजा के बाद ही शिव कुम्भ का प्रकल्पन पूरा किया जाता है ॥६९॥

ईशान कोण में पञ्चगव्य से मण्डल की भूमि को उसमें सुगन्धित जल मिलाकर उपलेपन कर लेना चाहिये । कारण द्रव्य रूप शिवाम्बु से अस्त्र मन्त्र से उसे प्रोक्षित करना आवश्यक होता है ।

इतना करने के बाद नैऋत्य कोण में अनन्त के आसन की भी व्यवस्था करनी चाहिये । अनन्त के आसन की व्यवस्था ध्रुवमन्त्र से ही करनी चाहिये

इसके बाद समस्त मण्डल पर्यन्त कहीं भी दोष न रह जाय, सभी दोषों को विध्वस्त करने के उद्देश्य से कुम्भ की स्थापना करनी चाहिये । यह कुम्भ भी सर्वदोष विनिर्मुक्त होना चाहिये । उस पर चन्दन का उपलेप करना चाहिये । उस पर स्वस्तिक बनाकर उसे आकर्षक रूप देना चाहिये । इसके बाद जौ,

सितसूत्रेण संवेष्ट्य वस्त्रपूतेन चाम्भसा ।
सम्पूर्य सर्वतश्छन्नं चूताश्वत्थादिपल्लवैः ।।७३।।
रत्नगर्भौषधीयुक्तं सहदेवादिभिर्गणैः ।
प्रोक्ष्य चास्त्रेण संगृह्य कवचेनावगुण्ठितम् ।।७४।।
आसनस्योपरि न्यस्येन्मूलमन्त्रमनुस्मरन् ।

'आमण्डलावधि' इति परव्याप्त्या ब्रह्मबिलशक्तिव्यापिन्यात्मकानि ब्रह्म-विष्णुरुद्राधिष्ठितानि यानि सूर्यादिमण्डलानि तदन्तं न तु शिवान्तम्,

'मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।
शरीरं शोषितं यस्मात्तदर्थमभिषेचनम् ।' (स्व. ४/४४८)

सरसों और दूब आदि से भी उसे चर्चित करना शास्त्र सम्मत है । सफेद सूत्र से उसे संवेष्टित करना चाहिये । वस्त्र से छानकर पवित्र जल से कलश को पूरा भर देना चाहिये । ऊपर आम-अश्वत्थ (पीपल) आदि के सुन्दर पत्रों से उसे ऐसा ढकना चाहिये, जिससे उसमें पल्लवन रूप उल्लास प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगे ॥७०-७३॥

इसके बाद उसमें रत्न, औषध, जिसमें सहदेवा औषधि की मुख्यता हो, उसमें डालना चाहिये । इन सबको अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षित करने के बाद ही कलश में प्रक्षिप्त करना श्रेयस्कर माना जाता है । पुनः कुम्भ को भी कवच से अवगुष्ठित करना चाहिये ।

इतनी प्रक्रिया पूरी करने के बाद कुम्भ को आसन पर प्रतिष्ठित कर देना चाहिये । इस समय मूलमन्त्र का अनुस्मरण करते रहना चाहिये ।

श्लोक ७१ में 'आमण्डलावधि' शब्द का प्रयोग किया है । यद्यपि सन्दर्भानुसार वहाँ मण्डल शब्द से याग मण्डल ही मुख्यतया गृहीत है किन्तु मण्डल शब्द की व्यापकता की दृष्टि को ध्यान में रख कर इस व्यापकता को सूर्य चन्द्रमण्डल पर्यन्त ध्यान करने का सन्दर्भ भी उपस्थित हो जाता है । परव्याप्ति के अन्तराल में ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश होने पर शक्ति और व्यापिनी की व्यापकता का अनुभव होता है । ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रादि मण्डलों के सन्दर्भ यद्यपि मूलाधार स्वाधिष्ठान और मणिपूर में भी आते हैं फिर भी ऊर्ध्व परव्याप्ति में भी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मण्डलों की व्याप्ति ब्रह्म रन्ध्र, शक्ति और व्यापिनी चक्रों में परिलक्षित होता है ।

इस लिये उस मण्डल और यागमण्डल का ऐक्य इस व्यापकता के वृत्त में एकाकार हो जाता है । इसी तन्त्र के ४/४४८ में एक उक्ति है–

इति भाविनीत्याप्यायनप्रयोजनस्योपसंहारप्रधानशिवा[१]न्तासनत्वानुपपत्तेः । यवादिभि रन्तर्गतैरुपलक्षितम्, सूत्रेण वर्मभूतेनेति, रत्नगर्भमोषधीयुक्तं च । सहदेवादिभिर्गणै रिति

'ओषधीनां वरैकैव सहदेवा शिवागमे ।'

इति सारसंग्रहे कथितत्वात् सहदेवाप्रधानौषधिलोहधातुबीजपुञ्जैर्युक्तमित्यर्थः । 'मूलमन्त्रम्' इत्यादिना कलशस्य परचिन्मूर्तिमयत्वमुक्तम् ॥७४॥

अथ तत्र

कलाध्वभैरवादीनि न्यस्यार्घादीन्प्रकल्पयेत् ॥७५॥

'उग्र मन्त्र शक्तियों द्वारा प्रयोग कर्त्ता में अन्तस्तत्त्व का शोषण और अनपेक्षित तत्त्वों का निर्दहन होता रहता है । इसके फलस्वरूप साधक में शैथिल्यादि विकार उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसे विकारों को दूर कर शोषित शरीर को आप्यायित करने के उद्देश्य से पूर्व कुम्भ के जल से शिष्य के पूर्णाभिषेक की आवश्यकता पड़ती है । शास्त्र में इसी लिये अभिषेचन की व्यवस्था की गयी है ।

इस उक्ति द्वारा कुम्भ स्थापन का प्रयोजन पूजन के अतिरिक्त यह भी माना जाता है कि, आप्यायन के लिये कुम्भ को निर्धारित आसन पर प्रतिष्ठित किया जाय । इसे शिवान्तासन नहीं मानना चाहिये ।

कुम्भ को सूत्र से वेष्टित करना उसको कवचित करने की ओर इंगित करता है ।

'सहदेवा' ओषधि सर्वोत्तमा ओषधियें में से एक है । सार संग्रह नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि,

'ओषधियों में वरेण्य वरदायिनी एक ही ओषधि शिवागम परम्परा में परिगणित है ।

इसलिये कुम्भ में सहदेवा प्रधान ओषधियों का ही प्रक्षेप होना चाहिये । उसमें रत्नों के अतिरिक्त लौह धातु बीज पुञ्ज डालना भी आवश्यक माना जाता है ।

मूलमन्त्र का प्रयोग कलश न्यस्त करने के समय करने का निर्देश यह सिद्ध करता है कि, स्वयं कलश में भी परात्मक चिन्मयतामयी मूर्त्ति का प्रकल्पन आवश्यक रूप से किया जाना चाहिये ॥७४॥

इस प्रसङ्ग में अर्थात् कलश स्थापन के सन्दर्भ में भी कला, अध्वावर्ग और भैरवादि न्यास अपेक्षित हैं । इनका प्रकल्पन भी करना चाहिये । अर्थात् सारा न्यासादि क्रम यहाँ भी अपनाना चाहिये । मुद्रा का प्रदर्शन हृत्, शिखा, शिर, कवचादि क्रम

---

१. ख. पु. शवेति पाठः ।

मुद्रां बद्ध्वा हृदादीनि पूज्यान्यग्निदलादिषु ।
गन्धपुष्पपवित्राद्यैः सितवस्त्रेण भूषयेत् ।।७६।।

अथ च पूर्वोक्तः सर्वो न्यासादिक्रम आश्रयणीयः । 'पवित्रम्' अर्घपात्राम्बु न तु पवित्रकम्, तस्य नियतसमयपूरणाय नियतकालत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ।।७६।।

अथ

वामभागे तु कुम्भस्य पञ्चगव्येन मण्डलम् ।
शिवाम्भसा तु सम्प्रोक्ष्य प्रणवेनासनं न्यसेत् ।।७७।।
सम्प्रोक्ष्य च शिवाम्भोभिर्वार्धानीं मङ्गलान्विताम् ।
कुम्भवच्चार्चयित्वा तामासनस्योपरि न्यसेत् ।।७८।।

'वामभाग' इति क्रियाशक्तिव्याप्त्या भाविधारापातनक्रमेण विघ्नप्रशमनसिद्ध्यर्थम्, कुम्भवदासनस्योपरि तदङ्गत्वात्तद्व्याप्त्यैवेत्यर्थः । 'मङ्गलान्वितां' सुलक्षणान्विताम् ।।७८।।

अथ

गन्धपुष्पपवित्राद्यैः पूजयित्वा तु वार्धनीम् ।
उच्चार्यास्त्रं क्रमेणाग्रे[१] द्रव्याणां वार्धनीं नयेत् ।।७९।।

यहाँ भी सम्पन्न करना चाहिये । जैसे पहले बतलाया गया अग्नि कोणीय दल से प्रारम्भ कर कमल के पूर्वदल तक सबकी पूजा होनी चाहिये ।

गन्ध द्रव्य, पवित्र अर्घपात्र में स्थित पवित्र जल से भी आप्यायित करना चाहिये । यहाँ पवित्र शब्द से पवित्रक अर्थ नहीं लेना चाहिये । इसके बाद श्वेत वस्त्र से उसे विभूषित करना चाहिये ।।७५-७६।।

इसके बाद कुम्भ के वाम भाग में पञ्चगव्य से और कारण द्रव्द से मण्डल का सम्प्रोक्षण कर प्रणव मन्त्र से आसन का न्यास करना चाहिये । शिवाम्बु से सम्प्रोक्षित कर मङ्गलमयी वार्धानी को भी आसन पर ही न्यस्त करना चाहिये । वाम भाग में न्यास का तात्पर्य क्रिया शक्ति की व्याप्ति को ध्यान में रखकर लिखा गया है । वस्तुतः वार्धानी से धारापातन विघ्नादि की शान्ति के उद्देश्य से किया गया है । कुम्भ वहाँ आसन पर न्यस्त है । उसी के वाम भाग में आसन पर वार्धानी के रखने से कार्य में भी सौविध्य हो जाता है । वार्धानी को मङ्गलयी कहना भी साभिप्राय है ।।७७-७८।।

---

१. ख. ग. अग्रैरिति पाठः ।

अच्छिन्नामनुलोमेन जलधारां तु पातयन् ।
तत्स्थानात्तु समुद्धृत्य यावत्कोणं तु शांकरम् ।।८०।।

उच्चार्येति काकाक्षिवत् । 'तत्स्थानात्' कलशवामादस्त्रमुच्चार्य वार्धानीं समुद्धृत्य अधिवास्यानां द्रव्याणामग्रे पृष्ठतोऽनुलोमेन पूर्वादिदिक्क्रमेण 'शाङ्करं कोणम्' ऐशानं कोणं यावदच्छिन्नां विघ्नोत्सादनाय जलधारामस्त्रमुच्चार्य 'पातयन्' पातयन्तं शिष्यं प्रयुञ्जानो गुरुर्नयेद् नाययेदित्यर्थः । अत्रोच्चार्य पातयन्निति द्वौ णिचौ ॥८०॥

अत्र च कर्मणि

आचार्यः कलशं पश्चाद्भैरवेण समुद्धरेत् ।
नयेद्वार्धानिमार्गेण तस्मिन्संथापयेत्पुनः ।।८१।।

अग्रे भ्रमन्त्या वार्धान्याः पश्चाच्छिवकुम्भं भ्रमयन् स्वमन्त्रेण स्थापयेदित्यर्थः ॥८१॥

वार्धानी की पूजा गन्ध, पुष्प और पवित्र जल आदि से करने के बाद अस्त्रमन्त्र का भी प्रयोग करते हैं । फिर द्रव्यों के आगे वार्धानी को ले जाया जाता है । वार्धानी जहाँ रखी हुई थी, उस स्थान से अस्त्र का उच्चारण कर उसे उठाना चाहिये । जितने भी अधिवास्य द्रव्य हैं, उनके आगे अनुलोम भाव से पूर्व से प्रारम्भ कर वार्धानी से अखण्ड जलधार गिराते हुए दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायु, उत्तर और ईशान तक क्रमशः वार्धानी को ले जाना चाहिये । इस जलपतन से एक ऐसा अस्त्रमन्त्र वृत्त बन जाता है, जिसके भीतर किसी प्रकार के विघ्न की कोई घटना घटित नहीं हो सकती । यह कार्य गुरु ही शिष्य द्वारा कराता है ॥७९-८०॥

इस उक्त कार्य के साथ ही साथ आचार्य एक और कार्य सम्पन्न करता है । वार्धानी लेकर जल गिराते हुए आगे-आगे शिष्य चलता है । पीछे-पीछे आचार्य कलश को भी लेकर चलता है । भैरव मन्त्र से निष्कल-सकल दोनों का उच्चारण कर आचार्य कलश को उठाता है । उठाने को ही उद्धरेत् क्रिया से व्यक्त किया गया है । वार्धानी के जलपातन मार्ग से ही कलश को आचार्य ले चले यह शास्त्र का निर्देश है । इस तरह पूरे मण्डल को घूमते हुए पुनः उसी स्थान पर कलश को भैरव मन्त्र से ही स्थापित करे । इस तरह वार्धानी और कलश की सहयात्रा सम्पन्न होती है ॥८१॥

वार्धानीं स्थापयेत्पश्चादस्त्रमन्त्रमनुस्मरन् ।
विशेषपूजामुभयोर्गन्धपुष्पपवित्रकैः ।।८२।।

स्थापयेदिति, क्रियाशक्तिव्याप्त्या धारापातेन लोकपालान् व्यवस्थाप्य भगवतो दक्षिणहस्ते वार्धान्यस्त्रमिति ।

मन्त्रसन्धानकं कुर्यान्नाडीसन्धि[1] मथोभयोः ।

किञ्च,

विकिरान्संहितान्पूर्वं वार्धान्याः कल्पयेदधः ।।८३।।

अत एव च

अक्षतास्त्राण्यनेकानि शरकुन्तासिमुद्गराः ।
चक्रपट्टिसवज्रादित्रिशूलान्तान्यनेकशः ।।८४।।
यागौको व्याप्य सर्वं तु तिर्यगूर्ध्वमधः स्थिताः ।
वार्धान्यस्त्रस्य सर्वे ते रश्मिभूता व्यवस्थिताः ।।८५।।

आचार्य द्वारा कलश को उसी स्थान पर स्थापित कर देने के बाद शिष्य भी वार्धानी को कलश के दक्ष भाग में अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्थापित कर दे । स्थापयेत् इस क्रिया द्वारा यह अनुभूत होता है कि, धारा संपात से सभी लोकपाल सन्तुष्ट और आप्यायित हो चुके हैं । इसमें क्रिया शक्ति की व्याप्ति का प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है । पहले कलश स्थापित करने के कारण अब वार्धानी उसके दक्ष भाग में ही मानों भगवान् भैरव के दाहिने हाथ में ही अस्त्र मन्त्र के साथ अर्पित कर दी गयी है । यहाँ दोनों की पुनः गन्ध पुष्पाक्षतादि से विशेष पूजा कर देनी चाहिये ।।८२।।

इस अवसर पर कलश और वार्धानी दोनों के लिये मन्त्र सन्धान और नाडी सन्धान करना चाहिये । यह एक विलक्षण प्रक्रिया की बात कह रहे हैं । पहले विकिर पदार्थों को विकीर्ण किया गया था । इसकी चर्चा आ गयी है । यहाँ उनको पुनः एकत्र करने की बात कही गयी हैं । उनको हाथ से या कपड़े आदि से संहित कर लिया जाय तथा वार्धानी के नीचे रखकर उसी पर वार्धानी को स्थापित किया जाय ।।८३।।

अस्त्र मन्त्र का प्रयोग वार्धानी के लिये करते ही हैं । यहाँ जितने भी अस्त्र शर, कुन्त, असि, मद्गर, चक्र, पट्टिश, वज्र और त्रिशूल हैं, इनका अक्षत प्रक्षेप द्वारा उद्भावन करते हुए याग मण्डप में ध्यान करना चाहिये कि, ये सारे अस्त्र यज्ञ भूमि में उन पर नीचे दायें बाँयें सर्वत्र अपनी व्याप्ति में अवस्थित हो गये हैं । अनुभूति में एक चित्र सा उभरता है कि, ये सारे अस्त्र वार्धानी अस्त्र के रश्मि पुञ्ज हैं । ये सभी यहीं अपनी क्षमता के साथ विद्यमान हैं ।।८४-८५।।

---

१. पं. ख. ग. पु. संधिं तथेति पाठः ।

एतच्च

शिष्यस्य दक्षिणे हस्ते वार्धान्यस्त्रं तु संहितम् ।
तेनैतं यज्ञरक्षार्थं यागादौ कलशं न्यसेत् ।।८६।।

तेन स्वस्थान एव स्थापितस्य शिवस्य शिवकुम्भदक्षिणेऽस्त्रं स्थापयेत् । यदुक्तं मृगेन्द्रेऽपि–

'तद्दक्षिणे महाशस्त्रम्........।' इत्यादि ॥

'कलशम्' इति कलशाधिकरणमशेषयागाद्याप्यायनाद्यवभृथस्नानान्तप्रयोजनं भगवन्तमित्यर्थः ॥८६॥

तं च

नैवेद्यं विविधं दत्त्वा नुत्वा विज्ञापयेद्विभुम् ।
भगवंस्त्वप्रसादेन यागं निर्वर्तयाम्यहम् ।।८७।।
सन्निधानं सदा तुभ्यं अविघ्नार्थं सदा भव ।
अनुज्ञातोत्थितो यायादर्घहस्तो दिगीश्वरान् ।।८८।।

वार्धानी का अस्त्र मन्त्र मण्डित स्वरूप शिष्य के दक्षिण स्थापित शिव और शिव कुम्भ के भी दक्षिण में ही स्थापित किया जाता है । एक प्रकार से शिष्य के दक्षिण हाथ में ही उसे संहित भाव से प्रकल्पित करना चाहिये । मृगेन्द्र तन्त्र में यह उल्लेख है कि,

'उसके दक्षिण हाथ में ही महाशस्त्र संहित होना चाहिये ।'

इस उक्ति से इस शास्त्र के सिद्धान्त भी प्रभावित हो जाते हैं ।

महाशस्त्र होने के कारण ही इसको यज्ञ की रक्षा के उद्देश्य से याग प्रक्रिया में सर्वप्रथम कलश की प्रतिष्ठा और पूजा की जाती है । कलश के ही अधिकार क्षेत्र में ही सारे आप्यायन और अवभृथ स्नान के कार्य होते हैं । ये सारे प्रयोजन कलश से ही सिद्ध हाते हैं । इसलिये कलश को भगवान् कलश की संज्ञा से भी विभूषित करते हैं ॥८६॥

इसके बाद नैवेद्य अर्पित करना चाहिये । विविध प्रकार के व्यञ्जन तैयार कर उन्हें अर्पित करना चाहिये । नैवेद्य के बाद प्रणति समर्पण करना चाहिये । तत्पश्चात् प्रार्थना पूर्वक कहना चाहिये कि, विभो ! भगवन् यह याग सम्पादन रूप महान् कार्य मैं तुम्हारी कृपा से ही सम्पादित कर रहा हूँ । मैं यह चाहता हूँ कि, यागान्त पर्यन्त आप का सन्निधान यहाँ बना रहे । यह सारा विधान आपके लिये ही है । आपके सान्निध्य से यह पूर्ण निर्विघ्नता रहेगी, यह मेरी श्रद्धामयी धारणा है ।

इच्छामीति शेषः । क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति चतुर्थी ।

ततश्च

स्वनामपदविन्यासानोंकारादिनमोन्तगान् ।
गन्धपुष्पपवित्राद्यैः पूजयेत्तान्प्रयत्नतः ।।८९।।

'ओं इन्द्र सन्निहितो भव नमस्ते' इत्यादिस्वनामपदविन्यासपूर्वमेतान् प्रपूजयेत् ॥८९॥

तानुद्दिशति संक्षेपेण–

इन्द्राद्यनन्तपर्यन्तांल्लोकपालान्प्रपूजयेत् ।

ऊर्ध्वे ब्रह्मा, अधोऽनन्तः–इत्यनन्तपर्यन्तानित्युक्तम्, तत्र चैशानदिगूर्ध्वे ब्रह्मा नैर्ऋतदिग्भागेऽनन्तः पूज्यः । इहाधिवासे गृहरक्षार्थं दश लोकपालाः पूज्याः । यागे तु पूर्वोक्तभैरवाष्टकव्याप्त्याष्टावेव तथा श्रुतत्वात् ।

यदर्थमेतत्तदाह–

ततो मण्डलकं मध्ये यागभूमौ प्रकल्पयेत् ।।९०।।
पञ्चगव्येन लिप्त्वादौ गन्धतोयेन चोपरि ।

इस प्रकार के निवेदन के बाद यह भावन करे कि, भगवान् ने मेरी बातें सुन ली हैं। मान ली है और मुझे कार्य सम्पन्न करने की आज्ञा मिल गयी है। मैं अनुज्ञात हो गया हूँ।

अब वह वहाँ से उठे। हाथ में अर्घपात्र ले ले और दिशाओं के सर्वेश्वर इन्द्र के पास पूर्व दिशा में पहुँचे ॥८८॥

वहाँ पहुँच कर अपने नाम, यज्ञ सम्पादक रूप पद का आख्यान करते हुए ॐकार पूर्वक इनसे निवेदन करे कि, हे दिगीश्वर इन्द्र आप वज्रहस्त देवेश्वर इन्द्र हैं। आप यहाँ यागान्त अवस्थित रहें। मैं श्रद्धा पूर्वक आपको अपना प्रणाम अर्पित कर रहा हूँ। इतना निवेदन करने के बाद गन्ध, पुष्प पवित्र जल आदि से इन्द्र की पूजा करे। इसी तरह सभी लोकपालों की इसी प्रकार निवेदन कर उनकी पूजा करे ॥८८-८९॥

इसी बात को यहाँ और भी स्पष्ट कह रहे हैं कि, इन्द्र से प्रारम्भ कर ईशान पर्यन्त लोकपालाष्टक की पूजा कर ईशान के पास ब्रह्मा और नित्रृति के पास अनन्त की भी पूजा करे। इस प्रकार यहाँ दश दिक्पालों की पूजा सम्पन्न करने का निर्देश शास्त्र देता है। अधिवास में गृह रक्षार्थ इन दशों की पूजा आवश्यक मानी गयी है। पहले तो भैरवाष्टक की तरह लोकपालाष्टक ही पूज्य हैं–यह कहा गया है।

मण्डलं लिम्पेदित्यर्थ: । रजोमण्डलकं त्वधिवासादुत्तरकालं भविष्यति ॥९०॥

अथैतत्

शिवाम्भसास्त्रमन्त्रेण सम्प्रोक्ष्य त्ववगुण्ठयेत् ॥९१॥

अर्थात् कवचमन्त्रेण ॥९१॥

अत्र चादौ

ब्रह्मस्थानस्य पूर्वेण गुरून्पूज्य विनायकम् ।
वायव्ये पूजयेद्देवि गन्धपुष्पैरनुक्रमात् ॥९२॥

अविघ्नार्थमादौ वायव्ये गणपतिं पूजयेत्, तत: पूर्वस्यां दिशि गुर्वादीनित्यनुक्रमार्थ: ॥९२॥

अथैतांस्तु नमस्कृत्य आज्ञां दत्तां विभावयेत् ।

एतैरेव ।

इस प्रक्रिया को पूर्ण करने के बाद ही याग भूमि में अधिवास मण्डल की ओर ध्यान देना चाहिये । मण्डल को निर्धारित कर इसको पञ्चगव्य से ही उपलिप्त करना चाहिये । ऊपर से गुलाब जल, केवड़ा जल इत्रादि का छिड़काव कर उस भूमि को अत्यन्त पावन बना देना चाहिये ॥९०॥

इस पवित्र भूमि को उक्त रीति से उपलिप्त करने और सुगन्धित जलों और द्रव्यों से सुरभि सम्पन्न बना कर पुन: कारण द्रव्य से अस्त्र मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करना चाहिये, पुन: प्रोक्षण कर कवच मन्त्र से अवगुण्ठित करना चाहिये । इस तरह उस भूमि में पूरी दिव्यता का समावेश हो जाता है ॥९१॥

इसके बाद अनुक्रमपूर्वक गुरु और गणपति की पूजा का विधान सम्पन्न करना चाहिये । अनुक्रमानुसार पहले गणपति की पूजा की जाती है । इसलिये पहले विघ्नविनिवारक विघ्नेश्वर विनायक गणपति की पूजा वायुकोण में सम्पन्न करनी चाहिये । तत्पश्चात् ब्रह्मा के स्थान के समीप पूर्व दिशा में गुरुजनों और गुर्वोघ की पूजा की जाती है । इन दोनों की पूजा में गन्ध पुष्प आदि उपचारों का प्रयोग करना चाहिये ॥९२॥

इन देवों की पूजा करने के बाद अधिवास की आज्ञा माँगनी चाहिये । तन्मय होकर तुरत यह भावना करनी चाहिये कि, इनकी आज्ञा मिल गयी है । इस प्रकार आज्ञा प्राप्ति से प्रसन्न चित्त याजक शिष्य मध्यदेश में ही बीचोबीच उस भूमि पर योग पीठ का प्रकल्पन करे । यह शास्त्र का आदेश है ।

इत्थं गृहीताज्ञः

ततस्तु मध्यदेशस्थं योगपीठं प्रकल्पयेत् ।।९३।।
पूर्वोक्तेन विधानेन

आधारशक्त्यादिप्रेतान्तं परमेश्वरस्य योगशब्दवाच्यशक्तिरूपपीठमासनम् । यथोक्तम्–

'योगोऽस्य शक्तयः स्वाक्याः......।' (मतङ्ग० १/१/४)

इति ।।९३।।

अत्र च

भैरवेशं वरानने ।
पूजयित्वा पवित्राद्यैस्त्रिरावरणसंयुतम् ।।९४।।
स्वध्यानगुणसंयुक्तं मुद्रालङ्कारभूषितम् ।

ब्रह्माङ्गावरणं भैरवावरणं सास्त्रलोकपालावरणं च–इति त्रीण्यावरणानि । ध्याने 'गुणः' शुद्धस्फटिकत्वादिः[१] । 'मुद्राः' आयुधसन्निवेशाः, आभरणं कपालमालादि ।।९४।।

योग पीठ शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है । शास्त्र के अनुसार मूलाधार से सदाशिव पर्यन्त क्रमशः एक-एक ऊपर-ऊपर के आसन माने जाते हैं । इन सब में परमेश्वर-योग का ही प्रकल्पन होता है । ये पीठ ही आसन हैं । ऐसा यह योग पीठ वहाँ भी प्रकल्पित करना चाहिये । मतङ्ग तन्त्र १/१/४ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

"योग इसी की स्वात्म शक्तियों का मिलन स्थल है" । इस प्रकार भौतिकता में दिव्यता का आधान ही उस प्रक्रिया का उद्देश्य माना जाता है ।।९३।।

भगवान् कहते हैं कि, वरानने ! पार्वति ! इस योग पीठ पर भगवान् भैरवेश्वर देव की अर्चना करनी चाहिये । पूजा के लिये पूर्वोक्त पवित्र जल का ही प्रयोग करना चाहिये । इस पूजा के प्रसङ्ग में भैरव के तीन आवरणों के साथ ही सारा विधान पूरा किया जाता है । इन तीनों को ब्रह्माङ्गावरण, भैरवावरण आ सास्त्रलोकपालावरण कहते हैं । इन आवरणों सहित पूजा के बाद ध्यान का क्रम आता है । इसमें इनके गुण का ही अनुसन्धान होता है । जैसे वे स्फटिक वर्णी हैं आदि मुद्राओं में आयुधों के धारण की मुद्रायें ही ध्यातव्य हैं । आभरण के रूप में भैरव की कपाल माला ही पर्याप्त होती है । इस प्रकार भैरवार्चन करना चाहिये ।।९४।।

---

१. ग. पु. स्फटिकाभत्वादिरिति पाठः ।

अत्र च

मन्त्रसन्धानकं पूर्वं नाडीसन्धानमेव च ।।९५।।
परमीकरणं कुर्याद्व्यापकेन परेण तु ।
नैवेद्यान्विविधाकारान्दत्त्वा मुद्रां प्रदर्शयेत् ।।९६।।
प्रणिपातं जपं कृत्वा निवेद्य विधिपूर्वकम् ।
पश्चाद्बलिः प्रदातव्यो मातृणां भूतसंहतेः ।।९७।।
भूतेश्वराणां देवेशि क्षेत्रपालस्य सर्वतः ।

'भूता ये विविधाकारा दिव्यभौमान्तरिक्षगाः ।' (३/२०८)

इत्यादिना भाविना मन्त्रेण कलशादियागान्तेऽपि एतेभ्यो भगवदनुचरेभ्यो बलिर्देयः ।।९७।।

इस अवस्था में मन्त्र सन्धान और नाडी सन्धान ये दो क्रियायें अवश्य सम्पन्न करनी और करानी चाहिये । इसके साथ ही साथ परमीकरण और पर मन्त्र से व्यापकी करण करना चाहिये । नैवेद्य का अर्पण तो अत्यन्त आवश्यक है । नैवेद्य अनेक प्रकार के तैयार करना चाहिये । ये आस्वाद पूर्ण और पक्वान्न आदि से समन्वित होने चाहिये । ऐसे नैवेद्य से उपास्य देव प्रसन्न होते हैं । इसके बाद मुद्रा का प्रदर्शन आवश्यक माना जाता है ।।९६।।

अब अपनी विनम्रता का प्रदर्शन करने के लिये प्रणिपात करना शिष्य का कर्त्तव्य है । इसके बाद जप करना चाहिये । जप को विधिपूर्वक सम्पन्न कर उसे शास्त्र के नियम के अनुसार उपास्य को अर्पित कर देना चाहिये ।

इसके बाद बलि का क्रम प्रारम्भ होता है । सर्वप्रथम मातृकाओं को बलि अर्पित करते हैं । उसके बाद भूत बलि अर्पित की जाती हैं । भूत बलि के सम्बन्ध में इसी पटल के श्लोक २०८ में आया हुआ है । उसके अनुसार भूत अनेक प्रकार के कर्म भोग ग्रस्त जीव होते हैं । इनमें दिव्य, पृथ्वी लोक सम्बन्धी भौम और अन्तरिक्ष चारी तीन तरह के भूत परिगणित हैं ।

इनको बलि अर्पित करनी चाहिये । बलि मातृवर्ग को, भूतवर्ग को, भूतेश्वररों को और क्षेत्रपालों को अर्पित करने का शास्त्र निर्देश करता है । ये सभी भगवनुदचर रूप ही तो हैं । इन्हें बलि अर्पित करना भगवदर्चा का ही एक अङ्ग है ।।९७।।

एवं दत्तबलिराचार्यः

ततः स्नायादथोद्धूल्य अथवाचम्य सुव्रते ।।९८।।
ततोऽग्निकुण्डं गत्वा तु पूर्ववच्छोधनं तथा ।
भैरवं पूजयेत्तत्र विधिदृष्टेन कर्मणा ।।९९।।

सत्कर्मान्तरायभूतबलिस्पर्शसंजात [ता] शुद्धिविकल्पानुसारेण स्नानादि कार्यम्, 'शोधन'मग्नेः संस्करणम् ॥९९॥

ततश्च शिवीकृत्य पूजितस्य

अग्नेःसन्तर्पणं कुर्यात्सहस्रेण शतेन वा ।

यथासम्भवं तिलाद्यैः, परिवाराणां दशांशतः, इत्युक्तमेव ।

भले ही यह अनुचर बलि हो, किन्तु इसका लक्ष्य विघ्न का विनिवारण ही माना जा सकता है । विघ्नकारी ये भूत याग की दृष्टि से उतने शुद्ध नहीं माने जाते, जितने देववर्ग के अधिकारी होते हैं । अतः इस प्रकार के देय बलि के पदार्थों के स्पर्श से भी शुचिता में कमी आ जाती है । इस कमी को दूर करने का उपाय करना चाहिये । वही कह रहे हैं–

सत्कर्म में अन्तराय के विनाश हेतु दी गयी बलि द्रव्य के स्पर्श से उत्पन्न अशुचिता को दूर करने के लिये शुद्धि का उपाय आवश्यक होता है । इसके लिये आचार्य के समक्ष कयी विकल्प हैं । जैसे या तो आचार्य-१-स्नान करे । उद्धूलन एक स्नानगत व्यापार ही है । अथवा आचमन करके पुनः स्नान करे । भगवान् कहते हैं कि, व्रतों का सम्यक् निर्वाह करने वाली देवि ! यह कार्य अत्यन्त आवश्यक शास्त्र की आज्ञा मानकर करना चाहिये ॥९८॥

इसके बाद अग्निकुण्ड के समीप जाकर पूर्ववत् अग्नि का भी शोधन रूप संस्कार करना चाहिये । तत्पश्चात् भैरव देव का भी पूजन करना चाहिये । यह पूजन भैरव विधि के अनुसार ही होना चाहिंये । किसी प्रकार की किसी कमी को नहीं आने देना चाहिये ॥९९॥

इसके बाद अर्थात् पूजा में प्रयुक्त सब कुछ शिव मय भावन करने के बाद अग्नि का संतर्पण करना भी आवश्यक कार्य में परिगणित है । तर्पण या तो एक हजार आठ या एक सौ आठ बार करना चाहिये । अग्नि का सन्तर्पण तो वस्तुतः तिल और आज्य से ही होता है । अन्य तर्पण सहस्थ देवताओं का करते हैं । यह जलीय तर्पण दशांश ही किया जाता है ।

ततश्चरुं च श्रपयेत् स्थालीं संगृह्य निर्व्रणाम् ।।१००।।

पचेत् पाचयेद्वा ।

तद्वा कथम् ?

शिवाम्भसा तु प्रक्षाल्य कवचेनावगुण्ठयेत् ।
चन्दनाद्यैर्विलिम्पेत्तां मृष्टधूपेन धूपयेत् ।।१०१।।
सूत्रेण वेष्टयेत्कण्ठे वर्मभूतेन सुव्रते ।

अथ स्थाल्या:

दर्भेणास्त्रस्वरूपेण कल्पयेन्मण्डलं प्रिये ।।१०२।।
प्रोक्ष्य चैव शिवाम्भोभि:[1] कवचेनावगुण्ठयेत् ।
आसनं तत्र विन्यस्येदनन्तादिशिवान्तकम् ।।१०३।।

तत्र च

मूर्तिभूतां न्यसेत्स्थालीं तत्रस्थं भैरवं यजेत् ।

इसके बाद चरु को पकाने का कार्य सम्पन्न करना चाहिये । चरु श्रपण शिष्य या तो स्वयं करे अथवा किसी होता या आचार्य से भी सम्पन्न कराया जा सकता है । इसके लिये छिद्रादि रहित बटलोही, भगोना आदि पाचन पात्र का प्रबन्ध पहले से ही कर लेना चाहिये ।।१००।।

इस पाचन पात्र को शिवाम्बु रूप कारण द्रव्य से प्रक्षालित कर उसे कवच से अवगुण्ठित करते हैं । चन्दनादि से विलिप्त कर सुन्दर सुगन्धि धूप से धूपित करना भी आवश्यक माना जाता है ।।१०१।।

उसके कण्ठ में सूत्र लपेट कर ऐसा वेष्टन बनाया जाय, जिससे उठाने में सौविध्य रहे । साथ ही साथ उसमें कवच की प्रतिष्ठा भी हो रही है, यह ध्यान भी मन में रहे । यह सूत्र ही कवच का काम भी करते हैं । जिस कुश राशि का यहाँ प्रयोग किया जाय, उसे अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित कर लेना चाहिये । उसी कुश राशि से मण्डल का प्रकल्पन भी करना ही चाहिये ।।१०२।।

भगवान् आगे कह रहे हैं कि, प्रिये ! शिवाम्बु से प्रोक्षित कर उसे कवच मन्त्र से अवगुण्ठित भी करना चाहिये । वहाँ आसन का न्यास कर अनन्त से शिव पर्यन्त सभी शिव तत्त्वों का न्यास शास्त्र की दृष्टि से आवश्यक माना गया है ।।१०३।।

---

१. ग. पु. शिवाद्भिस्तु इति पाठ: ।

त्रिरावरणसंयुक्तं गन्धपुष्पै[१]रनुक्रमात् ।।१०४।।
मानसेन प्रयोगेण भावपुष्पैर्वरानने ।

चरोः पुष्पादिसंकीर्णतया विरसता मा भूत–इति पूजात्र नोक्ता ॥१०४॥
अथ

चुल्लीं[२] सम्प्रोक्ष्य चास्त्रेण कुण्डवच्चार्ययेत्ततः।।१०५।।

प्रोक्षणं कुंण्डोक्तसंस्कारान्तरोपलक्षणाय ॥१०५॥

तत्र स्थालीं समारोप्य पश्चादग्निं न्यसेदधः ।

पूर्वसंस्कृतोद्धृतम् ।
अथ स्थाल्यां

क्षीरं प्रोक्ष्य शिवाम्भोभिस्तण्डुलांश्च समासतः ।।१०६।।

स्थाली भी मूर्त्ति रूपा मान ली जानी चाहिये । तभी उसका न्यास करना चाहिये । मूर्त्तिमत्ता में भैरव की व्याप्ति स्वाभाविक है । उस अवस्था में भैरव का भी यजन अर्थात् पूजन होना चाहिये । यह ध्यान रखना आवश्यक है कि, यह यजन तीन आवरणों से समन्वित रूप में ही सम्पन्न किया जाता है । ये आवरण ब्रह्म, भैरव और सास्त्रलोकपाल रूप माने जाते हैं ।[३] इसके बाद गन्ध पुष्प आदि अनुक्रम पूर्वक पूजा करनी चाहिये ॥१०४॥

यह सारी पूजा मानस पूजा होती है । भावना की उर्वर भूमि पर सुन्दर भावों के आकर्षक फूल खिलते ही हैं । इन फूलों से की गयी पूजा का अपना अलग महत्त्व होता है । सचमुच के फूलों से पूजा में स्थाली में यदि पड़ जाँयेगे तो इससे स्वाद में विकृति की सम्भावना बढ जाती है । इसीलिये यह भावमयी पूजा ही यहाँ प्रासङ्गिक और उचित भी है । इसके बाद चुल्ली संस्कार करना चाहिये । अस्त्र से अभिमन्त्रित जल से उसे प्रोक्षित कर जिस तरह कुण्ड की पूजा की गयी थी, उसी तरह उसकी पूजा भी की जाती है ॥१०५॥

अब चुल्ली पर चरु स्थाली रख देनी चाहिये । स्थाली रखने के बाद ही चुल्ली में आग रखनी चाहिये । क्षीर का शिवाम्बु से सम्प्रोक्षण कर और उसी तरह चावलों को सम्प्रोक्षित करके एक सौ आठ बार मन्त्र जप करते हुए स्थाली में दूध और

---

१. ख. पु. गन्धधूपैरिति पाठः ।
२. क. ख. ग. पु. स्थालीमिति पाठः ।
३. स्व० त० ३/९४

मन्त्रेणाष्टशतेनैव प्रक्षिप्य पाचये[1]च्छनैः ।
मूलमन्त्रेण देवेशि एकचित्तः समाहितः ।।१०७।।

शनैरिति, यथा स्थाली न भज्यते ॥१०७॥

तथा च

चालनोद्घाटनादीनि अस्त्रमन्त्रेण कारयेत् ।

कारयेदिति पूर्वदीक्षितशिष्येण ।

अथात्र चरौ

तप्ताभिघारं सुस्विन्ने अङ्गैश्चैव प्रकल्पयेत् ।।१०८।।
त्रिभिस्त्रिभिर्घृतेनैव स्रुवेण जुहुयात्प्रिये ।

तप्तश्चासावग्निव्याप्त्याभिघारश्च आज्यामृतसेचनेन उद्दीपनात्मा, धात्वर्थानुसारात् । एष च दीप्तस्वाहान्तमन्त्रैः स्थाल्यां होमोऽस्विन्नतादोषनाशनाय ॥१०८॥

तण्डुल का प्रक्षेपण करना चाहिये । धीरे-धीरे धीमी आँच पर पकाना चाहिये । उस समय भी समाहित भाव से मूलमन्त्र का जप करते रहना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि, स्थाली में टूटन-फूटन न हो या अधिक रूप से जल न जाय ॥१०६-१०७॥

चरु को चलाते समय अस्त्र मन्त्रों का प्रयोग करते रहना चाहिये । उसके उद्घाटन की आवश्यकता पड़ने पर भी अस्त्र मन्त्र का ही प्रयोग कराना चाहिये । यह क्रिया वहाँ उपस्थित पूर्व दीक्षित शिष्य के माध्यम से सम्पन्न करानी चाहिये ।

यहाँ एक ऐसी क्रिया की चर्चा कर रहे हैं, जो कभी भी घटित होती है । कल्पना कीजिये नीचे आग जल रही है । अभी स्थाली अर्थात् चरुपाकपात्र रूप बटलोही ऊपर चढ़ी हुई है । उस समय आग में आज्य मिश्रित जल जो स्रुक् द्वारा हवन कर स्रुवा में रखा होता है, उसे आग में डालने पर जोरों से आग की ज्वालायें उग्र हो जाती हैं और लपटें जारों से उठ पड़ती हैं । इसे तप्ताभिघार कहते हैं । उस समय तीन तीन घृताङ्गों से स्विन्न होम करते हैं । यह होम स्थाली में होता है । स्रुक् स्रवित आज्य सोमात्मक होता है और अभिघार तथा अग्नि दोनों अग्नि ही होते हैं । इस तरह यह अग्निषोमात्मक याग होता है । आज्य को स्रुवा से ही हवन करना चाहिये । दीप्त स्वाहान्त मन्त्रों से स्थाली में किया हुआ हवन अस्विन्नता दोष को दूर करने के लिये किया जाता है ॥१०८॥

---

१. पं. क. पु. पचेदिति पाठः ।

अथ

भूमौ मण्डलकं कृत्वा प्रणवेनावतारयेत् ।।१०९।।
स्थालीमाज्योपलिप्तां तु शीताघारं च होमयेत् ।
भैरवेण षडङ्गेन वषड्जातियुतेन च ।।११०।।

शीतेति सोमव्याप्त्या [१]अस्विन्नतादोषनाशनाय, अत्रान्तरे 'स्वा' इति चरौ 'हा' इत्यग्नौ उच्चार्य जुहुयादिति गुरवः । एवमग्नीषोममयश्चरुः संस्कारतः सम्पन्नः । यथोक्तं श्रुतौ–

'यो ह वैतदग्नीषोमीयमाज्यं जुहोति तस्यैतदमृतीभवति ।'

इति । श्रीमृगेन्द्रोत्तरेऽपि–

'अग्नीषोमात्मकावेतावाघारौ विहितौ चरौ ।
अमृतत्वाप्तये तत्स्यादग्नीषोमात्मकं यतः ।।' इति ॥११०॥

अब तक चरु पक जाता है । नीचे यज्ञ कुण्ड के बाहर भूमि पर एक मण्डल बनाकर उसे पवित्र कर प्रणव का प्रयोग करते हुए नीचे उतारना चाहिये । स्थाली को आज्य से उपलिप्त करने की एक क्रिया अपनायी जाती है । उसमें शीतघार का भी हवन करना चाहिये । यह हवन षडङ्ग भैरव[२] मन्त्र से होता है । इसके साथ वषट् जाति का प्रयोग भी होना चाहिये । यहाँ वषट् जाति का उल्लेख एक भ्रान्ति उत्पन्न करता है । वषट् केवल शिखा-अङ्ग के साथ प्रयोग में आता है । जातियाँ यों छः होती है । इसलिये यह निर्णय करना भी सन्दिग्ध है कि, शिखा मन्त्र से ही हवन करना चाहिये । तब षडङ्ग का उल्लेख व्यर्थ हो जायेगा । इसलिये निष्कर्षतः सभी जातियों का सभी अङ्गों के साथ भैरव बीज लगा कर स्वाहा पूर्वक हवन करना चाहिये ।

इस श्लोक में शीताघार का प्रयोग सोमव्याप्ति के उद्देश्य से किया गया है । इससे अस्विन्नता का दोष समाप्त हो जाता है । गुरु क्रम के अनुसार हाथ में चरु लेते ही 'स्वा' का उच्चारण और तुरत 'हा' कह कर हवन हो जाना चाहिये । इस तरह वह चरु स्वभावतः अग्नि सोममय हो जाता है । इसी के फलस्वरूप इस अधिवास यज्ञ को भी अग्निषोमीय यज्ञ कहते हैं । श्रुति की यह उक्ति यहाँ ध्यातव्य है–

'यह अग्निषोमीय आज्य (घृत) है । इसका जो हवन करता है, उसके लिये यह अमृतमय फल प्रदान करता है ।' श्री मृगेन्द्रोत्तरतन्त्र में भी लिखा है कि,

चरु पाचन प्रक्रिया में आज्य और आघार ये दोनों अग्निषोमात्मकता के प्रतीक रूप ही हैं, यह प्रमाणित हो जाता है । याजक के अमृतत्त्व की उपलब्धि के ये कारण हैं क्योंकि, ये अग्निषोमात्मक तत्त्व हैं ॥११०॥

---

१. पं. ग. पु. अतिस्विन्नेति पाठः ।

२. स्व० त० १/७१

तत:

मण्डलं कुण्डसामीप्ये कृत्वा दर्भासनं न्यसेत् ।
स्थाल्यां [लीं] तस्योपरि न्यस्य सम्पातं मन्त्रसंहिताम् ।।१११।।
जपन्नेकैकयाहुत्या पातयेद्भैरवेण तु ।

निष्कलतदङ्गवक्त्रोच्चारपूर्वं 'स्वा' इत्यग्नौ 'हा' इति चरौ उच्चार्य जुहुयादिति सम्पातहोमक्रम: ॥१११॥

प्रसङ्गादग्नीषोमताभिव्यक्तये सर्वत्र सम्पातहोममाह–

अष्टोत्कृष्टशतेनैव परामृतमनुस्मरन् ।।११२।।
रजस्यादौ ततो देवि कर्तर्यां करणौ तथा ।
खटिकातिलाज्यसम्पातं मूलमन्त्रेण कारयेत् ।।११३।।

मूलमन्त्रं तत्करणे चिदानन्दात्मकपरामृतानुस्मरणेन तत्समर्थाचरणेन प्रयुञ्जीतेत्यर्थ: ।

अथ

त्रिभागं कल्पयित्वा तं चरुं स्थाल्यां तु संस्थितम् ।
शिवाग्निसाधकेभ्यश्च शिवायाग्रं निवेदयेत् ।।११४।।

इसके बाद कुण्ड के समीप एक लघु मण्डल प्रकल्पित करे । वहीं दर्भ के आसन की व्यवस्था करे । उसके ऊपर उस चरु पाक पात्र को सामने रखे । उस पर मन्त्र संहिता का सम्पात करे । मन्त्र संहिता ॐअघोरेभ्य इस मन्त्र का संहितात्मक रूप है । उसका उच्चार करे । मन्त्र संहिता में निष्कल और सकल उसके अङ्ग वक्त्रों का सम्मिलित उच्चार करना चाहिये ।

इसके लिये एक एक को उच्चारित करते हुए अग्नि में 'स्वा' और चरु में 'हा' बोल कर हवन करे । यह सम्पात क्रम की परम्परा मानी जाती है ॥१११॥

प्रसङ्गवश अग्निषोमता की अभिव्यक्ति के सर्वत्र संपातहोम के औचित्य पर प्रकाश डाल रहे हैं –

परामृत मन्त्र का एक सौ आठ बार अनुस्मरण करते हुए कर्त्तरी, करणी, खटिका, तिलाज्य संपात ये सभी कार्य मूल मन्त्र से ही सम्पन्न कराना चाहिये । तात्पर्य यह कि, मूल मन्त्र का अनुस्मरण उसके द्वारा कार्य के कराने या करने में, परानन्दात्मक परामृत मन्त्र के स्मरण में और उसके अन्त: सामर्थ्य के ध्यान के अवसर पर ही करना चाहिये । उसका तीन भाग चरुस्थाली में और शेष चरु का प्रयोग शिवाग्नि साधकों की दृष्टि से ही करना उचित है ।

शिवाग्निसाधकार्थं त्रयो भागा यस्य तादृशं तमिति अलौकिकं चरुं कल्पयित्वा 'अग्रं' शिवभागात्स्थालिकलशाद्यर्थं भागीकृतात् प्रथमं भागं शिवाय मण्डलस्थाय दद्यात् ॥११४॥

अग्न्यादिभागादिविनियोगमाह–

द्वितीयं होमयेदग्नौ साधकेभ्यस्तृतीयकम् ।

'साधकाः' शिवाराधकाः ।

शिवाय विनिवेदने विधिमाह–

चरुं पात्रे तु संगृह्य पूजयेद्भैरवेण तु ॥११५॥
पुष्पधूपादिभिर्नीत्वा धाम्नैतं विनिवेदयेत् ।

अनन्तरम्

हृदाद्यावरणस्थानां दशमांशं निवेदयेत् ॥११६॥
कलशेऽप्येवमेवं तु अग्नौ होम्यश्चरुः स्रुचा ।

मण्डलवत् कलशे सपरिवारे विधिः

इसमें अग्र अर्थात् चरु भाग शिव के लिये ही अर्पित करना चाहिये । 'तं' अलौकिता को व्यक्त करने वाला सर्वनाम है । 'अग्रं' का तात्पर्य शिव भाग रूप पहला भाग है । मण्डल में प्रतिष्ठित शिव के लिये ही वह अर्पित करना चाहिये । यह शास्त्र का आदेश है ॥११४॥

स्थाली में संस्थित भाग को अग्नि देवता को ही अर्पित करना चाहिये । वही लिख रहे हैं –

द्वितीय भाग को अग्नि में आहुतियाँ अर्पित करने में ही प्रयुक्त करना चाहिये । वहीं तृतीय भाग शिवाग्नि साधकों के लिये ही प्रयोग में लाना उचित है । साधक शिव के आराधकों को ही कहा जाता है ।

प्रथम भाग उपयोग में लाने के पहले एक चौड़े बर्तन में उसको बाहर निकालना पड़ता है । उस चरु को भैरव मन्त्र से अभिमन्त्रित और पूजित करना चाहिये ॥११५॥

पुष्प, धूप आदि उपचारों से पूजा कर दशमांशशेष चरु को ले जाकर मूल मन्त्र से अग्नि स्रुक् से निवेदित करना चाहिये । हृदय आदि अङ्गों द्वारा आवरणों में अवस्थित देवांशों को दशमांश निवेदित करना चाहिये ॥११६॥

तत्र

भैरवस्य शतं होम्यमङ्गानां तु दशांशकम् ।।११७।।
साधकेभ्यस्तु यच्छेषं पिधाय स्थापयेत्प्रिये ।

'शेषम्' इत्यवशिष्टभागरूपम् । स्थापयेदिति साधकानां शिष्याणामद्याप्यसंस्कृतानां संस्कृतचरुभोजने[1]ऽनधिकारात् ।।११७।।

अथाधिवासार्थं होममाह–

विनायके शतं होम्यं भूपरिग्रहणे तथा ।।११८।।

जहाँ तक कलश का प्रश्न है, इसमें भी मण्डल की तरह कलश में प्रतिष्ठित वरुण परिवार के लिये भी वही विधि अपनायी जानी चाहिये ।

जहाँ तक चरु के हवन का प्रश्न है, अग्नि में चरु का होम स्रुक् द्वारा ही करना चाहिये । हवन के क्रम में भैरव के लिये एक सौ आठ आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । भैरव के अङ्गों के लिये दशांश हवन ही अपेक्षित माना जाता है ।।११७।।

साधकों के लिये शेष चरु ढककर रख देना चाहिये । शेष का तात्पर्य उपर्युक्त विधियों को पूरी करने पर बची हुई चरु से है । स्थापित करने का तात्पर्य साधक शिष्यों को चरु ग्रहण का अधिकार है । असंस्कृत जनों को संस्कृत चरु ग्रहण का अधिकार नहीं माना जाता है ।।११७।।

अधिवास के लिये होम की चर्चा कर रहे हैं –

अधिवास क्रम में पहले ही गणपति को प्रसन्न करने के लिये अष्टोत्तर शत आहुतियाँ देनी चाहिये । इसी तरह भूपरिग्रहण के कारण भी अष्टोत्तर शत आहुति देनी चाहिये । भूपरिग्रहण का मर्म उद्‌घाटित करते हुए आचार्य क्षेमराज कह रहे है कि, जिस भूमि को अधिवास के लिये चयन करने के समय मोक्ष रूपी लक्ष्य की अवतारणा अपने मन में करते हैं, वह धरणी चुनी गयी, इस लक्ष्य से अधिष्ठित हो जाती है । अन्यान्य उपचारों से उसे संस्कार सम्पन्न बनाकर इसी मोक्षरूपी लक्ष्य को प्राप्त करने में जीवन को लगा देते हैं । उस भूमि को स्वीकार करने के कारण भूमि के लिये भी एक सौ आठ बार आहुतियाँ देनी चाहिये ।

१. पं. क. ख. पु. चारुसाधने इति पाठः ।

'भुवः' पूर्वावतारितमोक्षलक्ष्याधिष्ठितायाः 'परिग्रहे' स्वीकारनिमित्तम्', तेन 'ओं भुवे स्वाहा, ओं श्रिये स्वाहा' इति प्रयोगः । शतं शतं होम्यम् ॥११८॥

किञ्च,

अधिवासे तथैवेह अष्टोत्तरशतं हुतिः ।

प्राङ्निर्णीताधिवासनिमित्तम् । हुतिरिति भैरवस्य स्यादित्यर्थः ।

अथ

प्रायश्चित्तनिमित्तं तु अनुलोमविलोमके ।।११९।।
न्यूनातिरिक्ते देवेशि अष्टोत्तरशतं हुतिः ।

'अनुलोमस्य' विधिक्रमस्य 'विलोमो'ऽन्यथात्वम्, तत्र न्यूनाधिके च यत् 'प्रायश्चित्तं' प्रायस्तपसि चित्तं निश्चयस्तदर्थम्, मूलेन 'प्रायश्चित्ताय जुहोमि स्वाहा' इत्यन्तेन होमः ॥११९॥

यदि मोक्ष को लक्ष्मी माना जाय तो लक्ष्मी के लिये भी एक सौ आठ आहुतियाँ अलग से देनी होती हैं । इनके मन्त्र के रूप में ओम् लगाकर भू-श्री शब्दों के चतुर्थ्यन्त रूप और स्वाहा का प्रयोग करना चाहिये जैसे ओं भुवे स्वाहा और श्री के लिये ओम् श्रिये स्वाहा । इन मन्त्रों का प्रयोग अग्नि को आहुति अर्पित करते समय करना चाहिये ॥११८॥

अधिवास का निर्णय भी पहले ही लिया गया होता है । अतः अधिवास हेतु भी अष्टोत्तर शत आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । यह हुति भैरव के लिये ही वास्तविक रूप से होती है । इसके बाद इन कार्यों में होने वाले प्रायश्चित्त के निमित्त भी हवन करना आवश्यक है । इस प्रकरण में अनुलोम और विलोम दोनों विधियाँ अपनायी जाती है ।

प्रायश्चित्त शब्द का वास्तविक अर्थ स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि, प्रायः तपस्या में चित्त की विकल्पात्मकता का अनपेक्षित निश्चय मूल मनन से अलग कर देता है । यह उत्तम नहीं । लक्ष्य में अलक्ष्य वैलम्ब्य विघ्नवत् कष्टदायी होता है । अतः उस विघ्न को दूर करने के उद्देश्य से यह प्रायश्चित्त होना इस कर्म काण्ड में स्वीकृत हैं ।

एक दूसरी दृष्टि से प्रायः तपस्या में लगा चित्त स्वयं निश्चयात्मकता का दृढता पूर्वक अनुसरण करता है । अतः इस निश्चयात्मकता को पावन बनाने हेतु प्रायश्चित्त हवन करते है ।

इसमें नैयून्य और आधिक्य दो प्रकार के दोष को दूर करने के उद्देश्य से हवन करना चाहिये । हवन से अग्नि देव प्रसन्न होते हैं । इसका मन्त्र 'ओम् प्रायश्चित्ताय जुहोमि स्वाहा' इस रूप में निष्पन्न होता है ॥११९॥

शिष्यं संस्कर्तुं पीठबन्धं करोति–

भैरवं पूजयित्वाथ [1]प्रार्थ्यानुज्ञां वरानने ।।१२०।।
शिशोः कर्म प्रकर्तव्यं यथा भवति तच्छृणु ।

शिशोरिति, शक्तिपाताङ्कुरितश्रीशिवभावस्य । 'कर्म' इति अधिवासरूपम् ।।१२०।।

तदाह–

द्वारे मण्डलकं कृत्वा दर्भं तस्योपरि न्यसेत् ।।१२१।।
प्रणवेनासनं कल्प्यं शिष्यं तस्मिन्निवेशयेत् ।
समपादं स्तब्धकायं सौम्याननकृताञ्जलिम् ।।१२२।।

'द्वारे' द्वारसमीपे 'स्तब्धकायम्' उत्थितं सौम्यदिगभिमुखं प्रसन्नवदनं च ।।१२२।।

शिष्य को संस्कार सम्पन्न बनाने की भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं–भगवान् कह रहे हैं कि, सुमुखि ! पार्वति ! भैरव की पूजा करने के उपरान्त ही उनकी प्रार्थना और अधिवास की अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिये । शिष्य के सारे सांस्कारिक कर्म भैरव देव की अनुज्ञा से ही सम्पन्न होना चाहिये । सर्वप्रथम आचार्य यह सूक्ष्म निरीक्षण करता रहे कि, इसके ऊपर शक्तिपात करने से शैव महाभाव का अङ्कुरण किस प्रकार सम्पन्न हो रहा है । यह अधिवास में ही सुचारु रूप से सम्पन्न है । उन्ही विधियों को भगवान् सुना रहे हैं ।।१२०।।

वही प्रस्तुत कर रहे हैं–

द्वार पर मण्डल बना कर उस पर दर्भ का न्यास करना चाहिये । दर्भ उस मण्डलक (एक प्रकार का चौक पूरनस्थल) पर ही रखना चाहिये । प्रणव से उस पर आसन का प्रकल्पन करना चाहिये । शिष्य को उसी कुशासन पर बिठलाना चाहिये । शिष्य की बैठने की मुद्रा उसके आंतरिक भाव आदर्श रूप से यह व्यक्त करती हो कि, वह समपाद अर्थात् पद्मासन या वज्रासन पर बैठा हो । शरीर स्वस्थ हो चञ्चलता न हो स्थिर शान्त भाव से बैठा हो । सौम्य भाव उसके व्यक्तित्व से झाँक रहा हो । वह गुरुजनों के समक्ष हाथों को जोड़कर विनम्रता व्यक्त कर रहा हो । उत्तर या पूर्व की ओर मुख हो और उसके चेहरे में चमक हो और आँखों से फूल खिल रहे हों । इस तरह प्रसन्न मुद्रा में शिष्य को अवस्थित किया जाय । तब सारे कार्य प्रारम्भ किये जाँय ।।१२१-१२२।।

---

१. ख. पु. प्राप्यानुज्ञामिति पाठः ।

गुरुः पूर्वमुखोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत्तं शिवाम्भसा ।
भस्मना ताडयेन्मूर्ध्नि अस्त्रमन्त्रेण चालभेत्[1] ।।१२३।।

भस्मना ताडनं यतेः, आलम्भनं स्पर्शश्च ॥१२३॥

नाभ्यूर्ध्वं त्रींस्तथा वारान्नाभ्यधस्त्रीन्प्रकल्पयेत् ।

एतत्संस्कारत्रयं पाशशैथिल्याय अधस्त्रीन्वारान् मलत्रयोत्पुंसनार्थम्, ऊर्ध्वं तु शक्तित्रयोत्तेजनाय ।

अथैवं शिथिलपाशत्वादेव विहितदेहादिशुद्धौ शिशौ

शिवं न्यासाङ्गसहितं[2] पूजयेद्भैरवेण तु ।।१२४।।

किञ्च,

वस्त्रं सम्प्रोक्ष्य चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ।
पूजयेद्भैरवेणैव मुखं प्रच्छादयेत्तथा ।।१२५।।

गुरुदेव पूरब की ओर मुखकर आसीन हों । अस्त्र मन्त्र से शिवाम्बु से उसे प्रोक्षित करें । भस्म से उसके शिर पर ताडन मन्त्र का प्रयोग करें और अस्त्र मन्त्र उसका स्पर्श करें । यह ध्यान देने की बात है कि, भस्म से ताडन केवल यति शिष्य का ही होता है ॥१२३॥

पाशों को शिथिल करने के लिये शिष्य की नाभि के ऊर्ध्व भाग में तीन बार अस्त्र मन्त्र से स्पर्श और तीनों शक्तियों को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से नाभि के नीचे तीन बार भस्म मन्त्र बोलकर स्पर्श करना चाहिये ।

अब वह इस प्रकार पाशों के शिथिल हो जाने पर और शिष्य की पूर्ण देह शुद्धि हो जाने पर भैरव मन्त्र से न्यासाङ्ग सहित शिव की पूजा करे । यह प्रक्रिया उस शिष्य को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करती है । इसके बाद शिष्य के मुख को ढकने की प्रथा है ।

मुख ढकने का उद्देश्य कुछ विलक्षण ही है । आँखों से विश्व का बाह्य प्रसार दीख पड़ता है । उसका निवारण मुख के प्रच्छादन से हो जाता है । प्रच्छादन के भीतर शिष्य के ऊपर विन्यस्त भैरव भाव की आभा का प्रसार होता है । प्रकाश का साम्मुख्य शिष्य से होता है । बुद्धि इन्द्रिय का आश्रय मुख माना जाता है ।

---

१. ख. पु. चालयेदिति पाठः ।
२. क. ग. पु. न्यस्याङ्गेति पाठः ।

करणानां बहिष्प्रसरनिवारणायान्तर्विन्यस्तभैरवप्रकाशप्रत्यङ्मुखीकरणाय च बुद्धिन्द्रियाश्रयस्य मुखस्य प्रच्छादनम् ॥१२५॥

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणां संयमनाय तत्प्रधानपाण्यवष्टम्भपूर्वं शिष्य प्रवेशये-दित्याह–

हस्ताभ्यां तं गृहीत्वाथ विशेज्जवनिकान्तरम् ।

ततोऽपि

देवस्याभिमुखं कृत्वा पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।।१२६।।

एकमेव पुष्पं मूलाभिमन्त्रितं पुष्पपातस्य सम्यङ्निर्णयाय दत्त्वा ॥१२६॥

ततश्च

प्रक्षेपयेत्ततो धाम्ना मुखमुद्घाट्य दर्शयेत् ।

क्षिप पुष्पमिति तं प्रयुञ्जीत, तत्पातावसरे च मूलमुच्चारयेद्गुरुरित्यर्थ: ।

अथास्य

विद्यामन्त्रगणै: सार्धं कारणं ससदाशिवम् ।।१२७।।

'कारणम्' इति निष्कलनाथं सह सदाशिवेन सकलभट्टारकेण वर्त-मानम् ॥१२७॥

इस प्रकार तिहरे लाभ के उद्देश्य से किया जाने वाला यह मुख प्रच्छादन उस अधिवास की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया मानी जाती है । इसे अवश्य सम्पादित करे ॥१२५॥

बुद्धि इन्द्रिय के संयम हेतु मुख का प्रच्छादन और कर्मेन्द्रिय के संयम के लिये शिष्य हाथ का अवष्टम्भ ! इन दोनों प्रक्रियाओं के साथ आचार्य उसे मण्डप के भीतर प्रवेश कराता है । इसीलिये लिखते हैं कि, शिष्य के हाथ को पकड़कर जवनिका के अन्दर प्रवेश कराना चाहिये । उसे भैरव देव के अभिमुख कर उसके हाथ में खिले फूल दे देना चाहिये । यह फूल मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित किया गया हो । शिष्य को गुरु इस तथ्य से अवगत करा दे कि, इस फूल को तुमको इस दिशा में फेंकना है ॥१२६॥

प्रवेश के तुरत बाद उसको गुरु प्रेरित करे कि, तुम अब पुष्प का प्रक्षेप करो । प्रक्षेप के समय गुरुदेव मूलमन्त्र का उच्चारण करते रहें । अब उसके मुख का उद्घाटन कर दें । उसे दिखलावें कि, तुम्हारे द्वारा फेंका हुआ फूल वहाँ जाकर गिरा है ।

पुष्प का पतन याग भूमि में ही हुआ है, यह तो निश्चित ही है । वहाँ याग भूमि में विद्याओं की, मन्त्रों की और कारण रूप निष्कल भैरव की प्रतिष्ठा सदाशिव के साथ ही सम्पन्न की गयी है । इन सब का सम्मुखीकरण गुरु कराते हैं ॥१२७॥

अथासौ

अज्ञानपटनिर्मुक्तः प्रबुद्धः पशुरीक्षते ।
दण्डवद्धरणीं गत्वा प्रणिपत्य पुनः पुनः ।।१२८।।

अज्ञानेत्यनेन पटापासने व्याप्तिरुक्ता । प्रागवस्थो यः पशुः स इदानीमेव प्रबुद्धः, अत एव जन्मसहस्रापूर्वभगवत्स्वरूपावलोकनाद्विस्मयाविष्टः पुनः पुनर्भगवन्तमीक्षते । दण्डवद्गमनेन देहादिप्रमातृतापहस्तनात् श्रीशिवसमावेशानुसरणे योग्यतास्य दर्शिता ॥१२८॥

अत एवासौ

कृतकृत्यः प्रहृष्टात्मा प्रहृष्टनयनं शिशुम् ।
उत्थाप्य हस्तात्संगृह्य दक्षिणां मूर्तिमानयेत् ।।१२९।।

मुखाच्छादन को अज्ञान का आवरण यदि माना जाय तो उस समय आच्छादन हटाने पर उसके अज्ञान का आवरण भी हट गया है, यह मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती है । शास्त्र भी यह मान रहा है कि, अब वह प्रबुद्ध हो गया है । पहले वह पशु था । अब वह तथ्य का ईक्षण कर रहा है । वह विनय की मूर्त्ति बन गया है । धरणी पर दण्ड की तरह पड़ कर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणिपात करता है । वारम्बार अपनी विनम्रता का अभिव्यञ्जन करता है । मानो वह गुरुदेव की कृपा का महत्त्व समझ गया है ।

पटरूप मुखाच्छादन को अज्ञान का प्रतीक मानने में कोई आपत्ति नहीं । अज्ञान की व्याप्ति को पटापासन से ज्ञान के प्रकाश की व्याप्ति प्राप्त हो जाती है । यह एक चमत्कार ही है । पहले वह पशु था । पाश बद्ध था । अज्ञान के आवरण से आवृत था । अब वह पटापासन से प्रबुद्ध हो गया है । जन्म जन्मान्तर से शिव के पराङ्मुख रहने वाला अब वह विद्या, मन्त्र और सकल भट्टारक सदाशिव के साथ निष्कल का भी साक्षात्कार कर रहा है । अब देहाध्यास, देहाभिमान और देहप्रमातृता के पाप उससे अपहस्तित हो गये हैं । उसमें शैव समावेश का उल्लास हो रहा है । उसकी इस योग्यता का निदर्शन ही उसकी विनम्रता है ॥१२८॥

इस अवस्था में वह अपने को कृतकृत्य मान रहा है । उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं है । ऐसे परम प्रसन्न शिष्य को देखकर गुरुदेव भी प्रसन्न हैं । उसको अपने हाथ से पकड़कर उठाते हैं और दक्षिणामूर्त्ति के समक्ष उसे ला खड़ा करते हैं ।

चिदानन्दात्मकस्वरूपस्पर्शात्प्रहृष्टनयनम् । 'उत्थाप्य' इति चिरतरं[1] देहादिभूमिमग्नं तत उन्मज्ज्य युक्त्येत्यर्थः । 'दक्षिणाम्' अनुकूलां शिवात्मिकामेव न तु पाशवीं देहमयीम् ॥१२९॥

श्रीमदघोरभट्टारकसम्मुखं च–

तत्र मण्डलकं कृत्वा पुष्पेण प्रणवासनम् ।
तस्योपरि शिशुं न्यस्य ऊर्ध्वकायमुदङ्मुखम् ।।१३०।।
गुरुः पूर्वाननः स्थित्वा प्रोक्षणादीनि कारयेत् ।

आदिशब्दात्ताडनालम्भेन प्राग्वत् । कारयेदिति, कुर्वतो मन्त्रांस्तद्वीर्यानुप्रवेशेन प्रयुञ्जीत ।

अथात्रासने

उपवेश्य ततः कृत्वा सकलीकरणे विधिम् ।।१३१।।
विशेषफलसिद्ध्यर्थं मुमुक्षोः साधकस्य वा ।

सामान्येन कृतसंस्कारस्य दृष्टभगवत्स्वरूपस्यापि

वातावरण दिव्य है । चिदानन्दात्मक स्वरूप के स्पर्श से शिष्य प्रसन्न है । गुरु देव शिष्य के इस स्वरूप के साक्षात्कार से पुलकायमान हैं । उसे इस रूप में उठाना शक्तिपात के साफल्य की शोभा का सभाजन है । दक्षिणामूर्त्ति से भगवान् भैरव भट्टारक भाव और दक्षिणा अर्थात् अनुकूलता मयी शिवात्मिका मूर्त्ति रूप वहाँ के प्रधान कलश के पास ले जाने का भाव लिया जा सकता है ॥१२९॥

वहाँ ले जाकर एक चौका पूर कर पुष्प से प्रणवोच्चार पूर्वक आसन का प्रकल्पन करे । उसके ऊपर शिष्य को बिठला कर आगे की प्रक्रिया पूरी की जाती है । इस आसन पर मेरुदण्ड सीधा रखकर उत्तराभिमुख बैठे । गुरुदेव पूर्व की ओर मुख कर बैठें । गुरुदेव मूलमन्त्र से ही शिष्य का प्रोक्षण करें । इस अवस्था के अन्य कृत्य जैसे ताडन आलम्भन आदि कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं । गुरुदेव अपनी शक्ति का प्रयोग यहाँ भी करते हैं और मन्त्र शक्ति से और भी भास्वरतामयी ऊर्जा से अलङ्कृत करते हैं ।

आसन पर वह शिष्य बैठा हुआ है । उसके सकलीकरण की विधि अपनानी चाहिये । यह विधि इसलिये अपनायी जाती है, जिससे विशेष फल की सिद्धि हो सके । यदि शिष्य मुमुक्षु है, तो उसकी मुमुक्षा वृद्धि होनी चाहिये ।

---

१. पं. क. पु. चिरन्तनदेहेति पाठः ।

'शिवपूजाग्निकार्यादौ सकलीकृतविग्रहः ।
नान्यथा प्राक्स्वरूपेण ।' (३/१४६)

इति वक्ष्यमाणत्वात्पुनर्यथायोगं भोगाय मोक्षाय वा शिवार्चाद्यर्हत्वविशेषफल-सिद्ध्यर्थं सकलीकरणेऽस्य विधिं कृत्वा 'कलाध्वानं न्यसेत्पश्चात्' इति व्यवहितेन सम्बन्धः ॥१३१॥

सकलीकरणं क्रमेणादिशति

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा अस्त्रेण परिशोधयेत् ।।१३२।।
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ प्लावयेदमृतेन तु ।

तयोरेव च

अनन्तमासनं कल्प्यं भैरवाङ्गानि विन्यसेत् ।।१३३।।

भैरवश्चाङ्गानि चेति द्वन्द्वः ॥१३३॥

देहन्यासमाह–

व्योम्न्यात्मानं योजयित्वा शिशोः शोष्य तनुः प्रिये ।
आग्नेयीं धारणां ध्यात्वा निर्दह्यास्त्रेण तं शिशुम् ।।१३४।।

अगर वह बुभुक्षु है तो उसकी बुभुक्षा पूरी होनी चाहिये । यह विधि सबके लिये है । सामान्य शिष्य के लिये भी और जिसने भगवत्-साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिये भी ।

इसी पटल के एक सौ छियालिसवें श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि, शिंव पूजा का कार्य हो, अग्नि प्रतिष्ठारूप याग आदि का कार्य हो, सकली कृत विग्रह साधक या शिष्य ही पूजा के योग्य होता है । इसलिये शिष्य भोग या मोक्ष की आकांक्षा की सिद्धि के लिये शिवार्चा की योग्यता के अधिकार से सम्पन्न होना चाहिये । उस समय सकलीकरण की विधि अपनायी जानी चाहिये । वहाँ बाद में कलाध्वा आदि न्यास आदि की प्रक्रिया प्रसङ्गानुसार अपनायी जाती है ॥१३१॥

सकलीकरण का क्रमिक निर्देश कर रहे हैं –

दोनों हाथों को सुरभित इत्र आदि से वासित करके अस्त्र मन्त्र से उसका शोधन करना चाहिये । कवच से अवगुण्ठित कर अमृत मुद्रा से उसका आप्यायन करना चाहिये । अपने हाथों में ही अनन्त के आसन का प्रकल्पन कर भैरव मन्त्र अङ्गरूप विद्याङ्गों का विन्यास भी करना चाहिये ॥१३२-१३३॥

भावना पूर्वक भावना से ही सारी प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । सर्वप्रथम अपनी आत्मा की व्याप्ति को व्योमव्याप्ति में आयोजित करे । भगवान् कहते हैं कि,

धूमज्वालाविनिर्मुक्तं दग्धकायं विभावयेत् ।
भस्मीभूतं ततः शान्तं प्लावयेदमृतेन तु ।।१३५।।
व्योमवच्चिन्तयेद्देहं चैतन्यं कनकाग्निवत् ।
शक्तिन्यासं न्यसेत्पूर्वं कमलं प्रणवेन तु ।।१३६।।
तस्योपरि तदात्मानं ध्यायेज्ज्योतिर्मयं शुभम् ।
मूर्तिमन्त्रं समुच्चार्य मूर्तिभूतं प्रकल्पयेत् ।।१३७।।

एतत्सर्वं भावनया कार्यम् ॥१३७॥

कथमित्याह–

पूर्वोद्धृतेन मन्त्रेण प्लावयेदमृतेन तु ।

जातावेकवचनम् । तेन

'संहारेण यभिन्नेन' (२/३६)

इत्यादिः सर्वः पूर्वोक्तः क्रम आश्रयितव्यः । एवमुत्तरत्र ।

प्राग्वदेव शिवावेशावष्टम्भरसेन

अथ

मन्त्रन्यासो यथापूर्वमष्टात्रिंशत्कलावधि ।।१३८।।

प्रिये पार्वति ! गुरु शिष्य के शरीर को शोषित करे । यह वायवी धारणा के प्रयोग से होता है । पुनः अग्निबीज से शिष्य के उस सूखे शरीर को दग्ध कर दे । यह आग्नेयी धारणा से होता है । पुनः उस दग्ध शरीर को धूमादि रहित लपलपाते अङ्गार के रूप में परिकल्पित करे ।

उस भस्मीभूत अङ्गार शरीर के शान्त भस्म को अमृत से आप्लावित कर दे । अब शरीर रहा नहीं । अतः स्थूलता रहित व्योम की तरह उसके शरीर को देखे । जैसे जलता हुआ लाल स्वर्ण द्रव परिशुद्ध होता है,उसी तरह चैतन्य की चमक भी उसमें प्रकल्पित करे ।

उसमें शक्ति का न्यास करे । पश्चात् प्रणव से उसमें कमल की प्रकल्पना करे । उसी कमल पर शिष्य की आत्मा को ज्योतिष्मान् मूर्त्त प्रकाश रूप में परिकल्पित करे । उसे मूर्त्तिमन्त्र के उच्चारण से मूर्त्ति रूप से प्रकल्पित करे । इस तरह शिष्य का स्वरूप भाव जगत् का एक प्रकाश पुरुष का प्रकाशमान विग्रह बन जाता है । यह सब चैतन्य के प्रतीक गुरुदेव की चेतना का चमत्कार ही होता है ॥१३४-१३७॥

इन सारी बातों का समन्त्रक वर्णन द्वितीय पटल के श्लोक ३६से ४३तक में विशद रूप से वर्णित है । वहाँ से इसे देखना चाहिये । वही क्रिया यहाँ भी अपनानी चाहिये । अमृत प्लावन आदि सब क्रियायें इस प्रसङ्ग में परिकल्पित की जाती हैं । ३८ कलाओं पर्यन्त मन्त्र न्यास भी पूर्ववत् करना चाहिये ॥१३८॥

अथात्रैवान्तर्बहिश्च शुद्धतत्त्वात्मकदेहसर्गाय सृष्टिक्रमेण

कलाध्वानं न्यसेत्पश्चाच्छान्त्यतीताद्यनुक्रमात् ।
स्फटिकाभा तथा कृष्णा रक्ता शुक्ला च पीतका ।।१३९।।
शान्त्यतीतादिका ज्ञेयास्तत्त्वभूतास्तु ताः कलाः ।

'तत्त्वभूता' इति खादिपृथिव्यन्तास्तत्त्वरूपतां प्राप्ताः, अत एवासां यथोचितमेव ध्यानं युक्तमित्येष शुद्धतत्त्वसृष्ट्यर्थं कलापञ्चकन्यासोऽत्राधिवासे तावदुक्तः । पुत्रकादीनां तु भाविपटलेऽन्यथैव संहारक्रमेण दीक्षार्थमसौ भविष्यति–इति न त्वत्राप्राकरणिकमेतदिति भ्रमितव्यम् ॥१३९॥

उक्तसकलमन्त्रन्यासोपरि

धाम्ना[1]वाह्य तथाङ्गानि न्यस्यान्तःकरणं भवेत् ।।१४०।।
आत्मान्तःकरणे यद्वत्तद्वत्पूजां समारभेत् ।
धाम प्रोच्चार्य संदध्यात्सबाह्याभ्यन्तरं[2] पुनः ।।१४१।।

सन्धानं नाडीमन्त्रात्मकम्, 'सबाह्याभ्यन्तरम्' इति देहान्तःकरणाश्रयभैरवविषयम्, स्थण्डिलाभ्यन्तरभेदेनेति त्वसत् ॥१४१॥

अन्तर और बाहर शुद्धतत्त्वात्मक देह सर्ग के उद्देश्य से सृष्टि क्रम से कलाध्वा का न्यास शान्त्यतीता आदि के क्रम से स्फटिक, कृष्ण, रक्त, शुक्ल और पीत रूपतत्त्व भूत कलाओं के वर्ण से आकर्षण मय स्वरूप का परिकल्पन वहाँ करना चाहिये । यह कला पञ्चक न्यास इस तरह पूरा होता है । यह अधिवास में होना ही चाहिये । इसी तरह पुत्र आदि दीक्षा प्रायः संहार क्रम से अपनायी जाती है । इन सभी तथ्यों पर आचार्य को ध्यान देना चाहिये ॥१३९॥

इस सकल मन्त्र न्यास के ऊपर धाम मन्त्र से अङ्ग न्यास आवश्यक होता है । यह अन्तःकरण प्रक्रिया है । आत्मा और अन्तःकरण दोनों में पूर्ववत् पूजा का विधान मान्य है । इसमें धाम का उच्चारण कर आत्मा और अतःकरण का समन्वयात्मक अनुसन्धान आवश्यक माना जाता है । सन्धान मन्त्रानुसंधान और नाडी अनुसन्धान दोनों रूपों का होना चाहिये । वास्तव में आत्मा (देह) और अन्तःकरण दोनों भैरव भाव के आश्रय माने जाते है । इसकी व्याख्या में स्थण्डिल के आभ्यन्तर का अर्थ उत्तम अर्थ नहीं है । ऐसा अर्थ करना सत्य पर आधारित नहीं माना जा सकता ॥१४०-१४१॥

---

१. पं. ख. पु. धामेति पाठः ।
२. पं. ख. ग. पु. भ्यन्तरे इति पाठः ।

अथ

शिवहस्ते विभुं ध्यात्वा मन्त्रग्रामं सुजाज्वलम् ।
धामोच्चार्य च सन्धाय शिष्यमूर्ध्नि करं न्यसेत् ।।१४२।।
अधोमुखेन हृत्पृष्ठे शिवहस्तेन चालभेत् ।

'विभुं' व्यापकम्, सुजाज्वलत्वं पाशदाहाय । सन्धायेति पूर्ववन्नाडीमन्त्रक्रमेण, ब्रह्मरन्ध्रहृदययोर्भववदधिष्ठानेऽपि पाशावृतत्वमस्तीति मूलभूमौ तत्र पाशदाहेन पारमेश्वरस्वभावोद्दीपनार्थमङ्गुलिपञ्चकाभिव्यक्तचिदादिशक्तिपञ्चकव्याप्तिना शिवहस्तेन स्पर्शः ।

उत्थाप्य दत्त्वा पुष्पं तु अञ्जलौ भैरवेण तु ।।१४३।।
प्रवेश्याभ्यर्चयेच्छम्भुं शिवमुच्चार्य निक्षिपेत् ।

अब शिव हस्त में विभु भैरव का ध्यान करना चाहिये । उसमें सुजाज्वल मन्त्र राशि का अनुसन्धान करते हैं । इस तरह धाम का उच्चारण अर्थात् धाम मन्त्रोच्चार कर शिवहस्त में अनुसन्धान करते हुए हाथ को शिष्य के शिर पर रखना चाहिये । अधोमुख रूप हाथ से हृदय और पीठ पर भी फेरना चाहिये । इस प्रकार शिव हस्त स्पर्श शिष्य के उत्कर्ष का आधार माना जाता है ।

नाडी अनुसन्धान हृदय से ब्रह्म रन्ध्र पर्यन्त होता है । यही भगवान् के अधिष्ठान होते हैं । इतना होने पर भी शिवहस्त क्यों आवश्यक है ? इसका उत्तर यह है कि, शरीर में कहीं भी पाशावरण यदि शेष रह जाता हो, तो शरीर के पाशों को भस्म करने का उपाय ही शेष रहता है । उसमें पारमेश्वर स्वभाव उत्पन्न करने का पञ्चाङ्गुलि स्पर्श आवश्यक माना जाता है । शिवहस्त प्रयोग का सर्वाधिक महत्त्व है ।।१४२।।

उस शिष्य को उठाकर उसके हाथ में पुष्प देना चाहिये । अञ्जलि में पुष्प लेकर खड़े शिष्य को देखते हुए गुरुदेव भैरव मन्त्र का उच्चार करते हैं । इसी के साथ प्रवेश होता है । वहाँ जाकर पहला कार्य शम्भु के पूजन के रूप में सम्पादित करना चाहिये ।

उत्थाप्य का उठाने के अतिरिक्त अभिलाष अर्थ भी उत् उपसर्ग के योग में होता है । इस दृष्टि से यह अर्थ करना चाहिये कि, शिष्य के हृदय में पूजा के प्रति दृढ निष्ठा का भाव जागृत करे ।

उत्थाप्येति, उत्पूर्वस्य तिष्ठतेरीहार्थत्वाद्भगवत्पूजोद्योगं ग्राहयित्वा–इत्यर्थः । प्रवेशो 'मण्डलेऽत्र शिवं पूजय' इत्याज्ञया भक्तिश्रद्धोन्मुखस्य तत्परत्वापादनम्, यथा [१]व्याकरणे प्रवेशित इति । अर्चयेदिति, अर्चतेर्णिच् ।।१४३।।

शिष्योऽपि तथाचार्येण शिक्षितमन्त्रः पुष्पे

अथ

निर्गत्य वन्दयेद्देवं दण्डवत् त्रिः प्रदक्षिणम् ।।१४४।।

मण्डले इति योज्यम् ।

तथा

शिवकुम्भाग्निमध्यस्थं स्थण्डिलस्थं च वन्दयेत् ।

त्रिरिति, त्रिविधेऽपि कालाध्वनि दण्डवत् 'दक्षिणः' स्वस्वरूपप्रथापरो मे भवेति वाञ्छया स्वदक्षिणमेव भगवन्तं कुर्वन् परिभ्राम्यन् स्तुवीत ।।१४४।।

एवं च

शिवपूजाग्निकार्यादौ सकलीकृतविग्रहः ।।१४५।।
नान्यथा प्राक्स्वरूपेण पूजनार्हो भवेत्तु सः ।

भवेदिति वाक्यद्वये योज्यम् । आदिशब्दाज्जपध्यानादौ ।।१४५।।

प्रवेश विना गुरु की आज्ञा के नहीं होता । वहाँ गुरु आज्ञा देते हैं–'वत्स ! अस्मिन् मण्डपे प्रविश्य त्वं शिव पूजन कुरु' इस आदेश के अनुसार भक्ति और श्रद्धा से युक्त शिष्य भगवान् की सेवा, अर्च्चा में संलग्न हो जाता है । अर्चयेत् क्रिया में अर्चन की प्रेरणा देने वाला गुरु भी अभिप्रेत है ।।१४३।।

शिष्य भी शिक्षित है । शिव की पूजा का आदेश और गुरु प्रेरणा प्राप्त कर वह शिव मन्त्र का स्वयम् उच्चारण करता है । मन्त्र पढ़ कर पुष्प का प्रक्षेप करता है । फिर वहाँ से कुछ हटकर दण्डवत् प्रणाम करता है और भगवान् भैरव की वन्दना करता है । उठकर तीन बार प्रदक्षिणा भी सम्पादित करता है ।।१४४।।

शिव कुम्भ और अग्नि के मध्य में अवस्थित और आधार वेदी पर विद्यमान भगवान् की प्रार्थना भी करता है । यह प्रार्थना प्रदक्षिणा के क्रम में वह सम्पन्न करता है । इस प्रकार शिव पूजा, अग्नि कार्य और गुरुवर्य के आदेश के पूर्ण करने में संलग्न शिष्य सकलीकृत शरीर वाला उत्तम शिष्य के रूप में आदर प्राप्त कर लेता है । वह पूजा का सारा अधिकार प्राप्त कर लेता है ।।१४५।।

---

१. क. ग. पु. यथा व्यापकेन प्रवेशित इति पाठः ।

किञ्च,

नीत्वा कुण्डसमीपं तं शिष्यहस्तावियोगतः ।।१४६।।
आत्मसव्येऽथ दिग्भागे मण्डलं प्रणवेन तु ।
प्रणवेनासनं दत्त्वा तस्योपरि शिशुं न्यसेत् ।।१४७।।

विन्यस्य[1]मन्त्रतेजसा ज्ञानक्रियाशक्तिस्फारमयेन स्वहस्तेनास्य निमग्ने ज्ञान-क्रियाशक्ती हस्ताकर्षणयुक्त्या कर्षन् इति हस्तावियोगार्थः । 'सव्ये' दक्षिणे, शिशुमित्यद्यापि अतरुणीभूतशिवस्वरूपम् ॥१४७॥

उपवेश्य करे दर्भं भैरवेण समर्पयेत् ।

दर्भस्य

मूलं शिष्यस्य हस्तस्थं साग्रमाचार्यजङ्घयोः ।।१४८।।

हस्तयोः प्रसारितयोः सव्येतरशाखारूपयोर्मध्ये तिष्ठति-इति हस्तस्थम्, जङ्घयोरिति जङ्घोपजङ्घयोरूरुजानुसन्धावित्यर्थः ॥१४८॥

अब उसे कुण्ड के समीप ले जाया जाता है । यह ध्यान देने की बात है कि, शिष्य के हाथ ज्ञान और क्रिया शक्तियों से समन्वित हैं । उसके हाथों में इन शक्तियों का विन्यास है । इसलिये कोई कार्य जो उसके हाथों के सहयोग से होगा, वहाँ इन शक्तियों का भी साहचर्य भी प्रत्याशित होगा ।

ऐसी स्थिति का सर्वथा आकलन करते हुए गुरु के स्वात्म शरीर के सव्य अर्थात् वामभाग की दिशा में प्रणवात्मक मण्डल रूप चौक में प्रणव रूप ही कुशासन देकर उसी पर उसे बिठलाना चाहिये । व्याख्या में सव्य को दक्षिण लिखा गया है । अमर कोश के अनुसार-वामं शरीरं सव्यं स्यात् अपसव्यं तु दक्षिणम् । अर्थात् वाम शरीर भाग सव्य होता है । यह विरोधाभास गुरु को दक्षिण रखने से मिट जाता है । शिष्य तो गुरु के लिये सदा शिशु ही रहता है । इसमें अतरुणी भूत शिव अर्थ कल्पना की उड़ान मात्र है ॥१४६-१४७॥

आसन पर बिठला कर आचार्य उसके हाथ में कुशा थमा कर भैरव मन्त्रोच्चार करता है । कुशा मूल को अपने हाथ में तथा अग्रभाग को अपने आगे आचार्य की जाँघों के समक्ष रखकर आसन पर शिष्य पूरी तरह अवस्थित हो जाता है ॥१४८॥

---

१. क. ग. पु. विन्यस्तेति पाठः ।

दर्भस्य व्याप्तिमाह–

पिङ्गला मध्यमा नाडी शिष्यदेहाद्विनिर्गता ।
सैवात्र दर्भभूता तु गुरुनाड्यां लयं गता ।।१४९।।

अथ

नाडीसन्धानहेत्वर्थं भैरवेणाहुतित्रयम् ।
तया नाड्या प्रवेष्टव्यं शिष्यस्य हृदये सकृत् ।।१५०।।
ग्रहणाकर्षणार्थं तु गृह्णन्मुञ्चन्पुनः पुनः ।

'भैरवो' निष्कलः, 'शिष्यमध्यनाडी मन्मध्यनाड्यां संलीनास्तु स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः । ऐकात्म्यप्राप्तिरूपनाडीसन्धानपूर्वमेव ग्रहणाकर्षणे युज्येते । यथोक्तं श्रीस्पन्दे–

........'**अयमेवात्मनो ग्रहः ।**' (४-२)

इति ॥१५०॥

अत एवाह–

दीक्षाकाले यतश्चैवं तदर्थं नाडिसंहितः ।।१५१।।

दर्भ की व्याप्ति के विषय में वास्तविकता को व्यक्त कर रहे हैं–

पिङ्गला को मध्यमा नाडी के रूप में मान्यता दी गयी है । वह शिष्य के शरीर से विनिर्गत होकर उस दर्भ के रूप में साकार बन गयी है । दर्भ का अग्रभाग गुरु की ओर होने के कारण वह गुरु देव की मध्य नाडी में विलीन हो जाता है ॥१४९॥

नाडी सन्धान के कारण उस समय तीन आहुतियाँ अग्नि को अर्पित करनी होती हैं । आचार्य अपनी पिङ्गला रूप मध्यमा से शिष्य के हृदय में प्रवेश करता है । यह श्वास का आदान प्रदान शिष्य और गुरु के ऐक्य का आधार माना जाता है । इस प्रक्रिया को दोनों सावधानतया सम्पन्न करते हैं । शिष्य जब अपनी पिङ्गला के माध्यम से अपने प्राण का सम्प्रेषण करता है –वह एक तरह नाडी के वाहन पर ही सम्भव होता है । उस समय आहुति का मन्त्र भी यही सिद्ध करता है । गुरु कहता है–'शिष्य की मध्य नाडी मेरी मध्य नाडी में लीन हो जाय ? यह बोलकर वह स्वाहा करता है । यह ग्रहण और आकर्षण का व्यापार नाडी सन्धान के उपरान्त ही सम्पन्न होता है । श्री स्पन्द इसे ही स्वात्म ग्रह के रूप मे मान्यता देता है ॥१५०॥

यह ग्रहण और मोक्ष का प्राण व्यापार यहाँ पूरी तरह सिद्ध हो जाता है । आचार्य शिष्य के प्राण से द्विगुण प्राणवान् होकर शिष्यात्मता को स्वीकार करता है । दीक्षा के समय इसी नाडी सन्धान का व्यापार सम्पन्न किया जाता है ।

आचार्य: शिष्यात्मा भवतीति पूर्वपादान्तशेष: । समयिदीक्षायां शिष्यात्मनो हृदयाद् द्वादशान्तमाकर्षणम्, ततोऽपि स्वहृदये सामरस्यापत्तिरित्यादि; पुत्रकादि-दीक्षायां तु पाशमात्र [सूत्र] वागीशीगर्भयोजनादिकमधिकम् ॥१५१॥

अथ सर्वाश्रयन्यस्तमन्त्रै: समं शिष्ये वह्नौ चाग्नीषोमात्मतामभिव्यङक्तुं [१]होमं निरूपयति–

शिष्यस्याथ शिरोभूमौ भैरवेण विधाय तु ।
सम्पातं सर्वमन्त्रैस्तु ध्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् ॥१५२॥

जुहुयादिति शेष: ॥१५२॥

कथमित्याह–

मूलमन्त्रं समुच्चार्य स्वा इत्यग्नौ प्रपातयेत् ।

इस विषय में यह ध्यान देना चाहिये कि, समयी दीक्षा और पुत्रक दीक्षा में उक्त व्यापार में थोड़ा अन्तर रहता है । समयी दीक्षा में शिष्य के प्राण का आकर्षण कर आचार्य द्वादशान्त (ऊर्ध्व) तक ले जाता है । फिर वहाँ से हृदय में सामरस्य का अनुभव कर शिष्य का मध्यधाम में मोक्ष करता है । यह प्रक्रिया बार-बार की जाती है ।

पुत्रकादि दीक्षा में वागीशी गर्भ प्रक्रिया अपनायी जाती है । यही दोनों में अन्तर है ॥१५१॥

यहाँ आगमिक याग की एक सर्वोत्कृष्ट पारम्परिक विधा का वर्णन कर रहे हैं । इस याग में दो प्रबल पक्ष हैं ।

१. शिष्य और २. अग्नियाग । यह याग अग्निषोमात्मक माना गया है । अपेक्षा यही की जा रही है कि, शिष्य में भी समानता आ जाय, अग्नीषोमता आ जाय । यह केवल मन्त्र के प्रयोग से ही हो सकता है ।

इसके लिये सर्वप्रथम न्यस्त मन्त्रों से शिष्य और वह्नि दोनों में अग्निसोम भाव का अभिव्यंजन करने के लिये होम की विधि का निरूपण कर रहे हैं–

इस समय शिष्य के शिरोभाग पर भैरव मन्त्र से संपात की प्रक्रिया अपनायी जाती है । तत्पश्चात् सभी अन्य मन्त्र और ध्रुवमन्त्र से भी आज्य की आहुति अर्पित करनी चाहिये अर्थात् हवन करना चाहिये ॥१५२॥

मूल मन्त्र का उच्चारण कर 'स्वा' बोल कर ही आहुति अर्पित करनी चाहिये । जिस समय 'हा' का उच्चारण करे, उस समय शिष्य के शिर पर मन्त्र

---

१. ग. पु. संपातहोममिति पाठः ।

हेति शिष्यस्य शिरसि सम्पातः शिवचोदितः ।।१५३।।

स्पष्टार्थम् ।।१५३।।

सम्पातं व्याचष्टे–

शिष्यदेहे तु ये मन्त्राः सबाह्याभ्यन्तरं स्थिताः ।
कुण्डस्थाः पूजिता ये तु धामाद्यावरणान्तगाः ।।१५४।।
युगपत्तर्पणं तेषां सम्पातस्तेन कीर्तितः ।
एकैकस्यात्र मन्त्रस्य आहुतित्रितयेन तु ।।१५५।।

'संपातो' युगपत्सर्वत्राग्नीषोमात्मकस्वरूपोन्मीलनात्मा संस्कार इत्यर्थः ।।१५५।।

किञ्च,

उत्थाप्य च ततः शिष्यं तदर्थं मन्त्रतर्पणम् ।

कुर्यादित्यर्थः । तत्र

भैरवाय शतं हुत्वा हृदादौ दशकं हुतिः ।।१५६।।

दशांशेन स्यादित्यर्थः ।।१५६।।

सम्पात करना चाहिये । यह ध्यान रखना चाहिये कि, सारे के सारे काम शिव की प्रेरणा से ही होते हैं । इसलिये उन्हीं की प्रेरणा मानकर शिष्य के शिर पर 'हा' कहते समय मन्त्र सम्पात करना चाहिये ।।१५३।।

शिष्य के शरीर में जितने मन्त्र बाह्य और आभ्यन्तर रूप से अवस्थित हैं और कुण्डस्थ जितने मन्त्र पूजित किये गये हैं, इनके अतिरिक्त धाम आदि आवरण मन्त्र हैं । इन सबका तर्पण करना चाहिये ।।१५४।।

उस तर्पण के जल का भी संम्पात किया जाता है । यह ध्यान देना चाहिये कि, एक एक मन्त्र के सम्पात के लिये तीन तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, एक साथ सर्वत्र अग्नीषोमात्मक स्वरूप का ही इस तरह उन्मीलन रूप संस्कार ही संपात है ।।१५५।।

इस प्रकार शिष्य को उत्कर्ष की ओर अग्रसरकर तथा वहाँ से उठा कर उसी के लिये मन्त्र का तर्पण करना चाहिये । इस क्रम में भैरव की अष्टोत्तर शत आहुतियाँ अग्नि में अर्पित की जाती हैं । हृदय, शिर, शिखा आदि अङ्गों को लक्ष्य कर दशांश अर्थात् दश, दश आहुतियाँ दी जानी चाहिये ।।१५६।।

अथ

धाम्ना चोत्थाय होतव्यं पूर्णाहुत्यानुतर्पयेत् ।

उत्थायेत्यनेन पूर्णाहुतिप्रयोगं स्मारयति ।

एवं सामान्येन समयिदीक्षाविषयमधिवासमुक्त्वा पुत्रकादौ तद्विशेषमाधातुं य: पाशसूत्रविधिर्भविष्यति तत्र पाशानां बन्धनाय मन्त्रोद्दीपनं कर्तुमाह–

मन्त्राणां दीपनं कुर्याद्धामाद्यस्त्रावधि क्रमात् ।।१५७।।

कथमित्याह–

हुंकारद्वयमध्ये तु मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।
प्रणवादिफडन्तेन आहुतिः प्रतिपादयेत् ।।१५८।।

धाम मन्त्र से उस शिष्य की पूजा योग्यता में और भी चाह जगा कर हवन कर्म सम्पादित करना चाहिये । पूर्णहुति करनी चाहिये और बाद में तर्पण करना चाहिये । उत्थाप्य और उत्थाय पूर्वकालिक दोनों क्रियाओं का यहाँ प्रयोग किया गया है । प्राय: सर्वत्र उठना, याग कर्म के प्रति चाह या निष्ठा उत्पन्न करना और पूर्णता की चाह जगाना, उत्कर्ष की ओर अग्रसर करना ही उसका तात्पर्य होता है । यहाँ पूर्णाहुति प्रयोग की स्मृति दिलाने में ही यह प्रयुक्त है ।

इस प्रकार सामान्यतया समयी दीक्षा के तथ्यों और कृत्यों पर ही प्रकाश डाला गया है । प्रयुक्त दीक्षा में इससे कुछ विशेष कृत्यों का भी आधान किया जाता है । उसमें पाश सूत्र की विधि पर भी बल दिया जाता है । उसमें भी पाशों को बाँधने के लिये सूत्र में शक्ति संवर्धन को लक्ष्य में रखकर मन्त्र का उद्दीपन करते हैं । इसी विषय का निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि,

मन्त्रों का उद्दीपन करना चाहिये । इसमें धाम मन्त्र से अस्त्र मन्त्र पर्यन्त सारे क्रम अपनाये जाते हैं ।।१५७।।

ये कैसे अपनाये जाते हैं, इस पर प्रकाश डाल रहे हैं–

हुँ यह कूर्च बीज मन्त्र माना जाता है । अश्विनी मुद्रा का भी यही बीज है । यह स्वयं में महामन्त्र है । हकार प्राण है । उकार शक्ति का उन्मेष बीज है और बिन्दु सर्वज्ञ शिव है । तीनों को मिलाकर बने इस बीज को आदि और अन्त में रखकर बीज वर्म मूल मन्त्र रखें । यह सम्पुटित मूल मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है । इसके आदि में ओंकार और अन्त में फट् लगा देने से आहुति योग्य मन्त्र बनता है । इस मन्त्र से ही आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये ।।१५८।।

एषैव

हृदादीनां च सर्वेषां जातिरुक्तात्र दीपने ।

जायते तत्तत्कार्यानुगुण्यमनयेति 'जाति' विशिष्टो मन्त्रप्रयोगः । हृच्छब्दो वक्त्रादीन्युपलक्षयति ।

एतच्च

पाशानां बन्धनार्थाय मन्त्राणां दीपनं स्मृतम् ।।१५९।।

ते च दीप्ताः सन्तः

मन्त्राः करणभूतास्तु पशुकार्यस्य साधने ।

'पशुकार्यं' दीक्षा ।

यस्यैतानि करणानि स महाप्रभावः

आचार्यः करणं प्रोक्तः

कर्तेत्यर्थः ।

कथमस्य शरीरादिमतो मन्त्राः करणमित्याह–

शिवरूपो यतः स्मृतः ।।१६०।।

दीपन के लिये इस मन्त्र के साथ हृदय आदि अङ्ग मन्त्रों के साथ उनकी जातियों का प्रयोग भी करते हैं । जाति शब्द तन्त्र में रूढ शब्द माना जाता है । नमः से फट् पर्यन्त छः जातियाँ प्रसिद्ध हैं । इसी तरह हृदय, शिर, शिखा कवचादि अङ्ग हैं । आचार्य क्षेमराज महान् पारम्परिकता में पक्व परिनिष्ठित तन्त्र मर्मज्ञ थे । उन्होंने हृद् शब्द से वक्त्र आदि को उपलक्षित करने की बात लिखी है । उस तात्कालिक प्रचलित तथ्य का खण्डन भी नहीं किया जा सकता ।

इसी तरह जाति शब्द की व्याख्या उसके रूढार्थ के रहते हुए भी आचार्य ने दी है । कार्यानुगुण्य की उत्पत्ति इससे होती है । इसलिये उसे जाति कहते है । कार्यानुगुण्य की यह दृष्टि भी स्पृहणीय है । यह कार्य दोषों की शान्ति के लिये और पाशों को बाँधने के लिये करते हैं । पाशों के बन्धन में आ जाने से स्वभावतः मन्त्रों का उद्दीपन हो जाता है ।।१५९।।

मन्त्र करण रूप होते हैं । करण क्रिया के साधक माने जाते हैं । पशु के समस्त कार्यों की सिद्धि पाशों को बाँधे बिना नहीं हो सकती । पाशों को बाँधने का काम मन्त्र करते हैं । अतएव ये करण कहलाते हैं । स्वभाविक है कि, पाश मुक्त करने वाली दीक्षा ही पशुकार्य है । इसके साधन को करण कहना उचित है ।

सत्यपि देहे निरुपाधिचित्प्रकाशशिवाहंभावमय इत्यर्थः । ईदृशस्यैवानुग्रहेऽधिकृतत्वाच्चेत्याहुः–आचार्याधिकरणः शिवो दीक्षायां साक्षात्कर्ता मण्डलस्थस्तु प्रयोजकः–इति । ततस्तेषां सरस्वतीगर्भाधानसमये शिवः साक्षात्कर्ता, प्रयोजक आचार्यः इत्यादि स्वोक्तेन व्याहन्यते । न च प्रयोज्यप्रयोजकभावः कश्चिदत्र पूर्वत्र वा ग्रन्थेऽस्तीति असदेवैतत्, तस्मात्सर्वमन्त्रोदयप्रणयहेतुश्चिद्घनशिवात्म[1]मय एवाचार्योऽत्राधिकृतः । मन्त्राणामुद्दीपनमवश्यं कार्यमित्यर्थः ॥१६०॥

जिसके द्वारा मन्त्रों की उद्दीप्ति होती है, ऐसा महा प्रभावशाली दैशिक क्या कहा जाये ? इस पर भगवान् कहते हैं कि, उसे ही आचार्य कहते हैं । वही सबके कर्त्ता धर्त्ता माने जाते है । यहाँ एक जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है । वस्तुतः आचार्य एक शरीरधारी जीव के भी प्रतिनिधि हैं । मन्त्र वाक्तत्त्व के प्रकाशक अव्यक्ततत्त्व को उद्दीप्त करने वाली शक्ति के प्रतीक हैं । ऐसी दशा में आचार्य करण कैसे कहे जा सकते हैं ? इसका समाधान भगवान् स्वयं करते हैं और कहते हैं कि,

क्योंकि वे साक्षात् शिव रूप हैं । उनका जीवत्व शिवत्व से आप्यायित है । उनसे शिव का अभेद हो गया है । उन्हें इस आधार पर करण कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये । शरीर रहने पर भी उपाधिरहित चित्प्रकाश रूप शिवाहंभाव मय आचार्य का अस्तित्व भौतिक नहीं रह जाता है । वह अलौकिकता से विभूषित लोक विग्रह में वर्त्तमान आलोक पुरुष हो जाता है । ऐसे लोग ही अनुग्रह के अधिकारी होते है ।

इसे दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते है कि, आचार्य में शिवाधिकरण रूप से वर्त्तमान स्वयं शिव ही दीक्षा के साक्षात्कर्त्ता हैं । वे यहाँ स्वयं मन्त्र में अवस्थित होकर प्रयोजक कर्त्ता के रूप में प्रतिष्ठित हैं । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, शिव कहीं साक्षात्कर्त्ता होते हैं और कहीं प्रयोजक कर्त्ता जैसे सरस्वती के गर्भाधान के समय शिव साक्षात्कर्त्ता माना जाता है । आचार्य के रूप में वह प्रयोजक कर्त्ता है ।

यहाँ पहले कहा गया है कि, दीक्षा में साक्षात्कर्त्ता और मण्डल में प्रयोजक होता है । आगे लिखा गया है कि, शिव गर्भाधान कर्त्ता है । सरस्वती गर्भ के शिव ही कारण हैं और आचार्य प्रयोजक । इन दोनों बातों में वदतोव्याघात दोष पड़ता है ।

वस्तुतः ग्रन्थ में कहीं आगे पीछे प्रयोज्य प्रयोजक भाव का वर्णन नहीं है । अतः इस पचड़े में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं । इसलिये सिद्धान्त रूप से यह निष्क्कर्षार्थ निकाला जा सकता है कि,

---

१. पं. ख. पु. शिवाचार्यमय इत्यर्थः ।

क्रूरकार्ये तु कर्तव्ये मन्त्रान्संदीप्य योजयेत् ।
क्रूरजात्यनुरूपेण वाचकान्योजयेत्सदा ।।१६१।।

'क्रूरकार्य' पाशानां बन्धच्छेदादि, पूर्वोक्तेन क्रूरजातिक्रमेण योजनमेव मन्त्राणामुद्दीपनम् ।

अत्र चावसरे

भ्रुकुटीकरालवदनान्वाच्यरूपान्विचिन्तयेत् ।

ईदृशं वाच्यवाचकानां क्रूरत्वमन्यत्रापि साधकविषये क्रूरकार्ये मन्तव्यम् । अत एवाप्यायनादौ

सौम्यजातियुतान्सौम्ये सौम्यरूपान्विचिन्तयेत् ।।१६२।।

'सौम्यजाति'र्वषडादिका ॥१६२॥

सभी प्रकार के मन्त्रोदय के प्रणय के कारणरूप चिद्धन परम शिवमय यह आचार्य हैं । अत: वे सर्वथा अनुग्रह में अधिकृत हैं अर्थात् अधिकार सम्पन्न हैं । इनसे ही मन्त्रों का उद्दीपन कर्म सम्पन्न कराना चाहिये ॥१६०॥

मन्त्रों के उद्दीपन के सामान्य सन्दर्भों के बाद यहाँ क्रूर कार्यों के लिये मन्त्रों के उद्दीपन के विषय में चर्चा कर रहे हैं । भगवान् का यह आदेश है कि, यदि क्रूर कार्य सम्पन्न करना हो,तो मन्त्रों का योजन तभी करना चाहिये,जब उन्हें उद्दीप्त कर लिया जाय । क्रूर कार्य की परिभाषा देने हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, पाश के बन्धों का उच्छेद करना ही क्रूर कार्य है । पाशों का बाँधना ठीक है, पर पाशबन्ध का छेद क्रूर कार्य है । इसके क्रूर जाति के क्रम में मन्त्रों को योजित करने से अर्थात् जातियों के विलोम क्रम के प्रयोग करने से उन मन्त्रों का उद्दीपन हो जाता है । इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए भगवान् कहते हैं कि, क्रूर जाति के अनुरूप वाचक मन्त्रों का योजन होना चाहिये ॥१६१॥

भौहों की वक्रता से विकराल आकृति का हो जाना स्वाभाविक है । आकृति की विकृति में मुख का रूप भी बिगड़ जाता है । यह सत्य है कि, आकृति में मुख में भी विकरालता आ जाती है । यह वाच्य और वाचक दोनों में हो तो दोनों ओर क्रूरता और भी बढ़ जाती है । जो इनका प्रयोग करना चाहते हैं, उन्हें क्रूर कार्यों में ऐसे ही क्रूर मन्त्रों अर्थात् वाचकों का प्रयोग करना चाहिये । इसके लिये वाच्य भी विकराल ही होना चाहिये ।

इसलिये क्रूर कार्यों के अतिरिक्त सौम्य और आप्यायक कार्यों में सौम्य जाति युक्त वाचकों का ही प्रयोग करना चाहिये । सौम्य जाति वषट् आदि माने जाते हैं ॥१६२॥

यदर्थं मन्त्रोद्दीपनं तत्प्रतिजानीते–

पाशकर्म ततो वक्ष्ये

एतच्च भाविपुत्रकदीक्षाधिवासाय । 'तत' इति मन्त्रोद्दीपनानन्तरं 'पाशकर्म' पुत्रकादिदीक्षोपयोक्ष्यमाणस्य भाविपाशसूत्रस्य यदधिवासरूपं कर्म तद्वक्ष्ये इत्यर्थः ।

तत्क्रमेणाह–

कन्याकर्तितसूत्रकम् ।

त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य

'कन्या' अनुपजातविकारपरशक्त्यनुकृतिरूपेति । ततो मूलभूमेः प्रवृत्तानामाणवमायीयकार्मरूपाणां सत्त्वादिगुणत्रयात्मकप्रपञ्चव्याप्तिभाजां पाशानां भाविबन्धच्छेदादिकं[1] समूलमुन्मूलनार्थम्–इति कन्याकर्तितत्वे त्रिगुणत्रिगुणत्वे चाशयः ।

मन्त्रों के उद्दीपन का उद्देश्य क्या है ? इस बात से सबको परिचित होना चाहिये । इस बात को ध्यान में रखकर भगवान् इसी तथ्य का कथन कर रहे हैं–

अब मैं पाश कर्म विषयक बातों का कथन कर रहा हूँ । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, यह कथन पुत्रक दीक्षा में अधिवास के लिये ही उपयोगी है । अभी अभी हम लोगों ने मन्त्र उद्दीपन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की है । उसी के बाद यह पाशकर्म बतलाना आवश्यक मानकर भगवान् कह रहे हैं,

पुत्रक आदि दीक्षाओं में पाशसूत्रकी आवश्यकता पड़ती है । यह पुत्रक दीक्षा के अधिवास का विधान है । उसी के सन्दर्भ में पाशकर्म की आवश्यकता होती है । वही स्पष्ट कर रहे हैं–

१. सर्वप्रथम कन्या के हाथ का कता हुआ सूत्र रहना चाहिये । इसे पहले तिहरा करते हैं । तिहरा किये हुए को पुनः तिहरा करते हैं । इस प्रकार नव गुणित सूत्र से यह पाशकर्मच्छेदसम्पादित करते हैं ।

कन्या वह पुत्री मानी जाती है,जिसमें किसी प्रकार का स्त्रीत्व सम्बन्धी विकार अभी परिलक्षित न हो । इसके द्वारा कते सूत से यज्ञोपवीत भी बनाया जाता है । इसके नौ बार गुणित करने में कुछ अन्य रहस्य भी काम करते हैं । मल तीन प्रकार के होते हैं । १.आणव, २.कार्म और ३.मायीय । सूत्र को त्रिगुणित करने में इन तीनों को त्रिगुणित करने का तात्पर्य स्पष्ट है । इसे पुनः त्रिगुणित करने में सत्त्व, रजस् और तमस् की गुणवत्ता को बाँधने का रहस्य छिपा हुआ है ।

---

१. ख. पु. छेदनादीति पाठः ।

अथैतत्

पाशबन्धनसूत्रकम् ।।१६३।।

शिवाम्भोऽस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य कवचेनावगुण्ठयेत् ।

पूजयित्वा विधानेन गन्धपुष्पादिधूपकैः ।।१६४।।

प्रसारयेद्गृहीत्वा तन्मूर्धाद्यङ्गुष्ठकावधि ।

शिष्यस्य स्तब्धदेहस्य

'ओं पाशबन्धनसूत्राय नमः' इति पूजाविधानं सर्वाध्वव्याप्तिचिन्तनम्, 'शिष्यस्य' इति पुत्रकादेर्न तु समयिनः । स्तब्धदेहता पाशानां बन्धाद्देहेन्द्रियादीनां निष्क्रियत्वानुव्याप्त्या । तत्सूत्रं पुमान् दक्षिणेन स्त्री वामेन करेण मूर्ध्नि धारयेदित्यसत् । दीक्ष्यहस्तयोर्दर्भनाडीधारणे व्यापृतत्वमतः शिखायामेव पाशसूत्रं लम्बयेत् । एकैव क्रियाशक्तिः पारमेश्वरीत्थं स्वरूपगोपनेन पशुरूपतया स्थिता–इत्येकत्वमिह पाशसूत्रस्य । श्रीपूर्वादौ तु शक्तित्रयमेव त्रितत्त्वेन स्थितम्–इत्याशयेन त्रीणि सूत्राणीति प्रक्रियामात्रभेदः ।।१६४।।

इस बन्ध का छेदन-भेदन करना दीक्षा का मूल उद्देश्य माना जाता है । इन मलों का समूल उन्मूलन दीक्षा के अतिरिक्त किसी तरह नहीं किया जा सकता । इसका एक मात्र साधन दीक्षा है । इसी से गुरु इन पाशों का समूल उन्मूल करता है । इस प्रक्रिया के अनुसार पाशबन्धन सूत्रक सम्बन्धी दृष्टि का रहस्य उद्घाटित हो जाता है ।।१६३।।

शिवाम्बु से अस्त्र मन्त्र द्वारा संप्रोक्षित कर कवच से अवगुंठित करना इस प्रक्रिया का आवश्यक अङ्ग है । विधि विधान पूर्वक अच्छी तरह पूजा करने में गन्ध पुष्पादि उपचारों का प्रचुर प्रयोग करने में प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिये । पाशबन्ध का यह सूत्र कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण माना जाता है । इस प्रक्रिया में छान्दस नहीं अपितु सामान्य मन्त्र ही प्रयुक्त किये जाते हैं । जैसे 'ओं पाशबन्ध-सूत्राय नमः' । पूजाविधान तब तक पूरा नहीं माना जा सकता, जब तक इसमें सभी अध्वावर्ग का चिन्तन नहीं किया जा सकता ।।१६४।।

पूजा के बाद उस पाशबन्ध सूत्र को पकड़ कर प्रसारित करना चाहिये । पुत्रकादि शिष्यों के मूर्धा प्रदेश अर्थात् मध्य शिरो भाग से उसके पैर के अङ्गुष्ठ तक फैलाकर नाप लेना चाहिये । शिष्य नापते समय एक दम स्तब्ध रहे । क्योंकि पाशबन्ध से शरीर में निष्क्रियता स्वभावतः आती है ।

तच्चास्य सूत्रम्-

नाडीभूतं विचिन्तयेत् ।।१६५।।

सा च

सुषुम्ना मध्यमा नाडी सर्वनाडीसमन्विता ।
ओंकारादि स्वनाम्ना तु नमस्कारावसानकम् ।।१६६।।
शिष्यदेहस्थितां नाडीं सूत्रे संगृह्य योजयेत् ।

भावनयेति शेष: । सूत्रभूतायां नाड्यां सर्वनाडीभि: समन्विता भावनया संगता योजिता च ॥१६६॥

कुछ टीकाकारों ने यह लिखा है कि, उस सूत्र को पुरुष दाहिनी ओर और स्त्री बायीं ओर धारण करे । यह कथन असत्य है । कारण यह है कि, दीक्ष्य शिष्य के हाथों में दर्भ नाडी धारण की व्यापृति बनी रहती है अर्थात् वे बझे रहते हैं । अत: शिखा में ही वह सूत्र बाँधकर आगे की ओर लटका देना उचित है ।

पारमेश्वरी क्रिया शक्ति, अपने स्वरूप गोपन की दशा में पाश बनकर उल्लसित रहती है । वह एक ही होती है फिर पाशों में विविधता में व्यक्त होती है । इनको बाँधने वाला पाशसूत्र भी एक ही होता है । तीन सूत्र की चर्चा भी श्री पूर्व शास्त्र में है । यह प्रक्रिया भेद का रहस्य है । वस्तुत: शक्तित्रय ही त्रितत्त्व रूप में मान्य है । इस प्रकार पाश सूत्र को भी नाडी रूप में गृहीत करना चाहिये ॥१६५॥

पहले कई स्थानों पर पिङ्गला को भी मध्यनाडी कहा गया है । किन्तु वह कथन सन्दर्भ वश ही किया गया है । वस्तुत: मध्यमा नाडी सुषुम्ना नाडी ही मानी जाती है । यहाँ स्पष्ट ही उल्लेख है कि, सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी है । यह सभी नाडियों से समन्वित होती है । यही वास्तविकता है । इसे भावना के बल पर दृढता पूर्वक सोचकर तदनुसार प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । पाशबन्ध को हाथ में लेकर 'ॐ अहममुकाचार्य: सूत्रे योजयामि, दीक्ष्य सुषुम्नां नमस्करोमि' इस प्रकार सुषुम्ना और पाशबन्ध सूत्र का ऐक्य समायोजित होता है । यह सब भावना से भावित होकर करते हैं । सूत्र में समायोजित नाडी सुषुम्ना को सभी नाडियों की समन्वित भावना से ही यह संगति बिठलानी चाहिये ॥१६६॥

इसे गन्ध पुषादि से पूजा करने के उपरान्त कवच से अवगुण्ठित करना चाहिये । इस श्लोक में मुख्य रूप से शिष्य के शरीर की नाडी और पाश बन्धन सूत्र के समायोजन पर विशेष बल दिया गया है । वस्तुत: नाडियाँ और पाश ये

तां

गन्ध[1]पुष्पादिभिः पूज्य कवचेनावगुण्ठयेत् ।।१६७।।

अत्रैव सन्निधानार्थं होममाह–

सन्निधानाहुतीस्तिस्रः स्वनामपदजातिकाः ।

दद्यादीति शेषः । 'ओं सुषुम्नायै स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः ।

अथ

शिवाम्भोऽस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य शिष्यस्य हृदयं पुनः ।।१६८।।
ताडयेदस्त्रपुष्पेण हृदि चित्संहृता भवेत् ।

एवं च

सर्वव्यापिकापि हृदयैकनिष्ठीकृता भवतीत्यर्थः ।

तदनु योगक्रमेण भावनयापि वा

हुंकारोच्चारयोगेन रेचकेन विशेद्धृदि ।।१६९।।

सभी क्रिया शक्ति के ही सुषुप्त रूप हैं। इन्हें ऐक्य भावना से भावित करने में ही कौशल है। इनके योजन, पुनः पूजन और कवच से अवगुठन ये मुख्य कार्य हैं ।।१६७।।

इस तरह नाडी और पाशसूत्र दोनों साथ साथ मिलाकर रखने की इस प्रक्रिया को और भी सुरक्षित रखने या करने के लिये तीन आहुतियाँ अवश्य देनी चाहिये। इस आहुति के मन्त्र के रूप में स्वनाम, पद और जाति का समायोजन आवश्यक है। जैसे सुषुम्ना के लिये 'ओम् सुषुम्नायै स्वाहा' इस मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। यह सन्निधान की आहुति कहलाती है। इसे तीन बार देना चाहिये। इसमें उसका नाम पद और जाति प्रयोग होता है। शिवाम्बु से अस्त्र मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित कर शिष्य के हृदय का स्पर्श करना चाहिये ।।१६८।।

इसके बाद शिष्य के हृदय का अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित पुष्प से ताडन करना चाहिये। इसके साथ ही साथ हृदय में पुष्प के ताडन से यह कल्पना करनी चाहिये कि, इस तरह उस शिष्य के हृदय में चित् शक्ति का समाधान हो जाता है। चिति शक्ति जबकि सर्व व्यापक है किन्तु इस क्रिया से शिष्य के हृदय में एक निष्ठ भाव से समाहित हो जाती है ।।१६८।।

तदनन्तर हुंकारबीज का उच्चारण करते हुए शिष्य के हृदय में प्रवेश करना चाहिये। यह प्रवेश भावना से अथवा योग प्रक्रिया के अनुसार भी सम्पन्न करना चाहिये। रेचक प्रक्रिया से यह सरलता से हो जाता है ।।१६९।।

---

१. ख. पु. गन्धधूपेति पाठः ।

नाडीरन्ध्रेण गत्वा तु चैतन्यं भावयेच्छिशोः ।
कदम्बगोलकाकारं स्फुरत्तारकसन्निभम्[1] ।।१७०।।
हृत्स्थं छित्त्वास्त्रखड्गेन हुंफट्कारान्तजातिना ।

निष्कलास्त्रमेव खड्गः, तेन शिशोः पुर्यष्टकं रश्मिमात्रावियोगि[2] च्छित्त्वा ॥१६९-१७०॥

धाम्ना चाङ्कुशरूपेण कर्षेच्छक्त्यवधि क्रमात् ।।१७१।।

अङ्कुशेति पाश्चात्यकुटिलालकात्मना ख्यातेन । 'शक्त्यवधि' द्वादशान्तं तच्च नासिक्यमिह ॥१७१॥

ततः

द्वादशान्तं तु संगृह्य संपुट्य हृदयेन तु ।
संहारमुद्रा योज्यं सूत्रे नाडीप्रकल्पिते ।।१७२।।

प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं देवदत्तचैतन्यं पाशसूत्रे योजयामि नमः' इति प्रयोगात् सूत्रदेहे योजितस्यास्य व्यापकत्वभावना ॥१७२॥

नाडी रन्ध्र के माध्यम से प्रवेश करके शिष्य के हृदय में चैतन्य का चैतसिक चिन्तन करते हुए चिरन्तनता और अनिर्वचनीयता का उत्थान गुरु का कर्त्तव्य माना जाता है । इस प्रकार भावन करता हुआ गुरु देखता है कि, वहाँ चैतन्य के चिन्तन से चमत्कार प्राप्त पुर्यष्टक दीख रहा है । उसकी आकृति कदम्ब गोलक के समान है । चैतन्य के प्रभाव से वह स्फूर्त्ततारक के समान ही टिमटिमा रहा है । शिष्य के हृदय में अवस्थित उसे निष्कलास्त्र रूपी खड्ग से खण्ड खण्ड कर दिया जाना चाहिये । इस अस्त्रमन्त्र से हूंफट् जाति का प्रयोग कर रश्मिमात्र संयोगी पुर्यष्टक को काट कर नष्ट कर दिया जाता है ॥१७०॥

धाम मन्त्र को अङ्कुश रूप से प्रयुक्त कर नासिक्य द्वादशान्त तक खींच कर इसके बाद शिष्य के ऊर्ध्व द्वादशान्त तक को अपने प्रभाव से भावित कर चिन्तन द्वारा उसका ग्रहण कर अपने हृदय के संपुट में सम्पुटित करना चाहिये । संहार मुद्रा से उसके हृदय को नाडी के अनुसन्धान के द्वारा उस पाश सूत्र से समायोजित कर देना चाहिये क्योंकि पाश सूत्र को नाडी रूप से पहले ही भावित कर लिया गया है । इसका ध्यान रखना चाहिये ।

इसी क्रम में संहार मुद्रा से मन्त्र प्रयोग द्वारा शिष्य के द्वादशान्त पर्यन्त चैतन्य को नाडी रूप से प्रकल्पित कर उसे पाशसूत्र से युक्त क्रर देना चाहिये ॥१७१-१७२॥

---

१. ख. घ. पु. तारकसप्रभमिति पाठः ।
२. क. ख. पु. वियोगिनेति पाठः ।

व्यापकं भावयित्वा तु कवचेनावगुण्ठयेत् ।

अथास्मै पूजां कृत्वा

भैरवेणाहुतीस्तिस्रः सन्निधानस्य हेतवे ।।१७३।।

दद्यादिति शेष: ॥१७३॥

पाशसूत्रविधे: प्रयोजनमाह–

द्वितीयः सूत्रदेहस्तु पाशा यत्र स्थितास्त्विमे ।
बन्ध्याश्छेद्यास्तथा दाह्याः सूत्रस्थाने न विग्रहे ।।१७४।।

सूत्रस्थाने समस्तपाशाश्रयस्य समावृतिहेतो: प्राणदेहस्य परोक्षत्वेन साक्षाद्बन्धाद्ययोगे तत्प्रतिकृतिरूपं भाविशोध्यदेहासूत्रणात् सूत्रदेहं कल्पयित्वा तत्स्थान्पाशान्बध्नीयात् छिन्द्यात् दहेच्चेत्यर्थ: । 'इमे' इत्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणा: ।

व्यापकत्व का भावन इस अवसर पर अत्यन्त आवश्यक माना जाता है । इस सम्बन्ध में यह ध्यान देना चाहिये कि, व्यापकत्व भावन कब और कैसे किया जाय ? शिष्य का पूरा अस्तित्व पाश सूत्र से योजित कर दिया गया है । प्रणव और निष्कल भैरव बीज का उच्चारण कर उस दीक्ष्य के चैतन्य को पाश सूत्र से योजित करने के अवसर पर ही यह भावन होना चाहिये । व्यापकत्व भावना का यही अवसर है ।

दूसरी जिसकी जिज्ञासा थी कि, कैसे भावन किया जाय ? इसकी विधि यह है कि, मन्त्र प्रयोग में पहले ओम् पुन: निष्कल भैरव बीज लगाकर आचार्य बोलते हैं– 'अमुकस्य शिष्यस्य चैतन्यं पाशसूत्रे योजयामि नम:' इस मन्त्र से जिस समय शिष्य का दैहिक स्वरूप उसकी चेतना सब कुछ नियोजित हो चुकी है । शिष्य की व्यापकता का यह स्वरूप है । पाश सूत्र में भी उसकी व्याप्ति विशेष भावितव्य है ।

इसके बाद कवच से अवगुण्ठित करना चाहिये । कुछ सामान्य गन्ध पुष्पादि से पूजा करके भैरव मन्त्र से तीन आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये । इस प्रकार सन्निधान की प्रक्रिया पूरी तरह पूर्ण हो जाती है ॥१७३॥

प्रश्न यह उठता है कि, इस पाश सूत्र विधि का उद्देश्य क्या है ? इसके करने का लाभ क्या है ? इसी का उत्तर दे रहे हैं –

यह तथ्य है कि, उस समय दीक्ष्य के दो देह हो जाते हैं । १.अपना जन्म का देह और २.पाश सूत्रों से योजित शरीर । यह ध्यान देने की बात है कि, सारे पाश तो बाहर सूत्र में एकत्रित हैं । उन्हें पाश में बाँध दिया गया है । इन्हीं का छेदन करना चाहिये । तत्पश्चात् उस पाश को जला कर भस्मकर देना चाहिये ।

'.............येनेदं तद्धि भोगतः ।'

इत्याम्नातत्वादारब्धकार्ये दीक्षोत्तरकाले भगवदर्चादिहेतौ तु न दाह्यादि युक्तम् ॥१७४॥

पाशानां संख्यासंज्ञास्वरूपाणि क्रमेण कथयति–

पाशास्तु त्रिविधा भाव्या मायीयाणवकर्मजाः ।
चैतन्यरोधकास्त्वेते कार्यकारणरूपिणः ॥१७५॥

इस प्रक्रिया की प्रमुख बात यह है कि, यह छेदन और प्रज्वालन की क्रिया सूत्र स्थान में ही होती है । इसका मुख्य कारण यह है कि, नाडी अनुसन्धान प्राण सन्धान और द्वादशान्त पर्यन्त शिष्य के अस्तित्व का समायोजन जब सूत्र में ही है, तो अन्यत्र उनका छेदन दाहन हो ही नहीं सकता । शिष्य का प्राण देह तो अब समक्ष रहा नहीं । मोक्ष में अवस्थित है । समक्ष तो सूत्र है । प्राण देह में अब साक्षाद्बन्ध का प्रकल्पन अयुक्त है ।

आचार्य यह सोचता है कि, शिष्य का भावी शरीर समस्त पाशों से मुक्त होना ही चाहिये । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये पाश सूत्र में शरीर का प्रकल्पन किया जाता है । इसीलिये पाश सूत्रगत पाशों को पाश में बाँधकर, काट काट कर अलग और जलाकर राख कर देना चाहिये ।

यह कार्य शिष्य के जन्म देह में नहीं किया जाना चाहिये । मुख्य शरीर के दीक्षा के समय भगवान् की पूजा आदि के विशेष प्रयोग के लिये उसका पूर्ण संरक्षण आवश्यक है । इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही शास्त्रकार कहते हैं,'न विग्रहे ।' अर्थात् पाश सूत्र का कार्य पाश सूत्र में ही करणीय है, मुख्य शरीर में नहीं ॥१७४॥

पाशों की संख्या, उनकी संज्ञा और उनके स्वरूप के सम्बन्ध में क्रमिक रूप से निर्दिष्ट कर रहे हैं–

पाश तीन तरह के होते हैं । १.मायीय, २.आणव और ३.कर्मज या कार्म । ये तीनों स्वाभाविक शैव चैतन्य के अवरोधक होते हैं । इनमें कार्य कारणभाव भी देखा जाता है ।

माया से उत्थित (अङ्कुरित) माया में उत्पन्न, मल-मलान्तरों में भी इसका प्रभाव होता है । यह रूढ़ि है । मल की भी यही परिभाषा सभी लोग कहते हैं कि, भिन्नवेद्य प्रथारूप ही मल होता है । वेद्य का अर्थ होता है–जानने योग्य ।

मायोत्थत्वं मायायां भवत्वं मलान्तरेऽप्यस्तीति रूढ्यैव भिन्नवेद्यप्रथारूपं मलं 'मायीयम्' उच्यते । अत एवान्यत्र

'अथात्ममलमायाख्या................।'

इत्याख्याशब्दः । अणूनामयम् 'आणवः' अपूर्णम्मन्यतात्मा लोलिकारूपः । 'कर्म' यजनब्रह्महननादिरूपं ततो जातम् अत्र वासनाधिरूढं धर्माधर्मात्मकम् । एषां च चैतन्यप्रतिरोधकत्वं गुणभावा[१]पररूपमेव पाशत्वम् ॥१७५॥

जो जैसा है, उसे उसी रूप में जानना । जब जो जैसा है, उसी रूप के अतिरिक्त भिन्न रूप में जान पड़ने लगना, मल का ही प्रभाव होता है । जैसे शिव को शिवरूप में न जानकर भौतिक रूप में वस्तु रूप में जानना ही भिन्न वेद्य प्रथा रूप मल माना जाता है । यही मल मायीय मल कहलाता है । इसी आधार पर अन्यत्र कहा गया है कि,

'आत्म मल ही मायाख्य मल है'

इस बात में 'आख्या' शब्द एक नये कथन की ओर इशारा कर रहा है । इस दृष्टि में शिव को शिव के रूप में न जानना ही आत्ममल है । यही माया है । माया के प्रभाव के कारण ही यद्यपि हम शिव हैं, फिर भी अपने को हाड़ माँस का पुतला जीव मात्र मानते हैं । यही मायीय मल है ।

दूसरा मल आणव मल कहलाता है । अणु शब्द से आणव शब्द निष्पन्न होता है । अणु संकोच ग्रस्त शिव को कहते हैं । इस दृष्टि से सभी जीव अणु हैं । अणुओं में जो मल है,वह आणव मल कहा जाता है । यद्यपि हम पूर्ण हैं फिर भी अपने को अपूर्ण मानते हैं । इसे अपूर्णमन्यता कहते हैं । इसमें लोलिका भाव कूट कूट कर भरा होता है ।

कर्म व्यापक शब्द है । क्रिया शक्ति के माध्यम से जीव जो कुछ करता है, वह कर्म है । जैसे खाने पीने उठने बैठने आदि के अतिरिक्त यज्ञ यागादि ब्रह्म हत्यादि भी इसी कर्म श्रेणी में ही परिगणित होते हैं । इनसे एक वासना उत्पन्न होती है । उससे यह जान पड़ता है कि, यह कर्म धर्म से समर्थित है या अधर्म मय है । इन विषमताओं में प्रवृत्ति के फल स्वरूप चैतन्य ही प्रतिरुद्ध हो जाता है । इसीलिये ये तीनों चैतन्य के प्रतिरोधक होने के कारण और भौतिकता की मुख्यता के कारण पाश कहलाते है । पाश की पाशता चैतन्य को गौण बनाकर अचेतन की मुख्यता को स्वीकार करने के कारण ही अपना काम कर पाती है ॥१७५॥

---

१. ख. पु. भावापादनरूपमिति पाठः ।

एषां कार्यकारणरूपतां स्फुटयति–

मलं कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।

मल: कर्म चेत्येतद्द्वयं निमित्तं मलस्य कर्महेतुत्वात् कर्मणश्च मायीये कारणत्वात्, अत: परं मायीयं नैमित्तिकं मलकर्मणो: कार्यमेवेत्यर्थ: । यद्यपि कार्मं भिन्नवेद्यप्रथारूपे मायीये सति भवति, तथापि न तद्धेतुकं पूर्णस्फाराणां ज्ञानिनां तत्सद्भावेऽपि तस्यादर्शनात् इत्यपूर्णम्मन्यानामेवाावर्ज्यमानं तद्भातीति यथोक्तमेव ज्याय: ।

ततश्च

आधाररूपं नैमित्तं शरीरभुवनादिकम् ।।१७६।।

'आधारता' भोगाश्रयता, आदिशब्दाद् भावा: ॥१७६॥

अत्र च नैमित्तिके मायीये मले

निमित्तमभिलाषाख्यं

मल और कर्म ये दोनों निमित्त हैं । निमित्त कारण को कहते हैं । मल कर्म का हेतु माना जाता है । कर्म मायीयमल का कारण माना जाता है ।

इसी तरह मायीय कर्म नैमित्तिक माने जाते हैं । मल और कर्म के कार्य ही नैमित्तिक कार्य माने जाते हैं । यद्यपि कार्य मल भी भिन्नवेद्यप्रथा रूप मायीय के होने पर ही होता है फिर भी ऐसे सम्पूर्ण ज्ञानवान् पुरुष में कार्य के रहते अर्थात् पूर्णतया सभी का काम करते रहने पर भी वह दीख नहीं पड़ता । बोध के ज्ञानात्मक प्रकाश के समक्ष मायात्मक अज्ञानान्धकार ठहर नहीं पाता ।

इसलिये निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि, अपूर्णमन्य जितने पुद्गल पुरुष होते हैं, उनके द्वारा आवर्ज्यमान होने पर ही ये उत्पन्न होते है । यही कथन उत्तम है । इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि,

नैमित्तिक आधार रूप होता है । जैसे शरीर और भुवन आदि । आधारता भोगाश्रयता होती है । जीव भोगवादी होता ही है । भोग की भुक्ति की भावना से भरा जीव अपने क्रिया कलापों के आकर्षण से ग्रस्त होकर ऐसा ही कार्य करता है, जिससे शरीर का भोगवाद बढ़े, भुवन अनुवर्त्ती रहे और आदि शब्द से अनन्त अनेकानेक भावों का सम्वर्धन होता रहे । इस तरह पुद्गल अणु पाशजाल के बन्धन में बँधता ही जाता है और माया के मकड़-जाल का निरीह शिकार बनने को बाध्य हो जाता है ॥१७६॥

लोलिकारूपमाणवं मलमित्यर्थः ।

किं केवलेनेत्याह–

विचित्रैर्हेतुरूपकैः ।

धर्माधर्मात्मकैः सहकारिभिर्युक्तमित्यर्थः ।

प्रकृतमनुसरति–

तांश्चावलोकयेत्सूत्रे बध्यबन्धनहेतुतः ।।१७७।।

तानिति पाशान् वक्ष्यमाणव्याप्यव्यापकभावयुक्त्यावलोकयेत्, किमर्थं बन्ध्यानामर्थात्तेषामेव बन्धनहेतुतो बन्धनायेत्यर्थः ।।१७७।।

अथैषां शिष्यदेहस्थानां ताडनग्रहणपूर्वकं सूत्रे क्रमेण योजनमाह–

पाशानां ताडनं कार्यं हुंफट्कारान्तजातिना ।
स्वनामप्रणवाद्येन शान्त्यतीताद्यनुक्रमात् ।।१७८।।

'प्रणवं' शान्त्यतीताबीजं धाम चोच्चार्य 'अमुकात्मस्थपाशव्यापिकायै शान्त्यतीतायै हुं फट् इति मन्त्रमुच्चारयन् ।।१७८।।

नैमित्तिक मायीय मल के सन्दर्भ में यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि, निमित्त मल अभिलाष रूप ही होता है । अभिलाष है क्या ? यह लोलिका की वृत्ति ! जिससे आणव मल का प्रभाव विश्व पर छा जाता है । इसमें विचित्र और आश्चर्य जनक हेतु उत्पन्न होते हैं । जैसे धर्म और अधर्म के अनन्त भाव और उनके अनेक सहकारी भाव, इन सब पर विशेष ध्यान देने और सावधान रहने की आवश्यकता होती है ।

इतना अवान्तर विषय बीच में ही समझाकर आदि गुरुदेव निर्देश कर रहे हैं कि,

इस सभी मलों का अवलोकन उस पाशबन्ध सूत्र में करना चाहिये । कारण यह है कि, बन्धन में बन्ध्य बनने की कारणता यहाँ विद्यमान है । इन सभी पाशों की व्याप्ति का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिये । यह देखना चाहिये कि, व्याप्य और व्यापकता की तारतम्यता यहाँ किस तरह तन्तन्यमान हो रही है । जो बन्ध्य बन जाता है, उसे बन्धन मिल जाता है । उस बन्धन को ध्वस्त करना पाशबन्ध सूत्र की दग्धता से ही सम्भव है ।।१७७।।

सर्व प्रथम पाशों का ताडन करना चाहिये । 'हुं फट्' रूप जाति का प्रयोग मन्त्रोद्धार करना होता है । इसका क्रम विलोम कलात्मक होता है । अर्थात् शान्त्यतीता से प्रारम्भ करना चाहिये । मन्त्रोद्धार का रूप यह होगा 'ओम् अमुकनाम्नः शिष्यस्य पाश व्यापिकायै शान्त्यतीतायै हूंफट् ।' श्लोक में धाम मन्त्र का कथन नहीं है ।।१७८।।

ततः

पुष्पेण ताडयेन्मूर्ध्नि ग्राह्यं हूमादि योजयेत् ।
हुंफट्कारान्तयोगेनागृह्य संहारमुद्रया ।।१७९।।
धाम्ना तु योजयेत्सूत्रे नमस्कारान्तयोगिना ।

पूर्वोक्तनैव प्रणवपूर्वमूलमन्त्रसहितेन मन्त्रेण संहारमुद्रया वक्ष्यमाणया पाशत्रयमागृह्योक्तां जातिमपास्य नमस्कारान्तजातिनानेनैव मन्त्रेण पाशसूत्रे योजयेत् ।

अमुमेव क्रमं शान्त्यादिकलास्वपि स्वमन्त्रनामयोजनयुक्त्यातिदिशति–

एवं शान्त्यादिकान्पाशान्स्थानात्संगृह्य योजयेत् ।।१८०।।

स्थानमत्र क्रमेण वक्त्रं हृद्गुह्यं पादौ ॥१८०॥

एतांश्च

भावयेत्त्रिविधान्पाशान्पञ्चतत्त्वाध्वव्यापकान् ।

कलादीक्षायां समनन्तरं

'तत्त्वभूतास्तु ताः कलाः ।' (स्व.३/१४०)

हुम् निष्कल भैरव बीज माना जाता है । हुंफट् इसे अस्त्र मन्त्र मानते हैं । जहाँ तक भैरव बीज का प्रश्न है । यह मन्त्र के आदि में लगाते हैं । हुंफट् मन्त्र के अन्त में प्रयुक्त करते हैं । यहाँ शान्त्यतीता के बाद शान्ता, प्रतिष्ठा, विद्या और निवृत्ति कलाओं की जातियाँ प्रयुक्त करनी होती हैं । हुंफट् के बाद स्वाहा,वषट् और नमस्कारान्त जातियों का प्रयोग क्रमिक रूप से होता है । इन सभी मन्त्रों से संहार मुद्रा का प्रयोग कर तीनों पाशों को पाशबन्ध सूत्र से योजित करना चाहिये । पाशसूत्र में योजित करने की बात ही आगे के श्लोकों में कही जा रही है ॥१७९॥

इस प्रकार शान्तादि कलाओं को पाशबन्धत्रय में योजित करना चाहिये । इस वाक्य में स्थान शब्द विचारणीय है । स्थान शरीर के ही अङ्ग होते हैं वे क्रमशः वक्त्र (मुख) हृदय और गुह्य तथा पैर हैं । इनसे पाशों को लेकर पाशबन्ध सूत्र से योजित करना चाहिये ॥१८०॥

इस अवसर पर त्रिविध पाश (मायीय, कार्म और आणव), पाँचों (छिति, जल, पावक, गगन और समीर) तत्त्व और अध्वावर्ग भी व्याप्त भावित किये जाने चाहिये ।

जिस समय कला दीक्षा का प्रसङ्ग आता है, उस समय स्पष्ट रूप से यह ध्यान देना चाहिये कि, ये सभी कलायें तत्त्व रूपा ही होती हैं ।[1]

---

१. स्व० त० ३/१४०

इति वक्ष्यमाणत्वात् पञ्च यानि तत्त्वानि कलारूपाणि तैरात्मभूतैरध्वनोऽशेषस्य व्यापकानीत्यर्थः ।

अथ कथं पाशानां कलाव्याप्तिः, कथं च मायोर्ध्वस्थशान्ताशान्त्यतीतापदे पाशानां सत्ता ? इत्याशङ्क्याह–

त्रयाणां व्यापिका शक्तिः क्रियाख्या पारमेश्वरी ।।१८१।।
शान्त्यतीतादिभेदेन पञ्चसंज्ञाप्रतिष्ठिता ।
आधेयग्रहमाधारं गृहीतं भावयेत्पशोः ।।१८२।।

येयं परमेश्वरस्य नित्यावियोगिनी शक्तिः सा क्रियाख्या गृहीतक्रियाशक्तिभूमिका सती इदन्तावैचित्र्योट्टङ्कनात् शान्त्यतीतादिपञ्चधात्वं प्राप्ता त्रयाणां मलानां व्यापिका । तदुक्तम्–

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री.....................।' (स्प. ४/१८)

पूर्वोक्त पाँचों तत्त्व तो शरीर में व्याप्त ही हैं । वे आत्म भूत ही माने जाते हैं । अध्वा की तरह कलायें भी सबमें व्याप्त ही होती हैं ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, पाशों की कला व्याप्ति कैसे स्वीकार की जाय ? इसी तरह शान्ता और शान्तातीता ये दोनों कलायें माया तत्त्व की ऊर्ध्वस्तरीय कलायें हैं । ऐसी स्थिति में क्या पाशों की सत्ता वहाँ सम्भव है ? इन तथ्यों को ध्यान में रखकर भगवान् शिव कह रहे हैं कि,

तीनों मलों में व्याप्त रहने वाली व्यापि का शक्ति को पारमेश्वरी क्रिया शक्ति कहते हैं । वही क्रिया शक्ति शान्त्यतीता, शान्ता, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति भेद से पाँच संज्ञाओं की सत्ता में प्रतिष्ठित है ।

क्रिया शक्ति वह शक्ति है, जो परमेश्वर से नित्य अवियुक्त भाव से उल्लसित है । इसकी भूमिका के अन्तर्गत विश्वमयी सक्रियता इदन्ता के वैचित्र्य में विशेष चमत्कार भरती है । इस प्रकार से वह शान्त्यतीता के अतिरिक्त सुस्फुरित होती हुई पाँचों कलाओं की संज्ञा को प्राप्त कर अपनी ही व्याप्ति में अव्यक्त भी रहती है ।

इस दृष्टि से मायीय, कार्म और आणव मलों में भी अपनी व्यापकता में उल्लसित रहती है । स्पन्द शास्त्र[१] की यह उक्ति इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है । वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि,

---

१. स्व० प्रदीपिका ४८

इति । अत एव याव[1]दिदन्ताभासस्य स्थितिस्तावत्तदौचित्येन पाशाः स्थिताः– इति शान्त्यतीतापदेऽपि तच्छोधनं युक्तम् । व्यापके[2] च शुद्धे व्याप्यस्य तत्प्राणस्य सम्यक् शुद्धिर्भवति–इति मलानामात्मभूतकलाव्याप्त्या तद्व्यपदेशैः शोधनम्, तच्च नित्यावियोगिपारमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिरूपतोन्मज्जनमेव । यथोक्तम्–

'स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।' (स्प. ४/१८)

इति । निर्णीतैतच्छक्तिवीर्यसारैरेव मन्त्रैर्निमग्नपारमार्थिकतद्रूपतया प्राप्तभेदानामिवासां संशोधनम्–इति सर्वमुपपन्नम् । 'आधेयाः' कलाः, 'आधारा' मलाः ॥१८१-१८२॥

'भगवान् से नित्य अवियुक्त यह क्रियात्मिका विचित्र शक्ति है । यह शिव की पशुवर्त्तिनी और बन्धयित्री शक्ति है । इसे न जानने पर यह बन्धन प्रदान करती है । जान लेने पर समस्त सिद्धियों को हस्तामलकवत् उपलब्ध करा देती है ।'

इसलिये साधक के अनुभव की परिधि में जब तक इदन्ता का आभासन होता रहता है, जब तक ऐसी स्थिति बनी रहती है, तब तक इदन्ताभास के आधार पर पाशों की स्थिति भी बनी रहती है । इस दृष्टि से शान्त्यतीता पद में इदन्ताभासन का शोधन होना चाहिये ।

सिद्धान्त यह है कि, व्यापक के शुद्ध हो जाने पर व्याप्य की सम्यक् शुद्धि हो जाती है । व्याप्य में ही व्यापक का प्राण बसता है । प्राण का शोधन हो जाता है । इस दशा में मलों की आत्मभूत कलाओं में जो व्यपदेश हैं, उनकी जो संज्ञायें निर्धारित हैं, उनका एक-एक का शोधन आवश्यक होता है । यह शोधन क्या है ? केवल नित्यावियुक्त स्वातन्त्र्य शक्तिरूपता में उन्मज्जन मात्र है । यही बात उक्त कारिका की दूसरी अर्धाली से ज्ञात होती है । यह निर्णीत तथ्य है कि, परमेश्वर की शक्ति के सामर्थ्य रूप बीज शक्ति के सार रहस्य रूप मन्त्र होते हैं ।

इन मन्त्रों के द्वारा पारमार्थिक तद्रूपता में निमज्जन हो जाता है । परिणामतः नामतः प्राप्तभेद कलाओं का संशोधन हो जाता है । इस तरह पाशों का और कलाओं का मन्त्रों के द्वारा शोधन हो जाने पर पारमैश्वर्य सिद्धि की सुधा से साधक का अभिषेक हो जाता है ॥१८१॥

इस तरह पशु के आधेय रूप कलाओं को ग्रहण करने वाले आधार रूप मलों का शोधन हो गया । वे अब हमारे वश में हैं, इस प्रकार का भावन आचार्य को करना चाहिये । कलाओं और मलों में आधाराधेय भाव होता है । आचार्य शिष्य के मलों के शोधन का साक्षी बन जाता है ॥१८२॥

---

१. क. पु. यावद्यावदिति पाठः ।

२. ख. पु. व्यापकशुद्धेरिति पाठः ।

अथ पारमेश्वरशक्तिव्याप्त्या तत्सारानाह–

गन्धपुष्पादिभिः पूज्य सूत्रे पाशांस्तु तर्पयेत् ।
शान्त्यतीताक्रमेणैव आहुतीनां त्रयं त्रयम् ।।१८३।।
सन्निधानाय पाशानामतः पाशांस्तु दीपयेत् ।

मन्त्रशक्त्या भाव्यक्रमसमस्तभोगसिद्ध्यौचित्येन युगपत्परिपक्वान्विदधीत ॥१८३॥

कथमित्याह–

स्वनामजातिफट्कारधामभिश्च त्रयं त्रयम् ।।१८४।।

आहुतीनां दत्त्वेति शेषः । जातिरत्र हुंकारः । मन्त्रपाठस्य क्रमः प्राग्वत् ॥१८४॥

एतच्च शिष्यचैतन्यात्

विश्लेषकरणार्थं तु पाशानां दीपनं भवेत् ।

इसलिये पाशबन्ध सूत्र में गन्ध पुष्पादि उपचारों से पूजा कर पाशों का तर्पण करना चाहिये । शान्त्यतीता के क्रम से ही सभी शेष चारों कलाओं का भी तर्पण हो जाना चाहिये । तर्पण के बाद पाँचों कलाओं को लक्ष्य कर तीन तीन आहुतियाँ दी जानी चाहिये ॥१८३॥

मन्त्र की शक्ति के द्वारा पाशों का दीपन करना चाहिये । इससे पाशों का सन्निधान सिद्धियों के लक्ष्य को पूरा करने में सहायता करता है । अब ये पाश नहीं रह जाते, वरन् इनका शोधन हो जाने से शुद्ध आधार बन जाते हैं । इसी के साथ आधेय भी शुद्ध और शोधित हो जाते हैं । अब ये विरोधी नहीं, अनुरोधी हो जाते हैं । पाशों के दीपन का यह औचित्य पूर्ण परिणाम है

यह परिपक्व कैसे बनाये जाँय ? इस जिज्ञासा का जवाब देते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, अपने नाम के साथ जाति फट्कार के पहले धाममन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । इनके लिये ये तीन तीन आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । जाति यहाँ 'हुम्' मानी जाती है । यह कवच की जाति मानी जाती है । मन्त्र पाठ का क्रम पहले ही की तरह अपनाया जाना चाहिये ॥१८४॥

पाशों का दीपन शिष्य चैतन्य से विश्लेष के उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है । इस प्रकार दीप्त पाश अब अपना बन्धन प्रद रूप भूल जाते हैं । इसके कई कारण हैं । उन पर ताडन की क्रिया की जाती है ।

यत एव

दीप्ताः पाशास्ततो बन्ध्यास्ताडनग्रहणादिना ।।१८५।।

आदिशब्दाद्ग्रन्थिदानमपनुःप्ररोहार्थम् । उद्दीपितवीर्याणामेव पाशानां बन्धनं शिष्यचैतन्यावरणे स्वातन्त्र्यापसारणम् ॥१८५॥

ताडनमाह–

सूत्रस्थांस्ताडयेत्पुष्पैः स्वदेहस्थानिव क्रमात् ।

यथा स्वदेहे क्रमादिति प्रोक्तमन्त्रतद्व्याप्त्यादिक्रमेण ताडितांस्तथा ताडयेत् ।

बन्धने युक्तिमाह–

धाम्ना च सम्पुटीकृत्य स्वनाम्ना च सकृत्सकृत् ।।१८६।।

एवं प्रणवधामशान्त्यतीताबीजेभ्योऽनन्तरं 'शान्त्यतीतां देवदत्तात्मस्थपाशव्यापिकां बध्नामि' इत्युच्चार्य धाम नमःशब्दान्तमुच्चारयन् पाशसूत्रस्य मूर्ध्नि ग्रन्थिं दद्यात् । एवमन्यत् ॥१८६॥

साथ ही साथ ग्रहण आदि काम भी सम्पन्न किये जाते हैं । आदि शब्द से गाँठ देना भी लिया जाता है । इससे भविष्य में इनसे कोई प्ररोह नहीं होता ! ये पाश उद्दीपितवीर्य होने के कारण अब वैसे नहीं रह जाते । ये पहले स्वतन्त्रता पूर्वक बन्धन देते थे । अब इनके स्वातन्त्र्य का अपसारण हो जाता है । शिष्य के चैतन्य का आवरण अब इनके वश की बात नहीं रह जाती है ॥१८५॥

ताडन प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानकारी देते हुए कह रहे है कि, सूत्रस्थ अर्थात् पाशबन्ध सूत्रस्थ उन पाशों को पुष्पों से ताडित करना चाहिये । जैसे अपने शरीर में उनकी अवस्थिति है, उसी क्रम से उनका ताडन होना चाहिये । वही क्रम यहाँ भी अपनाना चाहिये । मन्त्रों और उनकी व्याप्ति का क्रम जिस प्रकार है, वही क्रम ताडन में भी अपनाना चाहिये । तदनन्तर धाममन्त्र से सम्पुटित करके अपने नाम के साथ-साथ बाँधना चाहिये । इसका मन्त्र का प्रकार सभी कलाओं के साथ ऊहन करना चाहिये । शान्त्यतीता का मन्त्र जैसे-शान्त्यतीताममुक दीक्ष्यस्थितपाशव्यापिकां बघ्नामि अर्थात् इस नाम के इस शिष्य के स्वात्म स्थित शान्त्यतीता रूप पाशव्यापिका कला को बाँध रहा हूँ, यह कहना चाहिये । इसी प्रकार शान्ता, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति में मन्त्र प्रयोग करना चाहिये । इन मन्त्रों को कहकर धाममन्त्र उच्चारण कर जातियों को भी क्रमशः प्रयुक्त करते हुए 'नमः' तक अर्थात् अस्त्र से नमः पर्यन्त उनका उच्चारण कर पाश सूत्र के ऊपरी मूर्धा भाग में गाँठ देनी चाहिये ॥१८६॥

तदाह–

बन्धने तु प्रयोगोऽयं सूत्रे ग्रन्थीन्प्रदापयेत् ।

ग्रन्थीनिति, व्याप्त्या पञ्च ।

किञ्च,

बन्धने परिमाणं च कर्मणो विषयस्य च ।।१८७।।

न केवलं ग्रन्थीन् यावद्बन्धनसमये 'कर्मणः' शुभाद्यात्मनो 'विषयस्य' भुवनादेर्मायीयमलात्मनः, चशब्दादाणवस्य मलस्य 'परिमाणं' नियतामध्वव्याप्तिं च प्रकल्पयेत् । तद्यथा निवृत्तावेकं पार्थिवं तत्त्वम् अष्टोत्तरशतं च कालाग्न्यादिभुवनानामिति विषयस्य परिमाणं भविष्यति । कर्मणो निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्यान्तं यावद्व्याप्तेः, मलस्य तु शान्ताशान्त्यतीतान्तमपि संस्कारात्मना सूक्ष्मेण रूपेण सत्तास्त्येवैतत्सर्वमनुसन्दधीत ।।१८७।।

इस प्रकार मूर्धा की ग्रन्थि के बाद सूत्र में पाँच कलाओं के साथ त्रिनेत्र को छोड़कर पाँच जातियों के अनुसार पाँच गाठें देनी चाहिये । इस बन्धन में परिमाण का भी प्रकल्पित करना चाहिये । परिमाण नियत अध्वव्याप्ति की मात्रा को कहते हैं । इसके लिये ग्रन्थि के साथ ही साथ कर्म और विषय के परिमाण का अर्थात् इनकी व्याप्ति का प्रकल्पन भी आवश्यक होता है ।

कर्म शुभ या अशुभ माने जाते हैं । विषय अर्थात् भुवन आदि (मायीय मल रूप) विषयों के परिमाण का प्रकल्पन भी यहाँ होता है । इसके अनुसार आणव मल के परिमाण का भी चिन्तन और शोधन करना चाहिये । उस प्रकल्पन का स्वरूप क्या होगा ? आचार्य श्री क्षेमराज इसको स्पष्ट कर रहे हैं –

१. जैसे निवृत्ति कला में एक मात्र पार्थिव तत्त्व की ही व्याप्ति होती है । और १०८ कालाग्नि भुवन भी होते हैं । यही इनकी नियत अध्वव्याप्ति रूप विषय जन्य परिमाण का प्रकल्पन माना जाता है ।

जहाँ तक कर्म का प्रश्न है, यह निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या कला पर्यन्त इसकी व्याप्ति होती है । इसी तरह पाशों की व्याप्ति तो इन तीनों कलाओं को अतिक्रान्त करते हुए शान्ता और शान्त्यतीता पर्यन्त सूक्ष्म संस्कार रूप से व्याप्ति होती है । इस प्रकार इन सारी व्याप्तियों का अनुसन्धान करना चाहिये ।।१८७।।

एवं च पाशसंयोगाज्जीवः

षट्त्रिंशत्तत्त्वमध्यस्थो भुङ्क्ते भोगं न चान्यथा ।

शुद्धम् ।

अन्यच्च पाशविच्छेदात्तु नेत्याह–

च एवार्थे ।

प्रकृतमाह–

पाशान्संस्थाप्य पात्रे तु सम्पातं जुहुयात्सकृत् ।।१८८।।

पाशानिति पाशसूत्रं 'संस्थाप्य' इति शिष्यदेहाद्विमुच्येत्यर्थः । सम्पातहोमः 'सम्पातं सर्वमन्त्रैश्च' (३/१४२) इत्यादौ निर्णीतः ॥१८८॥

अथैतान्पाशान्

पात्रसम्पुटमध्यस्थान्स्थण्डिले विनिवेदयेत् ।

पात्रमध्यस्थ(त्वं) वेद्यवेदकान्तरावस्थिता एते–इत्याशयात् कवचावगुण्ठनव्याप्तया च 'स्थण्डिल' इति तत्रार्चिते भगवति विनिवेदयेदिति एतस्य पशोस्त्वयैव मामिकां तनुमाविश्य बद्धाः–इति विज्ञप्तिं कुर्यादित्यर्थः ।

जीव का यही वैवश्य है, उसकी यही विवशता है कि, पाशों से समन्वित होकर इनके योग के साथ छत्तीस तत्त्वों के ही बीच में रहता हुआ नाना प्रकार के भोगों को भोगता है । किन्तु जब उसके सौभाग्य का उदय हो जाता है और उसके पाश विच्छिन्न हो जाते हैं,तो इस भोगवाद से उसकी मुक्ति हो जाती है ।

अब इतने प्रकल्पन और अनुसन्धान के बाद शिष्य के शरीर से उस पाशबन्ध सूत्र को अलग कर लेना चाहिये । उसे एक पात्र में अवस्थित कर इसी पटल के ३/१५२ श्लोक के अनुसार संपात होम करना चाहिये । संपात होम सभी मन्त्रों से होता है ॥१८८॥

जिस पात्र में वह पाश बन्ध सूत्र रखा गया है,उसे ढककर सम्पुटितकर देना चाहिये । पात्र सम्पुट के मध्य में अवस्थित उसे स्थण्डिल पर स्थान दे देना चाहिये । पात्र सम्पुट का रहस्यार्थ यह है कि, एक पात्र वेद्य माना जाता है और ऊपर वाला वेदक ! इस प्रकार वेद्य वेदक का मध्यावस्थान उसे मिल जाता है । अब वह स्थण्डिल पर अर्चित भगवान् भैरव के सान्निध्य में विनिवेदित कर दिया गया है । कवच से अवगुण्ठित भी है । भगवान् से यह निवेदन भी आचार्य करता है कि, भगवान् इस पशु के पाश मेरे शरीर में प्रवेश लेकर इसके द्वारा ही बाँधे जा सके हैं ।

तथैव च

नीत्वा समर्पयेत्कुम्भे

तत्स्थं भगवन्तं विज्ञापयेत्–यथा ।

पाशान्संरक्ष हे विधो ।।१८९।।

संरक्षणं च भाविपुत्रकादिदीक्षोच्छेद्यानामेषां साम्प्रतं स्वकार्यशक्तिबन्धनात्माधिवाससंस्कारः ॥१८९॥

ततः

दर्भं विमोचयेच्छिष्यं

नाडीसन्धानार्थं प्राक्परिकल्पितम् ।

अथ चास्मै

पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।

तेन चासौ श्रीभगवन्तं समन्त्रकमेव

स्थण्डिले शिवकुम्भे च शिवाग्नौ च प्रपूजयेत् ।।१९०।।

चकारादगुरुमूर्तावपि ॥१९०॥

इसके बाद कुम्भ अर्थात् प्रधान कलश में अवस्थित और अर्पित भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये कि, भगवान् शिष्य के शरीर से विमुक्त सूत्रस्थ ये पाश अब आप के ही संरक्षण में हैं । आप इनकी रक्षा करें । हे विभो ! अब आप ही इनके संरक्षक हैं ।

ये पाश वस्तुतः उच्छेद्य होते हैं किन्तु यह अवसर तब आता है, जब पुत्रकादि दीक्षायें दी जाती हैं । किन्तु इस समय स्वकार्य की करणीयता की प्रक्रिया अपनायी जा रही है । एक तरह का यह उनका अधिवास संस्कार ही है ॥१८९॥

इसके बाद शिष्य के नाडीसन्धान के लिये पूर्व में परिकल्पित दर्भ का विमोचन कर देना चाहिये । तत्पश्चात् उसके हाथ में एक खिला हुआ फूल देना चाहिये । वहाँ न हो तो मँगाकर देने की व्यवस्था करनी चाहिये । उसी पुष्प से समन्त्रक भगवान् की, स्थण्डिल पर प्रतिष्ठापित शिव कुम्भ की और याग के उद्देश्य से ऊर्ध्व प्रज्वलित यागाग्नि की पूजा शिष्य करे । 'च' अव्यय के प्रयोग से यह अर्थ निकालना चाहिये कि, गुरु की या गुरुमूर्त्ति की पूजा भी करनी चाहिये ॥१९०॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा दण्डवन्निपतेद्भुवि ।

अथ चास्मै

उत्थाय पञ्चगव्यादी (न्दद्या) द्वै भैरवेण तु ।।१९१।।

आदिशब्दच्चरुं दन्तकाष्ठम्, भैरवेणेति सकलेन ॥१९१॥

अत्र विधिमाह–

गोमयेन शुचौ देशे कार्यं मण्डलकत्रयम् ।

एकस्मिन्मण्डले विष्टः पञ्चगव्यं शिशुः पिबेत् ।।१९२।।

उपविश्य द्वितीये तु चरुकं प्राशयेद्बुधः ।

आचम्य दन्तकाष्ठं तु तृतीये मण्डले स्थितः ।।१९३।।

भक्षयित्वा च देवेशि ततश्चैव विनिक्षिपेत् ।

शिष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि, इतनी सारी प्रक्रिया पूर्ण हो जाने के साथ ही साथ अपनी नम्रता शालीनता और विनयशीलता व्यक्त करे । इसके लिये उसे दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम करने के लिये भूमि पर निपतन करना चाहिये । ऐसी योग्यता के प्रदर्शन की स्थिति में आचार्य उसे उठावे ।

उठाने के बाद उसे पञ्चगव्य से आचमन कराना चाहिये । पुनः दन्त शुद्धि के लिये दन्त काष्ठ देकर शुद्ध कर पञ्चगव्य से स्नान करा कर पुनः शुद्ध जल से स्नान कराकर प्राशन के लिये चरु देना चाहिये । यह ध्यान देने की बात है कि, इन सभी क्रिया कलापों में सकल भैरव मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । चरु के बाद दन्तकाष्ठ देने का तात्पर्य यह मानना चाहिये कि, प्राशन के बाद मुख शुद्ध हो जाय ॥१९१॥

इससे सम्बन्धित एक विधि का निर्देश कर रहे हैं । पवित्र भूमि पर गोमय से तीन चौके उपलिप्त करने चाहिये । एक मण्डल में बैठ कर शिष्य पञ्चगव्य का पानं करे । पञ्चगव्य पीने का उद्देश्य यह है कि, संस्कृत कर पहले से ही स्थापित चरुभाग को भुक्त करने की उसमें योग्यता आ जाय । एक दूसरा लक्ष्य यह भी माना जाता है कि, अब दीक्षा के बाद नयी जीवन प्रक्रिया में भोग्यभाव और भोक्तृत्व भाव का वह निश्चायक बन सके ॥१९२॥

इसके बाद वह द्वितीय गोमयोपलिप्त चौक में बैठे । वहाँ बैठकर चरु प्राशन करे । चरु प्राशन की योग्यता के लिये शिष्य पहले चौके में बैठ कर पञ्चगव्य पी चुका है । इस दूसरे में उसे चरु प्राशन की योग्यता आ चुकी है । अतः आचार्य उसे चरु प्राशन कराये ।

पञ्चगव्यं संस्कृतस्थापितचरुभागभोजनयोग्यतायै, चरुकं तु इतः प्रभृति शिवमयभोग्यभोक्तृत्वावसायाय, दन्तकाष्ठं परां शुद्धिमभिव्यङ्क्तुम् । आचम्येति पूर्वत्रापि योज्यम् ॥१९३॥

तच्च पतितम्

पूर्वं पश्चात्तथैशोर्ध्वं चोत्तरस्यां च शोभनम् ।।१९४।।
अन्यस्यामशुभं विद्धि तस्य होमः शतं भवेत् ।

अस्त्रमन्त्रेण विघ्नशमनायेत्यर्थात् । एतच्च बाहुल्येन साधकविषयम् ॥१९४॥

अथैतदन्तस्यास्य कर्मणः सम्यक् सम्पत्त्यर्थम्

आचार्यो जुहुयात्पश्चात्प्रायश्चित्तं शिवेन तु ।।१९५।।
विधेर्न्यूनातिरिक्तस्य चित्तविक्षेपकर्मणि ।

जहाँ तक तीसरे मण्डल का प्रश्न है, उसमें बैठकर दन्तकाष्ठ का प्रयोग शिष्य करता है । चरु प्राशन के बाद दन्तकाष्ठ का प्रयोग परम शुचिता के उद्देश्य से सम्पन्न कराया जाता है । आचमन प्रत्येक कार्य के पहले प्रयोग में लाया जाता है । दन्तकाष्ठ को दाँतों से चबाकर जीभ वहीं साफ कर वहीं फेंक देने का नियम है ॥१९३॥

दन्तकाष्ठ का प्रक्षेप दो तरह से विचारणीय है । पूर्व, पश्चिम, ईशान, ऊर्ध्व और उत्तर दिशा में यदि वह दन्तकाष्ठ गिरे तो, शुभफलप्रद माना जाता है । इसके विपरीत अन्य दिशाओं में उसके संपात अशुद्ध होते हैं । इसके लिये अर्थात् अशुभत्व दोष के निराकरण के लिये, अष्टोत्तरशत होम करना चाहिये । अस्त्र मन्त्र से ही विघ्न शमन के उद्देश्य से हवन करना चाहिये । साधकों को इसका सदा ध्यान रखना चाहिये । इसके बाद आचार्य हवन करे । इसके प्रायश्चित्त के लिये शिव मन्त्र से होम करना चाहिये । यह प्रायश्चित्त उस समय करने की आवश्यकता पड़ती है, जब विधि के सम्पादन के समय चित्त में विक्षेप आ जाय । कार्यान्तरचुम्बिचित्त की अवस्था विधि में अपराध की तरह है । अतः अपराध का प्रायश्चित होना ही चाहिये ।

न्यूनातिरिक्त क्रियायें भी दोषपूर्ण मानी जाती हैं । शास्त्र जैसा जितना कहे, उससे न कम और न उससे अधिक, यह तो ठीक है । अधिक कर देना और कम कर देना, दोनों दोष हैं । इसके लिये प्रायश्चित्त आवश्यक है । इसी के लिये आदेश है– 'जुहुयात् शतम्' । श्लोक में 'पश्चात्' शब्द का तात्पर्य यह है कि, जिस समय दोष हो जाय, उसी समय हवन करना उचित नहीं,

चित्तविक्षेपकर्मणि सति विधेर्न्यूनातिरिक्तत्वं तस्य प्रायश्चित्तं जुहुयादिति संगतिः । तच्च

'अग्निकार्यं यथापूर्वं[१]............।' (स्व. ४/३१)

इति भाविनीत्या अग्निकार्यान्ते न त्वधुनैवेति पश्चादित्यस्यार्थः ॥१९५॥

अत्र च

अष्टोत्तरशतं हुत्वा प्रायश्चित्ताद्विशुध्यति ।।१९६।।

अथ मूलविश्रान्तिमेवानुसन्धातुम्

पश्चात्संतर्पयेद्धोमसहस्रेण शतेन वा ।

यावदस्य विश्रान्तिर्घटत इत्यर्थः ।

अङ्गवक्त्रवाचिनः

मन्त्रांश्च दशभागेन

अनन्तरमेषामेव

वह्नौ नैवेद्यदापनम् ।।१९७।।

अपि तु सभी अग्नि कार्य पूरा करने के पश्चात् हवन करना चाहिये । चतुर्थ पटल के श्लोक इकतीस के अनुसार पूर्ववत् अग्नि कार्य का सम्पादन करते रहना चाहिये । इन सभी तथ्यों पर सावधानता पूर्वक आचरण करना चाहिये । इसी तथ्य को यहाँ स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि, याजक द्वारा कुण्ड में एक सौ आठ बार हवन करने से प्रायश्चित्त हो जाता है । साधक विशुद्ध हो जाता है ॥१९४-१९६॥

हवन के अनन्तर तर्पण का क्रम आता है । श्लोक में हवन से ही सन्तर्पित करने का निर्देश है । इसे आचार्य ही आकलन कर सकते हैं कि, यह सन्तर्पण एक हजार हवन से होगा या एक सौ आठ बार ही हवन से सम्भव हो सकेगा । वस्तुतः संतर्पण के लिये जल का ही प्रयोग होता है । यहाँ अग्नि सन्तर्पण का विधान पूरा किया गया है ।

अङ्गवक्त्र वाची जितने मन्त्र हैं । उन्हें दशभाग में बाँटते हैं । पाँच अङ्गों में हृदय, शिर, शिखा, कवच और अस्त्र आते हैं । वक्त्र में ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर आते हैं । इनके मन्त्रों के दश भाग बाँट कर वह्नि में नैवेद्य अर्पित करते हैं ॥१९७॥

---

१. क. ख. ग. पु. यथा कृतेति पाठः ।

किञ्च,

विशेषपूजनं चार्घं मुद्राबन्धं वरानने ।
स्त्रोत्रं वाद्यं ततः कृत्वा चरुं प्राश्य विसर्जयेत् ।।१९८।।

परमेशमित्यर्थात् ॥१९८॥

निरोधार्घेण चार्घं तु दत्त्वा चैव वरानने ।
रेचकेन तु संगृह्य भैरवं तमनुस्मरन् ।।१९९।।

अग्निष्ठं तमिति पूर्वोक्तम्, पूरितमिति पूरकेण, मण्डलात्संगृह्य रेचकेनाग्नौ स्थितं कृत्वा तत्रापि तथैवार्चयित्वा ॥१९९॥

मुष्टिना पूरितं नीत्वा पूजयित्वा वरानने ।
अग्निष्ठं वै पूरकेण गृहीत्वा स्थापयेत्पुनः ।।२००।।

तत्पश्चात् विशेष पूजन, अर्घ अर्पण, मुद्राबन्ध के बाद स्तोत्र पाठ करना चाहिये । तत्पश्चात् गीतवाद्य की उत्सवात्मक व्यवस्था करनी चाहिये । सबके अन्त में चरु प्राशंन का विशेष आयोजन करते हैं । इसके बाद परमेश्वर का विसर्जन करना चाहिये ॥१९८॥

आचार्य अब प्राणापानवाह प्रक्रिया द्वारा आन्तर विधि का सम्पादन करते हैं । सर्व प्रथम कुम्भक रूप निरोध करते हैं । निरोध में प्राण के अमृत को शिष्यका पूरा अस्तित्व अर्घ रूप से ग्रहण करता है । इस तरह आन्तर अमृत का अर्घ अर्पित हो जाता है । भगवान् शक्ति को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि, सुमुखि ! अब रेचक करते हैं । रेचन अपान चन्द्र का होता है । इस अवस्था में प्राण अपान के वाहन से ही चिति केन्द्र या नासिक्य द्वादशान्त में पहुँचता है । वहाँ शैव महाभाव का संग्रह होता है । भैरवभाव का भावपूर्ण भावन होता है । उसी भैरव का अनुस्मरण करते हुए उसमें योगी रमण करता है ॥१९९॥

उसी आन्तर प्रक्रिया में आचार्य मुष्टि मुद्रा में पूरक करता है । पूरक से अपान चन्द्र शरीरेन्द्रियों और जीव का आप्यायन करता है । मातृकेन्द्र में रुद्र का पूजन होता है । मणिपूर चक्र का रुद्रबीज वहाँ रुद्र रूप में अर्पित होता है । वही अग्निबीज भी माना जाता है । यहाँ नाभिकेन्द्र के अग्निबीज की स्थिति और कुण्ड में अग्निबीज की स्थिति तथा उभयत्र रुद्र की सत्ता, इन सबकी पूजा वहाँ आन्तर रूप से ही हो जाती है । इस प्रकार रेचक द्वारा शिवाग्नि में पुनः स्थापित कर पूरक से फिर मणिपूर में स्थापित करते हैं ॥२००॥

तत्रस्थं पूजयित्वा च कलशे तु विनिक्षिपेत् ।
कुसुमादिभिरभ्यर्च्य कुम्भ एव तु भैरवम् ।।२०१।।

यागगृहमनधिष्ठितं माभूदित्याशयात् ॥२०१॥

अथ स्थण्डिलात्

[1]प्रक्षिप्य चैव निर्माल्यं गोमयेन स्पृशेत्प्रिये ।

निष्क्रान्तं माल्यं न त्वत्र चण्डीशयोगतः ।

तत्रैव च

शिवाम्भसा तु सम्प्रोक्ष्य शिष्ये शय्यां प्रकल्पयेत् ।।२०२।।
गृहिणो दर्भशय्यां तु यतेर्वै भस्मना प्रिये ।
पूर्वाशिरा गृही कार्यो यतिर्वै दक्षिणाशिराः ।।२०३।।

दक्षिणवक्त्राभिमुखेन । शिष्टं स्पष्टम् ॥२०३॥

वहाँ भगवान् की पूजा कर उन्हें कलश में बाह्य याग के रूप में कलश में स्थापित कर देते हैं । कलश और कलश में अधिष्ठित सर्वेश्वर की गन्ध पुष्प आदि से पूजन करना चाहिये । इस प्रकार आन्तर बाह्य दोनों रूपों में भैरव की आराधना पूरी होती है । इसमें लक्ष्य यह भी रहता है कि, याग गृह में भगवान् भैरव अधिष्ठित रहें, अनधिष्ठित न होने पायें ॥२०१॥

स्थण्डिल के ऊपर शिव को अर्पित सारे द्रव्य निर्माल्य हो जाते हैं । इनका स्वयं प्रयोग नहीं करते । पशुओं को खिला देते हैं, या प्रक्षिप्त कर दिया जाता है । इस दृष्टि से उसका निक्षेप करने के उपरान्त, भगवान् कह रहे है कि, वह स्थान गोमय से उपलिप्त कर देना चाहिये । निष्क्रान्त माल्य को ही निर्माल्य कहते हैं । चण्डीश योग से इसे निर्माल्य नहीं कहते । यह उस समय का दृष्टिकोण है ।

तदनन्तर वहाँ शिवाम्बु से प्रोक्षण कर शिष्य के लिये शय्या का प्रबन्ध करना चाहिये ॥२०२॥

गृही के लिये दर्भ की शय्या, यति के लिये भस्म की शय्या का प्रकल्पन करना चाहिये । गृहीणी का शिर पूर्व की ओर और यति की शय्या का सिरहाना दक्षिण ओर होना चाहिये । दक्षिण शिर का अर्थ दक्षवक्त्र का आभिमुख्य प्राप्त करना है ॥२०३॥

---

१. ख. घ. ङ. पु. चैव नैर्माल्यं गोमयेन घृषेदिति पाठः ।

अथ शिखामन्त्रेण

तत्र स्थितस्य शिष्यस्य शिखाबन्धं वरानने ।

तथा

सिद्धार्थरोचनाद्यैश्च रक्षां कुर्यादसिं स्मरन् ।।२०४।।

यतेर्गृहिणश्च क्रमेण रेखायुक्त्या

भस्मना रोचनाद्यैश्च अस्त्रप्राकारचिन्तनम् ।

एतदुपसंहरति–

कवचेनावगुण्ठ्यैव शिष्यं तु [1]स्वापयेत्ततः ।।२०५।।
ततश्चैव तु निर्गत्य बलिकर्म समारभेत् ।

तदाह–

बलिस्तु कल्पितः पूर्वं सर्वभूतेष्वथादरात् ।।२०६।।
तं तु संगृह्य देवेशि पूर्वादीशान्तकं क्षिपेत् ।

'कल्पितो' भूतार्थं साधितः ॥२०६॥

अत्र च

भूता ये विविधाकारा दिव्यभौमान्तरिक्षगाः ।।२०७।।

इसके बाद शिखामन्त्र से वहाँ अवस्थित शिष्य शिखाबन्ध करना चाहिये। तथा सरसों और रोचना से शिष्य की तथा स्थान की रक्षा के लिये प्रयोग करना चाहिये। इस प्रयोग में असिका (कर्त्तरी) आदि का स्मरण तक अनुसन्धान करना चाहिये ॥२०४॥

यति और गृही शिष्यों की दीक्षा के विधान प्रायः कुछ अलग अलग तो होते ही हैं। गृही के लिये सिद्धार्थ की चर्चा की गयी है किन्तु यति के लिये भस्म और रोचना होनी चाहिये और अस्त्र प्राकार का प्रकल्पन करना चाहिये। फिर कवच से अवगुण्ठित कर शिष्य को वहाँ शयन की व्यवस्था की जानी चाहिये ॥२०५॥

इसके बाद यहाँ से आकर बलि कर्म का आरम्भ करना चाहिये। बलि कर्म एक यज्ञ के अङ्गरूप में पूर्व प्रचलित क्रम माना जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य सभी प्राणियों के प्रति आदर भाव का सूचक कर्म है ॥२०६॥

बलि का संग्रह कर इसे पूर्व से ईशान कोण की ओर ले जाकर फेंक देते हैं। यह बलि अनेक प्रकार के आकार वाले, देव, भौम और अन्तरिक्ष लोकों में विचरण करने वाले देवतत्त्वों के लिये निक्षिप्त की जाती है ॥२०७॥

---

१. ख. ग. पु. स्थापयेदिति पाठः ।

पातालतलसंस्थाश्च शिवयागे सुभाविताः ।
ध्रुवादिसर्वभूताश्च ऐन्द्र्याद्याशास्थिताश्च ये ।।२०८।।
स्वाहाकारसमायोगात्तृप्यन्तूच्चारयन्क्षिपेत् ।

बलिं च पूजापूर्वकं क्षिपेदित्याह–

नमस्कारेण सम्पूज्य गन्धैर्धूपैरनुक्रमात् ।।२०९।।

प्रणवपूर्वं 'भूता ये' इत्यादि 'स्थिताश्च ये' इत्यन्तमुच्चार्य 'तृप्यन्तु स्वाहा' इति मन्त्रेण बलिं क्षिपेत् । अत्र मध्ये ध्रुवादीत्येतद् ध्रुवलोकपरामर्शाय । अथ च 'ध्रुवः' प्रणवः, तदादि कृत्वायं मन्त्रः पठनीयः ॥२०८-२०९॥

पूर्वादीशानपर्यन्तमधश्चोर्ध्वं समन्ततः ।

अधिवासे[1] बलिकर्मोपसंहरन् द्रव्यान्तरमुपक्षिपति–

कोणस्थान्क्षेत्रपालांश्च पतिताञ्छ्वपचानपि ।।२१०।।

दिव्य,भौम और आन्तरिक्ष लोक के अतिरिक्त पाताल में बहुत सारे देवतत्त्व, यज्ञ में उपस्थित होते हैं । यह आकलन हमारे पूर्वजों ने किया है । इस शिव याग की भावना से भावित कर आ जाते हैं । इसके अतिरिक्त भी ध्रुवादि सभी भूत गण, ऐन्द्री आदि दिशाओं में इनके भी अतिरिक्त अवस्थित भूत समुदाय आ सकते हैं, आ जाते हैं ॥२०८॥

इस बलि कर्म में बलि मन्त्रोच्चार भी होता है । यह मन्त्र प्रणव पूर्वक 'भूता ये' से प्रारम्भ कर 'स्थिताश्च ये' पर्यन्त २०८ वें श्लोक तक बोलकर 'तृप्यन्तु स्वाहा' अन्त में बोलने से पूरा होता है । यह ध्यान कर और नमस्कार पूर्वक पूजा करने के बाद निक्षिप्त करना चाहिये । पूजा में गन्ध धूप आदि उपचारों का प्रयोग अवश्य करते हैं ॥२०९॥

बलि निक्षेप पूर्व से ईशान पर्यन्त ऊपर और नीचे चारों ओर विकीर्ण करते हुए करना चाहिये । आजकल दोराहों या त्रिमुहानियों पर रख आते हैं । अधिवास अब एक तरह पूरा ही हो रहा है । बलि कर्म पूरा कर लेने पर द्रव्यान्तर की चर्चा करते हुए कह रहे हैं कि, कोणस्थ देवताओं, क्षेत्रपालों, पतितों और श्वपचों को भी भोजन करा देना चाहिये । इससे भी पुण्यार्जन होता है ॥२१०॥

---

१. ख. पु. अधिवासेनेति पाठः ।

बलिं दत्त्वा तु सर्वेभ्य आचम्य च वरानने ।
सकलीकरणं कृत्वा क्रमेण प्राशयेच्चरुम् ।।२११।।

अनुग्रहावसरेऽत्र यावत्सम्भवं सर्वान् पूजयित्वैषामाशां पूरयेदित्यर्थः । चरुमिति, यमवशिष्टं [१]भगवदग्रात्प्रार्थितं च । 'क्रमेण' इति गुरुसाधकपरिपाट्या ।।२११।।

यदाह–

सहायैः सहितो वीर एकचित्तः समाहितः ।
प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा मण्डलस्थः पृथक्पृथक् ।।२१२।।

'वीर' इति त्यक्तजात्यादिग्रहो निष्कम्पः, एकत्र बुभुक्षुर्दीक्षायां प्राङ्मुखो मुमुक्षुस्तु उदङ्मुखः, पृथक् पृथक् मण्डलस्थ इति स्वसहायानां साधकपुत्रकादीनां समव्याप्त्यभावात् संकरशङ्का माभूत्–इत्यभिप्रायात्, समव्याप्तिविश्रान्तौ त्वेकमण्डलत्वेऽपि न काचिद्धानिः ।।२१२।।

सभी ऐसे भूतों देवों प्राणियों को बलि देने के उपरान्त आचमन करना चाहिये । भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये पार्वति तदन्तर सकलीकरण की क्रिया पूरी करनी चाहिये । इसके बाद क्रमानुसार चरु प्राशन की विधि पूरी करनी चाहिये ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, अधिवास के इस अन्तिम समय में सबका अनुग्रह प्राप्त करना चाहिये । सबसे अनुगृहीत होना चाहिये और सबको यह आश्वस्त करना चाहिये कि, मैं आपकी आशाओं की कसौटी पर खरा उतरने का प्रयास करूँगा । इसमें अर्थात् चरु प्राशन का क्रम सर्वप्रथम गुरु,आचार्य गुरुजन और तब साधक को देकर ही पूरा होता है । इसी क्रम को अपनाना चाहिये ।।२११।।

गृही साधक और वीर साधक में भी अन्तर होता है । वीर वह होता है, जो समस्त जात्यादि दुराग्रह का परित्याग कर देता है । निष्कम्प भाव से सहायकों के साथ एकाग्रचित्त और समाहित होता है ।

गृही पूर्वाभिमुख और वीर यति उत्तराभिमुख उसी मण्डल में बैठकर शेष कार्य पूरा करें । इसमें पृथक् पृथक् प्रयोग इसलिये किया गया है कि,कोई अन्तर न पड़े ।।२१२।।

---

१. क. ख. पु. भगवदर्थादिति पाठः ।

तत्र–

पञ्चगव्यं पिबेत्पूर्वं चरुकं दन्तधावनम् ।
प्राश्यैवं सकलीकृत्य रक्षां पूर्ववदेव च ।।२१३।।

विधायेति शेषः ॥२१३॥

यागभूमौ स्वपेत्पश्चाच्छिष्यैः सह वरानने ।

भगवदधिष्ठिते यागगृहे गुर्वादीनां स्वापो दीक्ष्यविषयसमुचितस्वप्न-दर्शनाय ।

प्रकारान्तरमाह–

भैरवध्यानयोगेन समाधौ जाग्रदेव वा ।।२१४।।

गुरुर्भवेत्, शिष्यार्थमिति शेषः । 'समाधौ' इति समाधाननिमित्तमिति शिवम् ॥२१४॥

सन्मानासाम्बरविबोधदिनेशभाभि-
रामोदवद्विकसितं हृदयाम्बुजजन्म ।
कृत्वा शिवार्चनविधौ विनिवेशयध्व-
मार्या भवभ्रमणदुःखमलं जहीत ।।

सबसे पहले पञ्चगव्य का पान करना चाहिये । तब चरु और शुचिता हेतु दन्तधावन करना चाहिये । इसके बाद सकलीकरण कर रक्षा का प्रयोग करते हैं ॥२१३॥

गुरुदेव आचार्य उसी याग भूमि में शिष्यों के साथ ही शयन करें जहाँ भगवान् स्वयम् अधिष्ठित हों, वहाँ के पावन वातावरण में शयन में स्वप्न भी देखे जा सकते हैं । उनसे भविष्य का ज्ञान भी हो जाता है । वहाँ गुरुदेव सबके साथ भैरव के ध्यान. योग में बैठे, समाधि में उपवेशन करें अथवा जागते हुए भी विश्वोल्लास के लालित्य का आनन्द लें । वस्तुतः गुरु तो शिष्य के उत्कर्ष के लिये ही होता है । अतः उस पर सारा का सारा उत्तरदायित्व रहता है । समाधि का तात्पर्य समाधान का निमित्त माना जाता है । इति शिवम् ॥२१४॥

मानस के अम्बर में समुदित ज्ञान-सूर्य सुप्रभा प्रकाश,
खिले बोध-अरविन्द मधुर मकरन्द पानरत हृदय-हुलास ।
शिवाराधना मयी साधना में साधक संलग्न सहास
संसृति का संस्कार करें, सब आर्य, विश्व का करें विकास !

××× ××× ××× ××× ×××

।।इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य-
श्रीक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेते
अधिवासपटलस्तृतीयः ।।३।।
।।श्रीमत्साम्बशिवार्पणं भूयात् ।।

हंसः शिवाराधन-तत्परोऽयं, स्वच्छन्द-तन्त्रार्थ-परम्परायाम्

प्राप्त-प्रवेशोऽस्ति गुरुप्रसादात्, व्याख्यादिमं प्राथमिकं विभागम् ।

श्रीमन्ममहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराज कृत
उद्योत नामक विवरण से विभूषित
डॉ० परमहंसमिश्रविरचित नीर-क्षीर-विवेक भाषाभाष्यसंवलित
श्रीस्वच्छन्दतन्त्र का
'अधिवास' नामक तृतीय पटल परिपूर्ण ।।३।।
शुभं भूयात्

मूलश्लोकादिपङ्क्तिक्रमः

प्रथमः पटलः

अकारादिपङ्क्तयः	पटलः श्लोक-संख्या च
अघोरेभ्योऽथ समालिख्य घोरेभ्यश्च द्वितीयकम्	१/६१
अतिदीर्घस्तथा ह्रस्वः कृशः स्थूलः क्षयान्वितः	१/१७
अध्वानं सकलं निमज्य सुसितां चिन्मूर्त्तिमुन्मज्य तां	आचार्यक्षेमराजः प्र० पटलान्ते
अनुग्रहाय मर्त्यानां साम्प्रतं कथयामि ते	१/१२
अन्यथास्त्ररतः यस्तु नासौ मुक्तिफलप्रदः	१/१८
अभिनवबोधादित्यद्युतिविकसितहृत्सरोजान्मे	१/६ क्षेम०
अर्धचन्द्रकृताटोपां स्वस्वनां तुहिनप्रभाम्	१/४०
अस्योच्चारणमात्रेण ये युक्ताः सर्वपातकैः	१/७०
आचार्यस्तु शुचिर्भूत्वा चन्दनागुरुचर्चितः	१/३०
आदिः षोडशभेदेन साक्षाद्वै भैरवः स्मृतः	१/३२
आर्यदेशसमुत्पन्नं सर्वावयवभूषितम्	१/१३
ईदृशो वै भवेच्छिष्यः सोऽत्रानुग्रहभाजनम्	१/२०
एकैव बोधजलधेः शक्तिशुक्तिर्जयत्यसौ	१/३क्षेम०
एवं वक्त्रं चतुर्धा तु वक्त्रेष्वेव नियोजयेत्	१/४९
एष भैरवराजस्तु सर्वकामार्थसाधकः	१/७३
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका	१/३६
ओङ्कारमुच्चरेत्पूर्वं 'जूं सश्च' तदनन्तरम्	१/६३
ओङ्कारमुच्चरेत्पूर्वमघोरेभ्यो अनन्तरम्	१/४१
ओङ्कारस्दीपनस्तेषामन्ते जातिं प्रकल्पयेत्	१/७२
कलिमासाद्य सिद्ध्यन्ति तथा ब्रूहि महेश्वर	१/११
काणो विद्वेषजननः खल्वाटश्चार्थनाशनः	१/२४
कामी च लोभसम्पन्नः शिवभक्तिविवर्जितः	१/२१
कीदृशं वै गुरुं विद्यात्साधकं च महेश्वर !	१/८
कुमारेन्द्रयमादित्यब्रह्मविष्णुपुरःसरैः	१/२
कैलाशशिखरासीनं भैरवं विगतामयम्	पद०१/१
क्रोधनश्चपलः क्षुद्रो दयादाक्षिण्यवर्जितः	१/१६
क्रोधराजः समाख्यातः तथान्यं कथयामि ते	१/७९

गतानुगतिकप्रोक्तव्याख्याभेदतमोऽपनुत् आचार्यक्षेमराजः प्र० पटलान्ते
गुह्ये तथा गुदे चैव तथोर्वोर्जानुनोरपि १/५१
घोरघोरतरेभ्यश्च सर्वतः शर्व उच्चरेत् १/४२
क्षयान्वितेन मृत्युः स्यात् तार्किके वधबन्धनम् १/२६
क्षादिं द्विस्वरसंभिन्नं त्रिपञ्चेन च मूर्च्छितम् १/६८
चतुर्थस्वरयुक्तं हान्तं बिन्दुविभूषितम् १/६६
चतुर्दशस्वराक्रान्तो बिन्दुनादान्तभूषितः १/८१
चवर्गे तु महेशानी टवर्गे तु कुमारिका १/३५
तत्सेवाविमलव्यक्तमहामाहेशदर्शनः १/५क्षेम०
तदर्थं संग्रहं तस्य स्वल्पशास्त्रार्थविस्तरम् १/७
तमा मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भयाजरा १/५६
तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारिणी १/५४
त्यागिनं दम्भनिर्मुक्तं शिवशास्त्रेषु भावितम् १/१५
त्रयोदशं बिन्दुयतमनन्तासनमुत्तमम् १/३८
दयाहीनेन दौर्भाग्यमदक्षे दस्युपीडनम् १/२३
दीर्घे राजभयं ज्ञेयं ह्रस्वः पुत्रविनाशनः १/२५
दुर्भेद्यं पाशुपत्यं च ज्योतिरूपं तथैव च १/६५
देवकर्मरतं शान्तं सत्यवादिदृढव्रतम् १/१४
देवाग्निगुरुभक्तश्च शास्त्रभक्तो दृढव्रतः १/१९
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च ध्रुवेण परिकल्पयेत् १/६०
न शक्नुवन्ति मनुजा अल्पवीर्यपराक्रमाः १/६
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च १/५५
पञ्चगव्यं चरुं चैव दन्तकाष्ठं च मण्डलम् १/१०
पुनश्चोर्ध्वं मुखं कल्प्यं प्राग्दक्षिणमथोत्तरम् १/४७
पूर्वं च दक्षिणं चैव उत्तरं पश्चिमं तथा १/४८
प्रसरच्छक्तिकल्लोलजगल्लहरिकेलये १/२क्षेम०
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि एकचित्तः समाहितः १/३१
बिन्दुनादसमायोगात् कपालेशः प्रकीर्तितः १/७७
बिन्दुमस्तकसम्भिन्ना भैरवस्य मुखानि च १/४६
बिन्दुमस्तकसम्भिन्नो विकरालो वरानने १/८०

ब्रह्मविष्णुमहेशानं शवान्तं परिकल्पयेत् १/३९
भान्तो वदिर्लकारान्तो राद्योऽधो रुद्रयोजितः १/८५
भैरवाङ्गसमोपेता वक्त्रपञ्चकसंयुता १/७६
भैरवी कादिना पूज्या मातृवर्गैः प्रपूजयेत् १/३४
मनोन्मनी कला ह्येता वामदेवे त्रयोदश १/५८
मन्त्राँश्चैव समासेन कालं चैव समासतः १/९
मन्त्रास्तस्य न सिद्ध्यन्ति यः सत्यादिविवर्जितः १/२७
मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत् १/४
मेघनादेश्वरो ह्येष भैरवः संप्रकीर्तितः १/८३
यान्त एकारसंयुक्तः षादिर्लान्तविभेदितः १/७४
येनेदं तु जितं सर्वं जगत् स्थावरजंगमम् १/८२
रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रिया १/५७
रूपेभ्यश्च समालिख्य नमस्कारावसानकम् १/४३
लोकपालाँस्तथोद्धृत्य स्वनामप्रणवादिकान् १/८७
विद्याङ्गानि विजानीयात् नामानि च निबोध मे १/६४
विद्याराजः समाख्यातो महापातकनाशनः १/८६
विन्यसेच्चैव वामेन शरीरे तु यथाक्रमम् १/५२
विश्वैकरूपविश्वात्मविश्वसर्गादिकारणम् १/१क्षेम०
शकारस्य तृतीयं तु षष्ठयुक्तं सबिन्दुकम् १/६७
शतकोटि-प्रविस्तीर्णं भेदानन्त्यविसर्पितम् १/५
शिखिवाहनसंज्ञस्तु ज्ञातव्योऽसौ वरानने १/७८
षष्ठस्वरसमोपेतः फट्कारान्तविकल्पितः १/७५
सकृदुच्चारितो देवि ! नाशयेत् सर्वकिल्बिषम् १/४४
सद्येन कल्पयेद्देवि सर्वमेतद्यथाक्रमम् १/५३
सद्योजातकलास्त्वेमष्टौ संपरिकीर्त्तिताः १/५९
सर्वतः शर्व सर्वेभ्यो चतुर्थं परिकल्पयेत् १/६२
सर्वान्कामानवाप्नोति देव्येवं भैरवोऽब्रवीत् १/३७
संतापं क्रोधने विन्द्याच्चपले चपलाः श्रियः १/२२
संहारेण समोपेतौ योनिर्वै भैरवी स्मृता १/३३
सान्तं दीर्घस्वरैः षड्भिर्भिन्नजातिविभेदितम् १/७१
सितरक्तपीतकृष्णां भूमिं प्लवविशोधिताम् १/२८

सुगन्धिगन्धसंयुक्तां पुष्पप्रकरलालिताम् १/२९
सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् १/३
सोमेश्वरः समाख्यातो जन्ममृत्युविनाशनः १/८४
स्मरणान्नाशयेद्देवि ! तमः सूर्योदयो यथा १/४५
स्मृतिमात्रविनिर्धूतनिःशेषाज्ञानकिल्विषाः १/४क्षेम०
हृदि गीवांसपृष्ठे तु नाभौ च जठरे तथा १/५०
हंसाख्यो बिन्दुसंयुक्तः षष्ठस्वरविभेदितः १/६९

द्वितीयः पटलः

अग्निकुण्डसमीपं तु अर्घहस्तः सुभावितः २/१८३
अग्निं तु शुक्रवद्ध्यात्वा चैतन्यं प्रणवेन तु २/१९८
अग्निभागात्तु संगृह्य स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् २/२५२
अघमर्षः प्रकर्त्तव्यः उपस्थानं दिवाकरे २/१५
अङ्गानि विन्यसेत्पश्चात् हृदाद्यानि यथाक्रमम् २/२१४
अङ्गुष्ठादि कनिष्ठान्तं विन्यसेदङ्गपञ्चमम् २/३२
अथार्चनं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः २/१
अनन्तं कल्पयेत्तत्र धर्मादिचरणान्तिकम् २/२७१
अभिमन्त्र्य षडङ्गेन अमृतत्त्वं शिवेन तु २/२३९
अभिषेकं प्रकुर्वीत परं तत्त्वमनुस्मरन् २/२०
अर्घं दत्त्वा महेशानि पुनर्मुद्रां प्रदर्शयेत् २/१०५
अवदंशान्यनेकानि कटूनि मधुराणि च २/१३४
अष्टात्रिंशत्कलाभेदं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् २/८६
अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम् २/९४
अष्टाङ्गानि तथा त्रीणि दश चाष्टावनुक्रमात् २/२१३
असिनैवाग्निकुण्डं तु दर्भैः पूर्वाग्रसंस्तरैः २/१८८
अस्त्रजप्तेन देवेशि प्रलिप्यागुरुचन्दनैः २/१५७
अस्त्रमन्त्रेण ते सर्वे ब्रह्माणं पूर्वविष्टरे २/२२०
अस्त्राणि लोकपालाश्च भैरवाष्टकमेव च २/१२९
अस्त्रेण प्रोक्षयेत् कुण्डं सद्यः सूतकसिद्धये २/२१७

अस्त्रेण मार्जयेदद्भिर्दर्भाग्रेणाथ संस्पृशेत्	२/२२१
आज्यपात्रस्य मध्येतु दर्भो वै भैरवेण तु	२/२४८
आज्यसंस्करणं कुर्यात् आज्याधिश्रयणादिकम्	२/२३२
आत्महृत्स्थं तु संकल्प्य योगपीठं तु कल्पयेत्	२/२६९
आत्मा न शृणुते यं तु मानसोऽसौ प्रकीर्त्तितः	२/१४६
आत्मानं भैरवं ध्यात्वा अग्निं ध्यात्वा तु बीजवत्	२/१९९
आत्मानं भैरवं ध्यात्वा ततो हृद्यागमाचरेत्	२/५५
आनयेत्तां यथानीतं प्लावयेदमृतेन तु	२/३९
आपीतं पूर्ववक्त्रं तु नीलोत्पलप्रभम्	२/९५
आमन्त्रणपदेनैव विष्णुं संस्थाप्य पूजयेत्	२/२६१
आमर्दकं च पूर्वं वै श्मशानाधिपतिं विभुम्	२/१७७
आवाहयेत् सुहृष्टात्मा तव देवि वदाम्यहम्	२/९९
आहुतित्रितयेनैव तिलैः सर्वं तु कारयेत्	२/२१२
इन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणाश्च समीरणाः	२/१२४
ईषत् करालवदनां गम्भीरविपुलस्वनाम्	२/११६
उच्चार्य भैरवं पात्रे सम्पातं पात्य वर्त्मना	२/२४९
उत्तरान्तं निवेश्यं तु अङ्गानां पञ्चकं तथा	२/१७१
उत्तरान्तं निवेश्यं तु गात्रकाः सितवर्णकाः	२/६४
उत्तीर्योदकमध्यात्तु उपस्पृश्य यथाक्रमम्	२/६
उत्तीर्योदकमध्यात्तु तद्वासः परिवर्त्तयेत्	२/१३
उत्पूयनकरो ह्येष प्लावने वारुणः स्मृतः	२/३८
उन्मील्याक्षाणि संचिन्त्य ततस्तु जपमारभेत्	२/१३९
ऊर्ध्वास्येनाहुतीस्तिस्र कवचेन त्रयं पुनः ।	२/२२५
ऋतुकाल इवोत्तानां शिरसैशानसंस्थिताम्	२/१९५
एकपादं तथा सौम्ये आग्नेय्यां त्रिपुरान्तकम्	२/१७९
एवं त्रिभागं संकल्प्य स्रुवमापूर्य होमयेत्	२/२५१
एवं सौम्यस्य वस्त्रस्य संधानं तु कृतं भवेत्	२/२४१
ऐशान्यां भीमवक्त्रं तु श्मशानेशाः प्रकीर्त्तिताः	२/१८०
ओङ्कारदीपितां देवीं नमस्कारावसानिकाम्	२/१६१
कन्दं शक्तिमयं तत्र नाले वै कण्टकास्तु ये	२/५७
कमण्डलुधरो देवि ! दण्डहस्तस्तथैव च	२/७५

कलाभेदं यथापूर्वं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् २/४९
कलविकरणीं देवीं विन्यस्येद्वारुणे दले २/६९
कवचेनावगुण्ठ्यापि प्रणवेनैव पूजयेत् २/१९७
कवचेनावगुण्ठ्यैतदस्त्रदर्भेण चोल्लिखेत् २/१८४
कार्येणैव विहीनं च मायाप्रध्वस्तगोचरम् २/३५
कुण्डस्य चोत्तरे भागे विष्टरस्य च बाह्यतः २/२५९
कुण्डस्य दक्षिणे भागे शुष्कगोमयमासनम् २/१८९
कुम्भकं रेचकं कृत्वा व्योम्न्यात्मानं निधापयेत् २/३४
कौशल्यां मण्डकापूपाँस्तथा क्षौद्रशिरांसि च २/१३३
क्रमेणोच्चारयेत् सर्वं यावत्तद्भर्ममैश्वरम् २/१३०
क्षालयेत यथान्यायं त्रिरन्तरितयोगतः २/४
क्षीराक्ततिलहोमेन शान्तिकर्म वरानने २/२८२
खण्डलड्डुशरावाणि भक्ष्याणि विविधानि च २/१३२
गदां तु विद्रुमाभां वै शूलं विद्युत्समप्रभम् २/१२८
गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा अस्त्रेण परिशोधयेत् २/३०
गन्धं पुष्पं तथा धूपं सर्वेषां तु प्रदापयेत् २/१८१
गन्धपुष्पादिभिः पूजां शिखया कारयेत्ततः २/२९५
गन्धपुष्पादिभिः पूजा शिरसा चाहुतित्रयात् २/२०८
गन्धपुष्पादिभिः पूज्याः स्वरूपं तेष्वनुस्मरेत् २/२२२
गन्धैर्धूपैस्तथापुष्पैर्विविधैर्भक्ष्यभोजनैः २/५४
गन्धैः पुष्पैस्तथा धूपैर्धूपयित्वा तमर्चयेत् २/१०२
गन्धैः पुष्पैः समभ्यर्च्य ततो मूर्त्तिं प्रकल्पयेत् २/८३
गुरुचरणसरोजामोदमत्तं मनो मे क्षेमराजः पटलान्ते
गृहस्थेन न कर्त्तव्यमुद्वेगजनकं हि तत् (परम्) २/१५३
ग्रीवामंसं कटिं चैव बाहू जङ्घे प्रकल्पयेत् २/२०७
चण्यकैश्चाप्यप्सरसो नरेन्द्राः फल्गुषेण तु २/२८५
चन्द्रकोटिप्रतीकाशं चन्द्रार्धकृतशेखराम् २/८९
चितिभिः प्रज्वलन्तीभिः शिवारावैः सुभीषणैः २/१७८
चूडाद्या ये तु संस्कारा अग्नेर्बालान्तसंस्थिताः २/२५७
जपः प्राणसमः कार्यः दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः २/१४०
जातिकुड्मलकैः कन्या गान्धर्वी बकुलोद्भवैः २/२८४

जायते विपुला सिद्धिरधमामध्यमोत्तमा	२/२८१
ज्योतिरूपप्रतीकाशं नेत्रं मध्ये च संस्थितम्	२/१११
तडिद्वलयसंकाशां शिखां देवीं विचिन्तयेत्	२/११०
तत आवरणं बाह्ये विनिवेश्यं वरानने	२/१६९
ततः परमबीजेन परं परमकारणम्	२/९८
ततः स्नानादिकं कर्म कृत्वा चैव वरानने	२/१०३
ततोऽग्नौ यजनं कृत्वा भैरवं तु प्रपूजयेत्	२/२६३
ततो मुद्रां दर्शयेत संन्निधानाय मन्त्रवित्	२/१९६
ततो यागगृहं गत्वा हस्तौ पादौ च क्षालयेत्	२/२१
ततो रक्षार्थमस्त्रं च दशदिक्षु विनिक्षिपेत्	२/२८
ततो ह्याभरणं बाह्ये विनिवेश्यं वरानने	२/१०६
तस्य विघ्ना विनश्यन्ति जपश्च सफलो भवेत्	२/१४३
तीर्थं संगृह्य देवेशि ! आत्मनोऽग्रे निधापयेत्	२/१४
तृतीये चैव लोकेशान् सास्त्रान्संपरिकल्पयेत्	२/१२३
तेजोमयं महाशुभ्रं स्फुरत्किरणभास्वरम्	२/६१
तेनैव दहनं कार्यमूर्ध्वाधोऽग्नियुतेन च	२/३७
त्रिराहुतिं तु पूर्वेण अस्त्रेणैवाहुतित्रयम्	२/२१६
दक्षिणस्थं तथा वक्त्रैरभिमन्त्र्य वरानने	२/९
दक्षिणायां ततो मूर्तौ प्रणवासनसंस्थितः	२/२९
दक्षिणे क्रोधराजं च विकरालं तु नैर्ऋते	२/११८
दण्डं भिन्नाञ्जनाभं च खड्गं नीलोत्पलप्रभम्	२/१२७
दर्भमध्येन संस्पृश्य भूयोऽग्नौ भ्राम्य तापयेत्	२/२३०
दर्भानास्तीर्य पूर्वाग्रान् दक्षिणोत्तरसंस्थितान्	२/२१९
दर्भेण ध्रुवमन्त्रेण अक्षवाटं ततो न्ससेत्	२/२०१
दर्भोल्मुकं तु संगृह्य आज्यपात्रं निरीक्षयेत्	२/२३७
दशाक्षमाला देवेशि गृहस्थानां प्रकीर्त्तिताः	२/१४९
दाडिमीकुसुमप्रख्यं कुङ्कुमोदकसन्निभम्	२/९६
दिव्यकुण्डलधर्त्तारं गरुडासनसंस्थितम्	२/७८
द्रष्टव्यानि वरारोहे पुरुषाधिष्ठितानि तु	२/४५
द्वितीयावरणे देवि विन्यसेद्भैरवाष्टकम्	२/११७

धामादिप्रणवाद्यं च स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् २/२५३
धाम्नास्त्रमन्त्रमुच्चार्य तमग्नावुल्मुकं क्षिपेत् २/२३८
धाम्नैवेध्मास्तु होतव्या हस्तमात्रप्रमाणतः २/२२७
ध्यातव्यानि स्वरूपाणि वराभयकराणि च २/१०८
ध्यात्वा पत्रेषु तं न्यस्येत् सर्वकिल्विषनाशनम् २/७६
ध्यात्वा वक्त्राणि पञ्चादौ येन यत्कर्म वाञ्छितम् २/२६४
ध्वजो गदा त्रिशूलञ्च लोकपालायुधानि वै २/१२६
नन्दिगङ्गे समभ्यर्च्य महाकालं च दक्षिणे २/२५
न बाहुपृष्ठतो वापि मन्त्राणां परिकल्पयेत् २/१७३
नवकं कल्पयेत्पूर्वं मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्टके २/५१
नानाभरणसंयुक्ता नाना स्रग्गन्धलेपना २/११२
नाराचास्त्र प्रयोगेण प्रविशेद्गृहमध्यतः २/२७
नालं हृदवधि ध्यात्वा पद्मं तत्र विचिन्तयेत् २/२७०
निष्कम्पं कारणातीतमावाह्य परमेश्वरम् २/१००
निवेशयेत् कर्णिकायां महापातकनाशनम् २/८१
न्यसेत्क्रमेण देवेशि त्रिंशदेकं च संख्यया २/४३
पञ्चवक्त्रं तु संकल्प्य मध्यप्राग्याम्यसौम्यकम् २/२१०
पञ्चवक्त्रास्त्रिनेत्राश्च दशबाह्विन्दुशेखराः २/१२०
पञ्चविंशकमेतच्च प्राकृतं समुदाहृतम् २/४६
परंभावं तु संगृह्य ततः शोष्य तनुः प्रिये २/३६
परान्तं यावदाभाव्य नैवेद्यानि निवेदयेत् २/१३१
परां शक्तिं तु संक्षोभ्य ततोनन्तं प्रकल्पयेत् २/३१
परिवृत्य ततो वासः सन्ध्यां प्रागिव वन्दयेत् २/१८
परे शृण्वन्ति यं देवि सशब्दः स उदाहृतः २/१४७
पवित्रमेतद्विहितम् उत्प्लवं तेन संप्लवम् २/२३५
पराङ्मुखं तु त्रीन्वारान्सम्मुखं त्रींस्तथैव च २/२३६
पश्वर्थं यज्ञ आरब्ध आत्मार्थं वाथ साधकैः २/२६२
पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया २/१३६
पश्चिमे नित्यकर्माणि विनियोगः प्रकीर्त्तितः २/२४७
पादान्तं चैव विन्यस्य स्वध्यानगुणसंयुतम् २/५२

पादलेपाञ्जनाद्या वै सिद्धीस्तु विविधाश्च याः २/२४४
पाद्यमाचमनं चार्घं स्वागतं तदनन्तरम् २/१०१
पाशाङ्कुशधरं देवं शरहस्तं पिनाकिनम् २/९१
पुनः पूर्णाहुतिं चैव भैरवेण प्रदापयेत् २/२६८
पुनर्न्यूनातिरिक्तार्थं निश्छिद्रकरणाय च २/२७९
पूर्वसौम्याग्र भागाभ्यां विष्टरं तस्य चोपरि २/१९२
पुष्कराणि च देवेशि तत्र विद्येश्वराः स्मृताः २/५९
पुष्पं संगृह्य देवेन शिवाग्नेर्नामिकल्पयेत् २/२२४
पुष्पाक्षततिलैर्युक्तं पवित्रं तत्र विन्यसेत् २/२६०
पुष्पादिभिः सुधूपाद्यै र्ध्रुवेण तु यथाक्रमम् २/१९१
पुंसः कल्पनमेवं हि न स्त्री गर्भे तु जन्यते २/२०६
पीताम्बरधरं देवं वनमालाविभूषितम् २/७७
पूजा सुविपुला कार्या गन्धधूपस्त्रगादिभिः २/१६८
पूजाहोमरतो नित्यं यान्यान्कामान्समीहते २/२८९
पूरकेण प्रयोगेण त्रिस्थं च त्रितयान्वितम् २/१४४
पूरणं तेन कर्त्तव्यं समीकरणमेव च २/१८५
पूर्वभागं गृहीत्वा तु दशदिक्षु विनिक्षिपेत् २/१०
पूर्ववक्त्रेप्यथैवं स्यादूर्ध्ववक्त्रं शिवान्वितम् २/२४२
पूर्वं पीतं स्मृतं देवि रक्तमाग्नेयगोचरे २/१२१
पूर्वोक्तेन विधानेन प्रोक्ष्यस्तेन समासतः २/१५९
प्रणवाद्याज्यमध्यातु स्त्रुवमापूर्य होमयेत् २/२५४
प्रणिपातं ततः कृत्वा जपं पश्चात् समाचरेत् २/१३७
प्रधानाशयसम्पन्नं गुणत्रयसमन्वितम् २/४१
प्रधानावनिपर्यन्तं शरीरं च विनिर्मितम् २/४४
प्रवहति हृदये शैवसुधायाः सततं मधुमयधारा भाष्यकारः पटलान्ते
प्राणायामत्रयं कृत्वा देहसंशुद्धिकारणम् २/३३
प्रोक्षणं शोषणं चैव तथास्त्रेणैव कारयेत् २/१८६
बलप्रमथनीं देवीमुत्तरे विनियोजयेत् २/७०
बाहुमात्रप्रमाणेन भैरवेशमनुस्मरन् २/११
बाह्ये श्मशानविन्यासं प्रणवादिनमोन्तरम् २/१७६

ब्रह्मा चतुर्मुखो रक्तश्चतुर्बाहुविभूषितः २/७४
भक्ष्यैर्ग्रासप्रमाणैस्तु धान्यैः प्रसृतिसंभवैः २/२८८
भागद्वयं ततोऽस्त्रेण कर्त्तव्यं तु कृशोदरि २/३
भावयेन्नव जिह्वास्तु वक्त्रे वक्त्रे प्रतिष्ठिताः २/२६४
भैरवं तु समुच्चार्य शिवाग्निः सर्वसिद्धिदः २/२५८
भैरवं पूजयित्वा तु शास्त्रदृष्टेन कर्मणा २/२७४
भैरवं पूजयित्वा तु तस्योत्सङ्गे तु तां न्यसेत् २/११५
भैरवस्य तु होतव्यं वक्त्राङ्गानां दशांशकम् २/२७७
भैरवाद्याः स्मृता मन्त्रा पीठेशाः पीठमर्दकाः २/११४
भैरवाष्टकरूपेण ध्यातव्याश्च वरानने २/१२५
भैरवाष्टकविद्याङ्गलोचनं क्षुरिकां तथा २/१६५
भैरवास्त्रं समुच्चार्य पुष्पं संगृह्य भावितः २/२६
मण्डलत्रितयं देवाञ्शक्तीश्चापि शिवान्तकम् २/१६४
मत्स्यमांसान्यनेकानि लेह्यपेयानि यानि च २/१३५
मध्ये तमो विजानीयाद् गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः २/६६
मध्यप्रदेशे देवेशि ततो रूपमनुस्मरेत् २/८८
मध्ये मनोन्मनीं देवीं कर्णिकायां निवेशयेत् २/७१
मध्ये सूर्यसहस्राभां चिन्तयेत्तु मनोन्मनीम् २/७२
मनसाबुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः २/४२
मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा देवानामृषिभिः सह २/१६
मलस्नानं भवेदेवं विधिस्नानं प्रचक्ष्महे २/७
मायात्मको भवेद्ग्रन्थिरशुद्धाध्वव्यवस्थितः २/५८
मारणं च वरारोहे क्रमेण परिकल्पयेत् २/२८३
मारणोच्चाटनादौ तु विद्वेषे स्तम्भने तथा २/२४५
मुखहृत्पाददेशाँस्तु होमात्तच्च त्रितत्त्वकम् २/२०९
मुख्यमूर्ध्वं स्मृतं वक्त्रं गुणत्वमितरेषु तु २/२४३
मुद्गरेण विचित्रेण वर्त्तुलेन विराजितम् २/९३
मूर्त्तिभूतं प्रकल्प्यैवमष्टात्रिंशकलायुतम् २/२७३
मूर्त्त्यूर्ध्वे भैरवं देवं सकलं परिकल्पयेत् २/८४
मूलमन्त्रमनुस्मृत्य भस्मस्नानमतः परम् २/१७

मूलमन्त्रं समुच्चार्य पूर्णामिकां प्रपातयेत् २/२७८
यतः सूर्यस्य मध्ये वै अमावस्यां विशेच्छशी २/२५६
योनिसंस्थं चाज्यपात्रं उत्प्लवं संप्लवं ततः २/२३४
योनौ च बीजवत्क्षिप्त्वा भैरवेण शिवाम्भसा २/२००
रक्तवर्णं सुतेजस्कं नेत्रत्रयविभूषितम् २/८२
रक्षार्थं जातबालस्य ब्रह्माद्याः पूजितास्तु ये २/२२३
रक्षार्थमग्निगर्भस्य गर्भाधानमतो भवेत् २/२०३
रत्नमालावनद्धाश्च हारकेयूरभूषिताः २/११३
रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा २/४०
रुद्राक्षशङ्खपद्माक्षपुत्रजीवकमौक्तिकैः २/१४८
राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुकारिका २/२६६
राज्ञी पुत्रसमोपेता वशं याति वरानने २/२८६
रेचकेन प्रयोगेन निवेद्य विधिपूर्वकम् २/१८२
वस्त्रपूतेन शुद्धेन ताडयेदस्त्रमुच्चरन् २/१५८
वक्त्रसंधानकं वक्त्रैराहुतित्रितयेन तु २/२४०
वक्त्राणां पञ्चकं देवि स्वध्यानगुणसंयुतम् २/१७०
वक्त्राणां निष्कृतिं तद्वदाहुतीनां त्रिसंख्यया २/२११
वक्त्राणि कल्पयेद्देवि स्वध्यानेन महेश्वरि २/८५
वक्त्राणि कल्पयेत्पश्चादूर्ध्वं पूर्वं च दक्षिणम् २/४८
वक्त्राभिघारो वक्त्रैस्तु वक्त्रे वक्त्रे त्रयम् त्रयम् २/२१८
वज्रीकरणमस्त्रेण रेखाः पूर्वापरास्त्रयः २/१८७
वर्गातीतेन क्षुरिकामूर्ध्वाधोऽग्निप्रदीपिताम् २/५०
वह्निमण्डलकं देवि कर्णिकायां निवेशयेत् २/७३
वागीशीं च समाहूय प्रणवादिनमोन्तगम् २/१९३
वाङ्निरुद्धः सुचित्तात्मा राजीवासनसंस्थितः २/१३८
वामहस्तस्य पूर्वेतु दक्षिणे चोत्तरे क्रमात् २/८
वामां पूर्वदले न्यस्य ज्येष्ठां वह्निदलस्थिताम् २/६८
वायव्ये देवि विन्यस्य सोमराजं तथोत्तरे २/११९
विगलति भवदौर्गत्यं मोक्षश्रीः श्रयति हृत्कजं कचति क्षेमराजः, मङ्गला०
विद्याङ्गा लोचनं चैव क्षुरिकां च प्रकल्पयेत् २/८७

विद्याधरी कुरयकैश्च साधयेन्नात्र संशयः २/२८७
विद्याराजः स्मृतोह्येष भैरवे मन्त्रनायकः २/५३
विन्यसेत् पञ्चवक्त्राणि पञ्चवक्त्रयुतानि च २/१०७
विन्यस्य भावयेद्देवि सततं विधिपूर्वकम् २/१६६
विलिप्यागुरुकर्पूरैमुकुटाद्यैर्विभूषयेत् २/१०४
विसर्जयेत्तु स्वस्थानं सावित्रीं प्रणवेन तु २/२२६
वीणाडमरुहस्तं च घण्टाहस्तं त्रिशूलिनम् २/९२
वीरस्थानरतानां हि वीराणां वरवर्णिनि २/१५२
वृश्चिकैरग्निवर्णाभैर्हरिण तु विराजितम् २/९०
वेदा युगाश्च ते चैव ज्ञातव्याः क्रमशः प्रिये २/२६५
वैराग्यं च तथैश्वर्यमाग्नेयादिक्रमेण तु २/१६२
व्यक्तिस्थानं शिवस्याध्वा ततस्तद्धर्मिणीं स्मरेत् २/१५०
व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्त्तते २/१४१
शक्तिन्यासो भवेत्पूर्वं कन्दं तु तदनन्तरम् २/६०
शक्तिं न्यस्य ततश्चादौ व्योमाकारां सुजाज्वलां २/१६०
शङ्खकुन्देधवलं शूलहस्तं त्रिलोचनम् २/७९
शाङ्खं शाम्बूकं शौक्तं वा ताम्रं मृण्मयमेव वा २/१५६
शान्तिकं पौष्टिकं चैव सौभाग्याकर्षणानि च २/२४६
शान्तिके मानसो जाप्य उपांशुः पौष्टिके स्मृतः २/१४५
शिखाहृदि स्थिता या तु ध्रुवेणोत्कीलयेत् पुनः २/२७२
शिरोवक्त्रं च हृद्गुह्यं पादान्तं च विभागशः २/१९
शिवशक्तिमया मन्त्रा न्यस्तव्या वीरवन्दिते २/६३
शिवाग्नौ ताप्यमस्त्रेण उद्वास्यं कवचेन तु २/२३३
शिवाम्भसास्त्रमन्त्रेण विघ्नप्रोच्चाटनं भवेत् २/२३
शुचिस्थानान्मृदं पूर्वं गृहीत्वास्त्रेण शोधिताम् २/२
श्यामं चापरदिग्भागे धूम्रं वायव्यगोचरे २/१२२
सकलं भैरवं न्यस्य द्वात्रिंशार्णं सुलोचने २/४७
सकलीकृतदेहस्तु पुष्पमादाय सुव्रते २/२२
सदाशिवं चोत्तरेऽथ स्वनामपदचिह्नितम् २/२२१
सन्धानकीलकाँश्चैव अधश्छादनमूर्ध्वगम् २/१६३

सन्धाय चैवं जिह्वाभ्यां नाडीसन्धिरतो भवेत्	२/२७५
सप्तवारान्वरारोहे अर्कदीप्तं तु कारयेत्	२/५
सप्तवारास्त्रमन्त्रेण दर्भेणैव तु कङ्कणम्	२/२०२
सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चाद्यजनमारभेत्	२/१५५
समैस्तु संहतैरेकं शिवतत्त्वात्मकं मुखे	२/१५१
सम्पूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्धूपादिभिरनुक्रमात्	२/२४
सर्वकामप्रदो होमस्तिलैः शस्तो घृतान्वितैः	२/२८०
सर्वलक्षणसम्पूर्णां सर्वावयवभूषिताम्	२/१९७
सर्वेषामेव मन्त्राणां विधिरेष प्रकीर्त्तितः	२/१७५
सर्वसिद्धिप्रदा मध्ये, तस्मान्मध्येतु होमयेत्	२/२६७
साधयेद्विविधान्कामानधमान्मध्यमोत्तमान्	२/१५४
सितरक्तपीतकृष्णा आग्नेयादीशदिग्गताः	२/६२
सितरक्तप्रपीतानि मूलमध्याग्रदेशतः	२/६७
सिंहचर्मपरीधानं शशाङ्ककृतभूषणम्	२/८०
सुषुम्नां मध्यमार्गस्थां दक्षे पिङ्गां प्रकल्पयेत्	२/२५०
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया	२/१४२
सीमन्तोन्नयनं ह्येषं जातकर्म त्वथोच्यते	२/२१५
सोमभागे भवेत्सूर्यो ह्यग्निसंज्ञा तु पूर्ववत्	२/२५५
स्नायाद्राजोपचारेण सुगन्धामलकादिभिः	२/१२
स्थण्डिलस्थशिवालीनमेकार्थं चैव सन्धयेत्	२/२७६
स्रुक्स्रुवाभ्यां ततो मूलं स्थापयेत्तावधोमुखौ	२/२३१
स्रुक्स्रुवौ संप्रताप्याग्नौ शिवाम्भोस्त्रेण प्रोक्षयेत्	२/२२८
स्वच्छन्दभैरवं देवं सर्वकामफलप्रदम्	२/९७
स्वनामपदसंयुक्तं स्वध्यानेन नमोन्तगम्	२/१९०
स्वमन्त्रेण तु सर्वेषाम् अर्ध्यं पाद्यं समाहितः	२/१७२
स्वमुद्रामन्त्रसंयुक्तान्युगपत्परिकल्पयेत्	२/१७४
स्वागतं चार्घ्यपाद्यं च सन्निधानं तथैव च	२/१६७
हृच्छिरश्च शिखा वर्म अस्त्रं च प्रविभागशः	२/१०९
हृदन्तं कलयेद्यावत्तत्र पद्मं विचिन्तयेत्	२/५६
हृदा त्रिराहुतिं दत्त्वा गर्भाधानं कृतं भवेत्	२/२०४

तृतीयः पटलः

अक्षतास्त्राण्यनेकानि शरकुन्तासिमुद्गराः ३/८४
अच्छिन्नामनुलोमेन जलधारां तु पातयन् ३/८०
अज्ञानपटनिर्मुक्तः प्रबुद्धः पशुरीक्षते ३/१२८
अग्नेः सन्तर्पणं कुर्यात्सहस्रेण शतेन वा ३/१००
अथैतास्तु नमस्कृत्य आज्ञां दत्तां विभावयेत् ३/९३
अधिवासं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ३/१
अधिवासे तथैवेह अष्टोत्तरशतं हुतिः ३/११९
अधिष्ठितं शिवेनैव तमाचार्यं विनिर्दिशेत् ३/३४
अधोमुखेन हृत्पृष्ठे शिवहस्तेन चालभेत् ३/१४३
अन्यस्यामशुभं विद्धि तस्य होमः शतं भवेत् ३/१९५
अशिवः स तु विज्ञेयो न मोक्षाय विधीयते ३/३३
अस्त्रेण क्षालयेत्तच्च कवचेनावगुण्ठयेत् ३/५५
आकोटनमथास्त्रेण ततो मार्जनलेपने ३/६४
आचार्यः कलशं पश्चाद्भैरवेण समुद्धरेत् ३/८१
आत्मसव्येऽच दिग्भागे मण्डलं प्रणवेन तु ३/१४७
आत्मान्तःकरणे यद्वत्तद्वत्पूजां समारभेत् ३/१४१
आसनस्योपरि न्यस्येन्मूलमन्त्रमनुस्मरन् ३/७५
इज्यादि चान्यतन्त्रेऽपि तद्वैतत्कामिकं भवेत् ३/३८
इन्द्राद्यनन्तपर्यन्तांल्लोकपालान्प्रपूजयेत् ३/९०
उत्थाप्य च ततः शिष्यं तदर्धं मन्त्रतर्पणम् ३/१५६
उदकं क्षीरकुसुमं कुशसर्षपतण्डुलाः ३/४६
उपविश्य द्वितीयं तु चरुकं प्राशयेद् बुधः ३/१९३
उपवेश्य कटे दर्भं भैरवेण समर्पयेत् ३/१४८
ऊर्ध्वाधो विकिरेद्धान्यान्यस्त्रभूतानि चिन्तयेत् ३/६६
एवं तु मानसं यागं कृत्वा बाह्यं समाचरेत् ३/४०
ऐशान्यभिमुखान्येव नैर्ऋत्या यावदैश्वरम् ३/६७
करन्यासं यथापूर्णं दहनोत्पूयने तथा ३/९
कलशेऽप्येवमेवं तु अग्नौ होम्यश्चरुः स्रुचा ३/११७
कलाध्वानं न्यसेत्पश्चाच्छान्त्यतीताद्यनुक्रमात् ३/१३९

कवचेनावगुण्ठ्यैतौ प्लावयेदमृतेन तु	३/१३३
कवचेनावगुण्ठ्यैव प्रणवेन तु पूजयेत्	३/४५
कृतकृत्यः प्रहृष्टात्मा प्रहृष्टनयनं शिशुम्	३/१२९
क्रूरकार्ये तु कर्तव्ये मन्त्रान्संरोप्य योजयेत्	३/१६१
गन्धपुष्पपवित्राद्यैः पूजयित्वा तु वार्धनीम्	३/७९
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य शिवकुम्भं प्रकल्पयेत्	३/७०
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य सूत्रे पाशांस्तु तर्पयेत्	३/१८३
गन्धोदकेन संलिप्य शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत्	३/७१
गात्रकाणि त्वधर्माद्यास्तथा सन्धानकीलकान्	३/११
गुरुः पूर्वमुखोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत्तं शिवाम्भसा	३/१२३
गुरुः पूर्वाननः स्थित्वा प्रोक्षणादीनि कारयेत्	३/१३१
गृहिणो दर्भशय्यां तु यतेर्वै भस्मना प्रिये	३/२०३
गोमयं तु हृदामन्त्र्य गोमूत्रं शिरसा दधि	३/५७
गोमयेन शुचौ देशे कार्यं मण्डलकत्रयम्	३/१९२
ग्रहणाकर्षणार्थं तु गृह्णन्मुञ्चन्पुनः पुनः	३/१५१
चूतपल्लवदर्भांस्तु सिद्धार्थान्खटिकां तथा	३/४२
चालनोद्घाटनादीनि अस्त्रमन्त्रेण कारयेत्	३/१०८
जपन्नेकैकयाहुत्या पातयेद्भैरवेण तु	३/११२
जले चाग्नौ च सम्पूज्य सम्यग्दीक्षाफलं लभेत्	३/३२
तण्डुलांश्च तथा क्षीरमेवमादीन्यनेकशः	३/४४
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा दण्डवन्निपतेद्भुवि	३/१९१
ततश्चैव तु निर्गत्य बलिकर्म समारभेत्	३/२०६
ततोऽग्निकुण्डं गत्वा तु पूर्ववच्छोधनं तथा	३/९९
तत्र मण्डलकं कृत्वा पुष्पेण प्रणवासनम्	३/१३०
तत्रस्थं पूजयित्वा च कलशे तु विनिक्षिपेत्	३/२०१
तत्र स्थालीं समारोप्य पश्चादग्निं न्यसेदधः	३/१०६
तत्र स्थितस्य शिष्यस्य शिखाबन्धं वरानने	३/२०४
तत्स्थानं दुर्लभं मत्वा सम्भवेन्न कराचन	३/२९
तथा ते विनियोक्तव्या मानसे मानसेन तु	३/२६
तदध्यास्य आनुलोम्येन हृत्पद्मे विनिवेशयेत्	३/२४
तस्याप्यनेन न्यायेन विलोमेन विशेद्धृदि	३/५२

तस्योपरि तदात्मानं ध्यायेज्ज्योतिर्मयं शुभम् ३/१३७
तस्योपरि न्यसेत्पात्रं गोमयादीनि चाहरेत् ३/५६
ताडयेदस्त्रपुष्पेण हृदि चित्संहृता भवेत् ३/१६९
तावदुच्चारयेन्मन्त्रं यावन्निर्वाणगोचरम्। ३/२१
तेन चाधिष्ठिता: सर्वे सर्वकामफलप्रदा: ३/२५
त्रिभागं कल्पयित्वा तं चरुं स्थाल्त्यां तु संस्थितम् ३/११४
त्रिभिस्त्रिभिर्घृतेनैव स्रुवेण जुहुयात्प्रिये ३/१०९
तं तु संगृह्य देवेशि पूर्वादीशान्तकं क्षिपेत् ३/२०७
दर्भं विमोचयेच्छिष्यं पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ३/१९०
दर्भं संगृह्य चास्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम् ३/५४
द्वादशान्तं तु संगृह्य संपुट्य हृदयेन तु ३/१७२
द्वाराध्यक्षान्पूजयित्वा पुष्पप्रक्षेपणं तत: ३/५
द्वितीयं होमयेदग्नौ साधकेभ्यस्तृतीयकम् ३/११५
द्वितीय: सूत्रदेहस्तु पाशा यत्र स्थितास्त्विमे ३/१७४
धामाङ्गानि चा बाह्ये तु सम्पूज्यावरणस्थितिम् ३/६०
धाम्ना च मन्त्रयेत्पश्चाद्गोमयादीनि योजयेत् ३/५८
धाम्ना चोत्थाय होतव्यं पूर्णाहुत्यानुतर्पयेत् ३/१५७
धाम्ना तु योजयेत्सूत्रे नमस्कारान्तयोगिना ३/१८०
धूमज्वालाविनिर्मुक्तं दग्धकायं विभावयेत् ३/१३५
ध्रुवेण श्रियमावाह्य पद्महस्तां सुलोचनाम् ३/६८
न शब्दो नापि चाकाशं ध्यात्वा तत्तु विमुच्यते ३/३०
नाडीरन्ध्रेण गत्वा तु चैतन्यं भावयेच्छिशो: ३/१७०
नाडीसन्धानमेतद्धि शिवेन परिकीर्तितम् ३/५३
नाडीसन्धानहेत्वर्थं भैरवेणाहुतित्रयम् ३/१५०
नान्यथा प्राक्स्वरूपेण पूजनार्हो भवेत्तु स: ३/१४६
नाभ्यूर्ध्वं त्रींस्तथा वारान्नाभ्यधस्त्रीन्प्रकल्पयेत् ३/१२४
निमित्तमभिलाषाख्यं विचित्रैर्हेतुरूपकै: ३/१७७
निरोधार्धेण चार्धं तु दत्त्वा चैव वरानने ३/१९९
नीलोत्पलदलश्यामां यागहर्म्यावलोकिनीम् ३/६९
नैवेद्यं विविधं दत्त्वा नुत्वा विज्ञापयेद्विभुम् ३/८७
न्यूनातिरिक्ते देवेशि अष्टोत्तरशतं हुति: ३/१२०
पञ्चगव्यं षिबेत्पूर्वं चरुकं दन्तधावनम् ३/२१३

पञ्चगव्येन लिप्त्वादौ गन्धतोयेन चोपरि ३/९१
पञ्चब्रह्माण्यथाङ्गानि एतान्यावरणानि हि ३/१९
परमीकरणं कुर्याद्व्यापकेन परेण तु ३/९६
पश्चात्संतर्पयेद्धोमसहस्रेण शतेन वा ३/१९७
पश्वर्घे च प्रकल्प्यैवं शिवहस्तं प्रकल्पयेत् ३/४९
पातालतलसंस्थाश्च शिवयोगसुभाविताः ३/२०८
पात्रसम्पुटमध्यस्थान्स्थण्डिले विनिवेदयेत् ३/१८९
पार्ष्ण्यधोहस्तसंयोगाद्विघ्नप्रोच्चाटनाय वै ३/६
पाशकर्म ततो वक्ष्ये कन्याकर्तितसूत्रकम् ३/१६३
पाशानां ताडनं कार्यं हुंफट्कारान्तजातिना ३/१७८
पाशास्तु त्रिविधा भाव्या मायीयाणवकर्मजाः ३/१७५
पिङ्गला मध्यमा नाडी शिष्यदेहाद्विनिर्गता ३/१४९
पिङ्गलामध्यमार्गेण वर्णोच्चारक्रमेण तु ३/२२
पुष्कराणि च शक्तीश्च मण्डलान्मण्डलाधिपान् ३/१२
पुष्पधूपादिभिर्नीत्वा धाम्नैतं विनिवेदयेत् ३/११६
पुष्पेण ताडयेन्मूर्ध्नि ग्राह्यं हूमादि योजयेत् ३/१७९
पूर्ववन्मानसं यागमन्तर्देहे समाचरेत् ३/१०
पूर्वादीशानपर्यन्तमधश्चोर्ध्वं समन्ततः ३/२१०
पूर्वोक्तेन विधानेन भैरवेशं वरानने ३/९४
पूर्वोद्धृतेन मन्त्रेण प्लावयेदमृतेन तु ३/१३८
प्रक्षिप्य चैव निर्माल्यं गोमयेन स्पृशेत्प्रिये ३/२०२
प्रक्षेपयेत्ततो धाम्ना मुखमुद्घाट्य दर्शयेत् ३/१२७
प्रणवेनासनं कल्प्यं शिष्यं तस्मिन्निवेशयेत् ३/१२२
प्रणिपातं जपं कृत्वा निवेद्य विधिपूर्वकम् ३/९७
प्रवेश्याभ्यर्चयेच्छम्भुं शिवमुच्चार्य निक्षिपेत् ३/१४४
प्रसारयेद् गृहीत्वा तन्मूर्धाद्यङ्गुष्ठकावधि ३/१६५
प्रोक्ष्य चैव शिवाम्भोभिः कवचेनावगुण्ठयेत् ३/१०३
बन्धने तु प्रयोगोऽयं सूत्रे ग्रन्थीन्प्रदापयेत् ३/१८७
बलिं दत्त्वा तु सर्वेभ्य आचम्य च वरानने ३/२११
ब्रह्मस्थानस्य पूर्वेण गुरून्पूज्य विनायकम् ३/९२
ब्रह्महापि स मुच्येत किं पुनः शिवतत्परः ३ ३६

भक्षयित्वा च देवेशि ततश्चैव विनिक्षिपेत् ३/१९४
भस्मना रोचनाद्यैश्च अस्त्रप्राकारचिन्तनम् ३/२०५
भस्मोद्धूलितदेहस्तु मुद्रालङ्कारभूषित: ३/२
भावयेत्त्रिविधान्पाशान्पञ्चतत्त्वाध्वव्यापकान् ३/१८१
भूतेश्वराणां देवेशि क्षेत्रपालस्य सर्वत: ३/९८
भेदयित्वा क्रमात्सर्वं यावद्वैनिधनान्तिकम् ३/२३
भैरवावरणैर्युक्तां पूजयेत्तां यथाक्रमम् ३/४७
भ्रुकुटीकरालवदनान्वाच्यरूपान्विचिन्तयेत् ३/१६२
मण्डलं कुण्डसामीप्ये कृत्वा दर्भासनं न्यसेत् ३/१११
मन्तव्यं परमं तत्त्वं ततश्चैवामृतीभवेत् ३/४८
मन्त्रसन्धानकं कुर्यान्नाडीसन्धिमथोभयो: ३/८३
मन्त्रसन्धानमेतद्धि परमीकरणं शृणु ३/२०
मन्त्रा: करणभूतास्तु पशुकार्यस्य साधने ३/१६०
मन्त्रेणाष्टशतेनैव प्रक्षिप्य पाचयेच्छनै: ३/१०७
मन्त्रैर्दिव्यान्विशोध्यैवं यागहर्म्यं विशेत्तत: ३/७
मलं कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमत: परम् ३/१७६
मानसेन प्रयोगेण भावपुष्पैर्वरानने ३/१०५
मुद्रांबद्धा हृदादीनि पूज्यान्यग्निदलादिषु ३/७६
मुद्रामन्त्रांश्च द्रव्याणि यथास्थानं प्रकल्पयेत् ३/१५
मुर्तिब्रह्मकलाव्यूहं नवतत्त्वं त्रितत्त्वकम् ३/१३
मूर्तिभूतां न्यसेत्स्थालीं तत्रस्थं भैरवं यजेत् ३/१०४
मुष्टिना पूरितं नीत्वा पूजयित्वा वरानने ३/२००
मूलमन्त्रमनुस्मृत्य हृत्कण्ठतालुमध्यगम् ३/५०
मूलमन्त्रं समुच्चार्य स्वा इत्यग्नौ प्रपातयेत् ३/१५३
य एवं सततं कुर्याद्दैशिको यागतत्पर: ३/३१
यत्र गलत्युन्मिषितेऽशेषा संसारवासनाविस्रा क्षेमराज:, मङ्गला०
यत्र नास्ति द्विधाभाव: न मन्त्रादिप्रकल्पना ३/२८
यागभूमौ स्वपेत्पश्चाच्छिष्यै: सह वरानने ३/२१४
यावद्भूमौ समन्तात्तु सौम्यास्यो दक्षिणे स्थित: ३/६२
यागौको व्याप्य सर्वं तु तिर्यगूर्ध्वमध: स्थिता: ३/८५
युगपत्तर्पणं तेषां सम्पातस्तेन कीर्तित: ३/१५५
योगसिद्धिश्च जायेत मुक्तिं च लभते ध्रुवम् ३/३९

रजस्यादौ ततो देवि कर्तर्यां करणौ तथा ३/११३
रत्नगर्भौषधी युक्तं सहदेवादिभिर्गणैः ३/७४
रेचितं भावयेच्छुद्धं मौक्तिकाद्यैः प्रपूरयेत् ३/६३
लोकपालांस्तदस्त्राणि पूर्वादीशान्तकावधि ३/१८
वर्मणा मायारूपेणाच्छाद्यैव तु मखालयम् ३/८
वस्त्रं सम्प्रोक्ष्य चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ३/१२५
वामदक्षिणमध्ये तु विषुवत्स्थेन भेदयेत् ३/५१
वामभागे तु कुम्भस्य पञ्चगव्येन मण्डलम् ३/७७
वार्धानीं शिवकुम्भं च तथेध्मान्परिधीनपि ३/४३
वार्धानीं स्थापयेत्पश्चादस्त्रमन्त्रमनुस्मरन् ३/८२
विदित्वा सम्यगाचार्यः पाशहा स शिवः स्मृतः ३/३५
विद्याङ्गानि तथा देवीं क्षुरिकां लोचनत्रयम् ३/१४
विधेर्न्यूनातिरिक्तस्य चित्तविक्षेपकर्मणि ३/१९६
विशेषपूजनं चार्घं मुद्राबन्धं वरानने ३/१९८
विशेषफलसिद्ध्यर्थं मुमुक्षोः साधकस्य वा ३/१३२
विश्लेषकरणार्थं तु पाशानां दीपनं भवेत् ३/१८५
व्यापकं भावयित्वा तु कवचेनावगुण्ठयेत् ३/१७३
व्योमवच्चिन्तयेद्देहं चैतन्यं कनकाग्निवत् ३/१३६
व्योम्न्यात्मानं योजयित्वा शिशोः शोष्य तनुः प्रिये ३/१३४
षट्त्रिंशतत्त्वमध्यस्थो भुङ्क्ते भोगं न चान्यथा ३/१८८
शान्त्यतीतादिका ज्ञेयास्तत्त्वभूतास्तु ताः कलाः ३/१४०
शान्त्यतीतादिभेदेन पञ्चसंज्ञाप्रतिष्ठिता ३/१८२
शिवकुम्भाग्निमध्यस्थं स्थण्डिलस्थं च वन्दयेत् ३/१४५
शिवहस्ते विभुं ध्यात्वा मन्त्रग्रामं सुजाज्वलम् ३/१४२
शिवामृतं तत्संचिन्त्य सम्पूज्य स्थापयेत्ततः ३/६१
शिवाम्भसा तु प्रक्षाल्य कवचेनावगुण्ठयेत् ३/१०१
शिवाम्भसास्त्रयुक्तेन विकिराण्यभिमन्त्रयेत् ३/६५
शिवाम्भोऽस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य कवचेनावगुण्ठयेत् ३/१६४
शिशोः कर्म प्रकर्तव्यं यथा भवति तच्छृणु ३/१२१
शिष्यदेहस्थितां नाडीं सूत्रे संगृह्य योजयेत् ३/१६७
शिष्यदेहे तु ये मन्त्राः सबाह्याभ्यन्तरं स्थिताः ३/१५४
शिष्यस्य दक्षिणे हस्ते वार्धान्यस्त्रं तु संहितम् ३/८६

शिष्यस्याथ शिरोभूमौ भैरवेण विधाय तु	३/१५२
शुद्धस्फटिकसंकाशं सर्वमन्त्रैरलंकृतम्	३/२७
सकृत्सम्पूज्य मुच्येत किं पूनर्यो दिने दिने	३/३७
सद्योजातं च वामं च अघोरं च यदुक्तवान्	३/१६
सन्निधानाय पाशानामतः पाशांस्तु दीपयेत्	३/१८४
सन्निधानं सदा तुभ्यं अविघ्नार्थं सदा भव	३/८८
सन्निधानाहुतीस्तिस्रः स्वनामपदजातिकाः	३/१६८
सन्मानासाम्बरविबोधदिनेशभाभि–	क्षेम० पटलान्ते
सहायैः सहितो वीर एकचित्तः समाहितः	३/२१२
साधकेभ्यस्तु यच्छेषं पिधाय स्थापयेत्प्रिये	३/११८
सम्प्रोक्ष्य च शिवाम्भोभिर्वार्धानीं मङ्गलान्विताम्	३/७८
सर्वदोषविनिर्मुक्तं कुम्भं चन्दनलेपितम्	३/७२
संयोज्य मन्त्रयेत्पश्चात्तैरेव हृदयादिभिः	३/५९
सितचन्दनकर्पूरं सुधूपं सितवाससी	३/४१
सितसूत्रेण संवेष्ट्य वस्त्रपूतेन चाम्भसा	३/७३
सुगन्धिगन्धलिप्ताङ्गः पुष्पस्रग्दामभूषितः	३/३
सुधूपितः सुताम्बूलश्चन्दनागुरुचर्चितः	३/४
सुषुम्ना मध्यमा नाडी सर्वनाडीसमन्विता	३/१६६
सूत्रस्थांस्ताडयेत्पुष्पैः स्वदेहस्थानिव क्रमात्	३/१८६
सूत्रेण वेष्टयेत्कण्ठे वर्मभूतेन सुव्रते	३/१०२
स्थालीमाज्योपलिप्तां तु शीताघारं च होमयेत्	३/११०
स्वध्यानगुणसंयुक्तं मुद्रालङ्कारभूषितम्	३/९५
स्वनामपदविन्यासानोंकारादिनमोन्तगान्	३/८९
स्वाहाकारसमायोगात्तृप्यन्तूच्चारयन्क्षिपेत्	३/२०९
हस्ताभ्यां तं गृहीत्वाथ विशेज्जवनिकान्तरम्	३/१२६
हुंकारद्वयमध्ये तु मूंलमन्त्रं समुच्चरन्	३/१५८
हृत्स्थं छित्त्वास्त्रखड्गेन हुंफट्कारान्तजातिना	३/१७१
हृदयादींस्ततः पञ्च दिशासु विदिशासु च	३/१७
हृदादीनां च सर्वेषां जातिरुक्तात्र दीपने	३/१५९

विशिष्टोक्तय:

		पृष्ठ-संख्या
१.	शक्तिरूपा स्मृता माया	१०
२.	शास्त्रहीने न सिद्धि: स्यात्	४१
३.	सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तम:	४२
४.	आलजालप्राया:	४२
५.	फलवत्सन्निधावफलमङ्गम्	५२
६.	पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्	७१
७.	सर्वत्र सर्वमस्ति	७७
८.	अनागतेक्षणतन्त्रयुक्ति:	७७,८३,१९२
९.	अनङ्गधेनवी युक्ति:	१२८
१०.	विश्वप्रसरस्य शक्तिषूपसंहार:	८५
११.	सर्वसृष्टिप्रकाशिका क्रियाशक्ति:	८५
१२.	नित्यपूर्वं नैमित्तिकम्	१०२
१३.	सिद्धान्तप्रियो लोक:	१२४
१४.	प्राक्संवित् प्राणे परिणता	१३२
१५.	शिवो भूत्वा शिवं यजेत्	१३५
१६.	अहमेव परो हंस:	१३६
१७.	चिद्रसाश्यानीभावात्म मेयम्	१६१
१८.	सर्वं शिवमयं यत:	१६६
१९.	जप: प्राणसम: कार्य:	१९९
२०.	न पुंसि, न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्	२००
२१.	शिवाग्नि: सर्वसिद्धिद:	२५९
२२.	अक्षरेषु कुतो मोक्ष: परं तत्त्वं ह्यनक्षरम्	२८९
२३.	प्रथमं मानसं यागं पश्चाद्द्रव्यसमन्वितम्	२९०
२४.	ओषधीनां वरैवैका सहदेवा शिवागमे	३१३
२५.	अग्ने: सन्तर्पणं कुर्यात्	३२२
२६.	यो ह वैतदग्निषोमीयमाज्यं जुहोति तस्यैतदमृतीभवति	३२६
२७.	आचार्य: करणं प्रोक्त: शिवरूपो यत: स्मृत:	३४६
२८.	सेयं क्रियात्मिका शक्ति: शिवस्य पशुवर्त्तिनी	३६०

●

उद्धृतानि शास्त्राणि

	नामानि	पृष्ठाङ्काः	पङ्क्तयः
१.	विष्णुः	३२	४
२.	श्रीपूर्वशास्त्रम्	३५०-१२	३४,१५२
			९ ३
३.	श्रीत्रिकहृदयम्	५७	९
४.	श्रीमालिनीविजयतन्त्रम्	६२	१
५.	श्रीपञ्चार्थप्रमाणशास्त्रम्	६३	५
६.	श्रीमतङ्गशास्त्रम्	६५	१३ ३२०-६
७.	श्रीतन्त्रालोकः	६६	२
८.	मृत्युजित्शास्त्रम्	१११	१०
९.	गुरवः	१३४,१४९,	३२६
१०.	श्रीलक्ष्मीकौलार्णवतन्त्रम्	१७०	३
११.	श्रीभैरवानुकरणस्तोत्रम्	१७३	१५
१२.	श्रीविज्ञानभैरवः	१९८	८
		२१२	१
१३.	पारमेश्वरतन्त्रम्	२९४	६
१४.	परासंहिता	३०६	५
१५.	श्रीमन्मतङ्गतन्त्रम्	३०९	११
१६.	सारसंग्रहः	३१३	५
१७.	मृगेन्द्रतन्त्रम्	३१७	५
१८.	श्रुतिः	३२६	७
१९.	मृगेन्द्रोत्तरम्	३२६	९
२०.	स्पन्दशास्त्रम्	३६१	५

SP/ 363228

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

स्वच्छन्दतन्त्र के नीरक्षीरविवेक-भाषाभाष्यकार का संक्षिप्त जीवनवृत्त

१. **नाम** – **डॉ. परमहंस मिश्र 'हंस'**
२. **पितृनाम** – डॉ. फौजदार मिश्र
३. **मातृनाम** – स्व. पराकाली देवी
४. **जन्म** – २० अगस्त, १९२०
५. **जन्मभूमि** – मल्लपहरिसेनपुर, मलयनगर, बलिया
६. **प्राथमिक-शिक्षा** – ग्रामविद्यालय, नगरा, बलिया
७. **उच्च-शिक्षा** – आचार्य (साहित्य), राजकीय संस्कृत कालेज (सं.सं.वि.वि.), वाराणसी। एम.ए. (हिन्दी) गोरखपुर विश्व-विद्यालय, गोरखपुर
८. **उपाधि** – पी-एच्.डी.-काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
९. **भाषा-ज्ञान** – हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बँगला, कन्नड।
१०. **पद-अध्यापन** – संस्कृत-विभागाध्यक्ष, आर्यमहिला डिग्री कालेज, वाराणसी।
११. **लेखन** –
  १. प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन
  २. पी कहाँ (छायावादी खण्डकाव्य)
  ३. विश्वामित्र (हिन्दी महाकाव्य)
  ४. मधुमयं रहस्यम् (संस्कृत-गीतकाव्य)
  ५. स्वतन्त्रताशतकम्
१२. **सम्पादन एवं भाष्यलेखन**
  ०१. श्रीतन्त्रालोक (आगमिकविश्वकोष) आठ भागों में प्रकाशन
  ०२. तन्त्रसार-दो भागों में
  ०३. मन्त्रयोगसंहिता (बँगला लिप्यन्तर एवं अनुवाद)
  ०४. अवधूतोल्लास-पद्यानुवाद
  ०५. श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्
  ०६. सौभाग्यरत्नाकरः
  ०७. श्रीकुलार्णवतन्त्रम्
  ०८. परशुरामकल्पसूत्रम्
  ०९. स्वच्छन्दतन्त्रम्
१३. **पुरस्कार व सम्मान**
  १. संस्कृत अकादमी, लखनऊ
  २. सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी
१४. **सम्पादन** - सूर्योदयः (मासिकपत्र, १९७०-१९८१) सन् २००२ से पुनः।
१५. **संस्कृतप्रतिभा, सारस्वती सुषमा** आदि में विभिन्न लेख
१६. **स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानी**

●

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय

मुद्रक : श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स